

DUE DATE SLIP

GOVT. COLLEGE, LIBRARY

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रकृष्ट

अद्वैत वेदान्त

इतिहास तथा सिद्धान्त

डॉ. रामबूर्ति शर्मा

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, शास्त्री

रामबूर्ति शर्मा

अद्वैत वेदान्त

(इतिहास तथा सिद्धान्त)

डा० राममूर्ति शामा

एम. ए. (संस्कृत-हिन्दी), पी-एच. डी., डी० लिट., शास्त्री
‘प्रोफेसर,’ संस्कृत-विभाग,
नेहाव विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
तथा

नेशनल लेबरर (१९६४-८५)
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली
राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली १९६४ (भारत)

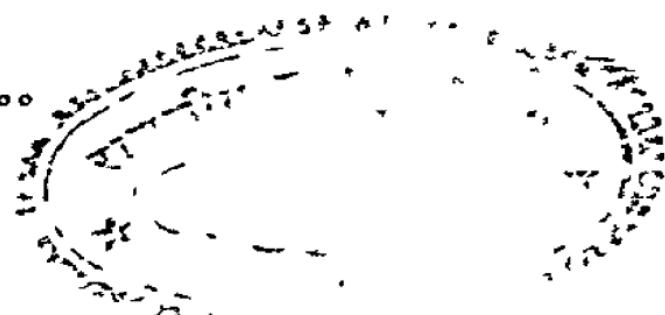
प्रकाशक •

ईस्टर्न दुक लिक्स

५८२५, न्यू चन्द्रावल, ज़वाहर नगर,
दिल्ली-११०००७

© प्रो० राममूर्ति शर्मा

मूल्य . १५०.००



द्वितीय संस्करण • १६६३

मुद्रक—अमर प्रिटिंग प्रेस, (शाम प्रिटिंग हाउस)
८/२५ डबल स्टोरी, विजय नगर, दिल्ली-११००४

भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के उपासक
राष्ट्रपति
महामहिम श्री वराहगिरि वेंकटगिरि
को
सविनय, सादर

ब्रह्म

वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते

—शङ्कराचार्यं

अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः
—गौडपादकारिका, ११०

भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा
—गौडपादकारिका, २।३३

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत् स्मृतिम् ।
द्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ॥
—गौडपादकारिका, २।३६

पुरोवाक्

(द्वितीय संस्करण)

(१९०७)

सम्प्रति 'अद्वैत वेदान्तः इतिहास तथा सिद्धान्त' का द्वितीय संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मुझे परम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। मारतीय दर्शन के सामान्य जिज्ञासुओं विशेषत वेदान्त के अध्येताओं, शोधकर्ताओं एवं मनीषीय विपश्चितों द्वारा इस ग्रन्थ का हार्दिक अभिनन्दन किया गया है, यह मेरे लिए गौरव की बात है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि अनेक विद्वानों ने इस के सम्बन्ध में गद्यात्मक एवं पद्यात्मक पत्र लिखकर मुझे प्रोत्साहित किया है। इस प्रकार के पत्र मुझे देश के प्रत्येक भाग से उपलब्ध हुए हैं, जिनका विवरण प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है। इन 'सन्ति सन्तः कियन्तः' का मैं हृदय से आभारी हूँ। अनेकानेक विश्वविद्यालयों ने इसे एम० ए० के पाठ्य-क्रम में निर्धारित किया है। उत्तर प्रदेश शासन ने इसे विशेष पुरस्कार से पुरस्कृत किया है, इसके लिए मैं उत्तर प्रदेश शासन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

यहाँ यह कहना अप्रासङ्गिक न होगा कि प्रस्तुत ग्रन्थ के समान ही मेरे कई अन्य ग्रन्थों—शंकराचार्य—उनके मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का ग्रालोचनात्मक अध्ययन 'वैदिक साहित्य का इतिहास' तथा 'वेदान्तसार' का भी पाठकों ने हृदय से स्वागत किया है। इनमें, शंकराचार्य एवं वेदान्तसार भी उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत हुए हैं। इन ग्रन्थों के नवीन संस्करण भी पाठकों की सेवा में शीघ्र प्रस्तुत किए जाएंगे। इनमें से 'वैदिक साहित्य का इतिहास' भी वर्तमान प्रकाशक—ईस्टर्न बुक लिक्स, दिल्ली द्वारा शीघ्र प्रस्तुत किया जा रहा है। ईस्टर्न बुक लिक्स द्वारा ही मेरे एक अन्य ग्रन्थ—Some Aspects of Advaita Philosophy का भी प्रकाशन किया गया है। इस ग्रन्थ का भी देश-

विदेश में स्वागत हुआ है। इसके विषय में प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् गेराल्ड लारसन ने लिखा है—The book because of its clear and systematic presentation of the subtleties of Vedānta, will be especially welcome to the scholars of Advaita Vedānta,

It shows the eminence of Professor Ram Murti Sharma whom I consider one of the topmost scholars of the field (Foreward)

मुझे ग्रपने दर्शनसम्बन्धी शोधकार्य के सम्बन्ध में दर्शनशास्त्र के परम-विशिष्ट विद्वान् एव मनीषी चिन्तक श्राचार्य श्रीके० सच्चिदानन्द मूर्ति जी से विशेष प्रेरणा एव परामर्श मिलता रहा है, जिसके लिए मेरा कृतज्ञताज्ञापन न्यूनतम है।

अनेकानेक पत्रों द्वारा प्रमुख ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन का आग्रह होने पर भी इसे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जा सका, इसका मुझे खेद है। इसका प्रथम प्रकाशन नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरिया गंगा, दिल्ली, द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस समय 'ईस्टने बुक लिक्यूरी' के स्वत्वाधिकारी श्री श्याम जी मल्होत्रा इसे प्रकाश में ला रहे हैं, जिन्हे मैं धन्यवाद देना हूँ।

मुझे मूर्ण आशा है, सुधी पाठक इस द्वितीय सस्करण का पूर्ववत् स्वागत करेंगे तथा भुझें इसकी न्यूनताओं से अवगत कराएंगे।

मकरसकान्ति

१६७

चण्डीगढ़

राममूर्ति शर्मा

पुरोवाक्

वेदान्तदर्शन के अद्वैतवाद का मिद्दान्त भारतीय चिन्तन की परम्परा में अति प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है। यथोपचारी इसे संद्वान्तिक दृष्टि से सुव्यवस्थित हृषि आचार्य शंकर ने प्रदान किया तथापि इसका प्रारूप वेदों तकमें निन जाता है। अद्वैत-विषयक विचार समस्त संस्कृत वाङ्मय में यत्र-तत्र विखरे पड़े हैं। सहजों वर्षं पूर्वं ही भारतीय ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से अनेकता में एकता के दर्शन कर लिये थे। सूष्टि की समस्त विविधता के पीछे एकता है, जिससे उसका उद्भव हुआ है और जिसमें उसे समा जाना है—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति यह उन्होंने जान लिया था। इस तथ्य की भी उन्होंने हृदयंगम कर लिया था कि परमार्थतत्त्व वस्तुतः एक है, उसे ही भिन्न नामों से पुकारा जाता है—एकं सद्विप्रा वहृधा वदन्त्यर्गिन यमं मातरिश्वानमादुः। भायोपहित वह तत्त्व भिन्न-भिन्न रूपों को अपना लेता है—भायोपहिततत्त्वस्य विवर्तो वहृधामतः। आचार्यं भतूंहरि ने शब्द ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए माया के स्थान पर कालशक्ति को स्वीकार किया है और जन्म इत्यादि विकारों को तज्जन्य माना है—

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुषाध्रिताः ।

जन्मादयो विकाराः पङ् भुविभेदस्य योनयः ॥

इस कालशक्ति की वेदान्त-सम्मत विक्षेप और आवरणशक्तियों के समकक्ष प्रतिवर्त्य और अम्यनुज्ञा शक्तियों को उन्होंने स्वीकार किया है। किंच उनकी कालशक्ति का अद्वैत वेदान्त की माया से भी मूल भेद है। जबकि माया ब्रह्म से पृथक् है, कालशक्ति शब्द ब्रह्म से अभिन्न है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ने भतूंहरि-सिद्धान्त को शब्दाद्वैतवाद की संज्ञा दी है। वह समीचीन ही है।

अद्वैतवाद के अनेक हृषि उपलब्ध होते हैं। इस सिद्धान्त ने अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों को प्रभावित किया है। अंग्रेजी में इस पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, पर हिन्दी में स्वतन्त्र हृषि से कोई भी एक ऐसा ग्रन्थ नहीं या जिसमें इस महत्त्वपूर्ण दर्शन का सांगोपांग संद्वान्तिक विवेचन एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादन हो। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का अपना महत्त्व है। विद्वान् ग्रन्थकार का अद्वैतवाद का अध्ययन तलस्पर्शी है। उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रणयन में बहुत परिश्रम किया है। न केवल अद्वैतवाद को ही अपितु अन्य भारतीय दर्शनों को भी हृदयंगम कर उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है। मुझे आशा है कि विद्वत्समाज इसका समुचित आदर करेगा।

आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

३० सत्यमत शास्त्री
एम्. ए., एम्. बो. एल्., पी-एच्. डी., व्याकरणाचार्य

उपस्थापन

अनुभूति एवं विचार मानवीय अन्तर्गत के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं। दोनों ही पक्षों के अन्तर्गत अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा अत्यधिक स्पष्ट है। अनुभूति-क्षेत्रगत अद्वैतभाव वी प्रतिष्ठा तो इसी से समझी जा सकती है कि विश्व का परिष्ठृन-भावभूमि-मन्त्रन प्रत्येक मानव अद्वैत-भाव एवं उससे उत्पन्न होने वाली आनन्दानुभूति को अपने जीवन की चरम उपलब्धि मानता है। अनुभूति-क्षेत्रगत अद्वैत वेदान्त की उपन प्रतिष्ठा लौकिक एवं अलौकिक, दोनों ही दृष्टियों से है। जहां तक, अद्वैत वेदान्त दर्शन की वैचारिक प्रतिष्ठा की बात है, भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम एवं अमूल्य निधि—संहिताओं से ही अद्वैतसम्बन्धी विचार का दर्शन आरम्भ हो जाता है। आधुनिकतम विचारप्रवान एवं विश्वजनीन साहित्य के अन्तर्गत भी कदाचित् ही कोई ऐसा विचारक होगा, जिसने अपने प्रयोजनीय लक्ष्य के मूल में अद्वैतपरक विचार का शिलान्यास न किया हो।

शास्त्रीय दृष्टि से भी अद्वैत दर्शन का महत्व किसी प्रकार कम नहीं है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग एवं पूर्वमीमांसा दर्शनपद्धतियां, यद्यपि अद्वैत वेदान्त की यत्किञ्चित् विरोधिनी हैं, परन्तु फिर भी इन पर उपनिषद् वर्ती अद्वैतपरक विचारसूत्रों का प्रभाव देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस्लामी दर्शन, यूनानी दर्शन एवं यूरोपीय दर्शन को भी भारतीय अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त से अमूल्य देन प्राप्त हुई है और इस देन को क्रमशः, डा० ताराचन्द एवं कामिल हुसैन, मेगस्थनीज और शोपेनहार आदि समालोचकों ने निःसंकोच स्वीकार भी किया है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन के महत्व की दिशा तो अस्तर्त स्पष्ट है, परन्तु यह आश्चर्य है कि इतने महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त का ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अनुशीलन व्यवस्थित एवं प्रामाणिक रूप में पूर्ण नहीं हो सका है, जबकि ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण से किया गया अध्ययन ही किसी सिद्धान्त के वास्तविक स्वरूप का परिचायक होता है। अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक अध्ययन की दिशा में, डा० दासगुप्त जैसे विद्वान् ने यदि कुछ प्रयत्न किया भी है, तो वह न्यून रूप में ही। परन्तु यह डा० दासगुप्त के अध्ययन की न्यूनता कदापि नहीं समझनी चाहिए, वर्णोंकि डा० दासगुप्त का उद्देश्य भारतीय दर्शन जैसे विद्वाल शास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास लिखना था, केवल अद्वैत वेदान्त का नहीं। अपने उद्देश्य की पूर्ति में डा० दासगुप्त पूर्णतया सफल हुए हैं, यह इस लेखक की निःसंदिग्ध मान्यता है। अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक अध्ययन की दिशा में, महामहोपाध्याय द० गोपीनाथ कविराज का भी कायं स्तुत्य है। तन्त्र एवं दर्शनशास्त्र के अधिकारी विद्वान् कविराज जी ने 'बच्युत' पुस्तिका के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त का सूक्ष्म ऐतिह्य प्रस्तुत किया

है, परन्तु कविराज जी ने भी अठारहवीं शताब्दी तक के अद्वैत वेदान्त के आचार्यों का ही उल्लेख किया है। अद्वैत वेदान्त के विभिन्न सिद्धान्तों की समालोचना तो इस पुस्तिका में अनुपलब्ध ही है। अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक अध्ययन के दृष्टिकोण से, बगला लेखक आशुनोप शास्त्री ना 'वेदान्त-दर्शन अद्वैतवाद' नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु इस ग्रन्थ के अन्तर्गत भी सिद्धान्त-समालोचना एव तुलनात्मक दृष्टिकोण की न्यूनता बनी रही है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक पूर्णता का भी उक्त ग्रन्थ में अभाव ही है। जहाँ तक, अद्वैत वेदान्त के मिदान्तों के आलोचनात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न है, कोई ऐसा ग्रन्थ ऐसे दैखने में नहीं आया, जिसमें अद्वैत वेदान्त की न्याय आदि भारतीय-दर्शनपद्धतियों, वैष्णवदर्शनाद्वतियों, श्रीकदर्शन, पूरोपीय दर्शन एव इस्मामी दर्शन के साथ तुलनात्मक विवेचना उपलब्ध हो। इसके अतिरिक्त वेदान्तिक अद्वैतवाद की शक्यद्वैतवाद, काश्मीरशैवदर्शन के स्वल्पवाद एव प्रत्यभिशावाद, बोटकिजानवाद एव शूद्धवाद, योगवासिन्द के अद्वैतवाद, भन्तुहरि के शब्दाद्वयवाद एव गोडपादाचार्य के अजातवाद आदि मिदान्तों के माध्य तुलनात्मक ममीका भी, मेरे विचार से अन्यथा अनभ्य ही है।

अद्वैत वेदान्त के अध्ययन की उपर्युक्त न्यूनताओं के कारण ही इस सिद्धान्त के गम्भीर में अनेक भ्रान्त धारणाओं का प्रचार हो गया है। इन भ्रान्त धारणाओं का फल यहा तक हुआ है कि समालोचकों ने बोद्ध दर्शन के शूद्धवाद को अद्वैतवाद एव अद्वैतवादी शक्तराचार्य को 'प्रच्छन्न बोद्ध' तक कह दिया है। ऐसों ही अनेक विषयमताओं वे कर्तव्यस्वल्प अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त का पूर्ण स्वरूप एव भहस्त्र दिन-प्रतिदिन आच्छान्त होता जा रहा है, यह स्पष्ट ही है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की उपर्युक्त महत्ता, उसके अपेक्षित अनुग्रीलन की अपूर्णि एव अभ्यवस्था, प्रस्तुत प्रबन्ध-नेतृत्व के मूल कारण हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के इतिहास एव सिद्धान्तों का आलोचनात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत बरते का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। दूसरे शब्द में, यही इस प्रबन्ध की मौलिकता कही जा सकती है।

उपर्युक्त प्रयत्न के कर्तव्यस्वल्प प्रथम अध्याय के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के दार्शनिक भहस्त्र एव मूल्यांकन के मन्दिरमें, अद्वैत वेदान्त का न्यायादि भारतीय दर्शन पद्धतियों, यूनानी दर्शन, विविध यूरोपीय दर्शन पद्धतियों एव इस्मामी दर्शन के मिदान्तों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इससे विश्वदर्शन के क्षेत्र में अद्वैत वेदान्त की महत्ता स्पष्ट हुई है। न्याय, वैशेषिक, साम्य, योग, पूर्व-मीमांसा एव चतुर-मीमांसा के मैदानिक स्वरूप की समीक्षा भी, इस अध्याय के अन्तर्गत वर्तमान है। इस प्रकार इस अध्याय के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त का भारतीय एव विदेशीय दर्शन के मिदान्तों के साथ साम्य एव सम्बन्ध स्पष्ट हुआ है। द्वितीय अध्याय से इस प्रबन्ध का ऐतिहासिक पक्ष प्रारम्भ होता है। इस अध्याय में, ऋग्वेद से लेकर शक्तराचार्य के पूर्ववर्ती वादरि, जैमिनि, काश्मीरत्सन, औद्योगि, ब्राह्मणिति, भार्वेय, आश्मरण्य और काश्यप तक के काल का अद्वैत दर्शन का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय के अन्तर्गत सहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, मूर्त्रों, पुराणों, श्रीमद्भगवद्गीता, तत्त्व-साहित्य, योगवासिन्द एव उपर्युक्त दारारि आदि शूद्धियों एव आचार्यों के मिदान्तों में अद्वैत दर्शन की पृष्ठभूमि वीरे दैखना की गई है। उपर्युक्त ग्रन्थों एव आचार्यों के मिदान्तों के अन्तर्गत अद्वैत दर्शन का अव्यक्तिगत एव अमंदानिक इतिहास ही उपलब्ध होता है। परन्तु यह निरिक्त है कि इन ग्रन्थों एव आचार्यों की दैन के द्वारा अद्वैत

वेदान्त की अत्यन्त पुष्ट पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ है। तृतीय अध्याय में, पहले, शंकराचार्य के पूर्ववर्ती बोधायन, उपवर्ष, गुद्देव, बपर्दी, भारचि, भतूंहरि, भतूंमित्र, बहूनन्दी, टंक, द्रविड़ाचार्य, ब्रह्मदत्त, भतूंप्रपंच, सुन्दरपाण्ड्य तथा गोडपादाचार्य एवं शंकराचार्य के गुह—गोविन्द भगवत्पाद की दार्शनिक देन के सम्बन्ध में विचार किया गया है और किर अद्वैतवाद के प्रमुख प्रस्थापक शंकराचार्य के अद्वैतवाद सिद्धान्त का सांगोपांग विवेचन किया गया है। यहां यह कह देना उपयुक्त होगा कि शंकराचार्य के पूर्ववर्ती माहित्य के अन्तर्गत अद्वैतवाद सिद्धान्त के सबल पृष्ठाधार का निर्माण तो हो चुका था, परन्तु अद्वैतवाद का संदात्तिक एवं व्यवस्थित प्रतिपादन शंकराचार्य ने ही किया था। इस प्रकार इस अव्याय के अन्तर्गत शांकर अद्वैतवाद से सम्बद्ध ग्रह्य, जीव एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का सालोचन विवेचन किया गया है और इसके पश्चात् शंकराचार्य के पश्चाद्वर्ती सुरेश्वराचार्य, पदमपादाचार्य, वाचस्पतिमिथ, सर्वज्ञात्ममुनि, आनन्दवोद्भव भट्टारकाचार्य, प्रकाशात्मा, विमुक्तात्मा, चिन्मुखाचार्य, अमलानन्द, विद्यारण्य, प्रकाशानन्द, मधुमूदन सरस्वती एवं घर्मंराजाव्यरीन्द्र आदि अठारहवीं शताब्दी तक के आचार्यों की दार्शनिक देन का निरूपण किया गया है। उनीसवीं-बीसवीं शताब्दी के शास्त्रीय अद्वैत-दर्शन के प्रतिपादकों में, पंचानन-तकर्त्त्व एवं महामहोपाचार्य अनन्तकृष्ण शास्त्री की दार्शनिक देन का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है। इसके अनिस्तित उनीसवीं-बीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों में स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द धोप एवं आचार्य विनोदा आदि के व्यावहारिक अद्वैतवाद का निरूपण भी इस अव्याय के अन्तर्गत उल्लिख है। इसके साथ-साथ अद्वैत वेदान्त के भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षकों का उल्लेख भी इस अव्याय के अन्त में वर्तमान है। चतुर्थ अव्याय के अन्तर्गत अद्वैतवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते हुए, सगुण-निर्गुण, जगन्मित्यात्म, अज्ञान, अनिवंचनीयस्थातिवाद, कार्य-कारणवाद, विवर्तनवाद, दृष्टि-सूष्टिवाद एवं सूष्टि-दृष्टिवाद आदि विभिन्न सिद्धान्तों की समीक्षा की गई है। पंचम अव्याय के अन्तर्गत भी अद्वैतवाद के दार्शनिक स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए अधिष्ठानवाद, अध्यासवाद, ईश्वरोपासनासम्बन्धी सिद्धान्त, मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त तथा वृत्ति आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन किया गया है। इस अव्याय के अन्तर्गत 'काश्यां मरणान्मुक्तिं' के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया गया है। पाष्ठ अव्याय के अन्तर्गत शांकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया से उत्पन्न वैष्णवदर्शनपद्धतियों का विवेचन है। इस सम्बन्ध में, रामानुजाचार्य, निष्ठाकर्चार्य, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य, चैतन्य स्वामी, जीवगोस्वामी एवं बलदेव विद्याभूषण के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण एवं अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सप्तम अव्याय प्रस्तुत ग्रन्थ का पूर्णतया तुलनात्मक अंश है। फलतः, इस अव्याय में, अद्वैतवाद की शाकतों के शब्दात्मक अद्वैतवाद, काश्मीरशैवदर्शन के प्रत्यभिज्ञावाद एवं स्पन्दवाद, योगवासिष्ठ के कल्पनावादसम्मत अद्वैतवाद, वौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद, भतूंहरि के शब्दात्मक अद्वैतवाद एवं गोडपादाचार्य के अजातवाद के साथ तुलनात्मक समीक्षा की गई है। इस तुलनात्मक समीक्षा के द्वारा वेदान्तिक अद्वैतवाद के सम्बन्ध में प्रचलित 'प्रच्छन्धन वौद्धत्व' वाली धारणा का निराकरण, इस अव्याय के अन्तर्गत किया गया है। अष्टम अव्याय, इस ग्रन्थ का उपसंहार रूप है। इस अव्याय में अद्वैत वेदान्त के ऐतिहासिक द्रिकास एवं स्वरूप के सम्बन्ध में एक विहंगम-दृष्टिवात् किया गया है और इसके पश्चात् अद्वैतवाद दर्शन की विशेषनाओं एवं उसके दार्शनिक तथा व्यावहारिक महत्त्व का निरूपण किया गया है। इस

सम्बन्ध में यह उल्लेननीय है कि व्यावहारिक दर्शन की दुष्प्रिय से अद्वैतवाद एक सफल जीवन-दर्शन का मिलान्त है।

उपर्युक्त विषय का विवेचन एवं प्रतिगादन करते समय, लेपक ने प्रधानतया मस्तृत के मूल एवं टीका-ग्रन्थों का ही वायरप लिया है, परन्तु आलोचनामुद्देश के अन्तर्गत रिपोर्ट, अरेंजी, बाता एवं हिन्दी वादि अन्य भाषाओं में उपर्युक्त ग्रन्थों में भी लेखक को मूर्ण महायता मिली है। अबने कथन भी पुष्ट एवं प्रामाणिकता वे रिपोर्ट लेखक ने रास्ता के मूल ग्रन्थों के अधीरिक ढाँचागुण और ढाँचा राधाहृष्णन वादि समालोचक विद्वानों के ग्रन्थों को नि-मस्तृतभाव में उद्भृत लिया है। यह लेखक उन सभी विद्वानों के प्रति बृत्तज्ञान ज्ञापन करता है, त्रिनदे ग्रन्थों का उपर्युक्त विवरण के सम्बन्ध में इन्होंने भी उपरोक्त लिया है।

पिपिय री वसामारणता एवं उसी धैर्यगति विशालता के गारण, अनुगम्भान इन में अनेक प्रभाव की भाँचिंगों एवं सदिव्यवताओं का उत्तम होता, कम-मे-कम इस लेखक के लिए तो स्वाभाविक ही था। इस गम्भीर भए वक ने भास्तीय दर्शन के अनेक विद्वानों से परामर्श प्राप्त कर अपनी भरूतियों के गुणं करने की चेष्टा की है।

अनुमन्वान वाल के अन्यथा, जट्ठ वेदान्त के विशेषज्ञ विद्वान् ग्रन्थदगुह शक्तराचार्य, श्रीहृष्णवोधार्थम जी महाराज (ज्योतिमंठ) से जो शाश्वीर्वद, भल्परामदं एव प्रेरणा मिली है, उसके तिए मैं श्री शक्तराचार्य जी के प्रति अद्वावन्त हूँ। इसके अनिरित वाक्यी में सुमेल्हण्ठ (शक्तराचार्य-मठ) के अंगीश्वर पूर्णपाद स्वामी आनन्दवोधार्थम जी महाराज का मैं अत्यधिक श्रृण्णी हूँ इस उत्क वाच्यम म सौविद्यपूर्वक दीर्घं का १३ तक रहरर वेदान्त वा अन्यथन बर सदा हूँ। भारतीय दर्थन क अधिकारी विद्वान् सर्वांगली दा० राधाकृष्णन्, महामहोपाध्याय थी गोपीनाथ जी कविराज एव दा० मालदेव जी शास्त्री (एम० ए०, दी० फिर०) का मैं अत्यधिक श्रृण्णी हूँ जि रहोने भुके अपना अमूल्य उमय प्रदान कर प्रोत्साहित किया है।

पश्चेय दा०गोविन्दशरण जी निगुणायत (एम्० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०) से प्रस्तुत शोधवार्य में अनुवं दासाम्य इन आशीर्वद प्राप्त हुआ है, जिसके लिए मैं दृष्टज्ञतान्नापन पर्याप्त नहीं समझता ।

सम्भूत-जगत् के प्रव्याप्ति विद्यान् पद्मभूपण, दा० वे० राधवन, घडित बदरीकाश और पुत्रन, दा० सिद्धेश्वर जी भट्टाचार्य एवं दा० एन० हो० देवगत में भी वांसान शोधकार्य के सम्बन्ध में अनेक भूत्यवान् मुभाव उपलब्ध हृत हैं। इन सम्मानित विद्यालयों के प्रति दृतज्ञाना ज्ञापित कर मुक्ते हृप्त हैं।

ममान्य दा० सन्दर्भ जी शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० पैथ०, धारकरणाकार्य, पी-एच० ही० (मनमोहन नाय दरप्रेषितरत्ना अवधार, सम्मुख-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) ने अदित्य बद्मन् रहने पर भी भी दो ग्रन्थ दा० पुरोग्रह रिपोर्ट का अनुयाय दिया है, इ० उनके विद्युत् सन्नाकान्य स्तेह का ही परिणाम है। दा० सन्दर्भ जी ने दिल्ली विश्वविद्यालय के सम्मुख विभाग दो भी प्रेस्सा एवं प्रोस्साहा प्रिंटिंग रखता है। यह दिल्ली मेरिया लैन्स है। उनके प्रति हार्दिक आभार बड़ा करता तितान्तु रत्नभासिक है।

सहस्रने नियाति विद्वान् एव जनुराती परमाइरणीय दा० गमकरण जी शर्मी(निदेशक, राष्ट्रीय सम्बूद्ध यस्तान, दि० रो तथा उपक्रियर लैंग खंडत द्युटी (मम्बृ), यिक्षा म-क्रान्त, भारत मखार के मध्य तौ ब्रह्म से इस दृश्य के प्रशासन के विभिन्न विकास मन्त्रालय की ओर से वो नायिक महोदय प्रदान दिया गया है, उसमा० मैं वस्तुत फली है। पी-एच० डी० तथा

डी० लिट० उपाधियों के निमित्त किए गए शोवकार्य में विद्वत्सेवी श्री शम्भुनाथ जी खना (मुरादावाद) से नो सौमित्र्य प्राप्त हुआ है, उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। अपने परिवार के सदस्यों में धर्मपत्नी श्रीमती चेतन शर्मा, भ्रानृव्य श्रीकृष्ण शर्मा, अनुज वाचस्पति एवं आत्मज सुनीलकुमार का भी इस कृत्य में देन केन प्रकारेण महयोग प्राप्त हुआ है, जिसके लिए मैं इनका सर्वेया शुभंभी हूँ। श्री रोहिताशकुमार शर्मा ने इस ग्रन्थ की अनुकरणिका तंयारकरने में सहयोग दिया है, इसके लिए मैं इनके प्रति थेयस्काम हूँ।

नरस्वनी भवन पुस्तकालय, काशी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता, गोयनका लाइब्रेरी, काशी, दिल्ली विश्वविद्यालय लाइब्रेरी तथा के० जी० के० कान्निङ लाइब्रेरी, मुरादावाद के अधिकारियों से अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की उपलब्धि हुई है, जब ये मव मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

विद्वत्प्रेमी श्री कन्हैयालाल मलिक, प्रोप्राइटर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली वहुशः धन्यवाद के पात्र हैं कि उन्होंने मुझे इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने का अवसर दिया है। राष्ट्रभाषा प्रिट्स के अव्यक्त श्री श्यामकुमार जी गंग का भी मैं कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इस ग्रन्थ को सुनारूप से मुद्रित करने में पूर्ण सहयोग दिया है। यथागतित प्रयत्न करने पर भी ग्रन्थ में वृद्धियों का पाया जाना असम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में शुद्धि-पत्र भी दे दिया गया है, परन्तु इसका अपर्याप्त होना आश्चर्यजनक नहीं है। अन्त में, नीरक्षीर-प्रिवेकी विद्वानों एवं जिज्ञासुजनों की सेवा में इस ग्रन्थ को प्रस्तुत करने का मुझे अपार है।

सहकृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

—रामरूति शर्मा

अनुक्रम

१ : विषय-प्रवेश

दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद का स्थान

१—५

न्याय दर्शन और अद्वैत वेदान्त

५

न्यायदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा, ५; प्राचीन और नव्य-न्याय, ५-६; प्राचीन और नव्य न्याय में अन्तर, ६; न्याय दर्शन की प्रक्रिया, ६; न्यायदर्शन में आत्मा और मुक्ति का स्वरूप, ७; नैयायिक की अन्यथास्थानि, ७; न्यायदर्शन और असत्कार्यवाद, ७-८; अद्वैत वेदान्त और न्यायदर्शन की तुलनात्मक गमीक्षा, ८; न्याय और अद्वैत वेदान्त की मृक्षित, ८-११।

वैशेषिक दर्शन और अद्वैत वेदान्त

११

वैशेषिक दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा, ११-१२; वैशेषिक का परमाणुकारणवाद, १२; ईश्वर, १२-१३; वैशेषिक दर्शन और अद्वैत वेदान्त की तुलनात्मक समीक्षा, १३-१४।

सांख्य और अद्वैत वेदान्त दर्शन

१४

सांख्य दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा, १४; सांख्य का अर्थ, १४; सांख्य दर्शन की प्राचीनता और उसके अनेक रूप, १५; उपनिषद् तथा भगवद्गीतावर्ती सांख्य, १५; महाभारत-वर्ती तथा पौराणिक सांख्य, १५; चरक सांख्य, १५; ब्रह्म सूत्र तथा सांख्यकारिका का सांख्य, १५; विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रतिपादित सांख्य, १५; सांख्य दर्शन और कार्य-कारणवाद, १५-१६; प्रकृति, १६-१७; गुण, १७-१८; पुरुष, १८-१९; पुरुषवटुत्व, १९; प्रकृति पुरुष एवं सृष्टि, १९-२१; मुक्ति, २१; जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति, २१-२२; ईश्वर, २२; अद्वैत वेदान्त और सांख्य दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा, २३-२४।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन

२४-

योगदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा, २४-२५; योग शब्द का अर्थ, २५-२६ योगदर्शन में चित्त का स्वरूप, २६—क्षिप्त, २६; मूढ़, २६; विक्षिप्त, २६; एकाग्र, २६-२७; निरद, २७; वृत्तियों का स्वरूप विवेचन, २७; प्रमाण, २७; विपर्यय, २७; विकल्प, २७; निद्रा, २७; स्मृति, २७; सस्कार, २८; योगदर्शन का वलेज सम्बन्धी दृष्टिकोण, २८; अविद्या, २८; अस्मिता, २८; राग, २८; द्वेष, २८; अभिनिवेश, २८; योग के साधन, २८—यम, २८; नियम, २८; आसन, २८; प्राणायाम, २८; प्रत्याहार, २८; धारणा, २८; ध्यान,

३०, समाधि, ३०, समाधि के भेद, ३०-३१, ईश्वर सम्बन्धी मान्यता, ३१-३२, पुरुष की वपेक्षा'पुरुष विशेष ईश्वर' की विशेषताएँ, ३२-३३, योग वी मुक्ति का सिद्धान्त, ३३, अद्वैत वेदान्त तथा योगदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा, ३३-३४, अद्वैत वेदान्त तथा योग में चित्तवृत्ति निरोध का साम्य, ३४, अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन में अविद्या का स्वरूप, ३४-३५, अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन का ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त, ३५-३६, अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन की मुक्ति, ३६-३७, थालोचना, ३७-३८ ।

अद्वैत वेदान्त (उत्तरमीमांसा) और पूर्वमीमांसा दर्शन

३८

पूर्वमीमांसा का संक्षिप्त स्वरूप, ३८, पूर्वमीमांसा का अर्थ, ३८-३९, मीमांसा की ज्ञानप्रक्रिया प्रमाण निष्पत्ति, ३९-४०, प्रत्यक्ष प्रमाण, ४०, प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद, ४०, आलोचना, ४०-४१, अनुमान प्रमाण, ४१, आलोचना, ४१, शास्त्र प्रमाण, ४१-४२, उपमान प्रमाण, ४२, अर्थपत्ति, ४२, अनुपलभित्ति, ४२, प्रामाण्यदाद ४२-४३ प्रभाकरमत, ४३, मट्टमत, ४३, मुरारिका मत, ४४, परत प्रामाण्यदाद का निराकरण, ४४-४५, मीमांसक का अख्यातियाद, ४५, पदार्थ निष्पत्ति, ४५, द्रव्य, ४५-४६, पृथ्वी, ४६, जल, ४६, तेज, ४६, वायु ४६ वाक्याग्नि, ४६, वात, ४६, दिशा, ४६, वात्मा, ४६, मन, ४६, शब्द, ४६, अन्यकार, ४६-४७, गुण, ४७, कर्म ४७, सामान्य, ४७, चक्रित, ४७, अभाव, ४७, जगत्, ४७-४८ ईश्वर, ४८, धर्म ४८-४९, विधि, ४९, अर्थदाद, ४९ मन्त्र ४९, स्मृति, ४९, आचार, ५०, नामधेय, ५०, वाचपशेष, ५०, सामर्थ्य, ५०, भावना, ५० सोन, ५० अद्वैत वेदान्त और मीमांसा दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा, ५१, आत्मा, ५१-५२, ईश्वर, ५२, मोक्ष, ५२-५३, ममालोचना, ५३ ।

अद्वैत वेदान्त और यूनानी दर्शन

५४

एलिया के दार्शनिक और अद्वैत वेदान्त, ५५, कमेनोकेन की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त, ५५-५६, आलोचनात्मक दृष्टिकोण, ५६, फूडेन्थल का मन, ५६, विलम्बोधितज्ञ का मन ५६, डीन्म का मन, ५६-५७, परमेनिद्र की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त, ५७-५८, आलोचना, ५८-६०, जेनो की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त, ६०-६१, एलेटो की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त, ६१-६३, अरस्तू की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त, ६३-६६ ।

अद्वैत वेदान्त और द्वितीय पाइचात्य दार्शनिक एवं उनसे दार्शनिक सिद्धान्त

६६-६७

डेकार्ट और अद्वैत वेदान्त, ६७, मिस्नोज्ञा और अद्वैत वेदान्त, ६८-६९, लाइब्रिज़ और अद्वैत वेदान्त, ६९-७०, अद्वैत वेदान्त की 'मात्रा' और लाइब्रिज़ का 'मेटिरियाश्राइमा' का मिदान्त, ७०-७१, दर्शने और अद्वैत वेदान्त, ७१-७२, यहाँ और दृष्टि सृष्टिवाद, ७२, वरषट और अद्वैत वेदान्त, ७२-७५, किन्तु और अद्वैत वेदान्त, ७५-७६, किन्तु का 'प्रस्ताव' मध्यन्दी गिदान्त और अद्वैत वेदान्त की मात्रा, ७६-७७, शेलिंग और अद्वैत वेदान्त, ७७-७८, अद्वैत दर्शन की 'मात्रा' तथा शिरिंग का 'डार्कप्राउन्ड' का सिद्धान्त, ७८-७९, हेगेन और अद्वैत वेदान्त, ७९-८१,

शोपेनहार और अद्वैत वेदान्त, ८१-८२—शोपेनहार और उपनिषद् वर्ती संकल्पवाद
८२-८४।

अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन

८५

इस्लामी दर्शन के कुछ प्रवर्तक, ८५—मोतज़ला सम्प्रदाय, ८५.; करामी सम्प्रदाय, ८५; अशाभरी सम्प्रदाय, ८५-८६; अद्वैत वेदान्त का ब्रह्मवाद और इस्लामी दर्शन, ८६-८७; अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन का सूटि सम्बन्धी सिद्धान्त, ८७; जीव का अविनाशित्व, ८७-८८; परमतत्त्वज्ञान के स्वरूप का विचार, ८८; जाग्रत्, स्वप्न, सुपुष्टि और तुरीया अवस्थाएं, ८८-८९।

अद्वैतवाद की सेहान्तिक विचारधारा का संक्षिप्त स्वरूप

८९-९०

अद्वैतवाद और आचार दर्शन, ९१; उपनिषद् वर्ती आचार तत्त्व, ९१-९२; शांकर अद्वैत और आचार दर्शन, ९२; अद्वैत दर्शन का कर्म सिद्धान्त तथा आचार पक्ष, ९२-९३; आश्रम व्यवस्था और आचार पक्ष, ९३-९४।

२ : अद्वैतवाद का अव्यवस्थित इतिहास

ईदिल अद्वैतवाद

९५

संहिताएं और अद्वैत वेदान्त, ९५—ऋग्वेद संहिता और अद्वैतवाद, ९६—देवतावाद और अद्वैतवाद, ९६-९७; प्रजापति, विश्वकर्मा एवं त्वप्टा के वर्णन में अद्वैतवाद के वीज, ९७; परमतत्त्व के एकत्र एवं अजत्त्व की अभिव्यक्ति, ९७; पुरुष सूक्त के विराट् पुरुष में ब्रह्म के स्वरूप की पृष्ठभूमि, ९७-९८; नासदीय सूक्त और अद्वैत वेदान्त, ९८-९९; हंसवती ऋचा और अद्वैत वेदान्त, ९९-१००; सामनेद संहिता और अद्वैत वेदान्त, १००-१०१; यजुर्वेद संहिता और अद्वैत वेदान्त, १०१-१०२; यजुर्वेद में ब्रह्म और माया वद्वदों का प्रयोग, १०२; अथर्व वेद संहिता और अद्वैत वेदान्त, १०२-१०४; ब्राह्मण ग्रन्थ और अद्वैत वेदान्त, १०४-१०५; आरण्यक ग्रन्थ और अद्वैत वेदान्त; १०५-१०७; उपनिषद् और अद्वैत वेदान्त, १०७—सदानन्द का मत, १०७; द्व्यूमफील्ड का मत, १०७; मंक्समूलर का मत, १०७; डायसन का मत, १०७; प्रो० जे० एस० मेकेंजी का मत, १०८; प्रो० गङ्ग का मत, १०८; उपनिषद् और ब्रह्म सम्बन्धी विवेचन, १०८-१०९; सत् एवं असत् रूप में ब्रह्म का वर्णन, १०९-११०; ब्रह्म का चित् रूप में वर्णन, ११०; आनन्द रूप में किया गया ब्रह्म वर्णन, ११०; देवातीत ब्रह्म का वर्णन, ११०; कालातीत ब्रह्म का वर्णन, ११०; कार्य-कारण अवस्था से अतीत ब्रह्म का वर्णन, ११०-१११; पूर्ण सत्य के रूप में ब्रह्म वर्णन, १११; ईद्वर रूप में ब्रह्म वर्णन, १११; सप्टा व्याघ्र में ब्रह्म वर्णन, १११; रक्षक रूप में ब्रह्म वर्णन, १११-११२; उपनिषदों में ब्रह्म के निरन्तर रूप का वर्णन, ११२; डा० दासगुप्त का मत और उसकी आलोचना, ११३-११४; 'नेति-नेति' के सम्बन्ध में हिलेब्रां और एकहाट का मत और उसकी आलोचना, ११४; उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप, ११४; उपनिषदों

मेरा थार्मा के भेदो (विभिन्न स्वरूपों) का निरूपण, ११४-११५, उपनिषदों में भाषा
का स्वरूप, ११५, उपनिषदों में मुक्ति का सिद्धान्त, ११५-११६।

सूत्र साहित्य और अद्वैतवाद

११६

पुराण साहित्य और अद्वैतवाद

११६

विष्णुपुराण, ११७, शिवपुराण, ११७, थीमद्भागवतपुराण, ११७-११८, मार्कण्डेय-
पुराण, ११८, नारदीय पुराण, ११८, कूर्मपुराण, ११८, वायुपुराण, ११९,
स्कन्दपुराण, ११९, गणपुराण, ११९, ब्रह्मपुराण, ११९-१२०, ब्रह्मवैतरं पुराण
१२०, आग्नेयपुराण, १२०, पद्मपुराण, १२०, वामनपुराण, १२०-१२१, देवी-
भागवत, १२१, मत्स्यपुराण, १२१।

धीमद्भगवद्गीता और अद्वैतवाद

१२१-१२३

तत्त्व और अद्वैतवाद

१२३

शब्दत्यद्वैतवाद का स्वरूप, १२३, शब्दत्यद्वैतवाद में जीव और शिव के ऐव्य एवं
मुक्ति का विचार, १२४।

योगवासिष्ठ एवं अद्वैतवाद

१२४

योगवासिष्ठ में परमार्थ सत्य ब्रह्म का स्वरूप, १२४-१२५, जीव का स्वरूप, १२५,
योगवासिष्ठ का कल्पनावाद, १२५-१२६।

वेदान्त-दर्शन के प्रवर्तक प्रमुख महर्षि एवं धारायं

१२६

बादरि, १२६, जैमिनि, १२७, काशकृत्स्न, १२७-१२८, ओडुलौमि, १२८,
ठाण्डाचिनि, १२८, आचेय, १२८-१२९, लाश्माण्य, १२९, काश्यप, १२९।

३ अद्वैतवाद का व्यवस्थित इतिहास

शंकराचार्य पूर्ववर्ती वेदान्ती धारायं और उनकी रचनाओं में अद्वैतवाद के बीज १३०

बोधायन, १३०, उपवर्य, १३०, गुहदेव और क्षयर्दी, १३१, भारति, १३१, भृङ्हरि,
१३१-१३२, भृङ्हमित्र, १३२, ब्रह्मनन्दी, १३२, दक्ष, १३३, द्रविडाचार्य, १३३,
ब्रह्मदत्त, १३३-१३४, भृङ्हपात्र, १३३—भृङ्हपात्र वा दायेनिक सिद्धान्त, १३४,
भृङ्हपात्र वा मोक्ष सम्बन्धी मिद्धान्त, १३५, भृङ्हपात्र का परिणामवाद,
१३५, भृङ्हपात्र का प्रमाणमनुचयवाद, १३५, सुन्दरपाण्डिय, १३५-१३६,
गोद्यादचार्य वा दशंत, १३६-१३७—गोद्यादचार्य द्वारा अद्वैततत्त्व का प्रतिपादन,
१३७—ब्रह्म वा स्वभाव, १३७-१३८, गोद्यादचार्य द्वारा स्वाननादृश्य के
आधार पर दिया गया जगन्मित्यात्मवा प्रतिपादन, १३८-१३९, शक्राचार्य
द्वारा दिया गया इत्यन् एव जाग्रत के भेद का प्रतिपादन, १३९-१४०, सगलोचना,
१४०-१४१, गोद्यादचार्य वा आजादाद का मिद्धान्त, १४१-१४२,
गोद्यादचार्य और भाषा सम्बन्धी मिद्धान्त, १४१-१४३—अविष्टान और भाषा,
१४३, शोकिन्द्रपाद एवं उनकी दायेनिक देन, १४३-१४४।

शंकराचार्य द्वारा अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन, १४५-१४६; ब्रह्म के अस्तित्व का निष्पण, १४६-१४७; यांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म को जगत् कारणता के सम्बन्ध में विचार, १४७-१४८; यांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ईश्वर का स्वरूप, १४८—नृसिंहाश्रम का मत, १४९; सर्वज्ञात्मा का मत, १४९-१५०; विद्यारथ्य का मत, १५०; अद्वैतचन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत, १५०; ईश्वर का अन्तर्यामित्व एवं शासकत्व, १५०; ईश्वर की लोला और सृष्टि, १५०-१५१; शांकर दर्शन में सृष्टिवैषम्य और ईश्वर, १५१; यांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जीव का स्वरूप, १५१-१५२—वाचस्पति मिथ्य का मत, १५२; प्रकटार्थ विवरणकार का मत, १५२; विद्यारथ्य का मत, १५२; सर्वज्ञात्ममुनि का मत, १५२; दूगदूशविवेक के अनुसार जीव के तीन भेद, १५२; अप्ययतीक्ष्ण द्वारा उद्युत कुछ अन्य मत, १५२; इस लेनक का दृष्टिकोण, १५३; जीव और ईश्वर, १५३-१५४; जीव और साक्षी का अन्तर, १५४; जीव और आत्मा, १५४-१५५; जीव की एकता एवं व्यन्तता का विचार, १५५—एकजीववाद के अनेक रूप, १५५-१५६; अनेक जीववाद का सिद्धान्त, १५६; अनेक जीववाद के अनेक स्वरूप, १५६-१५७।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद और उसका नायावाद का सिद्धान्त

१५७

धीरो का मत, १५७-१५८; कोलक्रुक का मत, १५८; संतुष्टमूल्य का मत, १५८; रेगनाड का मत, १५८; गङ्क का मत, १५८; मनुसंहिता यास्कीज्ञान मैत्री१५८-१५९; समानोचना, १५९-१६०; यांकर मुद्रारूप की स्वरूप, १६०-१६१—नाया की विपरिता एवं विपरिता, १६१; यांकर वेदान्त में भाया का विपरिता, १६१; विपरित की दृष्टि से अविद्या एवं माया का निष्पण, १६२-१६४; त्रासतीर्थे क्य, मैत्र, १६४; प्राणकृप से अविद्या के विष रखने का निष्पण, १६४-१६५; शंकराचार्य तत्त्व कान में अविद्या एवं माया का भेद-निष्पण, १६५—विवरणकार का मत, १६५; विद्यारथ्य का मत, १६५; अद्वैत चन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत, १६५-१६६; माया की आवरण एवं विशेष द्वचित्यां, १६६।

शंकराचार्य-पश्चाद्वर्ती अद्वैतवादी आचार्य और अद्वैतवाद का विश्लेषण

१६६-१६७

मुरेश्वराचार्य, १६७—मुरेश्वराचार्य का प्रमुख दार्शनिक मत, १६७; गुरेश्वराचार्य का आभासवाद का निदान, १६७-१६८; पद्मपादाचार्य, १६८—जगन्निमित्यात्म के सम्बन्ध में पद्मपादाचार्य का विचार, १६८-१६९; वाचस्पति मिथ्य, १६९—वाचस्पति मिथ्य द्वारा अद्वैत वेदान्त की व्याख्या, १६९-१७१; सर्वज्ञात्ममुनि, १७१-१७२—सर्वज्ञात्ममुनि और अविष्टानयाद, १७२; अद्वैतानन्द वोद्वेद्र, १७२; आनन्दवोध भट्टारकाचार्य, १७३; प्रकाशात्मयति, १७३-१७४; विमुक्तात्मा, १७४-१७५; आचार्य चित्तमुख, १७५-१७६; अमलानन्द, १७६-१७७; विद्यारथ्य, १७७—विद्यारथ्य द्वारा किया गया साक्षी का विवेचन, १७८; प्रतागानन्द, १७८-१७९; मधुसूदन सरस्वती, १७९-१८१; एकजीववाद, १८१; मिथ्यात्म, १८१-१८२; ब्रह्मानन्द सरस्वती, १८२-१८३; धर्मराजाव्वरीन्द्र, १८३-१८४; गंगापुरी

भद्रारकाचार्य, १८४, श्रीकृष्णमिथ्यवति, १८४, थो हर्ष मिथ, १८४, श्री रामा^{१८}
चार्य, १८४, शशानन्द, १८५ आनन्दगिरि, १८५, वेष्टण्डानन्द, १८५,
मल्ननाराघ्य, १८५ नृनिहाथम १८५ भट्टोगिदीक्षित, १८६, सदाशिव प्रह्लेन्द,
१८६ नीतराष्ट्रमरि, १८६ सदानन्द योगोद्ध सरस्वती, १८६, आनन्दपूर्ण
विद्यामागर, १८६ नृमिह सरस्वती १८७, रामतीर्थ, १८७, आपदेव, १८७,
गोविन्दानन्द १८७ रामानन्द सरस्वती, १८७, काश्मीरक सदानन्द यति, १८७,
रघुनाथ, १८८, अच्युत द्वाणानन्दतीर्थ, १८८ महादेव सरस्वती, १८८, सदाशिवेन्द्र
सरस्वती १८८ आयन दीक्षित, १८८।

उन्नीसवीं-चौमठों शताब्दी के अद्वैतवादी दार्शनिक

१८८-१८९

श्रीसवी शताब्दी के शास्त्रीय अद्वैत दर्शन के लेखक, १८९, उन्नीसवी-चौमठों शताब्दी
के नवीन परम्परा के वित्तिय अद्वैती दार्शनिक एवं तत्त्ववेत्ता, १९०-१९०, स्वामी
रामकृष्ण परमहंस और उनका दासतिक मिद्दान्त, १९०, स्वामी विवेकानन्द और
उनका दार्शनिक मिद्दान्त, १९०-१९२ अरविन्द और उनका दार्शनिक मिद्दान्त,
१९२-१९३ आचार्य विनोद भावे और उनका दर्शन, १९३-१९५।

४ अद्वैतवाद का स्वरूप विवेचन, पूर्वीदं

बहु का समुण्ड एवं निर्मुण रूप

१९६

बहु का निर्मुण रूप, १९६-१९७, बहु का समुण्ड रूप १९७, निर्मुण एवं समुण्ड का
समन्वय, १९७-१९८।

जगत् का मिथ्यात्व और उसकी व्याख्यातिकता

१९८-१९९

जगत् की अभावरूपता का निराकरण, १९९-२००, अध्यात्म के आधार पर जगत्
के मिथ्यात्व का प्रतिशादा, २००-२०१, अतिवेचनीयत्वानिवाद, २०१, थात्म-
स्वानिवाद का मिद्दान्त, २०१ अमृतगतिवाद का मिद्दान्त, २०२, अन्यथास्वाति-
वाद वा मिद्दान्त, २०२, अच्युतिवाद का मिद्दान्त, २०२, भत्त्यानिवाद का
सिद्धान्त, २०२, उपर्युक्त मतों की समानोचना, २०२-२०३, अतिवेचनीय स्वानि-
वाद का मिद्दान्त, २०३-२०४।

वया अद्वैत वेदान्त में कार्यकारणवाद सम्भव है ?

२०५-२०६

वेदिक कार्यकारणवाद, २०६-२०७, अद्वैत वेदान्त और कार्यकारणवाद का सिद्धान्त,
२०८-२०९, विवर्तवाद का स्वरूप, २०९-२१०, विवर्तवाद एवं सार्व एवं सत्-
कार्यवाद या परिणामवाद, २१०, विवर्तवाद और अग्नकार्यवाद का मिद्दान्त,
२१०-२११।

अद्वैत वेदान्त के शक्तराचार्य-परवर्ती आचार्योंद्वारा कार्यकारणवाद की समालोचना २११
मध्येप शारीरकार का मत, २११-२१२, विवरणकार का मत, २१२, वाचस्पति
मिथ का मत, २१२, अद्वैत मिद्दिकार मधुमूदन सरस्वती का मत, २१२, प्रवासा-
नन्द का मत, २१२, विवरण आप मत, २१२-२१३ आरोचना, २१३-२१४,

दृष्टि-सूष्टिवाद, २१४; प्रथम मत के अनुसार दृष्टि-सूष्टिवाद का स्वरूप, २१४; प्रथम मत की बालोचना, २१४-२१५; द्वितीय मत के अनुरूप दृष्टि-सूष्टिवाद का निहण, २१५-२१६; समीक्षा, २१६; सूष्टि-दृष्टिवाद का सिद्धान्त, २१६।

अध्यारोपवाद एवं अपवाद की योजना

२१६-२१७

अपवाद के तीन भेद, २१७; धौत अपवाद, २१७; यौवितक अपवाद, २१७; प्रत्यक्ष अपवाद, २१७।

५ : अद्वैतवाद का स्वरूप-विवेचन, उत्तरार्द्ध

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत गणितान का स्वरूप

२१८-२१९

शून्यवादी वौद्ध का अधिष्ठानवाद पर आरोप और उसका परिहार, २१६; वीजां-कुंर न्याय द्वारा अविष्टान का समर्थन, २१६-२२०; जागरण एवं स्वप्नकालिक अध्यास का अविष्टान, २२१-२२२।

अध्यात्मवाद और अद्वैत दर्शन

२२२

अन्यथात्मातिवादी नैदायिक का अध्यास सम्बन्धी मत, २२२; आत्मत्यातिवादी धर्मिक विज्ञानवादी वौद्ध का मत, २२२; शून्यवादी वौद्ध का मत, २२२-२२३; अश्यातिवादी मीरासिक का मत, २२३; अद्वैत वेदान्त में अध्यास का स्वरूप, २२३-२२४; अध्यास के विभिन्न रूप, २२४; अध्यास का महत्व, २२४-२२५।

अद्वैत वेदान्त में ईश्वरोपासना की संगति और उसका महत्व

२२५

ब्रह्मनोक प्राप्त करने वाले गणोपासकों की मुक्ति, २२५-२२६; सुरेश्वराचार्य का मत, २२६; अहंग्रह और प्रतीक उपासनाएँ, २२६-२२७; संन्यास की उपयोगिता और योग्यता, २२७-२२८।

वेदान्त दर्शन में मुक्ति का स्वरूप

२२८

मुक्ति की परिभाषा और उसका स्वरूप, २२८-२२९; अविद्या निवृत्ति और आत्म-चोद्ध, २२९-२३०; मुक्ति पुरुष का व्यवहार, २३१-२३२; क्या मुक्ति पुरुष का पर्स-लोकगमन सम्भव है ?, २३२; जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति, २३२-२३३; मुक्तात्माओं द्वारा शरीरप्राप्त होने पर पुनः शरीर धारण करने की समस्या पर विचार, २३३; समीक्षा—२३३-२३५; 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' के सम्बन्ध में विचार, २३५-२३६।

अद्वैत वेदान्त में वृत्ति-निहण

२३६

स्थूल विषयों से सम्बन्धित वृत्ति, २३७; वृत्ति का महत्व, २३७-२४०; 'अहं ब्रह्मास्मि वृत्ति' का स्वरूप और उसकी उपयोगिता, २४०-२४१; 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं जडवटाद्याकाराकारित चित्तवृत्ति का भेद-निहण, २४१; तत्त्वमसि द्वारा ब्रह्मवौध, २४१-२४२; तत्त्वमसि के अन्तर्वर्ती पदों का अर्थ, २४२; 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ एवं लक्षण, २४२; तत्त्वमसि का लक्षण प्रतिपाद्य अर्थ, २४२-२४३; जहलक्षण और तत्त्वमसि, २४३; अजहलक्षण और तत्त्वमसि, २४३-२४४; तत्त्वमसि और भाग-

लक्षण या जहद प्रहल्दकणा, २४३-२४५, समानाधिकरण सम्बन्ध, २४५, विशेषण-
विद्वान् भाव सम्बन्ध, २४५-२४६, वेदान्तपरिभाषाकार वा भत, २४६-२४७ ।

६. अद्वैतवाद तथा अन्य विविध वैष्णव-वेदान्तिकवाद—तुलनात्मक अध्ययन

रामानुजाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त (विशिष्टाद्वैतवाद)	२५०-२५७
ब्रह्म का विविध प्रकार से वर्णन, २५०, ब्रह्म का बोधार रूप, २५०-२५१, ब्रह्म का नियन्ता रूप, २५१, ब्रह्म का यासक एवं रक्षक रूप, २५१-२५२, ब्रह्म वा जीव का स्वरूप, २५२, जीवों के भेद, २५४, जगत्, २५५, मुक्ति का स्वरूप, २५५-२५६, रामानुज दर्शन में प्रतिक का स्वरूप, २५६-२५७, फल समर्पण, २५७, भार समर्पण, २५७, स्वस्य समर्पण, २५७, दैक्षिण्य भत, २५७, बड़क्से भत, २५७-२५८ ।	
अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद की तुलना	२५८-२७०
ब्रह्म, २५६-२६०, जीव, २६०, जगत्, २६१, कार्यकारणवाद, २६१-२६२, मुक्ति का विचार २६२, तत्त्वमसि, २६३, माया सम्बन्धी दृष्टिकौशल, २६३-२६४, आत्मायानुपर्याति, २६४-२६५, ब्रह्मावरकरत्वानुपर्याति, २६६, स्वरूपानुपर्याति, २६६-२६७, अनिरंवरतीयत्वानुपर्याति, २६७-२६८, प्रमाणानुपर्याति, २६८, निवारकानुपर्याति, २६८-२६९, निवृत्यनुपर्याति, २६९-२७० ।	
निष्ठाकं दर्शन का स्वरूप	२७०
इताद्वैतवाद का सिद्धान्त	२७०-२७३
ईश्वर, २७१, जीव, २७२, ईश्वर एवं जीव वा सम्बन्ध, २७२, जगत्, २७२-२७३, मुक्ति, २७३ ।	
निष्ठाकं दर्शन और अद्वैत वेदान्त दर्शन	२७३-२७५
भक्ताचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त	२७५-२७८
ईश्वर, २७६, जीव, २७६-२७७, जगत्, २७७, मुक्ति, २७७-२७८ ।	
अद्वैत वेदान्त एवं भक्त दर्शन	२७८
इन्समाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त (शूद्राद्वैतवाद)	२७९-२८२
ब्रह्म, २७६, कार्यकारण सम्बन्ध, २७६-२८०, बन्नम दर्शन वा जीव सबधी सिद्धान्त, २८०-२८१, जीवों के भेद, २८१, बन्नम दर्शन के अनुसार जगत् का स्वरूप, २८१, बन्नम दर्शन के अनुसार जगत् और ससार वा भेद, २८१-२८२ ।	
धर्मसमाचार्य के अनुसार भक्ति का स्वरूप	२८२-२८६
शाश्वत्य मूल और भक्ति, २८२, विष्णुपुराण और भक्ति, २८२, श्री मद्भगवद्-गीता में भक्ति का स्वरूप, २८२-२८३, रामानुजाचार्य और भक्ति, २८३, भक्ति-चिन्तामणि के अनुसार भक्ति का स्वरूप, २८३, कुछ भन्द आचार्यों एवं विद्वानों के	

मत, २८३; गोपेश्वर जी महाराज का मत, २८३; इस लेखक का दृष्टिकोण, २८४;
वल्लभाचार्य और उनका भवित सम्बन्धी सिद्धान्त, २८३-२८४; वल्लभाचार्य और
उनका पुष्टिमार्ग, २८४; भर्यादा भवित और पुष्टि भवित, २८४-२८५; प्रवाहमार्ग
और पुष्टिमार्ग, २८५; भवित के साधन, २८५; वल्लभ दर्शन में मुक्ति का स्वरूप,
२८६।

अद्वैत वेदान्त एवं वल्लभ दर्शन, तुलनात्मक विवेचन	२८६-२८८
कृतिपय अन्य वैष्णव एवं उनके दार्शनिक सिद्धान्त	२८९
महाप्रभु वैतन्य और उनका दार्शनिक सिद्धान्त	२९०-२९१
पंचधा भवित, २९१; शुद्धा भवित, २९१।	
जीव गोस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त	२९१
जीवगोस्वामी के अनुसार ऋहु, भगवान् तथा परमात्मा का स्वरूप	२९२-२९४
भगवान् की शक्तियाँ, २९२-२९३; जीव का स्वरूप, २९३; जगत् का स्वरूप, २९३; जीवगोस्वामी और परमात्मसाकाशकार का स्वरूप, २९३-२९४, मुक्ति के अन्य रूप, २९४।	
जीव गोस्वामी और भवित का स्वरूप	२९४-२९६
भगवन्नाम का महरूप, २९४-२९५; भवित की नी विशेषताएँ, २९५; भवित के भेद, २९५; वरणागतिभाव और उसके प्रमुख तत्त्व, २९५; भजतों की विभिन्न कोटियाँ, २९५-२९६।	
अद्वैत वेदान्त और जीवगोस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त (तुलनात्मक दृष्टिकोण)	२९६-२९८
वलदेव विद्याभूषण और उनका दार्शनिक सिद्धान्त	२९८-३००
ईश्वर, २९८; वलदेव विद्याभूषण का 'विशेष' सिद्धान्त, २९८-२९९; भगवान् की शक्तियाँ, २९९; भवित, २९९; समीक्षा, २९९-३००।	

७ : अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन

वेदान्तिक अद्वैतवाद और तान्त्रिक शक्तियद्वैतवाद	३०१-३०७
अद्वैतवादी का व्रता और शक्तियद्वैतवादी का शक्ति तत्त्व, ३०३-३०४; अद्वैतवादी की माया और शक्तियद्वैतवादी की शक्ति, ३०४, अद्वैतवादी और शक्तियद्वैतवाद के अनुभाव जगत् का स्वरूप, ३०४-३०५; अद्वैतवाद और शक्तियद्वैतवाद के अन्तर्गत मीक्ष का तुलनात्मक विवेचन, ३०५-३०७।	
शक्तियद्वैतवाद की कुछ समस्याएँ	३०७-३०८
वेदान्तिक अद्वैतवाद और कालमीरी शैव दर्शन वा का ईश्वराद्वयवाद	३०८-३११
ऋग्भग्निका, ३०८-३०९; गंव सम्प्रदाय, ३०९-३११।	

वादमीर शैयदर्शन का संदानिक है	३११-३१७
स्पन्ददर्शन, ३११-३१३ प्रत्यभिज्ञा दर्शन, ३१३-३१४, स्पन्द दर्शन और प्रत्यभिज्ञा दर्शन, ३१४-३१५, स्पन्द शास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का ईश्वराद्वेषाद और वेदान्तिक अद्वेषाद—तुलनात्मक विवेचन, ३१५-३१७।	
वेदान्त का अद्वेषाद और वोग्वासिङ्गत अद्वेषाद—तुलनात्मक विवेचन	३१७-३२०
वेदान्तिक अद्वेषाद और बीदू दर्शन (विज्ञानवाद एवं शून्यवाद)--- तुलनात्मक अध्ययन	३२०-३२१
विज्ञानवाद का सक्षिप्त परिचय	३२१-३२७
योगचार और विज्ञान का घर्थ, ३२१-३२२ सणिकविज्ञानवाद एवं प्रतीत्य समूलवादाद, ३२२-३२३ विज्ञानवादी का सावृत्तिक सत्य, ३२३, परमार्थ सत्य, ३२३-२४, असग और असुवन्यु का चरण सत्य, ३२४, सदावतार मूल मेर चरण सत्य का रूप, ३२४, अवश्योप और चरण सत्य, ३२४ विज्ञानवाद एवं वेदान्तिक अद्वेषाद, ३२५-३२७।	
शून्यवाद एक दिग्दर्शन	३२७-३३२
प्रतीत्य समूलवादाद का स्वरूप, ३२८, शून्यता के विभिन्न रूप, ३२९—अध्यात्म शून्यता, ३२९, वहिधिशून्यता, ३२९ अस्यात्म वहिर्पर्याशून्यता, ३२९, शून्यता की भूत्यता, ३२९, महाशून्यता, ३२९, परमार्थ शून्यता, ३२९, सहृत शून्यता, ३२९, असहृत शून्यता, ३२९, अग्न्यन्त शून्यता, ३२९, अनवराग शून्यता, ३२९, अनवकार शून्यता, ३२९, प्रकृति शून्यता, ३२९, मर्वंथर्गं शून्यता, ३२९, लक्षण शून्यता, ३२९, उपलेख शून्यता, ३२९, अभावस्वभावशून्यता, ३३०, भाव शून्यता, ३३०, अभाव शून्यता, ३३०, स्वभाव शून्यता, ३३०, परमाव शून्यता, ३३०, पर्म शून्यता, ३३०, शून्यवादी की सम्बन्धवादी कल्पना, ३३०-३३१, विज्ञानवादी एवं शून्यवादी की सवृत्ति वा अन्तर, ३३१, निर्विण, ३३१, अपर प्रत्यय, ३३२, शान्त, ३३२, प्रपञ्च प्रपञ्चित, ३३२, निर्विकल्प, ३३२, अलानार्थ, ३३२, निर्विण की अस्त्यता, ३३२।	
शून्यवाद और अद्वेषाद का तुलनात्मक विवेचन	३३२-३३६
रात्रि सम्बन्धी विचार, ३३४, सवृति एवं अविचार, ३३४-३३६।	
प्रमा अद्वेषाद के प्रस्पाएक शक्तरात्मार्थ प्रचलन कोड़ है ?	३३६-३४०
एदमपूराग का मत, ३३६, रामानुजाचार्य का मत, ३३६-३३७, भारकरात्मार्थ का मत, ३३७, योगवासिङ्ग का मत, ३३७, ठा० दासगुप्त का मत, ३३७, ठा० बरुआ का मत, ३३७, राहुल माहेश्वर का मत, ३३७, समाजोचमा, ३३८-३४०।	
भट्टैहरि का शम्भाद्वयवाद और शक्तरात्मार्थ का अद्वेषाद	३४०-३४१
शौहपादाचार्य का अग्ननवाद और शाकर प्रद्वेषाद	३४१-३४२

८ : उपसंहार

अद्वैत वेदान्त पर विहंगम दृष्टि	३४६-३५२
अद्वैतवाद की पिशेषताएँ, ३४६; ब्रह्म की सगृणता एवं निर्गुणता, ३५०; शूष्टि वैयाक्य और ईश्वर, ३५०; आचार का महत्व, ३५०; सत्तात्रय की कल्पना, ३५०-३५१; मायावाद की देन, ३५१; जगत् का मिथ्यात्व, ३५१; विवर्तवाद, ३५१; अधिष्ठानवाद और अध्यासवाद, ३५१; भुवित का सिद्धान्त, ३५२; अतिवंजनीय-स्थातिवाद, ३५२।	
अद्वैतवाद का दार्शनिक एवं ध्यायहारिक महत्व	३५२-३५३
परिशिष्ट	
१. सहायक ग्रन्थ-सूची	३५५-३६४
(क) संस्कृत ग्रन्थ	
(ख) अंग्रेजी ग्रन्थ एवं पथ-पत्रिकाएँ आदि	
(ग) हिन्दी ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ आदि	
(घ) बंगला-ग्रन्थ	
(ঙ) संस्कृत-जर्मन ग्रन्थ	
(চ) अरबी ग्रन्थ	
२. अनुक्रमणिका	३६५-३८६
३. शुद्धि-पत्र	३८७-३८८

४४

संकेत-निर्देश-सूची

अ० वे० स०
 ई० उ०
 उ० सा०
 ऐ० आ०
 ऐ० चा०
 क० उ०
 गौ० का०
 छा० उ०
 रौ० आ०
 कै० चा०
 पा० टि०
 प्र० पा० भा०
 प० सू०
 प्र० सू० शा० भा०
 व० उ०
 व० भा० वा०
 म० का०
 मा० उ०
 मा० का० व०
 यो० वा०
 ल० सू०
 वि० प्र० स०
 वे० सि० मु०
 या० चा०
 शा० भा०
 शा० भा० क० उ०
 शा० भा० चा० उ०
 शा० भा० व० उ०
 शा० भा० मा० उ०
 शा० भा० मा० का०

अथवं वेद संहिता
 ईशावास्य उपनिषद्
 उपदेश साहस्री
 ऐतरेय आरण्यक
 ऐतरेय ब्राह्मण
 कठ उपनिषद्
 गौडपाद कारिका
 छान्दोग्य उपनिषद्
 तत्तिरीय आरण्यक
 तत्तिरीय ब्राह्मण
 पाद टिप्पणी
 प्रशस्त पाद भाष्य
 प्रह्लृ सूत्र
 ब्रह्म सूत्र शाङ्कर भाष्य
 वृहदारण्यक उपनिषद्
 वृहदारण्यक भाष्य-वात्तिक
 मध्यमक कारिक
 माण्डूक्य उपनिषद्
 माध्यमिक कारिका वृत्ति
 योग नासिष्ठ
 लड़कावतार सूत्र
 विवरण प्रमेय संग्रह
 वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली
 शतपथ ब्राह्मण
 शावर भाष्य
 शांकर भाष्य कठ उपनिषद्
 शांकर भाष्य छान्दोग्य उपनिषद्
 शांकर भाष्य वृहदारण्यक उपनिषद्
 शांकर भाष्य माण्डूक्य उपनिषद्
 शांकर भाष्य माण्डूक्य कारिका

सि० से० ए०
D. S. V.
E R. E.
J A O S
S B S. B E

भिदान्त वेदा सग्रह
Deussen's System of Vedanta
Encyclopaedia of Religion & Ethics
Journal of the American Oriental Society
Shankar Bhashya, Sacred Books of the East

प्रथम अध्याय

विषय-प्रबोध

दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद का स्थान

भारतीय एवं विदेशीय दर्शन के क्षेत्र में वेदान्तदर्शन के अद्वैतवाद सिद्धान्त का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यों तो, संहितागत अद्वैतवाद, औपनिषद अद्वैतवाद, शक्त्यद्वैतवाद, भर्तृहारि-प्रतिपादित शब्दाद्वैतवाद, गौड़पादीय अद्वैतवाद, गायावादपुष्ट शाङ्कर अद्वैतवाद, रामानुज के खिंचिष्ठाद्वैतवाद, वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद एवं निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद आदि सभी सिद्धान्तों में अद्वैत शब्द का योग एवं अद्वैतवाद सिद्धान्त का न्यूनाधिक रूपरूप मिलता है, परन्तु इन समस्त सिद्धान्तों में, शाङ्कर अद्वैतवाद के अन्तर्गत अद्वैतवाद का जो पूर्णतया संद्वान्तिक, सुव्यवस्थित एवं सामंजस्यपूर्ण प्रतिपादन मिलता है, उसका उपर्युक्त अन्य सिद्धान्तों में कहीं अल्प और कहीं अत्यल्प रूप ही उपलब्ध होता है। अतः यहाँ रूपरूप से यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि दर्शन के क्षेत्र में शाङ्कर अद्वैतवाद का ही सर्वाधिक महत्त्व है। इस सिद्धान्त का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि जब वेदान्तदर्शन की चर्चा होती है तो उससे/प्रायः शाङ्कर दर्शन का ही अर्थ ग्रहण किया जाता है और यही कारण है कि साधारणतया वेदान्तदर्शन से अद्वैत दर्शन का ही आशय ग्रहण किया जाता है।^१

यहाँ अद्वैतवाद के अर्थ के सम्बन्ध में भी विचार करना उपयुक्त होगा। अमरकोश^२ में वुद्ध के लिए अद्वयवादी शब्द का प्रयोग किया गया है।

हलायुधकोश^३ के अन्तर्गत भी अद्वयवादी का उल्लेख मिलता है। यहाँ अद्वयता से एकमात्र आत्मा की ही सत्यता का आशय ग्रहण किया गया है।^४ तात्त्वस्पत्थन् में अद्वैत शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

द्विधा इतम् द्वीतीं तस्य भावः द्वैतय् भेदो—नास्ति द्वैतं भेदो यत्र (तदद्वैतम्)।

१. Dr. S. N. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. 1, p. 429

२. अमरकोश, ११४

३. हलायुधकोश, १८५

४. अद्वयं सर्वमेव चित्स्वरूपं नात्मनोऽन्यत् किञ्चनेति वदति।

हलायुधकोश द्विवृति, पृ० ११४, (सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, शकाब्द १८७६)

बोगलिक एवं रौय द्वारा सम्पादित सेंट पीटसंयर्ग इष्टशनरी के अन्तर्गत अद्वैतशास्त्र के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जो जर्मन पेबिट (Pebit) और एलीनहीट (Alleinhheit) शब्द दिए हैं, वे भेदरहित अद्वैत तत्त्व के ही अर्थ के वोधक हैं।^१

Encyclopaedia of Religion And Ethics में अद्वैत शब्द का आशय प्रकट करते हुए कहा है —

Advaita in its philosophic applications means non-dualism, and is used to designate the fundamental principle of the Vedanta which asserts that the only reality is brahman.^२

उपर्युक्त वाचन के अनुसार अद्वैत शब्द का अर्थ द्वैतवाद के विरोधी एवं वेदान्त के ब्रह्मसत्यत्व-सम्बन्धी सिद्धान्त का दोतक है।

सर मोनिपर मोनियर विलियम्स द्वारा सम्पादित शब्दकोप में अद्वैत शब्द से द्वैतरहित, अनुपग एवं पूर्ण सत्य का तात्पर्य प्रस्तुत किया गया है। दार्शनिक अर्थ में अद्वैत शब्द का अर्थ जीव एवं ब्रह्म या परमात्मा का ऐवय है।^३

मंड़दान्तल ने अद्वैत शब्द का अर्थ द्वैतरहित एवं ऐवय किया है।^४ कालं कंपेतर ने भी अद्वैत का अर्थ द्वैतरहित एवं अद्यन्व ही किया है।^५

हनेस द्वारा सम्पादित इष्टशनरी आफ फिलासफी के अन्तर्गत अद्वैतवाद के पर्याय-वाची अप्रेजी शब्द मोनिरम वा अर्थं एक मूल सत्य किया गया है। उबड़ कोश ग्रन्थ में ही यह भी बतलाया गया है कि इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वूल्फ़ महोदय ने किया था।^६

ऊपर उद्यृत किये गए कोशायी के अनुमार अद्वैत शब्द का अर्थ द्वैतविरोधी एवं भेदरहित तत्त्व है। अद्वैत शब्द का उपर्युक्त कोशायी द्वारा दिया गया अर्थ अद्वैतवाद के सम्बन्ध में भी पूर्णतया चरितार्थ होता है।

अद्वैतवाद सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादनकर्ता शहूराचार्य ने भी अद्वैत शब्द का प्रयोग भेदरहित एवं परमार्थ मत्यम्बस्तु आन्मा^७ एवं ब्रह्म के लिए किया है। अत्यन्त मक्षेत्र में, इस

१ Both Link & Roth St. Petersburg Dictionary, Vol 1, p 136 (1885)

२ Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol 1, p 137

३ अद्वैत—Destitute of duality, having no duplicate, Peerless, sole, unique, identity of Brahman or of the Parmatman or supreme soul with the Jivatman or soul

Sir Monier Monier Williams Sanskrit English Dictionary, p 19 (Oxford Clarendon, New edition)

४ Macdonell A Practical Sanskrit Dictionary, p 9 (Oxford University Press 1924)

५ Carl Cappeller Sanskrit English Dictionary, p 12 (London 1891)

६ Dictionary of Philosophy, p 201 (Ed by Runes Vision press London)

७ आरम्भ के बलो—गिवोऽद्वैत । (शा० मा० माण्डृश्योपनिषद् १२)

नहैयानुवादेयाद्वैतानावग्नो तिविषयाप्यप्रमातृकाणि च प्रमाणाति भवितुमहंतीति ।

(प० सू०, शा० मा०, १४४)

प्रकार कह सकते हैं कि अद्वैतवाद से शङ्कराचार्य का सम्बन्ध घनिष्ठ है।^१ शङ्कराचार्य ने अद्वैतवाद के प्रतिपादन के द्वारा केवल आत्मा एवं ब्रह्म की सत्यता तथा जगत् के मिथ्यात्व का समर्थन किया था।^२ शङ्कराचार्य ने अद्वैततत्त्व को निर्गुण सत्य के रूप में स्वीकार किया था।^३

जगत् की स्थिति का विवेचन शंकराचार्य ने मायावाद के आधार पर किया था।

जहाँ तक दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद के स्थान, महत्त्व एवं देन की वात है, विभिन्न भारतीय एवं विदेशीय दर्शन-पद्धतियों के लिए अद्वैतवाद ने कुछ-न-कुछ देन अवश्य दी है। इस देन का स्पष्टीकरण प्रस्तुत ग्रन्थ में अद्वैतवाद का विविध भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते समय स्वतः हो जायगा। इसके अतिरिक्त वैदिक सिद्धान्तों की जैसी व्याख्या एवं समन्वय अद्वैतवाद के पोपक शङ्कर वेदान्त में मिलता है वैसा न्याय, वैशेषिक, सांख्य एवं योगदर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता।^४

वैदिक सिद्धान्तों के समन्वय की प्रतिष्ठा जैसी अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत मिलती है, वैसी विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैतवाद एवं द्वैताद्वैतवाद आदि वैष्णव सिद्धान्तों के अन्तर्गत अप्राप्य है। यहीं नहीं, शङ्कर वेदान्तसम्मत अद्वैत सिद्धान्त इतना विस्तृत है कि उसके परवर्ती विशिष्टाद्वैतवाद एवं द्वैतवाद सिद्धान्तों की भी स्थिति उसमें आसानी से देखी जा सकती है। इस प्रकार यह कहना सभीचीन ही होगा कि विविध वैष्णव दर्शन-पद्धतियों के बिकास में शङ्कर अद्वैतवाद का अत्यन्त महान् योग है। वस्तुतः शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त इतना विशाल, उदार एवं समन्वयपूर्ण है कि इस विलक्षण सिद्धान्त में वैष्णवों, शैवों, शाकतों, मीमांसकों, विशिष्टाद्वैतवादियों, द्वैतवादियों, वैदिकों, तान्त्रिकों, मान्त्रिकों—किसी भी प्रकार की आस्था, धर्म एवं क्रिया से सम्बन्ध अन्य आगामी दार्शनिकों के लिए भी स्थान प्राप्त है।^५

उपर्युक्त भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त इस्लामी दर्शन को भी अद्वैत वेदान्त से दार्शनिक देन प्राप्त हुई है। जैसा कि, इसी अध्याय में आगे चल कर स्पष्ट होगा,

१. “अद्वैतवेदान्त वौलिले शङ्कराचार्य के बूझाय एवं शङ्कराचार्य वौलिले अद्वैत वेदान्त बूझाय।” (आशुतोपशास्त्री, वेदान्तदर्शन—अद्वैतवाद (प्रथम खंड), पृ० १४७, (द्वितीय संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय)।
२. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः। —विवेकचूडामणि २०
३. Thibaut, S.B.E : Vol. XXXIV, Introduction, p. XXX (Oxford clarendon Press, 1890)
४. Indian Historical quarterly, Vol. VI (1930) p. 108, (S. K. Mukherjee's article—Sankara on the relation between the Vedas and Reason).
५. The Vaishnavites, the Savites & the Saktas, the Mimanskas, the Vishishtadvaitas & the Dvaitas, the Vaidikas, the Tantrikas & the Mantrikas, all these, & others yet to come, irrespective of their faith or creed or practice have a place in the wonderful system of philosophy, evolved & perfected by the revered Sankara. (Indian Historical Quarterly, p. 692, 1920)

अद्वैत वेदान्त एव इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों भी पर्याप्त साम्य मिलता है, इसीलिए इस्लामी दर्शन के ढाँचाचन्द्र और कामिलहुसैन आदि समाजोचकों ने इस्लामी दर्शन पर वेदान्त दर्शन का प्रभाव निःमहोच स्वीकार किया है।^१

इस प्रकार भारतीय दर्शन एव इस्लामी दर्शन के खेत्र में अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त का अत्यधिक महत्व स्वीकार किया गया है।

पाद्यात्म्य दर्शन के खेत्र में भी अद्वैत वेदान्त का स्थान एव महत्व किमी प्रकार बरं नहीं है। इतना ही नहीं, ग्रीष्म दार्शनिकों तथा फास एव जर्मनी आदि देशों के अनेक दार्शनिकों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव भी स्पष्ट है। इस प्रभाव का उल्लेख इसी अध्याय के अध्यिम पृष्ठों में दिया जाएगा।

ग्रीष्म दर्शन पर अद्वैत वेदान्त के प्रभाव के सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त ही है कि भारतीय औपनिषद वेदान्त के मुदित आदि अनेक ऐसे सिद्धान्त हैं जिन्हें ग्रीष्म दार्शनिकों ने अण स्पष्ट में घटण किया था।^२ यही कारण है कि बमेतोफेन, बील्स, परमेतिद, जेनो, लेटो और अरम्नू ने दार्शनिक मिद्धान्त अद्वैतवाद मिद्धान्त के बहुत-कुछ समान हैं। इन सिद्धान्तों पे साम्य एव दैप्यम का उल्लेख भी इसी अध्याय में आगे किया जायगा।

जहा तक डेकार्ट, स्पिगोजा, नाइबिन्ड, बर्कले, काण्ट, फिल्टे, शेलिग, हेगल, शोपेनहार आदि पाद्यात्म्य दार्शनिकों और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का भ्रम है, इन दार्शनिकों वो अद्वैतवाद दर्शन से अत्यन्त प्रौढ़ एव स्पष्ट देन प्राप्त हुई है। इस सम्बन्ध में शोपेनहार प्रभुनि पाद्यात्म्य दार्शनिक विद्वानों वी महत्वात्मकता उत्तेजनीय है कि उन्होंने औपनिषद वेदान्त एव अद्वैतवाद के समर्थक शाक्कुर वेदान्त की देन एव महत्वा भी स्वीकार करने में प्रसन्नता का अनुभव किया है।^३

जैसा कि इस अध्याय के अन्तर्गत आगामी विवेचन से स्पष्ट हो जायगा, बर्कले, काण्ट एव हेगल आदि दार्शनिकों पर भारतीय अद्वैतवाद का अत्यधिक प्रभाव स्पष्ट स्पष्ट से परिलक्षित होता है।

इस प्रकार यह निश्चात्मक स्पष्ट में बहा या भरता है कि भारतीय एव पाद्यात्म्य दर्शन के स्पष्ट में अद्वैतवाद का स्पष्ट है। लेन्द्र के उक्त मन का युक्तिगूण निंदप्रयम, यद्ध एव मन्त्रम अध्याय के अन्तर्गत दिये गए तुलनात्मक विवेचन से और भी स्पष्ट हो जाएंगा।

बव हम इस अध्याय में व्याय, वेदेपित्र, सास्य, योग, पूर्वभीमामा तथा विविह

१. ३० ताराचन्द्र एव कामिलहुसैन का लेख Growth of Islamic thought in India (HISTORY OF PHILOSOPHY, p. 491)

२. Zeller OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 16 (Routledge and Reganpaul, 1955 (Works, Calcutta, Ed I, pp. 20, 125, 127.)

३. Schopenhauer Preface to the first edition of The World as Will & Idea, Translated by Haldane & Kemp, Frederick Schlegel Indian Language, Literature & Philosophy, p. 471 तथा देखिए—मन्मुखराम सूर्यराम, विचार-सामार, पृ० ५

पाश्चात्य धार्शनिकों एवं इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

न्यायदर्शन और अद्वैत वेदान्त

अद्वैतवाद और न्यायदर्शन के तीलनिक विवेचन के लिए न्यायदर्शन की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा।

न्यायदर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा

न्यायदर्शन के गवेषणापूर्ण अध्ययन के लिए न्याय शब्द का अर्थ भी अत्यन्त विचार-शोध है। न्यायदर्शन का आदिम रूप हमें उन वैदिक एवं जीवनियद शास्त्रार्थों और विद्वानों के वाद-विवादों में मिलता है जिनमें ब्रिटान् लोग एक-दूसरे को परास्त करना ही अपने बैदुष्य का घरम लद्य नमस्करने लगे थे। मेरा विचार है कि इस प्रकार के शास्त्रार्थों एवं वाद-विवादों में विद्वानों की रचि इतनी बढ़ गई होगी कि उन्होंने इन शास्त्रार्थ-प्रणाली को पृथक् अध्ययन का विषय बना लिया होगा। यही शास्त्रार्थ जातुचित् “वाको वाक्य” के नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे। बापस्तम्ब ने, जो ब्रिटान् बूहनर (Buller) के मनानुमार, ईसा-पूर्व तीनरी शती में वर्तमान थे, न्याय शब्द का प्रयोग मीमांसा के अर्थ में किया है। इस तथ्य का उल्लेख बोडस (Bodas) महोदय ने अपने “हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ इंडियन लौजिक” नामक लेख के अन्तर्गत किया है।

प्राचीन काल में न्याय के लिए ‘आन्वीक्षिकी’ विद्या का व्यवहार होता था। ‘आन्वीक्षिकी’ का उल्लेख उपनिषदों^१, रामायण^२, महाभारत^३, मनुस्मृति^४, गौतमधर्मसूत्र और क्षीटिक्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। न्याय शब्द का एक प्राचीन अर्थ किसी वस्तु का औचित्य-निर्णय भी है। इसी आधार पर भाव्यकार वात्स्यायन और वाचस्पतिमिश्र ने न्याय की परिभाषा—‘प्रमाणेर्थपरीक्षणं न्यायः’ (विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तुतर्क की परीक्षा करना ही न्याय है) स्वीकार की है।^५ प्राचीन काल में न्यायशास्त्र ‘हेतुशास्त्र’, ‘हेतुविद्या’, ‘तकन्विद्या’, ‘तकन्वास्त्र’, ‘धाद-विद्या’, ‘न्यायविद्या’, ‘प्रमाणशास्त्र’, ‘तक्की’, ‘विमंती’ आदि अभिवानों से भी प्रसिद्ध रहा है। मेरा विचार है कि न्याय के इस प्राचीन रूप में केवल तकन्वास्त्री की ही धोड़सा थी। अध्यात्मवर्णन इस प्राचीन न्याय का अंग नहीं था।

प्राचीन और नव न्याय

न्यायदर्शन का इतिहास लंगभग दो सहन वर्ष प्राचीन है। इस दर्शन की दो प्रसिद्ध धाराएँ हैं। पहली धारा के द्वगम-स्थल, लूत्रकार गौतम के सूत्र हीं और दूसरी धारा का उत्पत्ति-स्थान वार्ष्णी शती के उपाध्याय गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि है। प्रथम धारा प्राचीन न्याय की प्रत्यक्ष है और दूसरी नव न्याय की। प्रथम धारा (प्राचीन न्याय) पोडश पदार्थों के निरूपण के कारण पदार्थमीमांसात्मक वर्णन् ‘कैटेगोरिस्टिक’ प्रणाली कहलायेगी। दूसरी

१. बृहदारण्यक, उ०, १२।३।५; छा० उ०, ७।१।२

२. अयोध्याकाण्ड, १००-३६

३. शान्तिपर्व, १८।०।४७

४. शान्तिपर्व, ७।४।३

५. शान्तिपर्व, ११।३

६. शान्तिपर्व, १।२-७

७. वात्स्यायन-न्यायभाष्य, १।१।१; वाचस्पति : न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, १।१।१

(नव्य न्याय) प्रणाली के अन्तर्गत प्रमाणों ३ः सीमासा होने के बारण उसे 'प्रमाणमीमांसात्मक' अर्थात् 'एपिस्टोमोलोजिकल' कहा जाएगा।

प्राचीन और नव्य न्याय में अन्तर

प्राचीन और नव्य न्याय की मूल दृष्टियों में पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन न्याय अध्यात्म-प्रधान है और नव्य न्याय शुक्ल तकंप्रधान। यों, प्राचीन न्याय में भी तकं की वस्तु योजना नहीं है 'वाद' से लेकर 'निग्रहस्थान' तक वी प्रमेय-योजना बृहतर्वं की ही साधिका है। परन्तु वौद्वों ने साथ हुए प्रतिवाद के प्रत्यक्षलय नव्य न्याय की तार्त्तिक भूमि अविक्ष मुख्यर एव आदर्यंक है। इसका कारण यह है कि प्राचीन न्याय का ध्येय मुक्तिष या और नव्य न्याय का केवल शुक्ल तकं।

न्यायदर्शन वी प्रक्रिया

भिन्न भिन्न दर्शन-गद्दियों के अन्तर्गत वस्तुओं के यथार्थ ज्ञान के लिए भिन्न भिन्न प्रमाणों वी योजना की गई है। उदाहरण के लिए, चार्चाकि ने एकमात्र 'प्रत्यक्ष' को ही प्रमाण स्वीकार किया है, वैदेविकों तथा वौद्वों ने प्रत्यक्ष के साथ-साथ अनुमान-प्रमाण को भी स्वीकार किया है। साह्यदर्शन के अनुमान प्रत्यक्ष तथा अनुमान वे अतिरिक्त शब्द प्रमाण को भी स्वीकार किया गया है। मीमांसक प्रभावरमिश्र ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों के अतिरिक्त उपमान तथा अर्थापति, ये दो प्रमाण और माने हैं। मीमांसक कुमारिल तथा वेदान्तियों ने उपर्युक्त प्रत्यक्षादि पाच प्रमाणों के अतिरिक्त अभाव-प्रमाण को भी स्वीकार किया है। पौराणिकों ने प्रत्यक्षादि शब्द वे साथ साथ 'समव' और 'ऐतिहा' को विलाकर आठ प्रमाण माने हैं।^१ अब रही न्यायदर्शन की बात। न्यायमूल के रचयिता गौतम ने प्रमेय^२ ज्ञान के लिए चार प्रकार के प्रमाणों^३ को स्वीकार किया है।^४ ये चार प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द हैं। न्यायदर्शन के अन्तर्गत 'आत्मा,' 'शरीर,' 'इन्द्रिय,' 'अर्थ,' 'बुद्धि,' 'मनस्,' 'प्रवृत्ति,' 'दोष,' 'प्रेत्य भाव,' 'फल,' 'दुःख' तथा 'अपवर्गं, ये बारह प्रमेय माने गए हैं।^५ इन १२ प्रमेयों तथा ४ प्रमाणों के ज्ञान के द्वारा पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के पश्चान् साधक की सशाय, प्रयोजन, दृष्टान्त सिद्धान्त, अवयव, तर्वं, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वामास, द्वन्द्व, जाति और निग्रहस्थान इन चौदह पदार्थों का ज्ञान भी परम तत्त्व के ज्ञान के लिए परमावश्यक है।

१ विस्तृत देखिए—उमेरा मिथ भारतीय दर्शन, पृ० १८३ (गूजरात विभाग, उ० प्र० सत्रनंद, १९५३)

२ प्रमाण के द्वारा जिन पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, वे 'प्रमेय' तहलाने हैं।

३. मन तथा चारु आदि जानेन्द्रियों के जिम व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, उने 'प्रमाण' कहते हैं।

४. न्यायमूल, १। १। ३

५. आरम्भरोग्निधायंबुद्धिमन प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावकर्तु गावर्गास्तु प्रमेयम्।

न्यायदर्शन में आत्मा और मुक्ति का स्वरूप

न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान का अधिकरण ही तात्पर्य है, परमात्मा का नहीं। यही जीवात्मा बढ़ कारण जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है। यह आत्मा प्रति शरीर में पृथक् रूप से सुख-दुःख आदि का भोक्ता है रूप में एक-दूसरे से भिन्न ही रहता है। इस प्रकार नैया॒५ है।

ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संस्था, परिमाण, पृथक्त्व, .. और विभाग, ये चौदह जीवात्मा के गुण हैं।^३ सूत्रकार ने आत्मा के मोक्ष के सम्बन्ध में कहा है — तत्पत्तिदिसोक्षेऽपवर्गः, अर्थात् दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग कहते हैं।^४ यहाँ अत्यन्त से पुनर्जन्म के बन्धन के नाश का अभिप्राय है।^५ मुक्तावस्था में आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार, इन नव गुणों का मूलोच्चेद हो जाता है। न्यायमंजरीकार ने मुक्त आत्मा के स्वरूप का परिचय देते हुए लिखा है कि मुक्तावस्था में आत्मा अपने विशुद्ध रूप में प्रतिभित तथा अविन गुणों से विरहित रहता है। मुक्त आत्मा ऊमिपट्क को पार कर लेता है। ऊमिपट्क से भूत-प्यास, लोभ-मोह तथा शीत-आतप का तात्पर्य है। मुक्त आत्मा दुःख-ग्लेशादि सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो जाता है।^६

नैयायिक की अन्यथाल्यात्ति

स्थातिवाद भारतीय दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। भिन्न-भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न व्यातिवियों को स्वीकार किया गया है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज सत्त्वातिवाद, प्रभाकर मीमांसक अन्यातिवाद, विज्ञानवादी वौद्ध आत्मल्यातिवाद, शून्यवादी वौद्ध असत्त्वातिवाद और शाङ्कर-वेदान्तानुयायी अन्यथातिवाद को स्वीकार करते हैं।^७ नैयायिक अन्यथाल्यातिवाद का समर्थक है। अन्यथाल्यातिवाद के अनुसार भ्रम विषयमूलक है न कि विषय-मूलक। भाष्यकार वस्त्वस्यान ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है—“तत्त्वज्ञानेन मिथ्योपलब्धिनिवर्त्यते नार्थः”^८ अर्थात्, तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है, पदार्थ ज्यों-का-त्यों वर्तमान रहता है। इस प्रकार किसी वस्तु के धर्मों का अन्य वस्तु में आरोप ही अन्यथाल्याति है।

न्यायदर्शन और असत्कार्यवाद

न्यायदर्शन में कार्य-कारण का विचार करते समय असत्कार्यवाद के सिद्धान्त को

१. ज्ञानाधिकरणमात्मा। —तक्संग्रह, आत्मनिरूपण।
२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ७०
३. न्यायमूल, ११२२
४. अत्यन्तमिति पुनरावृत्तिराहित्यम्। —न्यायभाष्य, ११२२
५. न्यायमंजरी, पृ० ७७
६. विस्तृत देविए—डा० राममूर्ति शर्मा : शङ्कराचार्य, प्र० सं०, पृ० १४३-१६१
७. न्यायभाष्य, ४२३।५
८. ब्र० सू०, शा० भा०, उपोद्घात

त्रिवाद का स्थान प ६

किया गया किए
स्वीकार किए रहते हैं तथा अत्यन्त विवरण किए रहते हैं तथा अत्यन्त विवरण किए रहते हैं

(नन्य न्याय) गया है। नैयायिकों के अनुमार कारण का लक्षण—अनन्यथासिद्धियतपूर्व—^१ अन्य न्याय गत्वम्^२ अर्थात् किमी कार्य के होने के हीक पहले नियत रूप से जिराता सदैव तपक' अच्छा^३ और जो अन्यथासिद्ध न हो, किया गया है। कार्य का लक्षण नैयायिकों ने 'कार्य प्राप्तीव-प्रतियोगी' अर्थात् 'प्राप्तावाद' के प्रतियोगी की सज्जा कार्य है' किया है। असत्-प्रमाणादी होने वे कारण नैयायिक कारण में कार्य की सत्ता को नहीं स्वीकार करता। कारण में कार्य की सत्ता न स्वीकार करते के कारण ही इस सिद्धान्त वा नाम असत्कार्यवाद पड़ा है। अद्वैतवेदान्त और न्यायदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

जैसे तो, अद्वैतवेदान्त दर्शन न्यायदर्शन का प्रतिपक्षी दर्शन है। अद्वैतवेदान्त के प्रस्थापक शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्ममूलभाष्य के अन्तर्गत न्यायदर्शन के—राय-कारणवाद, परमाणुवाद, समवायमन्वन्व एव नैयायिक की जानि आदि वा प्रयत्न स्पष्ट दिया है। परन्तु अद्वैतवेदान्त और न्यायदर्शन के भिन्नान्तों में पारस्परिक विरोध होते हुए भी दोनों की दार्शनिक विचारधाराओं द्वी मूल वृद्धभूमियों में पर्याप्त सामग्री है। विदेशगम्य संसार के प्रति असारता का दृष्टिकोण, मिथ्याज्ञानानुभूति वी विचारधारा और ईश्वर एव मुक्ति-मन्वन्वी विवेचन दोनों ही दर्शन पद्धतियों में भिन्न है। यह बात दूसरी है जि वेदान्ती की दृष्टि से अविद्या-निवृत्ति आत्मयोग होने पर होती है और नैयायिक की दृष्टि से सशयादि चतुर्दश पदार्थों, प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों और धारणा जादि द्वारा प्रमेयों का ज्ञान होने के पश्चात्।^४ जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त के गतानुसार मिथ्या माया मोक्षमार्ग में दाधक है, उसी प्रकार न्यायदर्शन के अनुमार भी मिथ्या ज्ञान ही अपवर्ग का प्रथम दाधक कारण है।^५ न्यायदर्शन में मोक्ष वी प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने पर दोष, दोषों के नाट होने पर प्रवृत्ति, प्रवृत्ति में नष्ट होने पर जन्म और जन्म का विनाश होने पर दुख का नाश होता है।^६ जगत् की तत्त्व का जग्धार भी दोनों दर्शन-पद्धतियों में एक-सा ही प्रतीत होता है। अत्तर केवल इतना है कि वेदान्त दृष्टि से यदि जगत् की सत्ता माया पर आधारित है तो नैयायिक की दृष्टि से परमाणु पर। इसी तथ्य वो प्रकाश में लाने हुए दार्शनिक विज्ञान-भिक्षु ने अपने भोगवानित्र में बृहद्वायिष्ठ के एक श्लोक दो उद्धृत करते हुए लिखा है

नामस्त्रिविनिर्मूर्च्छा यस्मिन् सन्तिष्ठते जगत् ।

तमाहु प्रकृति वेचिंमायामन्ये परे त्वंम् ॥

१ दीपिका, पृ० २५ तथा न्यायमिद्वास्तमुक्तावली वारिसा, १६

२ जिसके न रहने पर भी कार्य हो सके, उसे अन्यथासिद्ध कहते हैं। जैसे घट-निर्माण में दण्ड, दगड़लग, आसारा, कुलालिनि तथा मृत्तिकामादक गर्भम अन्यथासिद्ध हैं। अशेषक दृष्टि के द्वारा ही सहिता है।

३ प्रमाणप्रमेयमायव्रशेषत्रनदुष्टान्तमिद्वान्तावयवत्कर्त्तिर्णयवादजगत्विनष्टा हेत्वाभामच्छ्रव-जानिनियहम्यानाना तत्त्वज्ञानानि व्येषताधिगम । —न्यायमूल १।१।१

४ दृष्टिर्णवात्मृतिदोषप्रमिथ्याज्ञानानामुत्तीर्तरामिद्विन्दतामायादपवर्ग ।

—नाराय १।१।२

५ निगेन देविए—महामहोगायाय तनीशकन्द्र रित्यनिर्मा का अनुगाद एव व्याख्या न्यायमूल, १।१।२ (Sacred Books of the Hindus, vol. viii, p. 2 & 3, (Panini Office, Allahabad, 1930))

याय और अद्वैतवेदान्त की मुक्ति

नैयायिक उच्चोतकर ने जो निःश्रेयस् के अपर निःश्रेयस् और परनिःश्रेयस्, ये दो भाग किए हैं,^१ वे भी अद्वैतवेदान्त की जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति-सम्बन्धी विचारधाराओं के अत्यन्त समीप हैं। उच्चोतकर द्वारा प्रयुक्त अपर निःश्रेयस् जीवन्मुक्ति और परनिःश्रेयस् विदेहमुक्ति की विचारधारा है। उच्चोतकर ने अपर निःश्रेयस् के रूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अपर निःश्रेयस् तत्त्वज्ञान के पदचात् ही उपलब्ध हो जाता है।^२ यही अद्वैत दर्शन की जीवन्मुक्ति का स्वरूप है। अद्वैत दर्शन की जीवन्मुक्ति के अनुसार अविद्यानिवृत्ति के फलस्वरूप आत्मवोध होने पर जीव वन्धन से मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में शङ्खराचार्य ने एक दृष्टान्त देने हुए कहा है कि एक बार चलाया हुआ कुम्भकार का चक्र तब तक नहीं रुकता जब तक कि उसका देव समाप्त नहीं हो जाता। इसी प्रकार मुक्त पुरुष को भी प्रवृत्त फल वाले गतकर्मों के भोग के लिए जीवन धारण करना ही पड़ता है।^३ जहां तक परनिःश्रेयस् का प्रश्न है, वाचस्पति ने अपनी तात्पर्यटीका में परनिःश्रेयस् को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक परनिःश्रेयस् की उपलब्धि नहीं होती।^४ ठीक यही बात शङ्खराचार्य ने विदेहमुक्ति के सम्बन्ध में कही है। आचार्य का कथन है कि जब तक पूर्वकृत कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक मुक्त पुरुष को भी शरीर धारण करना ही पड़ता है।^५ इन रहस्यों के विवेचन से न्याय और अद्वैत दर्शन का मुकित्तभान साम्य स्पष्ट भलकता है। यह तथ्य और भी विचार्योग्य है कि मुकित्तविषयक उपर्युक्त चर्चा न्याय-दर्शन के परवर्ती सिद्धान्त शाङ्कर अद्वैतवाद में ही नहीं मिलती, अपितु वीपनिषद अद्वैतवाद के अन्तर्गत भी मुक्ति का विशद विवेचन मिलता है।^६

प्रो० डायस्तन के कथनानुसार, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के भेद का अध्ययन उप-निष्पद्-दर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता,^७ परन्तु यह कथन तर्कप्रतिष्ठित नहीं है कि जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति (न्यायदर्शन के अनुसार अपरनिःश्रेयस् और परनिःश्रेयस्) की प्रवल पृष्ठभूमि हमें औपनिषद अद्वैतवाद के अन्तर्गत उपलब्ध होती है। नैयायिक के अपर-निःश्रेयस् अर्थात् जीवन्मुक्ति के स्वरूप का दर्शन छान्दोग्य उपनिषद् की उस उक्ति में होता है जिसमें कहा गया है कि जैसे कमल के पत्ते में पानी नहीं लगता, वैसे ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर ज्ञानी को जीवित रहते हुए भी पापकर्म नहीं लगता।^८ उपनिषद् दर्शन के अनुसार ज्ञानी

१. न्यायवार्तिक, ११११

२. यत्तावदपरं निःश्रेयस् तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति। —न्यायवार्तिक, ११११

३. ब्र० सू०, शा० भा०, ४१११५

४. परनिःश्रेयसं न तावद् भवति यावद्बुपभोगाद्यातकर्माशयप्रचयो न क्षीयते।

—तात्पर्यटीका, पृ० ८१

५. ब्र० सू०, शा० भा०, ४१११५

६. व० उ०, १४१०, ४१४६, ७, २२; छा० उ०, ८४११; म० उ० ३१३, ३१२६; त० उ०, २१६; क० उ०, १४, ३१; म० उ०, २१७, ६, ३४

७. Deussen : Philosophy of Upanishads E. T., p. 356 (Edinburgh, T. & T. Clark, 38, George Street)

८. छा० उ०, ४१४१३

इसी जगत् मे ब्रह्मान अर्थात् मुक्ति लाभ कर लेता है।^१ औपनिषद विदेहमुक्ति और अद्वैत वेदान्त-सम्मत विदेहमुक्ति मे अवश्य भेद है। औपनिषद विदेहमुक्ति के अनुमार जीव इम जगत् मे मुक्त होने पर भी देह-स्थाय होने पर स्वर्गलोक को जाता है।^२ अद्वैत वेदान्त मे, मुक्ति का यह स्वरूप उपर्यन्त नहीं होता, वयोःकि परतर्ती वेदान्त वी दृष्टि मे ब्रह्म मे गन्तव्यत्व, गन्तव्यत्व या गति की कल्पना विद्य नहीं होती। वयोःकि ब्रह्म सर्वंगत एव गमन करनेवालों का प्रत्यगात्मा है।^३ इस प्रकार औपनिषद दर्शन एव अद्वैत वेदान्त द्वारा प्रतिपादित विदेह-मुक्ति अथवा नैयायिक के पर्याप्त वैदेश्म मे अन्तर होते हुए भी इसना हो स्वीकृत ही होता कि नैयायिकों का मुक्ति का निदान औपनिषद दर्शन से ही गृहीत है।^४ अत इसे यह स्वीकार करने मे आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि न्यायदर्शन के मुक्तिसम्बन्धी मिदान्त पर औपनिषद अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव है।

अद्वैतवेदान्त और न्यायसम्मत मुक्ति मे पर्याप्त साम्य होते हुए भी अन्तर वी एक विचास रेखा भी है और वह यह कि अद्वैत दर्शन के अनुमार मुक्तिवास्था मे जिम ब्रह्मानन्द की अनुभूति का वर्णन है उसका न्यायदर्शन की मुक्ति मे अभाव है। न्यायदर्शन मे उक्त विचार का समर्थन भाष्यकार वात्स्याया और वार्तिककार उद्योतकर ने बडे बलपूर्वक स्त्रिया है।^५ नैयायिकों के कथन का तात्पर्य है कि मुख के रागात्मक होने के कारण वह (मुख) बन्धन का साधन है। अत अवर्ग को सुखात्मक मानने से बन्धन की निवृत्ति करापि सम्बद्ध नहीं है। मुक्ते नैयायिकों का यह तर्क समीचीन नहीं लगता। भाष्यकार वात्स्यायन ने 'तदत्यन्तविमो शोऽगवरं मूर्व का भाष्य करते हुए लिखा है— तेन दुष्टेन जन्मना अत्यन्त विमुक्तिरपवरं' अर्थात् समस्त सामारिक दु सो और जन्म व्यूह करने के बन्धन से पूर्णतया मुक्त होना ही मोक्ष है। यहां यह विचारणीय है कि जब भाष्यकार वात्स्यायन मोक्ष मे दुख की अत्यन्त विमुक्ति मानने हैं तो उन्हें दुख की निवृत्ति के फलस्वरूप अनन्दोन्नतिभी स्वीकार करनी ही होती।^६ नैयायिकों की आनन्द के रागात्मक होने की ब्रह्म के समाधान मे यह कहा जाएगा कि ब्रह्मानन्द कोई सामारिक रागादि से मुक्त मुख नहीं है। उमका स्वरूप इन्द्रियातीत होने के कारण अतिवचनीय है। परन्तु अतिवचनीयता से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मानन्द शून्यता का स्पृह है।

उपर्युक्त विचारदृष्टि मे हम इस निष्पत्ति पर पहुँचते हैं कि न्यायदर्शन और अद्वैत वेदान्त की मान्यनाओं मे परस्पर विरोध होते हुए भी विचिन् साम्य है। इसके अतिरिक्त न्यायदर्शन के मुक्ति जैसे सिदान्त पर औपनिषद अद्वैत का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस दिशा मे

१. दृ० उ०, ४१४१६, ४१४१७

२. दृ० उ०, ४१४१८

३. दृ० मू०, शा० मा०, ४१३१३

४. R D Ranade Constructive Survey of Upanishadic Philosophy p 190 (Oriental Book Agency Poona, 1926)

५. न्यायमूल १११२२ पर भाष्यकार और वार्तिककार का मत।

६. अत इस सम्बन्ध मे हा० दासगुप्त (इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३६६) जैसे विद्वानों का मद्द बन्धन कि, मुक्तवादस्था आनन्दवादस्था करापि नहीं हो सकती, उचित नहीं प्रवृत्त होता।

न्याय और अद्वैतदर्शन का सम्बन्ध स्पष्ट परिलक्षित होता है। अब वैशेषिकदर्शन और अद्वैत वेदान्त का तुलनात्मक अध्ययन किया जायगा। पहले वैशेषिकदर्शन की रूपरेखा प्रस्तुत करना सभीचीन होगा।

वैशेषिकदर्शन और अद्वैत वेदान्त

वैशेषिक दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा—काणाद तथा धीनूक्य वैशेषिकदर्शन के ही अन्तर नामवेय हैं। इन दर्शन के आद्यप्रवर्तनक उलूक क्रृषि के पुत्र काणाद के होने के कारण ही इसका नाम काणाद एवं औलूक्यदर्शन पड़ा है। इन दर्शन के वैशेषिक नाम के नम्बन्ध में भी विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। चौनी दार्शनिक विद्वान् चिस्तान (५६३-६२३ ई०) तथा बहवेङ्गी (६२३-६८२ ई०) ने एक प्राचीन पर्स्यारा के आधार पर वैशेषिक नामकरण का यह कारण बतलाया है कि अन्य दर्शनों ने, विशेषतः सांहित्यदर्शन ने, विभिन्न वर्यात् अधिक युक्ति-नम्बन्ध होने के कारण ही इसका नाम वैशेषिक पड़ा है।^१ कुछ विद्वानों के मतानुसार इस दर्शन में 'विशेष' नामक पदार्थ की विभिन्न कल्पना होने के कारण इसको वैशेषिक कहने हैं। पूर्वमत की विपेक्षा यही मत अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वैशेषिकों का एक नाम अर्धवैनाशिक भी है।^२ शद्वृत्ताचार्य ने भी अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में वैशेषिकों के लिए उक्त नाम ही दिया है।^३ अर्धवैनाशिक ने अर्थ वृन्धवादी का तात्पर्य है।^४

न्याय और दैर्घ्येषिकदर्शन की विचारधाराओं में अत्यधिक साम्य है। इसीलिए प्रो॰ मैक्समूलर ने इन दोनों को 'सिस्टर फिलासफीज़' कहा है।^५ वैशेषिकदर्शन के अनुसार जगत् की समस्त वस्तुओं के लिए 'पदार्थ' शब्द व्यवहृत हुआ है। जो प्रमिति वर्यात् ज्ञान का विषय है, वही पदार्थ है।^६ अभिव्येत्व वर्यात् नाम की योग्यता रखना पदार्थ का सामान्य लक्षण है।^७ पदार्थ दो प्रकार के हैं—(१) भाव पदार्थ, (२) अभाव पदार्थ। भाव-पदार्थों के छः भेद हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। प्रागभाव, प्रश्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव के भेद में अभाव चार प्रकार का है। इसके अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन में पृथिवी, जल, तेज, वायु, वाकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन, इन नी द्रव्यों की योजना की गई है। वैशेषिकमूल में द्रव्य का लक्षण बताते हुए कहा है कि कार्य के समवायि कारण और गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। साधारणतया मूल वैशेषिक दर्शन में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संस्कार, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, त्रुटि, नुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न, इन सबह गुणों का ही उल्लेख किया है।^८ परन्तु भाष्यकार प्रश्वस्तपाद ने उक्त सबह गुणों के अतिरिक्त छः गुणों का विशेष निर्देश किया है। ये छः गुण

१. Dr. U : Vaisesika Philosophy, p. 3-7

२. Journal of Oriental Research, Vol. III, pp. 1-6

३. श० सू०, शा० भा०, २१२१८

४. Dr Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, Pp. 177 (F.N.)

५. Maxmuller, Indian Philosophy, Vol. iv, p. 77

६. प्रमिति विषया: पदार्थः। —सप्तपदार्थी, प० २

७. अभिव्येत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्। —तक्तीपिका, प० २

८. व० सू० १११६ तथा चन्द्रकान्त तर्कालझार-कृत भाष्य। (कलकत्ता, १८८७)

गुरुत्व, द्रदत्व, स्नेह, स्तुकार, अदृष्ट तथा शब्द हैं।^१ प्रशस्तपाद-निर्दिष्ट 'अदृष्ट' गुण के धर्म तथा अपर्याप्ति मेंद से दो गोद हैं। अत बणाद-निर्दिष्ट भवत्व तथा प्रशस्तपाद-उभ्यमिति गल्प गुणों को मिलाकर गुणों की सम्मान चौबीम है। इस प्रवार वैषेषिकदर्शन के अन्तर्गत चौबीम गुणों का भी निवापण मिलता है।

वैषेषिक का परमाणुकारणवाद

वैषेषिक दर्शन के अनुमार पलय-कात्र मे मधी कार्य द्रव्यों वा नाना हो जाता है। इसमे परमान् मे द्रव्य परमाणु रूप मे आकाश मे पर्याप्त रहते हैं। इग कात्र मे प्रत्येक जीवात्मा अपारे मतन् तथा पूर्व जन्म के मस्तकों सहित 'जड़ाट' रूप मे धर्म और अवसर्प के नाय वर्तन् पात्र रहता है। यह प्रत्ययभान्ति भान्ति की अवस्था होनी है। इस कात्र मे सूष्टि का कार्य नहीं होता। जीवा के कर्त्याणायं परमात्मा म सूष्टि की इच्छा उन्नत होनी है और उसमा यह का लोग है कि जीवा के 'प्रदर्श वार्य-पूर्व होने हैं। वैषेषिकदर्शन की 'जड़ाट' सम्भवों इनपारा प्राप्त तिक्षण है। वैषेषिकदर्शन के अनुमार व्यस्तान्त मणि दीपों प्रार मुद्रे की स्वाभाविक गति^२ वृत्तीये भीतर रुप रातीये म ऊर्जा चढ़ा^३ अपित की लपटों का ऊर उठता। शायु ती तिक्ष्णी भूति जन तथा परमाणुओं दी वाम्बन्दनात्मक किया, वे सब उदृष्ट हो डारा जन्य हैं। परमाणु दृष्ट हो जड़ है। अभीति परमाणु वैषेषिकदर्शन मे अदृष्ट के सर्वारित्व से ईश्वर की इच्छा के डारा ही परमाणु रूप स्फूर्त तथा तत्त्व-पूर्व सूष्टि किया गयीत्वार के गई है,^४ परमदर्शन की इच्छा जे जड़ाट की गताधारा मे जपपरमाणुओं मे सत्त्व हाता है तो अपूर्तिमात्र विशिष्ट परामाणुओं के समोग म डृष्टकृ भी उत्तित होनी है। जो अणुरूपिमात्र विशिष्ट होते के दारण स्वयं गतीनित्य हैं एवे तीर दृष्टगुणों के समोग मे अच्छुक (इनरेटु) की उत्तित होती है। अन्तरेतु शूद्र-परिमाण दाता है जर उसना चाकुप्रत्यक्ष हाना है। परमाणु और दृष्टकृ वनीनित्य हैं। धर की घन के द्वेष मे जप सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं, तो उनमे दृष्टमान जो छोट छोटे वज तोते हैं वे ही अमरेणु कहनाते हैं। प्रसरेणु वा धर भाग ही परमाणु रहता है। चार अमरेणुओं के समोग मे चतुरणुक की उत्पत्ति होती है और फिर जगत् की सूष्टि आरम्भ हो जाती है। वैषेषिकदर्शन मे जगत् की उत्पत्ति हो यही रूप है।

ईश्वर

वैषेषिकदर्शन मे ईश्वर की मता के सम्बन्ध मे विद्वाँी मे जड़त मतभेद मिलता है। वैषेषिकदर्शन के दो भूतों (१।१।३ एवं २।१।१८) मे अप्रकृति रूप से ईश्वर-सम्बन्धी भवेत तिता है। पहले भूत (१।१।३)^५ मे तदृक्षण व ईश्वर का ही गतेव प्रतीत दोता है। दूसरे

१ प्रशस्तपादभाष्ट पृ० १० (मेहिक वात ३० १६५)

२ शण्मिति शूद्रनिवर्णणमदृष्टप्राप्तम्। —४० मू०, ५।१।१५

३ गुणान्तरंगस्त्रिवद्वार्यकान्तम्। —४० मू०, १।२।३ (उच्चारा, १८८७)

४ प्रशस्तपादग्रन्थ, पृ० २०

५ तदृचारादाम्लायन्य प्राप्तम्। —४० मू०, १।१।३

सूत्र (२।१।१८)^१ के अन्तर्गत 'अस्मद्विशिष्ट' शब्द से ईश्वर एवं गहान् सन्तों का बोध होता है^२ परन्तु सूत्रों में ईश्वर का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता। प्रशस्तपाद-प्रभृति परवर्ती वैशेषिक दार्शनिकों ने तो ईश्वर की सत्ता निःसंकोच स्वीकार की है। प्रशस्तपाद ने यन्थ के थादि तथा अन्त में महेश्वर को प्रामाणभूत स्वीकार किया है^३ गुणरत्न का कथन है कि वैशेषिक लोग पशुपति के गन्धारी होने से 'पाशुपत' कहलाते थे।^४ नैवायिकों के बारे में तो यह प्रसिद्ध ही है कि दे शिव के भक्त होते थे।^५ अतः वैशेषिक की ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता में सम्बेदन नहीं करना चाहिए।

वैशेषिकदर्शन और अद्वैत वेदान्त की तुलनात्मक समीक्षा

वैशेषिक और अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर-विरोध होते हुए भी कुछ-एक स्थलों पर सम्म्य भी मिलता है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः ब्रह्ममूत्र और वैशेषिक-सूत्र की रचना समकालिक ही है। इस रचन की प्रामाणिकता इससे सिद्ध है कि दोनों ही ग्रन्थों में एक-दूसरे के सिद्धान्तों का उल्लेख गिरता है। बादरायण ने, ब्रह्ममूत्र के अन्तर्गत परमाणुवाद की चर्चा की है।^६ वैशेषिकदर्शन के रचनिता कणाद ने तो अपने वैशेषिकमूत्र में अद्वैत मिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख किया है। जो अतियाताद या मायावाद अद्वैत वेदान्त का आधार-भूत मिद्धान्त है, उसका स्पष्ट निर्देश वैशेषिकरूपात् के अन्तर्गत किया गया है।^७ भाष्यकार प्रशस्तपाद ने बुद्धिग्रन्थ में ज्ञान की सीमांता करते सन्दर्भ अभिया का विस्तृत विवेचन किया है। प्रशस्तपाद ने ज्ञान के विद्या तथा अविद्या, ये दो भेद किए हैं। विद्या 'प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति एवं आर्यं' भेद से चार प्रकार की है।^८ अविद्या के संशय, विपर्यय, अनध्यवस्था और स्वप्न रूप से चार भेद हैं।^९ इनमें विपर्यय के अन्तर्गत अद्वैती के अध्यारोपवाद की पूर्ण झलक मिलती है। भाष्यकार प्रशस्तपाद के अनुसार अवस्था में वस्तु का प्रत्यय विपर्यय कहलाता है।^{१०} यदि देखा जाए तो यह वेदान्त का अध्यारोपवाद ही है। आरोप का लक्षण 'अतस्मिस्तद्बुद्धिः' (अवस्था में वस्तु का ज्ञान) है।^{११} यही भ्रम का स्वरूप है।

१. संज्ञाकर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् । —वै० गू०, २।१।१८

२. वैशेषिकमूत्र, २।१।१८ (नन्दलाल सिन्हा द्वारा अनूदित)

(Second Edition, Published by S. N. Basu, The Panini office, Allahabad 1923, (Sacred Books of the Hindus, Vol. VI)

३. वलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ३०५

४. पड्ददर्शनसमुच्चयवृत्ति, पृ० ५१

५. डा० उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० २३८

६. ब्र० सू०, २।२।११

७. वै० गू०, ७।१।२१, ६।२।१०

८. विद्यापि चतुर्विधा । प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्पार्वतेभेणा । —प्र० पा० भा०, पृ० ५५२ (चौख० संस्करण)

९. तस्या सत्यप्यतेकविधत्वे समासतो द्वे विद्या चाविद्या चेति । तत्राविद्या चतुर्विधा संग्रह-विपर्ययानध्यवस्थव्यवलेखणा ; —प्र० पा० भा० बुद्धिगिर्वाण, पृ० ५२० (चौख० संस्करण)

१०. अतस्मिस्तदितिप्रत्ययो विपर्ययः । —प्र० पा० भा०, पृ० ५३८

(गोपीनाथकविराज एवं हुड्डिराजशास्त्री द्वारा संपादित)

११. वेदान्तसार, पृ० १३ (चौख० संस्करण) पर भाववोधिनी ।

इस प्रकार वैशेषिकदर्शन और अद्वैतवेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध होते हुए भी मतिस्थित् समानता भी मिलती है। वैशेषिक के अविद्या-विवेचन जैसे स्थलों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव उपर्युक्त आत्मोचन में स्पष्ट सिद्ध होता है।

साख्य और अद्वैतवेदान्त दर्शन

साख्यदर्शन की सक्षिप्त इतिहास—साख्यदर्शन अत्यन्त बौद्धिक एवं मनोर्बन्नातिक दर्शन है। प्रो० गार्वे वा तो यहा तड़वहना है कि भानवीष मस्तिष्क का पूर्ण स्वातन्त्र्य और उसका अपनी शक्तियों के प्रति पूर्ण विवास, विश्व के इतिहास में मर्वंप्रथम साख्यदर्शन के अन्तर्गत ही प्रदर्शित हुआ है।^१ इसी विद्वान् ने एक और स्थल पर साख्यदर्शन को भारतवर्ष के दर्शनों में मर्वाधिक महत्वपूर्ण दर्शन बना है।^२ यद्यपि प्रो० गार्वे का कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है परन्तु फिर भी यह तो स्वीकार्य ही है कि साख्यदर्शन शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से एक गहरतपूर्ण प्रयोग है। इसीलिए प्राचीन विद्वानों भी भी न हि साख्यसम ज्ञानम्' आदि उक्तिया प्रमिद्दह हैं।

साख्य का अर्थ—साख्य के अर्थ के सम्बन्ध में निम्नलिखित अनेक विचारधाराएं मिलती हैं।

१ ध्याकरणिक व्युत्पत्ति के अनुसार समूच्चपसंग्रहवं रुपान् धातु से 'साख्य' शब्द बनता है जिसका अर्थ सम्प्रक् विचार है। इसी को 'प्रह्लादिपुरुषविवेद' एवं 'सत्त्वपुरुषान्यताह्वानि' भी कहते हैं। इस प्रकार सभ्या अथवा विवेक ज्ञान के साख्य के मूलभूत सिद्धान्त होते के द्वारण ही इस दर्शन का नाम 'साख्य' पड़ा है।

२ शङ्कराचार्य ने शुद्ध आत्मतत्त्व के दिज्ञान को साख्य कहा है।^३

३ विनिपथ विद्वान् गणना-अर्यंवाची संस्था शब्द के आधार पर 'साख्य' की व्युत्पत्ति करते हैं। इस व्युत्पत्ति वा आधार यह है कि साख्य के अन्तर्गत तत्त्वों की गणना प्रधान रूप में योगई है। यद्यपि उस परिभाषा का मूल आधार महाभारत का निम्न इतोऽही रहा हाया।

दोपाणा च गुणाना च प्रमाण प्रविभागत ।

कचिदर्थमभिप्रेत्य सा सत्येत्युपर्याप्तिम् ॥ महाभारत

४ शा० राधाकृष्णन् का विचार है कि साख्य शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में दार्शनिक विचार के लिए ही प्रयुक्त होता था, न कि तत्त्वगणना के लिए^४ जैसा कि उक्त मतानुयायियों का विचार है।

मेरे विचार से शा० राधाकृष्णन् का ही मन अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। यद्योऽक्त तत्त्वादि की गणना तो प्राय सभी भारतीय दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत मिलती है। अत तत्त्वगणना (संहिता) के आधार पर 'भास्य' की व्युत्पत्ति करना अधिक उचित नहीं प्रतीत होता।

^१ Philosophy of Ancient India, P. 30

^२ It is the most significant system of Philosophy that India has produced (Sankhya pravachanbhashya, XIV)

^३ शुद्धात्मतत्त्वविज्ञान साख्यमित्यमिधीयते। —विष्णुसहस्रनाम पर शाङ्करभाष्य

सांख्यदर्शन की प्राचीनता और उसके अनेक रूप—सांख्यदर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। प्रो० डायसन प्रभृति विद्वानों ने सांख्यदर्शन का मूल उद्गम उपनिषदों में स्वीकार किया है।^१ उपनिषदों के अन्तर्गत सांख्य सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन मिलता है।^२ सांख्यदर्शन का यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाए तो उसके निम्नलिखित रूप निर्णायित किये जा सकते हैं :

१. उपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीतावर्ती सांख्य—(१०००-८०० ई०-पूर्व) इस काल का सांख्य वेदान्त-मिथुन सांख्य है। इस सांख्य के अन्तर्गत ईश्वरवाद का भी पूर्ण समर्थन मिलता है।

२. महाभारतवर्ती तथा पौराणिक सांख्य—(लगभग ३००-२०० ई०-पूर्व) महाभारत तथा पुराणवर्ती सांख्य में वेदान्त का मिश्रण नहीं पाया जाता। इस सांख्य का अपना स्वतंत्र रूप है।

३. चरक सांख्य—चरक का नांदर भी महाभारत तथा पौराणिक सांख्य से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। पुरुष को अव्यक्तात्मा में मानना, तन्मात्राओं का सर्वथा बभाव स्वीकार करना तथा मुक्तावस्था में पुरुष की चेतनारहित दशा मानना आदि चरक सांख्य की अनेक विशेषताएं, महाभारत में भी उपलब्ध होती हैं।^३ चरक पंचगिति के अनुयायी थे।^४

४. कण्ठसूत्र तथा सांख्यकारिका का लंख्य—(३०० ई०-पूर्व से ३००) इस सांख्य की प्रवान विशेषता निरीश्वरवादिता है। इसमें प्रकृति तथा पुरुष को चरमतत्त्व मानकर जगत् की व्याख्या की गई है।

५. विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रतिपादित सांख्य—(१६ वीं शती) विज्ञानभिक्षु एक सामंजस्यवादी दार्शनिक विद्वान् थे। इन्होंने सांख्य में पुनः ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा की थी तथा वेदान्त और सांख्य का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया था।

गुणरत्न ने तत्त्वरहस्यदीपिका में मौलिक्य तथा उत्तर नाम के दो सांख्य सम्प्रदायों की चर्चा की है।^५ मौलिक्य सांख्य के अनुसार प्रत्येक आत्मा के लिए एक पृथक् प्रधान की कल्पना की गई है, जैसाकि मौलिक्य नाम से ही विदित होता है। यह प्राचीन सांख्य का स्वरूप है। महाभारत तथा चरककालीन सांख्य भी मौलिक्य सांख्य का ही प्रतिरूप प्रतीत होता है। उत्तरसांख्य, सांख्यकारिका में वर्णित निरीश्वर सांख्य का स्वरूप है। यद्यपि उत्तरसांख्य का ही विवेचन हमारा प्रधान विषय है।

सांख्यदर्शन और कार्यकारणवाद

कार्य-कारण सिद्धान्त सांख्यदर्शन का प्रमुख^६ सिद्धान्त है। सांख्य के कार्य-कारण सिद्धान्त के अनुसार कार्य और कारण में वस्तुनः अभिन्नता है। कार्य अपने मूलरूप में

१. Deussen : Philosophy of the Upanishads, p. 239

२. द्वे० उ०, ४५-१०-१६; ६।१०-१३; छा० उ०, ६।४।१; कठ० उ०, १।३।१०

३. महाभारत, १२।२।१६

४. वलदेव उपाध्याय : मार्तीय दर्शन, पृ० ३।१३

५. तत्त्वरहस्यदीपिका, पृ० ६६

उत्पत्ति से पूर्व मी अव्यक्त रूप से कारण म वर्तमान रहता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कार्य की अव्यवनावस्था कारण तथा व्यवनावस्था कार्य है। अत तत्त्वत् कार्य और कारण म भेद नहीं है। कार्य की सत्ता के अव्यवन रूप मे कारण मे रहने के कारण ही इस मिदान्त वा नाम सत्कार्यवाद है। इसे परिणामवाद भी कहते हैं। क्योंकि साख्य के अनुसार कार्य, कारण के परिणाम वे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साख्यवाद्यं ईश्वरकृष्ण न साख्यकारिका वी निष्ठलिङ्गित कारिका वे अन्तर्गत कार्य-कारणवाद के उत्तर सिद्धान्त की पूर्णरपेण पुष्टि होती है। उग्नीने लिखा है

अमद्वरणादुपादानग्रहनात् सर्वमभ्यवाभावात् ।

शक्तस्य शब्दहरणात् कारणभवाच्च सत्कार्यम् ॥

(साख्यकारिका, ६)

ईश्वरकृष्ण की उग्नीका कारिका के अन्तर्गत साख्यमत्तद्यार्थवाद की समर्थक पात्र युक्तिया मिलती हैं

१ असद्वरणात्—जो वस्तु कारण म पहले से विद्यमान नहीं है उग्नी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध मे वाचस्पतिमिथ वा यह कथम नितान्त सगत प्रतीत होता है कि नील वस्तु को सहजो शिल्पी द्वारा भी पीत नहीं बनाया जा सकता।^१ यदि ऐसा हुआ होता तब तो आकाशकुमुम जैसे असम्भव पदार्थों की भी उत्पत्ति होने नहीं।

२ उपादानप्रहृणात्—काय की मत्ता कारण के तरवो पर पृष्ठरूप से आधारित होती है। जैसे, दूष से ही दही और तनुओं से ही वस्त्र को उत्पत्ति सभव है। अत काय-कारण वा सम्बन्ध नियत है। यदि ऐसा न हुआ होता तो किसी कारण से भी किसी कार्य की उत्पत्ति ही जापा करती।

३ सर्वमभवाभावात्—परं दारणो मे मयं कार्यो श्री उन्ननि कदापि सम्भव नहीं है।

४ शक्तस्य शब्दहरणात्—शक्ति कारण मे ही शब्द वार्य व्याप्ति उत्पत्ति होती है। इसमे यह गिद्ध है कि कार्य की मत्ता कारण म अव्यान रूप मे वर्तमान रहती है।

५ पारणभावात्—वस्तुन कार्य और वारण म ऐक्य है। अव्यवनावस्था मे जो कारण है वही व्यवनावस्था वा कार्य है। इस प्रकार सूष्टि उद्भाव का परिणाम है और प्रलय अनुद्भाव वा। अनुद्भावावस्था मे कार्य कारण म ही लीन हो जाता है।^२

प्रकृति

दग्नं और साहित्य से विवेच्य दिखो मे प्रकृति का प्रमुख स्थान है। अद्वैत वेदान्त म प्रकृति भाया रूप से वर्णित हुई है। साख्य मे, अव्यवन और प्रधान प्रकृति नी झटर सज्जाए है। व्याप्तिमात्र मे प्रकृति की निष्ठलिङ्गिन परिभाषा ही गई है

'नि मतामत नि दद्वद् निरद्वद् अव्यवन अविहृत प्रधानम् ।'

(व्याप्तिमात्र, २।११)

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार न प्रकृति की सत्ता ही है और न असत्ता ही। न वह दद्वद् और न असद्वद्। परन्तु दद्वद् अर्थ यह भी नहीं है कि वह शाविष्यान की तरह नितान्त अमद्वद्वा

१. नहीं नील शिल्पिमहवेणापि पीत वर्तु शब्दने। —तत्त्वकोमुदो, प० ६

२. नाश कारण सद्य। —साख्यमूल, १।१२१

है। इसके अतिरिक्त प्रकृति अव्यक्त एवं अलिंग है। सांख्यसूत्र के अन्तर्गत आचार्य कपिल ने 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (सांख्यसूत्र १।६४) अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है, कहने पर परिभाषा की है। सांख्यकारिका में प्रकृति को अहेतुक, नित्य, व्यापक, निकित, एक, निराश्रित, लिगरहित, निरवद्य, स्वतन्त्र, त्रिगुणात्मक, विवेकरहित, विषयरूपा, सामान्य, नवेतन तथा प्रसवधर्मणी कहा गया है।^१

प्रकृति-तत्त्व के बिना सांख्यदर्शन का शरीर उसी प्रकार निर्जीव है, जिस प्रकार मायातत्त्व के बिना अद्वैतदर्शन का। ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की महती उपयोगिता स्वीकार करते हुए उसको अस्तित्व-सिद्धि के सम्बन्ध में निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं :

१. जगत् की सत्ता सीमित है। सीमित वस्तु के लिए असीमित पदार्थ का ही आधार अपेक्षित होता है। सीमित का आधार सीमित कदापि नहीं हो सकता।

२. सांख्यदर्शन के अन्तर्गत त्रिविध गुणों की साम्यावस्था स्वीकार की गई है। जागतिक पदार्थों में त्रिविध गुणों की सत्ता सर्वत्र वर्तमान रहती है। प्रत्येक पदार्थ सुख, दुःख तथा मोह का जनक है। अतः जगत् के पदार्थों की उत्पत्ति का एक ऐसा मूल कारण होना चाहिए, जिसमें उक्त विशेषताएँ उपलब्ध हों।

३. कारण शब्दित से कार्य की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष तिद्ध है। यह शक्ति कार्य की अव्यक्तावस्था ही है। इसलिए समस्त कार्यों के जनक किसी अव्यक्त तत्त्व की कल्पना संगत ही है।

४. कारण और कार्य की सत्ता पृथक्-पृथक् है। स्वयं कारण कार्य नहीं हो सकता। अतः जगत्-रूप कार्य के लिए प्रकृति-रूप कारण का मानना नितान्त युक्तियुक्त है।

५. विश्व की एकरूपता के कारण समस्त विश्व का कोई एक ही कारण सम्भव है। अतः सांख्यदर्शन के अनुसार जगत् का प्रकृति का परिणाम होना युक्तियुक्त ही है।^२

गुण

हमने ऊपर प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने की चर्चा की है। परन्तु सांख्य की गुण-सम्बन्धी मान्यता वैदेशिक से भिन्न है। वाचस्पतिमिथ के अनुसार सत्त्व, रज और तम को गुण कहने का यही तात्पर्य है कि वे प्रकृति के स्वरूपाधायक अंगरूप हैं और पुरुष के अर्थ की सिद्ध करने वाले हैं। विज्ञानभिक्षु ने गुण की परिभाषा देते हुए कहा है कि पुरुष को वन्धन में डालने वाले त्रिगुणात्मक महत्त्वादि के निर्माता होने के कारण ही इन्हें गुण कहते हैं। विज्ञानभिक्षु का कथन है कि जिस प्रकार गुण (रस्ती) के द्वारा पशु को वन्धन में बांधा जाता है उसी प्रकार सांख्य के गुण भी पुरुष को वन्धन में बांधते हैं।^३ महत्त्व या व्यष्टिरूप से बुद्धि, प्रकृति का प्रथम विकार है। यही जगत् की उत्पत्ति में वीजरूप है। प्रकृति का प्रथम विकार बुद्धि, सुख-दुःख एवं मोहत्वरूप है। अतः प्रकृति में भी इन गुणों का होना स्वाभाविक है। यद्यपि इन गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता तथापि प्रकृति के विकारों के द्वारा इनकी सत्ता सिद्ध होती है।

प्रथम सत्त्वगुण प्रीतिरूप, लघु तथा प्रकाशक है।^४ द्वितीय रजोगुण दुःखोत्पादक, चल

१. सांख्यकारिका, १०-११

२. सांख्यकारिका, १५-१६

३. सांख्यप्रवचनभाष्य, १।६।१

४. तत्त्वकोशुदी, १३

और उत्पन्नक (कार्य का प्रवर्तक) होता है। यही सासार की अविस सक्षियता का मूल है। रजोगुण के चलत्व के सम्बन्ध में आचार्य गोडापाद और माठर ने कई दृष्टान्त दिए हैं। गोडापाद और माठर का वर्थन है कि वैत का नरों में होना लड़ना यथवा किसी पुरुष का ग्राम की ओर जाने की आकाशका कराया या हिन्दी हस्ती से प्रेम करना रजोगुण की चलत्व सम्बन्धी विद्येषता के ही कल है।^१ तृनीय गुण तमोगुण है। तमोगुण मोहरूप, मुरत्वमय तथा वरणक होता है। सत्त्व रजस और तमस के कार्य क्रमशः प्रशान्त और नियमन हैं।^२ इन्हीं में सुख दुःख तथा मान्यता की उन्नति होती है। साल्य के उत्पुर्वक तीनों गुणों का अस्तित्व पृथक न होकर उनमें अविनाभाव सम्बन्ध है।^३ अत जगत का गत्येक पदार्थं विगुणयुक्त है। यह बात दूसरी है कि किसी एक गुण के प्रधान्य के भारण कोई पदार्थं उसी प्रधान गुण के नाम में जाना जाता है। जिस वस्तु में जिस गुण की प्रधानता रहती है उसी गुण का उस वस्तु में प्रकाशन होता है आय गुण उस वस्तु में गुण उस में वर्तमान रहते हैं। जिस प्रकार कि विद्याम वरते समय मनुष्य में तमोगुण की प्रधानता रहती है और रजोगुण तथा सत्त्वगुण गुप्त रीति से वर्तमान रहते हैं चरते समय मनुष्य न रीर मरजोगुण का प्राधान्य रहता है और तमोगुण की गुण स्थिति होती है।^४ ये तीरों गुण आस में उनी प्रकार सम्बन्धित हैं जिस प्रकार दीपक में प्रकाश तेल एवं वर्णिका परस्पर सम्बन्धित हैं।^५ पृथक् रूप से कोई भी गुण अपना कार्य करने की सामर्थ्य नहीं रखता। डा० बी० एन० सील का विचार है कि सत्त्वगुण में भौतिक मिट्टि एवं गुरुत्वाकर्पण का अभाव है। इसमें न अवरोधक शक्ति है और न त्रिशान्तिक। इसके विपरीत तमोगुण में भौतिक मिट्टि भी है और अवरोधक शक्ति भी। परन्तु सत्त्वगुण प्रशान्ति वृद्धिनन्त्र और तमोगुणवर्ती भौतिक तत्त्व में क्रियात्मकता का अभाव है। आद्व मात्र सत्त्व और तमस में उत्पादन की क्रिया का अभाव है। इसके अपने तमोगुण की अवरोधक शक्ति को जीतने की ही शक्ति नहीं है जगत् दुष्टि द्वारा भी तदपेक्षित शक्ति द्वारा की सामर्थ्य है।^६

सास्य के गुणों का यह वैशिष्ट्य है कि वे इन्द्रियातीत होने के कारण दृष्टि पर में नहीं आते। उनका जो उप दृष्टिगोचर होता है वह मायिक एवं सुच्छ है।^७

पुरुष

मात्यदर्शन के अन्तर्गत प्रहृति के अतिरिक्त दूसरा प्रमुख तत्त्व पुरुष है। यद्यपि प्रहृति

१ Sovani A Critical Study of the Sankhya System, p 206

२ योगसूत्र, २।१८

३ साल्यव्याख्या १३

४ Dr Das Gupta Indian Philosophy, Vol I, p 246

५ मात्यदर्शन, १३

६ Dr B N Seal The Positive Sciences of the Hindus, p 4,

(Longmans, 1912)

७ गुणाना परमे स्पृह न दृष्टिप्रयमूल्यन्ति।

और पुरुष के संयोग से ही संसार की सृष्टि होती है परन्तु फिर भी सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष की विशेषताएँ प्रकृति से एकदम विरुद्ध हैं। सांख्य की प्रकृति यदि त्रिगुणात्मिका है तो पुरुष त्रिगुणातीत, प्रकृति यदि विवेक-रहिता है तो पुरुष विवेकी, प्रकृति यदि विपर्य है तो पुरुष विपर्यी, प्रकृति यदि जड़ है तो पुरुष चेतन और यदि प्रकृति प्रसवधर्मवाली है तो पुरुष अप्रसवधर्मी है।^१ पुरुष के त्रिगुणातीत होने के कारण उसमें रजोगुण से उत्पन्न होने वाली सक्रियता का अभाव है। अतएव वह अकर्ता होते हुए भी पुरुष नित्यमुक्त होने के कारण मध्यस्थ अथवा साक्षी अवश्य है।^२ सांख्याचार्यों ने पुरुष-सिद्धि के लिए निम्नलिखित कई युक्तियाँ दी हैं :

१. समस्त जागतिक पदार्थ संघातमय हैं। अतः जगत् के इस समस्त वस्तु-संघात का किसी अन्य के प्रयोगन के लिए होना स्वाभाविक है। अन्यथा इस वस्तु-संघात की उपयोगिता ही क्या होगी ? यह अन्य तत्त्व पुरुष है।

२. संसार के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। अतः एक ऐसे तत्त्व की भी आवश्यकता है जो त्रिगुण-विरहित हो।

३. प्रकृतिजन्य जड़जगत् का चेतन अधिष्ठाता परम अपेक्षित है। राजा की तरह सांख्य का पुरुष भी अधिष्ठाता के रूप में जगत् का नियन्ता है।

४. संसार के समस्त विपर्य भोग-योग्य हैं। अतः इनका भोक्ता होना भी आवश्यक है।

५. मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होना किसी ऐसे पदार्थ का सूचक है, जिसकी विशेषताएँ त्रिगुणात्मक प्रकृति से विपरीत हों। यह पदार्थ पुरुष है।^३

पुरुषवहृत्व

वेदान्त के विपरीत सांख्यदर्शन पुरुषवहृत्व का समर्थक है। सांख्य का तर्क है कि जन्म-मरण की भिन्नता तथा त्रैगुण्य का विपर्यय पुरुषवहृत्व का साधक प्रमाण है। यदि एक पुरुष हुआ होता तब तो समस्त पुरुषों का जन्म तथा मृत्यु एक काल में ही हुए होते। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसके साथ ही साथ त्रैगुण्य-विपर्यय होने के कारण पुरुषों में गुण-सम्बन्धी भिन्नता पाई जाती है। कोई पुरुष सत्त्ववहृल है, कोई रजोवहृल और कोई तमोवहृल। इसी-लिए कपिल, आसुरि, पञ्चशिल एवं पतंजलि आदि सांख्याचार्यों ने पुरुष-वहृत्व को स्वीकार किया है।^४

प्रकृति, पुरुष एवं सृष्टि

प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध सांख्य की रहस्यभरी समस्या है। इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। परन्तु दोनों के संयोग में एक आपत्ति यह है कि दोनों ही विपरीत लक्षण वाले हैं। इस आपत्ति का समाधान सांख्य ने बड़े सरल ढंग से प्रस्तुत किया है।

१. सांख्यकारिका, ११

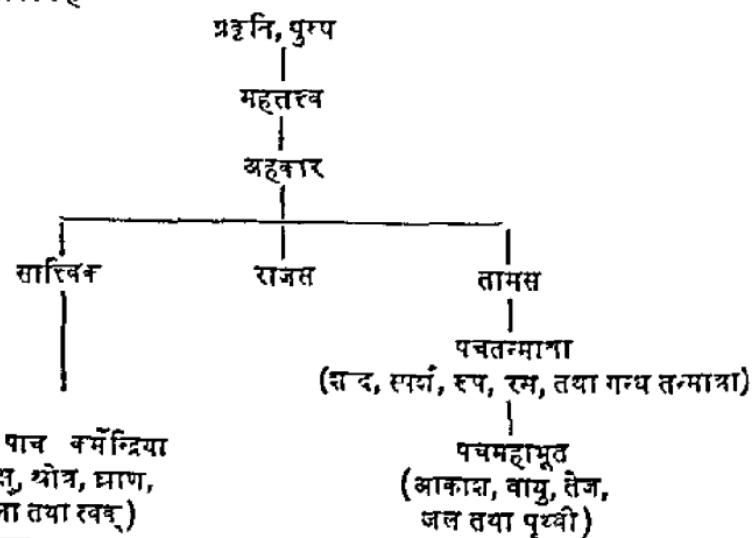
२. सांख्यकारिका, १६

३. सांख्यकारिका, १७

४. Max Muller : Indian Philosophy, Vol. III, p. 42

सास्य ने प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अन्ये और लगडे का राचक दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार अन्वा व्यक्ति, जिसमें चलने की शक्ति तो है परन्तु जिसे मार्ग का ज्ञान नहीं है, लगडे व्यक्ति, जिसमें चलने की शक्ति नहीं है परन्तु जिसे मार्ग का ज्ञान है वी सहायता से अपने स्थान पर पहुच जाता है और उस लगडे व्यक्ति को भी यथारथान पहुचा देता है, उसी प्रकार जडातिमका प्रकृति भी सक्रिय होने के कारण निष्ठिय परन्तु चेतन पुरुष के सयोग से कार्य में प्रवृत्त होती है।^१ इस दृष्टान्त के सम्बन्ध में एक शका होती है और वह पह कि जह प्रकृति में सक्रियता कैसे सिद्ध हो सकती है? इस शका का समाधान करते हुए ईश्वरकृष्ण ने अपनी सात्त्विकारिका में लिखा है कि जिस प्रकार चत्त (बछड़ा) की कृदि के लिए जह रूप पदार्थ दूध में भी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है उसी प्रकार जह प्रकृति में भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।^२ जब जह दृक्षों में ही फल उत्पन्न करने की शक्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है तो प्रहृति वी ही सक्रियता में क्या अश्चर्य है।

उपर्युक्त अन्वे और लगडे पुरुष के दृष्टान्त के अनुमार चेतन पुरुष की अध्यक्षता में जह प्रकृति सृष्टि वा कार्य करती है। प्राचीन सास्य में प्रकृति और पुरुष के अतिरिक्त काल नामक एक तृनीय तत्त्व दो भी भवीकार किया गया है।^३ प्राचीन सास्य के अनुमार बाहर ही प्रकृति के थोक द्वा बारण है। परन्तु परत्वर्ती साम्य के अनुमार प्रकृति की प्रवृत्ति वा बारण स्वभाव है। पुरुष के सामीप्य से प्रहृति में जो पथम विकार उत्पन्न होना है उसमा नाम महत्त्व है। इसी को वर्णित में बुद्धि कहते हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य सात्त्विक बुद्धि के गुण हैं तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनेश्वर्य तामसी बुद्धि के। मन्त् तन्त्र में अहकार उत्तम होता है। अहकार वे वैदृत (सात्त्विक), तैजस (राजस) तथा भूतादि (तामस) स्थ में तीन भेद हैं। तैजस की गहायता से सात्त्विक अहकार में ११ प्रकार दी इनिद्रियों—पाच क्षेत्रिद्रियों, पाच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन की उत्तरति होती है। सास्यदर्घन के अनुमार सृष्टि के विकास वा निम्न प्रकार है



१. सास्यकारिका, २१

२. सास्यकारिका, ५७

३. श्रीमद्भागवत ३।६।२ तथा विष्णुपुराण, प्रथमांश, २।२६

तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां
(वाक्, पाणि, पाद,
पायु तथा उपस्थिति)

इन प्रकार सांख्य में प्रकृति, पुरुष, महत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा, पंचमहाभूत और एकादश इन्द्रिय, ये २५ तत्त्व स्वीकार किये गए हैं।

मुक्ति

जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त में जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण अविद्या है, उसी प्रकार सांख्यदर्शन में भी पुरुष के बन्धन और मोक्ष का कारण अविवेक है। जैसे कि अद्वैतमत में 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' के अनुसार जीव ब्रह्मरूप है वैसे ही सांख्य का पुरुष भी स्वभावतः मुक्त है। परमार्थतः पुरुष का प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। अविवेक के कारण ही पुरुष का प्रकृति ने सम्बन्ध होता है। पुरुष और प्रकृति के इस अविवेकजन्य सम्बन्ध का यह कल होता है कि प्रकृतिजन्म दुःख का प्रतिविम्ब पुरुष में पड़ता है और इस दशा में पुरुष सांसारिक दुःखों का भोगता बन जाता है। इस प्रकार यदि अविवेकजन्य पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध बन्धन है तो विवेकजन्म पुरुष और प्रकृति का वियोग मोक्ष है।^१ विवेक-सिद्धि का उपाय व्यक्ति, वश्यकार तथा 'ञ' (पुरुष) का ज्ञान है। इसका ज्ञान होने पर प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति हो जाती है। यह स्मरणीय है कि प्रकृति का समस्त व्यापार पुरुष की मुक्ति के लिए ही है।^२ प्रकृति के व्यापार को स्थाप्त करते हुए ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की उपमा एक नर्तकी से दी है जो रंगस्थल में अपना भूत्य दिखाकर स्वतः निवृत हो जाती है।^३ प्रकृति की सुकुमारता के विषय में कहा गया है कि वह ऐसी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के सामने अनुभूत होने पर फिर उसके सामने कभी उपस्थित नहीं होती। प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर पुरुष की मुक्ति स्वतः निद्वा है।

जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति

अद्वैतवेदान्त की ही तरह सांख्य में भी जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति, मुक्ति के दो भेद जिनने हैं। नांदन के अनुमार मुक्ति की अवस्था में पुरुष को यह दृढ़ ज्ञान हो जाता है कि मैं स्वभावतः निष्ठिक नहूं, लकर्ता नहूं तथा संग-रहित नहूं।^४ यही जीवनमुक्ति की अवस्था है। जीवनमुक्ति के सम्बन्ध में कुम्भकार के चक्र का दृष्टान्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। जिस प्रकार कुलान-वश्यकार की निवृत्ति के पश्चात् भी चक्र पूर्वाभ्यास के अनुमार कुछ काल तक चलता रहता है, उसी तरह प्रकृति की निवृत्ति हो जाने पर भी पुरुष प्रारब्ध कर्मों का सम्पादन करता

१. यः पुरुषस्यापवर्ग उक्तः स प्रतिविम्बरूपस्य मिथ्यादुःखस्य वियोग-एव।

—सांख्यप्रवचनभाष्य, १।७२

२. सांख्यकारिका, ५६

३. सांख्यकारिका, ५६

४. सांख्यकारिका, ६४

ही रहता है।^१ यही दृष्टान्त शङ्खराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-ग्राण्ड के अन्तर्गत दिया है।^२ विदेह-मुक्ति के सम्बन्ध में विज्ञानभिशु द्वा कथन है कि शरीर के नाभि ही जाने पर पुण्य दुष्वय के विनाश को प्राप्त कर लेता है। यही विदेहमुक्ति की जवास्था है। विज्ञानभिशु द्वा विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं।^३

ईश्वर

माधारणतया साम्यदर्शन के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वह एक निरीश्वरवादी दर्शन है। साधारण ही नहीं, दा० दासगुप्त प्रभृति विज्ञप्ति सम्मानित विद्वानों का तो यहा तक कथन है कि साखदर्शन में ईश्वरवाद का खण्डन किया गया है।^४ दा० दासगुप्त ने अपने कथन की पुस्ति में कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर का यह कथन प्रामाणिक प्रतीत होता है कि कपिल एवं ईश्वरवाद के विरोध में कोई तकं नहीं देते। प्रो० मैक्समूलर की दृष्टि में कपिल का यही विचार है कि वे (कपिल) ईश्वर-मिथि के लिए ताकिं प्रमाणों का अभाव मानते हैं। इस दिशा में वे पश्चिमी दार्शनिक वाणि के अत्यन्त समीप हैं। प्रो० मैक्समूलर का कथन है कि कपिल ने ईश्वर का खण्डन करने के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है।^५

बत यह विचार तक प्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता कि सास्य में ईश्वर का खण्डन किया गया है। दा० राधाकृष्णन् “ईदुर्गेश्वरसिद्धि मिदा” (सास्यसूत्र ३।५७) के आधार पर सास्य में एक व्यवस्थापन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं जो सूष्टि काल में प्रहृति के क्रमबद्ध विकास की व्यवस्था करता है।^६ सास्यदर्शन में यद्यपि कृत्त्वशक्ति से युक्त ईश्वर की सत्ता नहीं मिलती, परन्तु जगत् के साक्षील्प में ईश्वर का वर्णन अवश्य मिलता है। साक्षी ईश्वर के साम्राज्य भाव में ही प्रहृति जगत् के व्यापार में उसी प्रकार लग जाती है, जिस प्रकार कि क्षुद्रक अपने साम्राज्य भाव में ही लोहे में गति उन्नत कर देता है।^७ विज्ञानभिशु ने तो सास्य को निरीश्वर न मानकर सेश्वर ही माना है।^८ इस प्रकार परवर्ती सास्य में ईश्वरवाद का समर्थन ही मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्पत्ति पर पहुचते हैं कि सूत्र साम्यदर्शन में न ईश्वरवाद का खण्डन ही किया गया है और न अनीश्वरवाद का मण्डन। राधाकृष्णन् में तो ईश्वरवाद की यत्क्षित् भलक भी मिलती है जो विज्ञानभिशु द्वे भास्य में और भी विकसित हो गई है।

१. सास्यकारिका, ६७

२. दा० सू०, दा० भा०, ४।१।१५

३. साम्यप्रवचनभाष्य, ५।१।१६

४. Dr Das Gupta Indian Philosophy, Vol I, p 218

५. Max Muller Indian Philosophy, Vol III, p 88

६. Dr S Radhakrishnan Indian Philosophy, Vol II, p 317 318

७. तत्त्वज्ञानादधिष्टानृत्व मणिवन्। — सास्यसूत्र, १।६६

८. प्रकृतिलीनस्य जन्येश्वरस्य मिथि। — साम्यप्रवचनभाष्य, ३।५५

अद्वैतवेदान्त और सांख्यदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

अद्वैत वेदान्त और सांख्यदर्शन का सम्बन्ध घनिष्ठ है। प्र० डायसन का यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि सांख्यदर्शन का पूर्ण विकास औपनिषद वेदान्त से हुआ है।^१ सांख्य-दर्शन की उपनिषद् वर्ती पृष्ठभूमि की ओर अभी भीछे संकेत लिया जा चुका है। उपनिषद् ग्रन्थ सिद्धान्तों से इस अद्वैत वेदान्त का विकास हुआ है उससे सांख्यदर्शन के सिद्धान्त बहुत-कुछ मिलने-जुलने हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त होगा कि सांख्य और वेदान्त दोनों एक ही दृष्टिकोण को लेकर आरम्भ होते हैं और दोनों का उद्देश्य भी एक ही है। यहां हमारा उद्देश्य मार्ग और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों में साम्य एवं वैपर्य देखना है।

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जो स्थान माया का है वह स्थान सांख्यदर्शन में प्रकृति का है। स्वेताङ्गतर उपनिषद् में प्रकृति को माया का पर्यायवाची कहा गया है।^२ परन्तु सांख्य की प्रकृति और वेदान्तिक माया में पर्याप्त अन्तर है। वेदान्तिक माया की तरह प्रकृति अनिर्वचनीय नहीं है। वेदान्त में माया मिथ्या है परन्तु माया की प्रकृति सत्त्वहणिषी है। यद्यपि परवर्ती वेदान्त में माया को विगुणात्मिका कहा गया है, परन्तु वहां भी माया की विगुणात्मकता से सत्त्व, रज और तम की प्रतृतियों का ही अग्रिमा है, न कि माया की भौतिक प्रकृति का।^३ माया की ऐन्ड्रजानिकता का भी माया की प्रकृति में अभाव है। वेदान्त में जो स्थान ब्रह्म का है, माया में वह स्थान पुरुष का है, परन्तु यह दिक्षारणीय है कि वेदान्त के 'ब्रह्म' की तरह माया का 'पुरुष' जगत् का उपादान कारण नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि ब्रह्म की उपादान-कारणता में उसकी शक्ति माया कारण है। जहां वेदान्तदर्शन में एहान्मगाद का समर्थन किया गया है, वहां सांख्यदर्शन पुरुषब्रह्म का समर्थक है। वर्गे तो उगाधिभेद ने अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी अनेकजीववाद का ही समर्थन किया गया है।^४ वेदान्त और नांख्य दोनों ही दर्शन अध्यात्मवाद के समर्थक हैं; परन्तु किर भी दोनों का अध्यास-सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न है। सांख्य के अध्यास का कारण प्रकृति और पुरुष का पृथक्-पृथक् न समझा रूप अविवेक है। परन्तु अद्वैत वेदान्त में अध्यास का कारण ब्रह्म और माया के स्वरूप-ज्ञान का अभाव तो है ही, साथ ही अनिर्वचनीय एवं मिथ्या जगत् की सृष्टि भी प्रधान कारण है।^५ कार्य-कारण-सिद्धान्त के मम्बन्ध में गाव्याचार्य जहां जगत्-पृथक् कार्य को रत् कहकर सत्कार्यवाद का समर्थन करता है, वहां वेदान्ती सदानन्द 'अतत्वतोऽन्यवाप्रथा विवरं इत्युदीरितः' की उक्ति के द्वारा जगत् को विवरं भिन्न करता है।^६ वेदान्तदर्शन के अनुमार सृष्टि अविद्या का परिणाम है, परन्तु सांख्य

१. It will be shown that the Sankhya in all its component parts has grown out of the Vedanta of the Upanishads. (Deussen : The Philosophy of The Upanishads, p. 239)

२. माया तु प्रकृति विद्यात्। इवे० उ०, ४१०

३. Dr. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 493

४. अनन्ताश्च जीवा अज्ञातसंख्यात्मात्। रामाद्वयाचार्यकृत वेदान्तकौमुदी, पृ० २७८ मध्यपुरा नथा देविग्रंथ ०८०, शा० भा०, ११२।

५. Dr. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 493

६. वेदान्तसार, पृ० ५६

दर्शन में सृष्टि का पारण पृथिवी पर पुरुष का संशोधन स्य अविवेक है। जैसे हि, वेदान्त में अविद्या-निवृति होने के पश्चात् जीव वर्गन में मुक्त हो और ब्रह्मपता दो प्राण हो जाता है, उभी प्रवार साल्य में प्रवृत्ति और पुरुष के पार्वत वा विवेक होने पर पृथिवी प्रवृत्ति के बन्धन से मुक्त हो जाता है।^१ इस प्रवार वेदान्त और साल्य दो रो ही दर्शन पट्टियों में जगत् की व्यावहारिक सत्ता का मूल वारण अविद्या ही है। यदोहि अविवेक भी अविद्या का री स्य है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह सिद्ध होता है कि वेदान्त और साल्य का मूल आधार वैदिक विचारणारा होने के कारण, आरम्भ में इन दोनों का स्वयं समान ही था। परन्तु वालान्तर में इन दोनों की विचारादृष्टियों में भेद हो गया। वेदान्ती तो यूर्णत्या वैदिक मना-वस्त्रम् द्वारा होने के कारण अद्वैत यत का मानन करता गया। परन्तु भाल्यवरादी ने वैदिक एवं दो छोड़कर मा पारणजनन्त्वाद वैदिक सिद्धान्तों में परि २१ त वरना आन्सेन्ट कर दिया। वेदान्त के एकात्मज्ञाद के स्थान पर पृथिवीपृथिवीदाद थीर जगत् की मानित गत्तता की जगह अनित्य सम्बन्ध स्वीकार करना सार्वत्र के प्रमाण परिवर्तन थे।

अध्ययन की उत्तर दृष्टि से यह जात होता है कि सार्व और वेदान्त के मिद्दान्तों में अस्तन्त गहरा सम्बन्ध है। योगनिषेद अद्वैत वेदान्त तथा प्रभाव वी साल्य-सिद्धान्ता पर स्पष्ट स्य में परिलक्षित होता है। परन्तु यह भी नि १३०८ स्वीकार करना चाहिए कि अद्वैत वेदान्त और सार्वयदेशन में सूक्ष्म अध्ययन के लिए इन दोनों द्वारा उच्चित । ३ गिद्धाना ५ पारम्परिक भिन्नता भी अस्तन्त मिलती है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन

योगदर्शन की मतिष्ठ स्वरेता साल्य एवं योगदर्शन के सिद्धान्तों में इतना अधिक साम्य है कि वाचस्पतिमिथ और विज्ञानविक्षु प्रूति विद्वानों ने योग को नेतृत्व मारन और साल्य को निरीक्षण मार साल्य कहा है।^२ तर्वदानमार योगा में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि वाल-बुद्धि वाले ही साल्य और योग, इन दोनों का बलग अनग विश्व कलदादक बनता है, विद्वान् लोग नहीं।^३ वैसे तो साल्य और योग इन दोनों दर्शन-पद्धतियों के जाधार कपित और पत्रजलि के सूत्र होने के कारण दोनों का पायक्य स्पाठ है, परन्तु दोनों दर्शन-पद्धतियों में दोई मौलिक भेद नहीं प्रतीत होता। इन दोनों दर्शन-गद्वालियों में ईद्व-निष्पाण करने समर विद्वानों की दृष्टि, जैसा कि आरम्भ में बहा गया है, ईद्वराद ती प्रोग गई है। साल्यदर्शन के सम्बन्ध में ईद्वर-सम्बन्धी मिद्दान्त की चर्चा करने गमा यह कहा जा चुका है कि साल्य में व्यवस्थापन ईद्वर की ओर शोरा मिलता है।^४ पश्चाद्वर्ती विग्रानभिन्न जादि ने तो गारद में ईद्वर की सत्ता स्पष्ट स्य से स्वीकार री ही है। इस सम्बन्ध में मैत्रगम्याद का दर्शन है कि गारद में ईद्वर के दिव्य जन मारने के 'पुरुष' जो देख गए हैं।^५ इनके जनिग्राम गीता में भावान धी

१. Max Muller Indian Philosophy, Vol III, p 70

२ तत्त्ववेदार्थी ४१३, योगवाचित् ११२८ (मेडिकल हास्पिट, वार्सी १८८८ ई०), साल्य-प्रवधनभाष्य, ४१११२

३ गान्धीयों पृथिव्याना प्रवदनित न परिउता। —गीता, ५।८

४ साल्यपृथि, ३।५७

५ Max Muller Indian Philosophy, Vol III, p 93

कृष्ण ने सांख्य और योग की एकता 'एकं सांख्यं च योगं च' ? कहकर स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की है। यह तो निःसंकोच स्वीकार्य है कि योगदर्शन की स्थिति भारतवर्ष में योगाभ्यास एवं ध्यान के रूप में पुरातन काल से चली आ रही है। गीता में भी योग को पुरातन कहा गवा है।^१ इसकी पुरातनता को सिद्ध करते हुए कृष्ण ने गीता में कहा है कि इस योग को मैंने सर्व-प्रथम सूर्य से कहा था, नूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा, मनु ने अपने पुत्र इश्वाकु से कहा। इस प्रकार क्षत्रियों की परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को उत्तरकाल में राजपियों ने जाना।^२ इसके पश्चात् यह योग बहुत काल तक लुप्त हो गया।^३ गीता के उक्त उद्धरण से योग की प्राचीनता स्पष्ट कलाकृती है।

योग शब्द का अर्थ

नूत्रकार पतंजलि ने योग की परिभासा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'^४ अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है, कहकर दी है। इस शब्द की निष्पत्ति 'युज्' धातु (जिसका प्रयोग समाधि अर्थ में होता है) से होती है। वास्तव में योग का चरम उद्देश्य समाधि ही है। योग के अर्थ के सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर ने बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में इस शंका का समाधान दिया है कि योग शब्द का अर्थ दो वस्तुओं का योग (Union) है अथवा वियोग (Disunion)। प्रो० मैक्समूलर ने योग शब्द की निष्पत्ति 'युज्' (समाधी) से मान लेते-तो उनके सामने योग शब्द के अर्थ के विषय में उच्च समस्या उपस्थित न हुई होती। संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वेवर ने भी जो योग का अर्थ संयोग दिया है, वह अयुक्त है।^५ क्योंकि योग का प्रतिपाद्य जीव का कित्ती अन्य से संयोग न होकर आत्म-स्वरूपाद्वोध ही है। मैक्समूलर का 'वियोग' अर्थ संयोग की विपेक्षा कुछ अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि पातंजल योग-मार्ग में भी प्रकृति और पुरुष का वियोग तो मिलता ही है। वृत्तिकार भौज ने भी योगदर्शन के आरम्भ में मंगलाचरण करते समय पतंजलि के उक्त मत की ओर संकेत किया है।^६ मैने विचार से तो वाह्य वृत्तियों के विरोध और निरोध के फलस्वरूप समस्त वृत्तियों और संस्कारों का प्रविलय होने पर ही योग की उत्पत्ति होती है। अतः यदि देखा जाए तो योग वियोग का फल है न कि स्वतः वियोग ही। योग तो समाधि का ही स्वरूप है।^७

वैसं तो हठयोग, मंत्रयोग और लक्षणयोग आदि योग के कई भेद मिलते हैं परन्तु दार्श-

१. गीता ५।५

२. योगः प्रोक्तः पुरातनः। —गीता, ४।३

३. गीता—४।१, २

४. योगो नष्टः परन्तपः। —गीता, ४।२

५. योगसूत्र, १।२

६. Max Muller : Indian Philosophy, Vol. III, p. 94

७. History of Indian Literature, p. 238-39

८. पतंजलिमुनेश्वकितः काप्यपूर्वी जयत्यसौ।

पुंप्रकृत्योवियोगोऽपि योग इत्युदितो यथा ॥ (योगदर्शन, मंगलाचरण का तृतीय श्लोक)

९. योगः समाधिः। —योगभाष्य, १।१

निक दृष्टि से केवल पञ्जलि के राजयोग का ही अधिक महत्व है। अत यहां पातंजल दर्शन के अनुपार ही योग की आत्मोचनात्मक व्यपरेखा दी जाएगी।

योगदर्शन में चित्त का स्वरूप

योगदर्शन में चित्त से मन दुष्टि और अहमार का तात्पर्य है। चित्त त्रिगुणात्मक होने के कारण परिणामी है। सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणों वे उद्देश के अनुनार चित्त की निम्नलिखित तीन अस्थाएँ होती हैं।

१ प्रस्त्वाशील

२ प्रहृतिशील

३ स्थितिशील

प्रथम अवस्था का चित्त सत्त्वप्रधान होता हुआ रज और तम से समुक्त होकर अणिमा आदि ऐश्वर्य का प्रभी होता है। द्वितीय अवस्था में तमोगुण से युक्त चित्त अवर्म, अज्ञान अवैराग्य तथा अनैश्वर्य से समुक्त हो जाता है। तृतीय अवस्था में तम के क्षीण होने पर केवल रजस् के अग से युक्त होने पर चित्त सर्वं प्रकाशमान होता है तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से व्याप्त होता है। प्रथम (प्रस्त्वाशील) अवस्था में चित्त में केवल ऐश्वर्य-प्राप्ति की तीव्र इच्छा ही रहती है परन्तु तीसरी स्थितिशील अवस्था में चित्त वो ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन में चित्त की पात्र भूमिया अवश्य अवस्थाएँ स्वीकार की गई है। ये भूमिया—क्षिण, भूदि विक्षिप्त, एकाग्र तथा निष्ठा हैं।^१ इन पञ्चभूमियों का स्वरूप-निर्धारण निम्न प्रकार से किया जाएगा।

(१) क्षिप्त—क्षिप्त का साधारण अर्थ, घब्बल है। क्षिप्तावस्था में चित्त घब्बल होकर ससार के सुख दुखादि के लिए व्यधित रहता है। इस अवस्था में रजोगुण का प्राधान्य रहता है।

(२) भूदि—चित्त की मूढावस्था में तमोगुण का उद्देश होता है। इस दशा में चित्त में विवेक-शून्यता रहती है। अत मूढावस्था में विवेक न होने के कारण पुराय त्रोष दृष्ट्यादि के द्वारा विस्फृत्यों में प्रवृत्त हो जाता है।

(३) विक्षिप्त—तत्त्ववैशारदी के अन्तर्गत वाचस्पति मिथ ने विक्षिप्त की परिभाषा 'तिप्राद् विगिष्ट विक्षिप्तम्' ^२ कहकर दी है। इस परिभाषा के अनुसार विक्षिप्त की स्थिति क्षिप्त में विगिष्ट है। क्षिप्त की अपेक्षा विक्षिप्त की यह विशेषता है कि क्षिप्त मतों रजोगुण का प्राधान्य रहता है, परन्तु विक्षिप्तावस्था में रजोगुण की अपेक्षा सत्त्वोगुण का उद्देश रहता है। सत्त्वोगुण के आविष्य के करण विक्षिप्तावस्था का चित्त कभी कभी स्थिरता धारण नहीं करता है। इस अवस्था में दुख-माध्यों की ओर प्रवृत्ति न होकर सुख के साथों वीं ओर ही प्रवृत्ति रहती है। उन तीनों अवस्थाएँ ममात्रि के निए अनुभवीय होने के कारण हैं।

(४) एकाग्र—एकाग्रावस्था वह अवस्था है, जिसमें चित्त की वाहा वृत्तियों का निरोप

¹ नाद्व गिन भूदि विक्षिप्तम् एवाय, निरद्वग्नि चित्तस्य भूमय चित्तस्यावस्थाविवेदा।—भोजवृत्ति, योगसूत्र ११

² तत्त्ववैशारदी, ११

हो जाता है।^१

(५) निरुद्ध—पांचवी निरुद्धावस्था है। निरुद्धावस्था में चित्त के समस्त संस्कारों तथा समस्त वृत्तियों का प्रविलय हो जाता है।^२

उक्त अन्तिम दो ही चित्त की ऐसी भूमियां हैं जिनकी समाधि के लिए अपेक्षा है।

योगसूत्र के लेखक पतंजलि ने चित्त की पांच वृत्तियां भी मानी हैं। ये पांच वृत्तियां—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति हैं।^३

वृत्तियों का स्वरूप-विवेचन : वृत्तियां संस्कारों की ओर संस्कार वृत्तियों के निमित्ता है। योगदर्शन में निम्नलिखित पांच प्रकार की वृत्तियां वर्तलाई गई हैं।

१. प्रमाण : जहाँ तक प्रमाण वृत्ति का प्रश्न है, सांख्यदर्शन की तरह ही योग में भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, ये तीन प्रमाण माने गए हैं। परन्तु योग के प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में कुछ वैशिष्ट्य है। योगदर्शन के अनुसार चित्त इन्द्रिय-द्वार से बाहर जाकर वस्तुओं के साथ उपराग प्राप्त करता है और विषयाकार हो जाता है। इस प्रकार वस्तु के आकार को प्राप्त जो चित्तवृत्ति होती है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। उदाहरण के लिए, वस्तु के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति में 'अर्द्ध घटं जानामि' अर्थात् मैं घट को जानता हूँ, इस प्रकार घट का साक्षाৎ-कार होता है। अनुमान तथा शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में सांख्य और योग दोनों में ऐक्यमत्य है।

२. विपर्यय : सूत्रकार पतंजलि ने 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्' (योगसूत्र १।८) की उक्ति के द्वारा विपर्यय को मिथ्या ज्ञान का रूप दिया है। इस विपर्यय के अन्तर्गत संशय भी आता है।

३. विकल्प : विकल्प की उत्तरित शब्द-ज्ञान से होती है, परन्तु विकल्प में सत्य ज्ञान की घूम्यता रहती है। उदाहरणार्थ, वज्रशृंग को सुनकर वश्वार्थ का ज्ञान तो होता है, परन्तु उसमें वस्तु के सत्य ज्ञान की घूम्यता ही रहती है, क्योंकि वश (खरगोश) के सींग नहीं देखे जाते। भाष्यकार व्यास ने विकल्पवृत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए चैतन्ययुक्त पुरुष का दृष्टान्त दिया है। उनका कथन है कि 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्' अर्थात् पुरुष का स्वरूप चैतन्य है, इस वाक्य में पुरुष और चैतन्य इन दोनों की भिन्नता प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में यदि देखा जाए तो चैतन्य में चैतन्यात्मक पुरुष कदाचि भिन्न नहीं है।^४ अतः इस वाक्य ने उत्पन्न वृत्ति विकल्प रूप है।

४. निद्रा : तम के आधिक्य पर अवलम्बित होने वाली वृत्ति निद्रा है। निद्रावृत्ति में जाग्रत् एवं स्वप्न वृत्तियों का अभाव रहता है। निद्रा को ज्ञान का अभाव कदाचि न समझना चाहिए, क्योंकि निद्रा भूंग होने के पश्चात् सोने वाला व्यक्ति भी इस प्रकार का अनुभव करता कि मैं सुखपूर्वक सोया। अतः निद्रा के वृत्तित्व के सम्बन्ध में शंका नहीं करनी चाहिए।

५. स्मृति : अनुभूत विषयों का ठीक उसी रूप में असम्प्रमोप (संस्कार के द्वारा बुद्धिगत होना) स्मृति है।

१. एकाग्रे वहिवृत्तिनिरोधः। —भोजवृत्ति, १।१

२. निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलयः। —भोजवृत्ति, १।१

३. योगसूत्र, १।६

४. योगसूत्रभाष्य, १।६ (Sacred Books of the Hindus, Vol. IV के अन्तर्गत प्रकाशित।)

उपर्युक्त पांच चित्तवृत्तियों के निरोध से ही तत्त्वज्ञान होता है और दुःख की आत्मविद्या निवृति होती है। इन्हीं वृत्तियों के निरोध वो योग वहा गया है। योगदर्शन वे अनुमार चित्तवृत्ति वे निरोध के उपर्युक्त तथा वैराग्य हैं। वैराग्य वे द्वारा चित्तस्थप नदी वा पापशोन जाता है और विदेश इर्षण वे अभ्यास में विवेक शोन वा उद्घाटन होता है। अतएव वैराग्य और अभ्यास चित्तवृत्ति के निरोध के मूल कारण हैं।

सम्भार जैगा यि वह खुके हैं वृत्तियों से भस्त्रार और सस्तारों से वृत्तियों जा निर्माण होता है। जब चित्त में वृत्तिया उत्पन्न होइर क्षीण हो जाती हैं तो वे जगते सूक्ष्म स्वप्न में, भस्त्रार भर पैर रह जाती हैं। इस प्रकार वृत्तिया भस्त्रार की निर्माणी है। इन सम्भारी में ही उद्घाटन हेतु वी उपस्थिति में वृत्तियों का निर्माण होता है। इस प्रकार सम्भार और वृत्तियों वा यह चक्र सतत चलता रहता है।

योगदर्शन वा वेश-मन्त्रवन्धी द्रष्टिकोण

योगदर्शन के जनवार मिथ्या ज्ञान के कारण ही चित्त में बनेदा ही उत्पत्ति होती है। योगदर्शन वे भाष्य कहा गया है कि वेश द्वीप मुग्धा व अपितार को दृढ़ बनाने ते तथा महत् तत्त्व एव जूतारादि की परम्परा से परिग्राम को स्वाप्नित करने हैं। यौवन ही ज्ञान में अनु-प्राहृत बनकर दर्मों के पास—जैति वायु तथा भाग—जी निष्पन्न करते हैं।^१ वर्ण और कर्म व्याप्ति में एक द्वारे के सहयोगी हैं। वर्ण वेशमा के उल्लादक हैं तथा वेशों से दर्मों का उदय होता है। ये वेश निष्पत्तिविन वौच हैं

- १ अविद्या
- २ अस्मिता
- ३ राग
- ४ द्वेष और
- ५ अभिनिवेश

१. अविद्या अविद्या अज्ञान का मन्त्र है। अविद्या वे सम्भवते योगदर्शन के भाष्य-कार ध्यान ने कहा है कि अनित्य, अमुचि, दुर्प्राप्त वा अलान्म वस्तुओं में तित्यरा, मुक्तिरा, मुख्यता तथा यात्मता की वृद्धि रखना अविद्या है।^२ पर्ते अविद्या भौतग-मन्त्रान वा दीक्षा है तथा विदार के माध्यमाद्वय की उत्तादिका है। अविद्या का विष्वनृत विशेष जटि अद्वैत वेशान्त वी अविद्या से तुरन्त बरते समय इत्या जायगा।

२ अस्मिता अस्मिता वा सामाजिक जर्ज अहुद्वित है। दृढ़ और दर्शनमनि की एतान्त्रिका अस्मिता है। दुर्योगित पूर्ण है तथा दर्शनसविता तुष्टि है। ये दो सो भिन्न भिन्न हैं परन्तु इन दोनों की एतान्त्रिका स्वीतार रसना ही अस्मिता है। इनम पूर्ण मात्रा है तथा तुष्टि भोग्य। भोग्या और भोग्य की एतत्र अपारा में ही भोग की क्षमता होती है। उन दोनों के स्वस्थ वा ज्ञान (भिन्नता का ज्ञान) ही जाने पर तो वे वृत्ति ही हो जाता है।^३

३ राग. मुख्योद्देश वस्तुओं में जो लोभ या तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे राग कहते हैं।

१ योगभाष्य, २।३

२ अनित्यामुचिदुपानामप्यमुनिपञ्चिमुमात्मस्थानिरपिद्या। —योगभाष्य, २।५

३ योगभाष्य २।६

४. द्वेष : दुःखाभिन्न पुरुष को दुःख की स्मृति के आधार पर दुःख के साधनों के सम्बन्ध में जो श्रोथ की भावना उत्पन्न होती है, उसे द्वेष कहते हैं।

५. अभिनिवेश : अभिनिवेश का तात्त्वर्थ मृत्यु-भय गे है। यह मृत्यु-भय प्रत्येक जीव में स्वाभाविक रूप से होता है। अभिनिवेश (मृत्युग १) के सम्बन्ध में भाष्यकार का यह मत कुछ मंदिरध प्रतीत होता है कि जिए प्रलार अत्यंत नूड प्राणियों को मृत्युभय लगा रहता है, उनीं प्रलार रूप और पर के अन्त को जानने वाले विद्वानों को भी मृत्युभय बना रहता है। आते मन के सदर्शन में भाष्यकार का कथन है कि कुगल और अकुशल दोनों में ही मृत्यु-दुःख के अनुभव के कारण उत्पन्न होते जाती यह (मृत्युभग की) वासना समान ही है।^३ भाष्यकार के उक्त मत में यह अंग नामुचित नहीं प्रतीत होता कि तिद्वान् को भी मृत्यु-भय बना रहता है। भाष्यकार के मन के सम्बन्ध में उक्त वज्ञा वाचस्पति विप्र को भी हुई थी। उन्होंने कहा था कि यह तो थीरु है कि अज्ञानी को मृत्यु ला भय रहता है, परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता कि जानी में भी मृत्युभय बना रहता है। जानी में तो जान के द्वारा मृत्यु-भय की वासना का विवरण हो जाना चाहिए।^४ मेरे विवारण, तिद्वान् में भाष्यकार का अभिनिवेश ऐसे वाक्तिक से प्रतीत होता है जिसे आनुमानिक वा निविद प्राप्त होता है, परन्तु अनुभव नहीं। अत कैवल्योपनिषद् में परमतत्व के वेत्ता जिन तिद्वान् की जनी की गई हैं? उसमें भाष्यकार का तात्त्वर्थ नहीं प्रतीत होता। विना समाधि जादि अनुग्रह के मृत्यु-भय का निवारण नहीं हो सकता। उपनिषद् में तो स्वाट ही कहा गया है—

‘न यमात्मा प्रवचनेन लभ्ना न मेवया न वहुया श्रुतेन।’ (कठोपनिषद्, १।२।२३)

इन विवेचन से वह भिन्न होता है कि ‘तिद्वान्’ शब्द का भाष्यकार-सम्मत धर्म परमतत्त्ववेत्ता में नहीं है, अग्रिम गास्त्रों के जाना मात्र से है।

योग के साधन

पातंजल योग में योग के आठ साधनों की चर्चा की गई है।^५ ये साधन—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि हैं। ये आठ साधन योग के अंग भी कहलाते हैं। इन स्थल पर इन योगांगों का संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

१. यम : यम का अर्थ मंत्रम है। यम के अहिंसा, सत्त्व, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अग्रतिग्रह, ये पाँच भेद हैं;

२. नियम : नियम के गी शीत, मन्तोप, तप, स्वाच्छाय तथा ईश्वर-प्रणिधान रूप से पाँच भेद हैं।

३. आसन : योगदर्शन में स्थर तथा मुख प्रदान करने वाले वैठने के प्रकार को आसन कहते हैं।^६ उग्राना में आसन-सिद्धि की अत्यन्त उपायेष्ठा है। आनन्दिद्वि चित्त की एकाग्रता में अत्यन्त सहायक होती है। हठयोग प्रदीपिका के अन्तर्गत पद्मासन, तिद्वानन, शीर्षासन आदि आसांगों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

१. समाना हि कुशलाकुशलयो मरणदुःखानुभवादिय वासना। —योगसूत्रभाष्य, २।६

२. तत्त्ववैगारदी, २।६

३. कैवल्योपनिषद्, १।१

४. योगसूत्र, २।२६

५. स्थिरसुखमासनम्। —योगसूत्र, २।४६

४ प्राणायाम इवाम और प्रश्वास के गति विच्छेद का नाम प्राणायाम है। वाह्य वायु का जायपन इवाम तथा भीतरी वायु का नि सारण प्रश्वास कहलाता है। पतञ्जलि ने योगसूत्र के अन्तर्गत वाह्य अस्थन्तर, स्तम्भवृत्ति तथा चतुर्थं प्राणायाम या वेदन बुम्भक प्राणायाम के ये चार भेद बतलाये हैं।

५ प्रत्याहार चित्-निरोध के समान ही जब वाह्य विषयों में इदियों का निरोध होजाए है तो उसे प्रत्याहार कहते हैं। इस स्थिति में इन्द्रियों की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है।

६ धारणा इनी देशम चित्तका लगा दिन धारणा कहलाता है।^१ देश में तात्पर्य नाभिचत्र हृदयक्षम यूर्ध्वायतिनी योगिनि, नामिकायभाग तथा जिह्वायभाग आदि में है।

७ ध्यान उपरका देश विशेष में ध्येय वस्तु का जान जब एकाकार होकर प्रवाहित होता है तो उसे ध्यान कहते हैं। ध्यानावस्था में एकाकार स्वप्नज्ञन में बलवान् और कोई जान नहीं होता।

८ समाधि जब ध्यान ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है और अपने स्वरूप से शून्यता को प्राप्त हो जाता है तो उसे समाधि कहते हैं। समाधि में ध्यान और ध्यान का भेद मिट जाता है। इसके विपरीत ध्यान में ध्यान, ध्यान और ध्येय का भेद बना रहता है।

पतञ्जलि ने धारणा ध्यान तथा समाधि इन तीनों को मिलाकर सम्पूर्ण कहा है।^२ भाष्यकार र सरम सो उक्त तीनों की सामिकी परिभाषा नहीं है।^३ सम्पूर्ण में सकृद होने से आलोचना उदय होता है।

समाधि के भेद योगदर्शन में समाधि के, सप्तज्ञात और अमप्रज्ञात, ये दो भेद मिलते हैं। सप्तज्ञात समाधि को सबीज और अगम्भ्रज्ञात समाधि को निर्वीज समाधि कहते हैं। सप्तज्ञात समाधि को सबीज समाधि इमिलिए कहते हैं कि उसमें चित्त ने समाधित होने के लिए कुछ न कुछ दौड़ दवा रहता है। सप्तज्ञात समाधि के भी चार भेद बनताये गए हैं। ये भेद—वित्तनानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मिन्नानुगत हैं। जसप्रज्ञात समाधि भी भवप्रत्यय और उत्तापप्रत्यय स्वप्न में दो प्रकार भी है। उत्तापप्रत्यय समाधि नोविद्या की समाधि है। इसमें विविद्या की निवृत्ति हो जाती है। भवप्रत्यय समाधि में कुछ बाल तर तो चित्तनिरोध पाया जाता है परन्तु फिर भी 'ध्युत्यान' अर्थात् चित्त-विक्षेप की सम्भावना बनी रहती है। पतञ्जलि ने अनुभार 'भवप्रत्यय' समाधि कह समाधि है जिसमें विदेह देवताओं की नरह प्रहृतिलीन व्यक्ति भी चीन रहते हैं।^४ विदेह पाटक्कोविद (खा, मास में अस्थि, मर्ज्जा तथा शुक्र) शरीर से रहित होते हैं।^५ इस अवस्था में वृत्तिया निष्ठ हो जाती है, परन्तु फिर भी वेतन सम्भार के ही जाधार पर ये भोग करती है। इसीलिए यह विदेहावस्था वैवाहावस्था के इच्छित

१. देशबन्धविचितस्य धारणा। —योगसूत्र, ३।१

२. त्रयमेकत्र सम्पूर्ण। —योगसूत्र, ३।४

३. योगसूत्रभाष्य, ३।४

४. योगसूत्र, ३।१६

५. And they are stripped off the outer six sheathed body.

(Tattva Vaishardi 1/19, Woods Yoga System of Patanjali Harvard Hinduism Discord Server https://dsc.gg/dharma1 | MADE WITH

समान ही है। विदेहावस्था याले अवधि की समाप्ति होने पर पुनः सासार-दशा में आ जाते हैं। अव्यक्त, महत् अहंकार तथा पंच तन्मात्राओं में से किसी एक की आत्मा मानकर उसकी उपासना से वासित अन्तःकरणवाले जीव-शरीर का पतन हो जाने पर उत्तर्युक्त अव्यक्तादि में से किसी एक में लीन हो जाते हैं। यदृः जीवों की प्रकृतिलगावस्था है। प्रकृतिलगावस्था में विषेक-स्वाप्ति को न प्राप्त करके भी ये जीव अपने-आपको कंचल्य का प्राप्त करने वाला समझते हैं। अवधि की पूर्ति होने पर ये जीव भी फिर सासार-दशा में आ जाते हैं। तत्त्ववैंगारदीकार वाचस्पति मिथ्र ने इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त देने हुए कहा है कि जिस प्रकार वर्षा के समाप्त हो जाने पर मिट्टी में मिला हुआ मेंडक वर्षा के होने पर फिर अपने शरीर को धारण कर लेता है, उसी प्रकार अवधि की समाप्ति होने पर प्रकृतिनीन जीव भी पुनः शरीर धारण कर लेता है।^१

असम्प्रज्ञात समाधि का दूसरा भेद 'उपायप्रत्यय' है। 'उपायप्रत्यय' ही समाधि का वास्तविक स्वरूप है। उपाय का अर्थ प्रज्ञा या धुद्ध ज्ञान है। ज्ञान का पूर्ण उदय तथा वृत्तिनिरोध के होने पर जो असम्प्रज्ञात समाधि होनी है उसी का नाम 'उपायप्रत्यय' है। समाधि की इस अवस्था में ज्ञान का उदय होने के कारण भमन्त संस्कारों का दाह हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप संस्कार-जन्य अविद्या एवं तञ्जन्त्र क्लेशों का विनाश हो जाता है। भव-प्रत्यय में भी अविद्या की निवृत्ति होनी है, परन्तु क्षणिक। इसके विपरीत उपायप्रत्यय में अविद्या की आत्मनिति की निवृत्ति हो जाती है। बौद्ध दर्जन में प्रतिस्मृत्यनिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध की विचारदृष्टि योगदर्शन-सम्मत समाधि की उक्त अवस्थाओं के समान ही है। महर्षि पतंजलि ने उपायप्रत्यय समाधि के—श्रद्धा, वीर्य, मृति, समाधि तथा प्रज्ञा—ये पांच साधन बतलाये हैं।^२ भाष्यकार ने श्रद्धा को तो माता के समान योगी की कल्याणकारिणी कहा है।^३

उक्त दृष्टिकोण के अनुमार विचार करने पर यह पता चलता है कि असम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत अनेकाली 'उपायप्रत्यय' समाधि ही योगदर्शन के साधक का सर्वोच्च लदन है। इसी में 'योगशिवत्त्ववृत्तिनिरोधः' (यो० सू०, ११२) के साथ-साथ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो० सू०, ११३) की चरितार्थता होती है।

ईश्वरसम्बन्धी मान्यता

योगदर्शन की ईश्वरसम्बन्धी मान्यता सांख्य से विशिष्ट है। योगदर्शन के अन्तर्गत पांच सूत्रों में ईश्वरसम्बन्धी वर्णन मिलता है।^४ इन सूत्रों में एक सूत्र— क्लेशकर्मविषयकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (यो० सू०, ११४) के अन्तर्गत ईश्वर की परिभाषा भी निवृद्ध है। इस सूत्र के अनुमार अविद्या, अन्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश—इन पंचक्लेशों, पुण्य एवं पापकर्मों, कर्मों से उत्पन्न —जाति, वायु तथा भोगरूप फलों तथा तदुत्पन्न वासनाओं

१. तत्त्ववैशारदी, १११६

२. शोतुम्, ११२०

३. सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। —योगसूत्रभाष्य, ११२०

४. ईश्वरप्रणिधानाद्वा। —यो० सू०, ११२३;

क्लेशकर्मविषयकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। —यो० सू०, ११२४

तपःस्वाध्यायैश्वरप्रणिधानानि कियायोगः, (यो० सू०, २११); समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (यो० सू०, २१४५), शीतमन्तोपतपः स्वाध्यायैश्वरप्रणिधानानि नियमः।

—यो० सू०, २१३२

से असश्वष्ट एक विशेष प्रकार के 'पुरुष' को ईश्वर बहते हैं। पतञ्जलि का ईश्वर को भी 'पुरुष-विशेष' की सज्ञा देना यह सिद्ध करता है कि वे साख्य के साथ योग का सामजस्य बनाये रखना चाहते थे। ईश्वर-सम्बन्धी विचार बीं दृष्टि से 'ईश्वरप्रणिधानादा' (यो० मू० १२३) सूत्र अधिक महत्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य है कि समाधिलाभ ईश्वरप्रणिधान से होता है। प्रणिधान का ता यर्थ भवित्व-विशेष, विशिष्ट उपासना तथा विषय-सुखादिक फल की इच्छा न यरते हुए समस्त क्रियाओं के ईश्वर में समर्पण से है।^१ इसमें ईश्वर का सगुण एवं उपास्य एवं स्पष्ट प्रतिपादित होता है। योगदर्शन में सर्वोच्च सत्ता ईश्वर की ही मानी गई है। इस ईश्वर में शाश्वतिक उत्कर्ष, मर्वजत्व तथा सर्वाधिष्ठातृत्व है। ईश्वर से अधिक ऐश्वर्यमाली और दूसरा कोई नहीं है। वह सदा ऐश्वर्यसम्म तथा मर्वदा मुक्त है।^२

योगदर्शन-सम्मन ईश्वर में अन्य पुरुषों की अपेक्षा वैशिष्ट्य होने के कारण ही उसे पुरुष-विशेष कहा गया है। ईश्वर वे इस वैशिष्ट्य का निम्नलिखित स्वरूप मिलता है—

पुरुष की अपेक्षा पुरुषविशेष ईश्वर की विशेषताएँ

(क) जीव प्राहृतिरूप^३ वैकारिक^४ तथा दाक्षिणिक^५ वन्धनों से मुक्त होने वे वलीपुरुष^६ बनता है, किन्तु ईश्वर सर्वथा वन्धनरहित है। अत ईश्वर केवली पुरुष से भिन्न है।^७

(ल) 'पुरुष विशेष'—ईश्वर मुक्त पुरुष से भी भिन्न है। इमांका कारण यह है कि मुक्त पुरुष पहले वधन में रहते हैं और तत्सचान् मुक्त होने हैं, परन्तु ईश्वर मर्वदा मुक्त है। अत ईश्वर मुक्त पुरुष से भिन्न है।

(ग) ईश्वर प्रहृतिलीन पुरुष से भी भिन्न है वयोऽनि प्रहृतिलीन पुरुष या तो शरीर के नाश होने पर प्रहृति में लीन हो जाना है अथवा मुक्तवन् होकर पुन हिरण्यगमं के स्वरूप वो ग्रहण करता है। एम प्रकार प्रहृतिलीन पुरुष का उत्तराकाल में वन्धन सम्भव है, परन्तु ईश्वर सर्वदा ही वन्धन से मुक्त है। इसीनिप ईश्वर प्रहृतिलीन पुरुष से भी भिन्न है। योगदर्शन गे ईश्वर का 'प्रणव' नाम दिया है।

ईश्वर की उपर्युक्त विशेषताओं से यह विदित होता है कि ईश्वर 'पुरुषविशेष' होने हुए भी पुरुष के लक्षणों में मर्वदा भिन्न लक्षणों वाला है।

जैसा कि डा० राधाकृष्णन् द्वा विचार है, पातञ्जलयोग-सम्मन ईश्वर का विवेचन सरल नहीं है।^८ प्रो० गावें ने भी पतञ्जलि के सगुण ईश्वर की आलोचना की है।^९ इस सम्बन्ध में प्रो० गावें

१. भीजवृत्ति, यो० मू०, १२३

२. योगसूत्रभाष्य, १२४

३. जड प्रहृति की ही आत्मा जानकर उसमें लीन हो जाना प्राहृतिक वन्धन है।

४. महत्त्व आदि विकारो वो ही आत्मा भक्षना और उनमें तत्त्व ज्ञो जाना वैकारिक वन्धन है।

५. आत्मा के वास्तविक स्वरूप वो न जानकर यज्ञादि कर्म वरन्में मदा निरत रहना दाक्षिणिक वन्धन है।

६. योगभाष्य, १२४

७. Radhakrishnan Indian Philosophy, Vol II, p 370

८. The Philosophy of Ancient India, p 15

का कथन है—कि पतंजलि^१ ने अपने योगसूत्र में (योगसूत्र १।२३, २७ तथा २।१, ४५) जो शारीरिक ईश्वर की स्थापना की है उसका सामंजस्य योग के अन्य सिद्धान्तों के साथ घटित नहीं होता। वास्तव में पातंजल योग के अन्तर्गत ईश्वर की स्थिति अन्यन्त शोचनीय है। पातंजल योगदर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वोच्च एवं सर्वज्ञ तो है परन्तु वह मुमुक्षु को साक्षात् मोक्ष प्रदान नहीं करता। वह तो भक्त के मोक्ष-पथ में सौविध्य मात्र प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त योग का ईश्वर जगत् का सप्टा एवं संरक्षक भी नहीं है।^२ यहां यह भी समझ लेना चाहिए कि योग-प्रतिपादित ईश्वर वेदान्त के ब्रह्म से नितान्त भिन्न है। इसी दृष्टिकोण से मैक्समूलर ने राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा किए गए—‘ईश्वरप्रणिधानाद्वा’ (योगसूत्र, १।२३) सूत्र के अनुवाद (Devotion to God) को असंगत कहा है।^३ इस स्थल पर इससे मैक्समूलर का यह कथन प्रतीत होता है कि ब्रह्म-वाचक ‘गाँड़’ शब्द का प्रयोग योग के ईश्वर के लिए अनुपयुक्त है। विद्वान् रूनिस के मतानुसार भी मैक्समूलर का मत ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि रूनिस ने गाँड़ शब्द का अर्थ सर्वोच्च शक्ति ही ग्रहण किया है।^४

कदाचित् उपर्युक्त आपत्ति से बचने के लिए ही हावंडें यूनिवर्सिटी के प्रो० वुड्स ने उच्चत सूत्र का अनुवाद करते हुए मूल सूत्र में प्रयुक्त ईश्वर शब्द के स्थान पर रोमन में ईश्वर शब्द का ही प्रयोग किया है। प्रो० वुड्स का अनुवाद इस प्रकार है :

Or (concentration) is attained by devotion to the Isvara (Woods, Yoga System of Patanjali, p. 48).

योग का मुक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त

पतंजलि ने अपने योगसूत्र में ‘सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्’ (३।५६) सूत्र के अन्तर्गत कैवल्य अर्थात् मुक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है कि वुद्धिसत्त्व तथा पुरुष की जो शुद्धि एवं सादृश्य है वही कैवल्य है। समस्त कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति के द्वारा अपने कारण में लय हो जाना वुद्धिसत्त्व की शुद्धि है।^५ शुद्ध होने पर वुद्धिसत्त्व रज एवं तम से अनावृत हो जाता है तथा पुरुष की अन्यताप्रतीति के फलस्वरूप क्लेश वीजदग्ध हो जाते हैं। पुरुष की शुद्धि उपचरित भोगों का अभाव है।^६ पुरुष इस अवस्था में केवल ‘चित्ति’ शक्ति के रूप में वर्तमान रहता है तथा आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखों से सर्वथा मुक्त होता है। यही पुरुष की कैवल्य की स्थिति है। ईश्वर अथवा अनीश्वर, ज्ञानी अथवा अज्ञानी सभी की कैवल्य-स्थिति सम्भव है।

अद्वैत वेदान्त तथा योगदर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

अद्वैत वेदान्त तथा योगदर्शन के सिद्धान्तों के आलोचन से ज्ञात होता है कि इन दोनों

१. Max Muller : INDIAN PHILOSOPHY, vol. III, p. 109.

२. Max Muller : INDIAN PHILOSOPHY, vol. III, p. 127.

३. Runes : THE DICTIONARY OF PHILOSOPHY, p. 118.

४. राजमार्तण्डवृत्ति योगसूत्र, ३।५६

५. योगसूत्रभाष्य, ३।५४ पाणिनि आफिस, इलाहाबाद १६२४

सिद्धान्तों में अत्यन्त साम्य है। यह तो स्पष्ट ही है कि अद्वैत वेदान्त के प्रस्थान क आचार्य शशर एक महान् योगी थे। अपने योगशैल से ही आचार्य ने मठनिष्ठ की अर्हानिनी (भारती) को पराजित करने के अर्थं उन्हें ग्रीष्मान्तर के प्रश्नों के उत्तर देने के निमित्त अपने शरीर को तो नमंदा-तटवर्ती बन में अपने पद्मसमादादि शिल्पों को ममत्ति वर दिया था और अपना जीव उमी समय मृत्यु को प्राप्त राजा अमर्त के शरीर में डाला दिया था। इन्हा ही नहीं, यह प्रमिद्ध है कि पश्चराचार्य ने अपने जीवन के अन्तिम घास में नेदान्ताय में जाकर समाधि ली थी। आज भी उस स्थान पर शशराचार्य की समाधि बर्ना हुई है। इसरों यह मिद्द होता है कि शशराचार्य अद्वैत वेदान्त के प्रस्थापक होने के साथ-नाथ योग के भी पूर्णतया ममत्तिं के। इन स्पष्ट पर अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के सामग्रस्यमूलक अध्ययन के द्वारा साम्य में एवं विरोध में आधार पर दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध एवं प्रभाव देखना है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन में चित्तवृत्ति-निरोध का साम्य

पात्रजल योग की विवेचना करते समय, अभी यह कहा जा चुका है कि चित्तवृत्ति-निरोध का नाम ही योग है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोप —यो० मू० ११२)। यह चित्तवृत्ति-निरोध अद्वैती के लिए भी अनिवार्यत्व से अपेक्षित है। चित्तवृत्ति का निरोध निये विना योगो-पलभिष असम्भव है। चित्तवृत्ति का निरोध होने पर ही चित्त-प्रशान्ति होती है और मुमुक्षु की पात्रता का श्रीणगेन होता है। अनेक शशराचार्य ने उपदेशसाहमी में स्पष्ट ही नहा है कि “जिसका चित्त प्रशान्त हो, उसने इदियों को अपने वश में कर लिया हो, जिसका अन्त करण पूर्णतया धुद हो, जो पूर्वोक्त बातो—(काम्य-नियिद्विवर्जनपूर्वक नित्यादि कर्मों) का अनु-ष्ठान करता हो, जिसमें निवेद-वंतराम्यादि गुण वर्तमान हो, जो गुरु का अनुगामी हो और जो गुरु-वाक्यों में अद्वा रखना हो, ऐसे मुमुक्षु के लिए ही आत्मशान का उपदेश देना चाहिए।”^१ सदानन्द ने भी वेदान्तसार में वेदान्तविद्या के अधिकारी के लिए विराग, शम, दम, उपरति, नितिशा, समाधान, अद्वा तथा मुमुक्षुत्व की आवश्यकता बतलाई है। इनमें शामादि चार समाधानों, अद्वा तथा मुमुक्षुत्व को साधन-चतुर्पट्य भी कहते हैं। साधन-चतुर्पट्य के अन्तर्गत गृहीत—शम के अनुसार शब्दण एवं मननादि से गिन्न विषयों से मन का निग्रह किया जाना है—शमस्तावच्छृण्णादिक्षतिरिक्तविषयेन्यो गतसो निग्रह।^२ इसके बलितिक्त साधनचतुर्पट्य के अन्तर्गत परिणित अन्य स्थितिया भी मनोनिग्रह या चित्तवृत्ति निरोध के ही कल्पन्वय हैं। इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि अद्वैती मोऽनोदान्त के लिए भी चित्तवृत्ति-निरोप का उत्तरा ही महत्व है जितना एवं दोनों के लिए है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन में अविद्या का स्वरूपः अविद्या ममन्धी सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का मूल मिद्दान्त है। अविद्या एवं मायादाद के सिद्धान्त के बाधार परही जाकर अद्वैतवाद का दावा किया गया है। अविद्या अज्ञान का परिवारी शब्द है। अद्वैत वेदान्त में अविद्या

१. प्रशान्तचित्ताय जिनेन्द्रियाय च प्रहृणदोपाय यथोक्तवारिणे।

गुणान्वितायानुग्राम्य सर्वदा प्रदेममेनत्सनन् मुमुक्षुवे॥

(उपदेश साहस्री, पादिवप्रबरण, ७२)

२. वेदान्तसार—४।

अथवा अज्ञान की आवरण और विक्षेप रूप दो घटितयां स्वीकार की गयी हैं।^१ आवरण-शक्ति के द्वारा वस्तु अन्यवाहप से भाराती है। इस प्रकार आवृत्तिलगा अविद्या अव्यारोपवाद की जननी है। अध्यात्म का लक्षण अद्वैतवेदान्त में 'अव्यासो नाम वत्सिस्मस्तद्वृद्धिः' कहकर किया गया है।^२ योगदर्शन के अन्तर्गत भोजवृत्ति में अविद्या का लक्षण 'अनस्मिस्तत् प्रतिभासो अविद्या'^३ कहकर किया गया है। इस प्रकार योगदर्शन की अविद्या भी वारोपवाद की ही समर्थक है। रज्जु में सर्व के भासित होने का कारण अविद्याजन्य वारोप ही है। यंकराचार्य ने विक्षेपहपा अविद्या को रागादि एवं दुःखादि मानसिक विकारों की जननी कहा है।^४ पातंजल योग में भी अविद्या को अस्मिता, राग, द्रेष तथा अभिनिवेश की प्रमबभूमि कहा गया है।^५ जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार मिथ्या ज्ञानहपा अविद्या ही समस्त क्लेशों की जननी है और पूर्ण ज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशादि की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार योग दर्शन के अन्तर्गत भी अविद्या को ही समस्त क्लेशों का मूल कहा गया है और उसी अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशों का पूर्णतया नाश हो जाता है।^६ पंचदण्डीकार ने माया की मोहक शक्ति की ओर संकेत करते हुए कहा है कि जैसे माया में जगत् के सूजन की सामर्थ्य है, वैसे ही जीव को मोहने की शक्ति भी है।^७ इसी प्रकार योगदर्शन में भी 'अविद्या मोहः' (भोजवृत्ति, यो० सू० २५४) आदि उक्तियों के द्वारा अविद्या की मोहशक्ति की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार विज्ञान करने पर अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के अविद्या-सम्बन्धी दृष्टिकोण में पर्याप्त साम्य मिलता है। परन्तु यह भी विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अविद्या एवं माया के शक्ति रूप का जिस प्रकार विवेचन किया गया है उसका योगदर्शन में अभाव है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन का ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्त : जैसा कि ऊपर विवेचन कर चुके हैं, योगदर्शन-सम्मत ईश्वर एक विलक्षण 'पुल्पविशेष' है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्तियों का ईश्वर मायाशक्ति-सम्पन्न है। मायाशक्ति-सम्पन्न ईश्वर ही सृष्टि का रचयिता है। विना मायाशक्ति के शंकर वेदान्त में ईश्वर का स्वप्नाशन नहीं सिद्ध होता।^८ योगदर्शन के पुल्पविशेष ईश्वर के लिए इस प्रकार की किसी शक्ति की अपेक्षा नहीं है। योगदर्शन में जिस सगुण ईश्वर की अपेक्षा है उसकी परमार्थ सत्ता की वेदान्तियों ने अपेक्षा नहीं समझी है।^९ योगदर्शन के अनुसार ईश्वर इच्छा मात्र से ही सारे जगत् का उद्भरण

१. विवेकचूडामणि—११३, ११४, ११५। दृग्दृश्यविवेक १३। १५। वेदान्तसार १०।

२. ब्र० सू० शा० भा०, उपोद्धात।

३. भोजवृत्ति यो० सू०, २१५

४. रागादयोज्यस्या प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः। (विवेकचूडामणि, पृ० ११३)

५. अविद्याक्षेत्रं प्रसवभूमिल्लतेरेपामस्मितादीनाम्।—यो० भा०, २१४

६. भोजवृत्ति, २१४

७. पंचदण्डी, ४। १२

८. नहि तत्रा विना परमेश्वरस्य त्रप्त्वं सिद्ध्यति।—ब्र० सू० शा० भा०, १०। ४। ३

९. In the Vedanta Philosophy the question of the real existence of a personal Iswara never arise. (Max Muller, Indian Philosophy, Vol. III, p. 110.)

वरने में समर्थ है।^१ यहा, यह और विचार्य है कि ईश्वर वी पह इच्छा किसी निजी प्रयोजन के बग नहीं उत्पन्न होनी, वरन् या कहिये कि भूतानुग्रह ही ईश्वर का प्रयोजन होना है।^२ अद्वैत वेदान्त ग भी सृष्टिरचना के मूल में निर्विकार ईश्वर का कोई अन्य प्रयोजन न होता लीताहा प्रवृत्तिमात्र ही प्रयोजन है।^३ इस सम्बन्ध में द्वितीय का वर्णन है कि समस्त लीता ईश्वर की कियारपूर्णता का ही पत है परन्तु यह परमेश्वर वी कियागीता स्वभावज होने के कारण किसी प्रकार वी कामना अथवा विवशता से वर्जित है।^४ इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन म ईश्वर की लोकोद्धरण की प्रवृत्ति समान ही है। अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के ईश्वर सम्बन्धी दृष्टिकोण में इस स्थल पर भी माम्य है कि ईश्वर अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश और अविद्या, इन पचकलेना, शुक्ल, कृष्ण, शुभलक्ष्मण और अशुभलक्ष्मण इन चार प्रकार के बर्मी जाति वायु तथा भोग—इन कर्म-विपाको और इनसे उत्पन्न होने वाले सस्कारों से अस्पृष्ट है।^५ इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन की ईश्वर सम्बन्धी विचार-पाठ में पर्याप्त साम्य होने हुए भी यह भौलिक भेद स्मरण रखना चाहिए कि योगदर्शन के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त की तरह ब्रह्म के दो भेद, सगुण और निर्गुण, नहीं मिलते। वेदान्त में तो सगुण ब्रह्म को ही ईश्वर कहते हैं। अद्वैत वेदान्त म मायाविशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर सत्ता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन की ईश्वर-सम्बन्धी विचारधाराओं म साम्य होने हुए भी भौलिक भेद स्पष्ट प्रतीत होता है।

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन की मुक्ति अद्वैत वेद न और योगदर्शन, दोनों ही दर्शन-पद्धतियों के अन्तर्गत मुक्ति की अपीकार किया गया है। अद्वैत वेदान्त में अन्तर्गत जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के स्प में मुक्ति की जो विवेचना मिनती है उमका योगदर्शन पद्धति में अभाव है। जैसा कि योगदर्शन-सम्बन्ध मुक्ति का विवेचन करने समय कर्ता जा चुका है, योगदर्शन के अन्तर्गत भी एक प्रकार की विदेहावस्था का वर्णन मिलता है। असम्प्रज्ञात समाधि की ही नेदस्प—भवप्रत्यय समाधि—की पवस्था में जीव के पाट्टौस्तिक शरीर का पतन होने पर इन्द्रियों या भूतों में लीत होकर सस्कारमात्र में युक्त मन को रखने वाले जीव विदेह कहलाते हैं।^६ इस अवस्था में यद्यपि वृत्तिया नष्ट हो जाती है परन्तु फिर भी सस्कार के ही आधार पर में भोग बरती है। इसके अनिस्तिक अद्वैतवेदान्त रामन विदेह मुक्तयवस्था में समस्त वृत्तियों, सस्कारों एव शरीर का नाश हो जाने पर भोगादि का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। इस प्रकार दोनों दर्शनों की विदेहावस्था में अन्तर है। जहा तक जीवन्मुक्ति का सम्बन्ध है, जिस प्रकार वि अद्वैत वेदान्त में जीवन्मुक्ति प्राणी का शरीर त्याग नहीं होता, उसी प्रकार योगदर्शन में भी मिथ्या सासार-बन्धन में मुक्त प्राणी का लो। नहीं हो जाना, वरन् वह वेदान्ती जीवन्मुक्ति की ही तरह सासार-प्रवृत्ति से पृथक् रहते हुए अपना जीवन धारण करता है। ऐसा जीवन्मुक्ति प्राणी अविद्या-बन्धन से बघे हुए प्राणियों के बीच भी मुक्ति का अनुभव करता है। उसे न दूसरे

१. इच्छामावेण जगदुद्धरणक्षम । —भोजवृत्ति १२४

२. भोजवृत्ति, १२४

३. व० मू० शा० भा० २।।३३

४. Bradley · ESSAYS ON TRUTH & REALITY, p 50 51

५. व० मू० शा० मा० २।।६ च्या योगसूत्र, १२४

६. तत्त्ववेशारदी १।।६ (हावंडे थोरियटन सिरीज, १७)

जीवन का भय होता है और न कोई आशा ही होती है। इस परिवर्तनजील संसार में भी वह जीवन्युक्त प्राणी अपरिवर्तित ही रहता है।^१ वैने तो, अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन, इन दोनों ही दर्शनपद्धतियों के अनुसार अविद्यानिवृत्ति होने पर मोक्ष मिलता है, परन्तु दोनों की अविद्या-सम्बन्धी दृष्टि में भेद है। अद्वैत-दृष्टि से विचार करने पर जगत् से व्रह्म की संज्ञा को पृथक् मानना अविद्या है। इस अविद्या की निवृत्ति 'सर्व खलिकां व्रह्म' की भावना से होती है। इसके विपरीत योगदर्शन के अनुसार वुद्धिसत्त्व के लेख-बीजों के दर्घ द्वारा लिए 'पुरुष' की अन्यता-प्रतीति भावशयक है। यह अन्यताप्रतीति ही मोक्ष का प्रमुख कारण है।^२ इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के मुक्तिसम्बन्धी विवेचन में प्रक्रियागत भेद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

आलोचना:

अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन के उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह पता चलता है कि दोनों दर्शन-पद्धतियों के सिद्धान्तों में पारस्परिक साम्य एवं यत्क्षित् विरोध होते हुए भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।^३ इस सम्बन्ध में यह कथन किसी पूर्वाय्रिह पर आधारित न होगा कि प्राचीन औपनिषद अद्वैत वेदान्त के अविद्या, चित्तवृत्तिनिरोध, ईश्वर, मुक्ति एवं कर्मसम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रभाव योगदर्शन के उक्त सिद्धान्तों पर भी पड़ा है। ऊपर अद्वैत वेदान्त एवं योगदर्शन के चित्तवृत्ति-निरोध और अविद्या आदि सिद्धान्तों का तुलनात्मक विवेचन करते समय इन सिद्धान्तों का साम्य देखा जा चुका है। परन्तु इससे यह कदाचित् समझना चाहिए कि उपर्युक्त विवेचन में वेदान्त के सम्बन्ध में जिन स्थलों को उद्धृत किया गया है, वे योग-परवर्ती वेदान्त के हैं, अतः योगदर्शन पर वेदान्त का प्रभाव कैसे संगत हो सकता है। इस प्रसंग में लेखक का विचार है कि परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जिन सिद्धान्तों का विकास हुआ है उनके बीज औपनिषद दर्शन में पूर्णतया निहित हैं। अतः योगदर्शन पर प्राचीन अद्वैतवाद का प्रभाव मानने में कोई आपत्ति न होगी। इन दोनों दर्शनपद्धतियों के सम्बन्ध में दूसरी बात यह विशेष रूप से उल्लेख्य है कि अद्वैत वेदान्त दर्शन में जिन विषयों का प्रतिपादन सैद्धान्तिक रूप ही से किया गया है, योगदर्शन में उनका विवेचन व्याकहारिक रूप में मिलता है।^४ चित्तवृत्ति

१. Secondly, the Purusha, though freed from illusion, is not thereby annihilated. He is himself, apart from nature, and it is possible, though it is not distinctly stated that the Purusha in his aloneness may continue his life, like the Jivanmukta of the Vedanta, maintaining his freedom among a crowd of slaves, without any fear or hope of another life-unchanged himself in this everchanging Samsara. (Max Muller, INDIAN PHILOSOPHY, Vol. III, p. 143.).

२. The principal cause is the knowledge of distinction. (Tattvavaishardi, Allahabad, 1924) तथा देखिये यो० भा० ३५४।

३. S.N. Das Gupta : INDIAN PHILOSOPHY, Vol. I, p. 492.

४. उमेश मिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० ३१७-१८।

निरोध आदि के उपाय योग के व्यावहारिक विवेचन ही है। अत वेदान्ती को योग की महती उपायेना माननी चाहिए। इस प्रमाण अद्वैत वेदान्त और योगदर्शन का सम्बन्ध स्वतं-मिथ है।

अद्वैत वेदान्त (उत्तरमीमांसा) और पूर्वमीमांसा दर्शन

पूर्वमीमांसा का सक्षिप्त स्वरूपः पूर्वमीमांसा वी सक्षिप्त स्परेक्षा प्रस्तुत करने में पूर्व-'पूर्वमीमांसा' के वर्य के सम्बन्ध में विचार करना अत्यत आवश्यक है। अत यहाँ पहले पूर्व-मीमांसा शब्द के वर्य के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

पूर्वमीमांसा का वर्य

पूर्वमीमांसा के वर्य के स्वस्थ विचार के अभाव में विद्वानों की भिन्न भिन्न धारणाएँ बन गयी हैं। इसका फूल यहा तक हुआ है कि निमी-किमी ने तो इसे 'दर्शन' स्वीकार करने में ही व्युत्सति प्रदर्शित की है। कुछ एवं विचार तो पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के पूर्व और उत्तर शब्दों के आधार पर, इन दोनों दर्शन-पद्धतियों को पूर्वकालिक एवं उत्तरकालिक भी कहते हैं—जैसे पादवात्त्व विद्वान् लोलदुक ।^१ इस स्थल पर पूर्वमीमांसा के वर्य के निश्चय का प्रयत्न है। जिसके परिणामस्वरूप इस सम्बन्ध में उक्त-अनुकूल सभी ग्रान्तियों का निराकरण सम्भव है।

मीमांसा शब्द की उत्तरति विचारार्थं 'मान्' ध्यानु से स्वार्थ में सन् प्रत्यय होने पर होती है। इस व्युत्सति के आधार पर मीमांसा शब्द का वर्य गम्भीर चिन्तन है और इस प्रकार पूर्वमीमांसा का वर्य होगा निमी विषय पर किया गया प्रथम गम्भीर चिन्तन। वेद के दो स्वरूप प्रचलित हैं—एक कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञानकाण्ड। पूर्वमीमांसा का विषय कर्मकाण्ड है और उत्तरमीमांसा का विषय ज्ञानकाण्ड। जैमिति और वादरायण दोनों उत्तरमीमांसकी ने अपने अपने दान्वनिव दृष्टिकोण को ध्यान में रखने हुए अपने उद्देश्यों की स्थापना, 'अद्यातो पर्मजिज्ञामा' (जैमितिनिग्रन्थ, ११११) और 'अद्यातो ब्रह्मजिज्ञामा' (ब्रह्मसूत्र, ११११) मुनो हारा आरम्भ में ही कर दी है। परन्तु इसमें यह कदाचित् न समझना चाहिए कि 'पूर्वमीमांसा' का धर्म और उत्तरमीमांसा का 'ब्रह्म' दो पृथक् पृथक् उद्देश्यों वो दृष्टि में रखकर चलने हैं। वेद का मिदान तो वेदान्त ही है, इसीलिये उमे उत्तरमीमांसा बहते हैं, क्योंकि उसमें उत्तर पक्ष वर्यात् मिदान पक्ष की स्थापना है। धर्म और कर्म का सम्बन्ध सापेक्ष है। पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत दोनों का ही प्रतियादन मिलता है। यहाँ पूर्वमीमांसा से यह समझना चाहिए कि धर्म और कर्म के प्रतियादन की मीमांसा, वेदान्त प्रतियाद गोक्ष के इच्छुक वे लिए पहला प्रयत्न है। इसीलिए तो दीक्षाराचार्य ने भी ज्ञान पक्ष का मण्डन बरते हुए भी आचार-नीयक कर्म की महत्ता वो निमोनेच स्वीकार किया है।^२ अन्यथा इम लोक वे निए शाकर दर्शन का महत्व ही क्या रह जाना? परन्तु पहा यह भी उन्नेस्वनीय है कि दीक्षाराचार्य कर्म को परपरया ही मोक्षवा माधव मानते हैं, साक्षात् नहीं। इसीलिए आचार्य शाकर की मीमांसकी

१ Colebrooke MISC ESSAYS, Vol I, p 239

२ दीक्षाराचार्य समृद्धता हि विशुद्धाभ्यन् शब्दुवन्त्वात्माममुष्यनिपत्त्वाग्नितमपतिग्न्ये

के अनुसार सीधे कर्म से अथवा ज्ञान-कर्म समुच्चय से मुकित-लाभ स्वीकार करने में आपत्ति है।^१

अपर किये गये विवेचन से हमारा अभिप्राय यह है कि पूर्वमीमांसा के अन्तर्गत वेद के पूर्वपक्ष (कर्मकांड) का ही विवेचन किया गया है, इसीलिए इसका नाम पूर्वमीमांसा पड़ा है। अतः जैसाकि पूर्वपक्ष की स्थापना करते समय कहा जा चुका है, प्रो० कोलद्रुक का यह मत युक्त नहीं प्रतीत होता कि काल की दृष्टि से पूर्व और उत्तरमीमांसा में पूर्व और उत्तर का भेद है। इस तथ्य के आवार पर कि व्रह्मसूत्रकार वादरायण ने अपने सूत्रों में मीमांसा-सूत्रकार जैमिनि का उल्लेख किया है, यह कहना उचित न होगा कि पूर्वमीमांसा उत्तर-मीमांसा से प्राचीन है। जैसे कि पूर्वमीमांसाकार जैमिनि का उल्लेख व्रह्मसूत्र के अन्तर्गत किया गया है, वैसे ही जैमिनि के मीमांसासूत्र के अन्तर्गत भी वादरायण का उल्लेख मिलता है।^२ अतः पूर्वमीमांसा का उत्तरमीमांसा की अपेक्षा पूर्वकालिक होना उचित नहीं कहा जा सकता।

आगे हमने मीमांसा के जिस अर्थ की विवेचना की है उस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं क्रियापद के रूप में और कहीं संज्ञा के रूप में जैमिनि से पूर्व व्राह्मण एवं उपनिषद्-आदि ग्रन्थों में बहुत प्राचीन काल से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। इस सम्बन्ध में यहां कुछ स्थल उद्धृत कर रहे हैं :

(१) उत्सृज्यां नोऽसृज्यामिति मीमांसन्ते व्रह्मवादिनः तद्वाहुः । उत्सृज्यामेवेति (तै० सं०, ७-५४७।१)

(२) व्राह्मणं पात्रे न भीमांसेत । (तांड्यव्राह्मणै, ६।५।६)

(३) उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते (कौपितकी व्राह्मण, २।६)^३

(४) प्राचीनशाला औपमन्यवः………यदा श्रोत्रियाः समेत्य मीमांसाऽच्चकुः कोनु आत्मा किं व्रह्मेति । (द्या० उ०, ५।१।१)

(५) सैपा आनन्दस्य मीमांसा भवति । (तै० उ०, २।८।१)

मीमांसा शब्द के उपर्युक्त प्रयोगों से मीमांसा की प्राचीनता स्पष्ट प्रतीत होती है।

मीमांसा की ज्ञानप्रक्रिया

प्रमाण-निरूपण : तार्किक दृष्टिकोण के अनुसार प्रमा-कारण को प्रमाण कहते हैं। जहां तक प्रमा की वात है, अज्ञात एवं सत्य रूप पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं।^४ उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार स्मृति, भ्रम तथा संशयरूप ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि भ्रमजन्य एवं संशयोत्पन्न ज्ञान में वास्तविकता नहीं होती। इस प्रकार जहां जिस वस्तु की जैसी स्थिति है उसका वैसा ही ज्ञान प्रमा है। इस प्रमा का कारण ही प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार शास्त्र-

१. ऐतरेयोपनिषद् भाष्य का उपोद्धाता।

२. *Max Muller : INDIAN PHILOSOPHY*, Vol. II p. 94

३. चौखम्बा संस्करण १६६।

४. Edited by B. Linelner.

५. प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानम् । — मानमेघोदय, १।३ (अनन्तशयन संस्कृतग्रन्थावली, १६१२) ।

दीपिका के अनुमार जिस ज्ञान में अज्ञात पूर्व वस्तु का अनुभव हो तथा जो अन्य ज्ञान द्वारा वाचित न होकर दोषरहित हो वही प्रमाण है।^१ इन प्रमाणों की सत्यता के सम्बन्ध में, जैसाकि वहा जा चुका है भिन्न भिन्न दर्शनपद्धतियों में तो मतभेद है ही, स्वयं भीमासा के ही अन्तर्गत भाष्ट एवं प्रभाकर मन में भी अन्तर है। भाष्ट मत के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थात् तथा अनुपलब्धि, ये दृढ़ प्रमाण माने गये हैं। प्रभाकर मन में उक्त छृङ् प्रमाणों में से अनुपलब्धि को छोड़कर शेष पाच को ही स्वीकार किया गया है। यहाँ दोनों परम्पराओं के अनुमार प्रमाणों के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा।

प्रत्यक्ष प्रमाण

रामानुजाचार्य ने प्रत्यक्ष वी परिभाषा 'साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्षम्'^२ कह कर दी है। इस व्युत्पत्ति के अनुमार प्रत्यक्ष प्रमाण का साक्षात् सम्बन्ध इन्द्रियों से है। वैसे तो अनुमान-ज्ञान मन-इन्द्रिय द्वारा जन्य है परन्तु उसमें इन्द्रिय के साथ विषय का साक्षात्कार नहीं होता। यही अनुमान और प्रत्यक्ष का भेद है।

प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद

निर्विकल्पक ज्ञान इन्द्रियसनिकर्प के पश्चात्, विशेषण-विशेष्य भाग से रहित, विषय-स्वरूप मात्र का ग्राहक, शब्दमुग्रम में घूम्य ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान बहलाता है। निर्विकल्पक ज्ञान में किसी सत्ता मात्र की ही उपलब्धि होती है, उसकी प्रकारता या विशेषता आदि की नहीं। परन्तु सविकल्पक ज्ञान में वस्तु के अनुभव होने पर जिन विशेषताओं का ज्ञान होता है, वे निर्विकल्पक दरात्र में भी वर्तमान रहती हैं। अत निर्विकल्पक अवस्था ज्ञान की प्रथम अवस्था है। जिस प्रकार यिशुपालवध काव्य में प्रारम्भ में अवतरित हुए नारद पहले एक तेज पुज के हाथ में दिवार्ड देते हैं—उस ममय उनकी कोई विशिष्टता नहीं दिवार्ड पड़ती, वही निर्विकल्पक ज्ञान की अवस्था है।

सविकल्पक ज्ञान—जब ज्ञान का उपर्युक्त प्रायमित्र अवस्था अन्य उपकरणों से पृष्ठ होती जाती है तो यह उम्भा विशेषण, नाम, गुण-क्रियाओं से सम्बन्ध होता चला जाता है, तो उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। सविकल्पक ज्ञान जाति, द्रव्य गुण, क्रिया, नाम—इन पाच प्रकार के विकल्पों से प्रतिभासित होता है। उपर्युक्त माध्वाक्य के नारद के उदाहरण में नारद का पृष्ठत्व—जानि, वीणापाणिरव—द्रव्य, तेजस्विता—गुण, तपस्विता—क्रिया तथा नारद—नाम विकल्प है। इसी विकल्प-योजना पर सविकल्पक ज्ञान स्थित है।^३

आलोचना

ऊपर दिये गये स्पादीकरण में यह स्पष्ट है कि निर्विकल्पक ज्ञान ही सविकल्पक ज्ञान का आधार है। परन्तु इस विषय में बौद्धों तथा वैशाचरणों में ऐक्षमत्य नहीं है। बौद्ध सप्रदाय

^१ कारणदोषवादक्तज्ञानगृहीतप्राहि प्रमाणम्। (शास्त्रदीपिका, १।१।५)

^२ रामानुजाचार्य, तन्महान्, पृ० २८।

^३. मण्डनमित्र शास्त्री, भीमामान्दर्शन, पृ० ३७६।

केवल निविकल्पक की ही प्रत्यक्षता स्वीकार करता है, सविकल्पक की नहीं। इसके विपरीत वैयाकरण निविकल्पक ज्ञान को नहीं मानता।

जैसाकि कहा गया है, प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में प्रभाकर एवं भाटू मनों द्वारा भी भेद है। न्यायदर्शन के अन्तर्गत संयोग, संयुक्त समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय तथा विदेषण-विशेषण-भाव, —ये पट् सन्निकर्प माने गए हैं। परन्तु भाटू मन में, संयोग और संयुक्त तादात्म्य ये दो ही सन्निकर्प माने गए हैं। परन्तु प्रभाकर संयोग, संयुक्त समवाय तथा समवाय—ये तीन सन्निकर्प मानते हैं।

अनुमान प्रमाण

स्वाभाविक व्यप से निश्चित सम्बन्ध वाले दो पदार्थों में व्याप्ति के देखने पर इन्द्रियों से असंबद्ध विषय में जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है। व्याप्ति से अधिक देग-काल में न रहने तथा व्यापक से अधिक देग-काल में रहने का अभिप्राप्ति है। उदाहरणार्थ, धूम और अग्नि का स्वाभाविक सम्बन्ध निश्चित है। उन दोनों में पर्वत पर धूम-दर्शन होते हैं। धूम-दर्शन होने पर इन्द्रियों से न देखे गए (असन्निकृष्ट) व्यापक अग्नि में जो ज्ञान होता है, वही अनुमान कहलाता है। इस उदाहरण में धूम व्याप्ति तथा अग्नि व्यापक है। धूम के व्याप्ति होने का वह कारण है कि वह अग्नि से रहित जन-आदि पदार्थों में नहीं रहता। अग्नि की व्यापकता इससे सिद्ध है कि वह धूम के अभाव में भी जलने हुए लोहे में देखा जाता है।

अनुमान के भी दो भेद हैं—स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। जहाँ स्वयं ही हेतु को देखकर व्याप्ति आदि के स्मरण से साध्य का अनुमान कर लिया जाता है, वहाँ स्वार्थानुमान होता है। जो अनुमान दूसरों को समझाने के लिए किया जाता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं।

आलोचना

भाटू गत की अनुमान-प्रक्रिया और न्यायदर्शन की अनुमान-प्रक्रिया में किंचित् भेद है। न्याय के प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन—इन पञ्चावयव वाक्यों के स्थान पर भाटू मीमांसा एवं वेदान्त में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त, या दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये तीन ही वाक्य माने गये हैं।^१

शास्त्र प्रमाण

ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थ का स्मरण होने पर असन्निकृष्ट वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता शास्त्र प्रमाण कहलाता है। वह शास्त्र प्रमाण भी दो प्रकार का है : एक पौर्वेय और दूसरा अपौर्वेय। आप्त वचन पौर्वेय शास्त्र प्रमाण के अन्तर्गत जायेगा। इसके अतिरिक्त वेद-वाक्य अपौर्वेय शब्द-प्रमाण का उदाहरण है। सिद्धार्थ और विद्यायक—ये दो भेद शब्द के और भी हैं। किसी पदार्थ के निश्चित अर्थ को कहने वाला वाक्य सिद्धार्थ वाक्य है। विद्यायक वाक्य वह वाक्य है जो किसी प्रकार के कार्य के लिए प्रेरक होता है। विद्यायक-वाक्य उपदेशक तथा अतिदेशक के भेद में दो प्रकार का होता है। उपदेश वाक्य ने विद्यिवाक्य का तात्पर्य है जैसे—उनको ऐसा करना चाहिए। अतिदेश वाक्य का उदाहरण है—दर्शनाग्राम याग के

१. मानसेयोदरा, पृ० ६५ तथा वेदान्तपरिभृत्या पृ० ६२।

द्वारा स्वर्गं का साधन करे।^१

उपमान प्रमाण

पूर्वदृष्ट अर्थ के स्मरण करने पर दृश्यमान पदार्थ में जो सादृश्य-ज्ञान होता है, उसी को उपमिति कहते हैं।^२ उपमिति वा बारण ही उपमान कहनाना है। जैसे इसी ऐसे व्यक्ति को, जिसने पूर्व से गाय देख रखी है, जगल म गवय (नीलगाय) भी गाय के समान दिलाई पड़नी है। इसके अनन्तर वह दृष्टा गाय में रहने वाली गवय (नीलगाय) की समानता का स्मरण करता है और कहता है कि मेरी गाय इस गवय के समान है यही प्रतिका उपमिति कहतानी है। इस प्रकार उपमान सादृश्यजन्म ज्ञान है।

अर्थापति

द्वूमरे अर्थ के बिना निश्चित अर्थ वी अनुमानि दो देवदत्त, उगाची (निश्चित अर्थ की) समानि के लिए जो अर्थान्तर वी कल्पना वी जाती है, उसे अर्थापति रहते हैं।^३ जैसे, विष्णु अन्य प्रमाण के आधार पर देवदत्त का जीउरा निश्चित मिद्द होने पर, जार देवदत्त दो घर में नहीं पाया जाता, तो उसके बाहर रहने की अर्थान्तर वी कल्पना के द्वारा ही देवदत्त के जीवन वी निश्चित मिद्द होती है। इस प्रकार देवदत्त के घर से बाहर रहने की कल्पना अर्थापति है। अर्थापति के दो भेद है—एक श्रुतार्थापति और दूसरी दृष्टार्थापति। केवल 'द्वार' ऐसा कहते पर 'खोलो' या 'बन्द बरा' ऐसे अर्थ वी कल्पना श्रुतार्थापति गत कल्पना है। ऊपर दिया गया देवदत्त का उदाहरण दृष्टार्थापति का उदाहरण है। नैगायित तो अर्थापति वा अनुमान के अन्तर्गत ही अन्तर्भुव वरते हैं।

अनुपलभिति

अनुपलभिति अभाव का ही पर्यायवाची है। जहा उपर्युक्त पाचा प्रमाणो वी प्रवृत्ति नहीं होती, वही अनुपलभिति है। उपर्युक्त पाचों प्रमाण भास्पदाद्यों वी उत्ताप्ति के गायन हैं, परन्तु कभी-भी अभाव वी उपलभिति भी देखी जाती है। अनुपलभिति प्रमाण अभाव वी उपलभिति का ही बोधर है। अनुपलभिति वी सत्ता स्पतन्त्र है। इसका गारण यह है कि हमारी इन्द्रियों भास्पदाद्यक वस्तुओं के ज्ञान वो ही बतला जाती है, अभाव वो नहीं। अभाव अनुपलभिति के द्वारा ही मिद्द होता है। जैसे, यदि पुस्तक होती तो अवश्य मितती, परन्तु इस मनन यह अनुपलभिति है। इसने नह मिद्द होता है कि अनुपलभिति ही पुस्तक के समान को बतला रही है। माटट एक अद्वैत मन भ अनुपलभिति वो स्वर्गा प्रमाण दे रखे से स्वीकार किया गया है, परन्तु इसके विपरीत प्रभावर मन मे, अनुपलभिति वी स्वर्गन्न सत्ता नहीं स्वीकार की गई है। प्रमाणाद्वार ने तो अभाव को अपिकरण स्पष्ट माना है। (देखिये तत्त्वरहस्य, पृष्ठ १६-१६)।

प्रामाण्यवाद

ज्ञान होने समय जो पदार्थ जिस सा मे ज्ञानान्तरा होता है वह पदार्थ वस्तुत उसी

१. शास्त्रशीलिता, पृ० ७२ (निर्णय गागर मस्तका)।

२. अर्थापति गिद्ध श्रूतो-जारो अन्यथा नोपस्थिते दृष्टशंकलना। (पा० भा०, ११५)

रूप में अवस्थित हो तो उसे प्रामाण्य कहते हैं।^१ इसके विपरीत जब कोई वस्तु जिस रूप में वर्णित हुई है उस रूप में न हो, तो वह अप्रामाण्य की स्थिति कहलाती है। मीमांसक प्रामाण्य को 'स्वतः' तथा अप्रामाण्य को 'परतः' मानते हैं। इस विषय में उनका नैयायिकों से विरोध है। नैयायिक प्रामाण्य को 'स्वतः' न मानकर 'परतः' मानते हैं। इसीलिए मीमांसक स्वतः-प्रामाण्यवादी और नैयायिक परतःप्रामाण्यवादी कहलाते हैं। इस स्थल पर मीमांसक के स्वतःप्रामाण्यवाद की स्थापना के पश्चात् नैयायिक के परतःप्रामाण्यवाद का खण्डन किया जाएगा। प्रभाकर मत, भाट्ट मत तथा मुरारि मत के अनुसार मीमांसा के स्वतःप्रामाण्यवाद के भी भिन्न-भिन्न रूप हैं। यहां इन तीनों भतों का उल्लेख परमावश्यक है।

प्रभाकर मत

प्रभाकर के मतानुसार ज्ञान स्वतःप्रकाश-रूप है। अतः इस मत में ज्ञान के स्वतः-प्रकाश रूप होने से ही ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य स्पष्ट सिद्ध है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार प्रकाश पहले दृश्यगत पुस्तकादि पदार्थों को तदनन्तर अपने आपको और फिर दीप-दर्तिका को अभिगृहन करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी पहले इन्द्रिय-सन्निहित पदार्थ को, फिर अपने आपको और फिर ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा को प्रगट करता है। इस प्रकार प्रभाकर के मतानुसार प्रत्येक पक्ष में पदार्थ, ज्ञान तथा आत्मा की स्वतः अभिगृहित होती है। इसी को अपूर्वी प्रत्यक्ष भी कहते हैं। इस मत में ज्ञान के साय-साय उसका प्रामाण्य भी स्थित रहता है। अयवायों कहिये कि ज्ञान की जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है।^२

भट्ट मत

इस मत के प्रवर्तक कुमारिलभट्ट हैं। वे भी ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका स्वमत-पतिगादन-प्रकार प्रभाकर से भिन्न है। कुमारिल प्रभाकर की तरह ज्ञान को स्वतःप्रकाशरूप नहीं मानते। इनके मतानुसार चक्षु और पुस्तक के सन्निकर्प से 'इदं पुस्तकम्' यह ज्ञान होता है; परन्तु इनके मत में ज्ञान के स्वतःप्रकाश न होने के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीलिए कुमारिल ज्ञान को अतीन्द्रिय स्वीकार करते हैं। इसीलिए ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञाता को ज्ञान होता है कि—मधा इदं पुस्तकम् ज्ञातम् (भेरे द्वारा यह पुस्तक जानी गई)। जब गह पुस्तक ज्ञात होती है तो उसमें ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होता है। इस ज्ञातता का ही प्रत्यक्ष ज्ञान भाट्ट मत में होता है। यह ज्ञातता ही ज्ञान तथा प्रामाण्य की उदय-कर्त्री है।^३

१. अर्थस्य च तथा भावः प्रामाण्यमधिभीयते। —न्यायरत्नमाला, पृ० ४।

२. देविए—न्यायकन्दली, पृ० ६१; शास्त्रदीपिका, २१३-१४; तन्वरहस्य, पृ० ५-८; प्रकरणर्चिका, पृ० ३८-५३।

न्याय रत्नमाला, पृ० ३१-३५; शास्त्रदीपिका, पृ० ६७-१०६; मानगेयोदय, पृ० ४-६।

मुरारि का मत

मुरारि के मत के बारे में प्रमिण है—मुरारेस्तृतीय पन्था ।^१ मुरारिमिश्र के अनुसार, इन्द्रिय एवं अर्थ के मध्योग में ज्ञान होने पर 'अथ घट' (यह घड़ा है) इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस 'अथ घट' ज्ञान भी मन्दता का निश्चय करने के लिए किर 'अह घट्टानन्त' इस प्रकार का अनुभ्यवसाय होता है। इस अनुभ्यवसाय के द्वारा ही 'अथ घट' (यह घट है) इस ज्ञान का भान तथा उपज्ञा प्राप्ताण्य, दोनों ही निश्चिन्त होते हैं, यही मुरारि मत की विवेचना है ।^२ इस प्रकार प्रभावर मन में ज्ञान के स्वत प्राप्ताण्य होने का निश्चिन्त ज्ञान के स्वतराशत्र में, भास्ट मन में 'ज्ञानता' से तथा मुरारि मिश्र के मन में अनुभ्यवसाय से होता है। उक्त दोनों मतों में विद्वानों ने प्रभाकर मत की ही विशेष महत्ता स्वीकार की है। इस मन्दत्य में मयुरानाथ तर्कदारीज का व्यय है कि प्रभावर का ही मन निश्चिन्त स्वत प्राप्ताण्यवाद है, अन्य मत तो न्याय के समान परत प्राप्ताण्यवादी ही हैं ।^३

परत प्राप्ताण्यवाद का निराकरण

नैदायिर का प्राप्ताण्यवाद को परत मानता उचित नहीं है। नैयायिक के मतानुसार, यदि प्राप्ताण्य का परतस्त्व स्वीकार किया जाएगा तो अनवस्था दोष आ जाएगा। इसका कारण मह है कि परत प्राप्ताण्यवाद के अनुष्टुप्त ज्ञान का प्राप्ताण्य जब दूसरे ज्ञान पर निर्भर होता है तो वह दूसरा—प्राप्ताण्यत्रितादक ज्ञान भी अर्थे प्राप्ताण्य की निष्ठि के लिए इतर ज्ञान की शरण लेगा। इसी प्रकार वह इतर ज्ञान, प्राप्ताण्य मिष्ठि के लिए इतर ज्ञान की शरण लेगा —और किर इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। इस प्रकार के अनवस्था दोष से मूल का उच्छेद हो जायेगा। अत इस मूलोच्छेदक ज्ञान के स्वीकार करने में कोई लाभ नहीं है।^४ प्राप्ताण्य के परतस्त्व के स्वीकार करने से प्राप्ताण्य का मूलोच्छेद इस प्रभाव होता है कि यदि सभी ज्ञान अपने विषय के तथात्व के निश्चय के लिए स्वयं असामर्थ्य का अनुभव करते हुए इतर ज्ञान के अपेक्षी हो जायें, तो कारण पुण-ज्ञान, भद्रदज्ञान व अर्थ-क्रिया-ज्ञान भी अपने विषयपूर्ण गुण आदि के निश्चय के लिए इतर ज्ञान के अपेक्षी हो जायेंगे। इस प्रकार अनेक जन्मों में भी किसी अर्थ का निश्चय न होने पर प्राप्ताण्य का मूलोच्छेद स्वत हो जायेगा। यदि पूर्वपक्षी कहे ति अनवस्था को परावृत्ति के लिए अर्थं क्रिया-ज्ञान की स्वत प्राप्ताण्या मान ली जायेगी तो इसमें कोई वैतिष्ठ्य नहीं आ पायेगा। वशोकि, यद्यपि अर्थ-क्रिया की फलत्वता दे वारण उसमें अप्राप्ताण्य की जानकी की जा सकती, परन्तु मन्दावस्था में जर लाना आदि क्रियाए उसमें भी व्यभिचार कर देती है। यदि पूर्वपक्षी कहे ति वेतन मुख-ज्ञान की अव्यभिचरित

^१ उमेश मिश्र 'मुरारेस्तृतीय पन्था' (Fifth Oriental Conference Proceedings, Lahore)

^२ 'मनमैव ज्ञानम्ब्रह्मवन् तत्प्राप्ताण्यप्रहृ' इति मुरारिमिश्र।

वर्धमान कुमुदागति प्रकाश, पृ० २१६ (महामहीणव्याय चन्द्रकान्त तत्त्विकार-संसादित, काशीना, १६६१)

^३ विनामणिगृह्म्य, पृ० ११३।

^४ परापैत्रत्वं प्राप्ताण्यत्वं नान्मानं नमने वृचिर्।

मूलोच्छेदकर पक्ष को हिनामाण्यवस्थिति ॥ शास्त्रदीपिका, पृ० ३३।

समझ कर उस तक ही अर्थ-क्रिया को सीमित कर दिया जायेगा तो उससे भी पूर्वज्ञान का प्रामाण्य-अध्यवसित नहीं किया जा सकेगा। जैसे कि स्वप्न में प्रिया-संग के विश्वास से भुख होता है, तथा उसका ज्ञान भी होता है, परन्तु उस मुख-ज्ञान के निव्यात्व ने उस ज्ञान में अप्रामाण्य निहित कर रखा है अतः यह स्वीकार करना ही उपयुक्त होगा कि प्रामाण्य स्वतः ही प्राप्त होता है।

मीमांसक का अख्यातिवाद

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में भ्रम का विवेचन व्यातिवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया गया है। अख्यातिवादी मीमांसक शुक्ति-आदि में रजत-आदि के ज्ञान को मिथ्या नहीं मानता। इसीलिए अख्यातिवादी के मत में भ्रम को स्थान नहीं है। अख्यातिवादी मीमांसक ज्ञान के दो पक्ष मानता है—एक यथार्थ और दूसरा स्मृति। अख्यातिवादी का कहना है कि 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस ज्ञान में ज्ञान के दो रूप हैं। उक्त वाक्य में, इदम् का यथार्थ ज्ञान होता है और रजत की स्मृति। संस्कारजन्य सादृश्य के आधार पर 'ज्ञातं रजतं' स्मृति मात्र है। पुरोकर्ता इदं रूप यथार्थ ज्ञान और रजत रूप स्मृति ज्ञान—इन दोनों भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न रूप से न प्रहण होने के कारण ही शुक्ति का रजतरूप में ज्ञान होता है। इसी को 'भेदाग्रह' भी कहते हैं, क्योंकि यथार्थ ज्ञान और स्मृति के भेद के आग्रह के कारण ही शुक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। इस प्रकार अख्यातिवादी उक्त उदाहरण में रजतज्ञान का कारण 'प्रमोप' को मानता है। स्मरणाभिमान के प्रमुपित होने पर ही शुक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। मीमांसक की दृष्टि में 'इदम्'—यह प्रत्यक्ष शुक्ति का ज्ञान, और 'रजतम्' यह रजत-ज्ञान दोनों ही सत्य हैं। अख्यातिवादी का विचार है कि शुक्ति में रजतज्ञान का आधार जो रजत है वह तो सत्य ही है। इस प्रकार अख्यातिवादी मीमांसक प्रभाकर के व्याति-सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार भ्रम को नहीं स्वीकार किया गया है।

परन्तु प्रभाकर के विपरीत-भट्ट मीमांसक नैयायिक भी अन्यथाख्याति को स्वीकार करता है। अन्यथाख्यातिवादी अख्यातिवादी की तरह स्मृति को स्वीकार नहीं करता। किसी वस्तु के धर्मों का अन्य वस्तु में आरोप ही अन्यथाख्याति है। शुक्ति एवं रजत के उदाहरण में रजत के धर्मों का शुक्ति में आरोप होता है। इस आरोप के कारण ही शुक्ति का रजतरूप से अन्यथा ज्ञान होता है। भट्ट मीमांसक इस अन्यथाख्याति को ही विपरीतन्याति भी कहते हैं।

पदार्थ-निरूपण

पदार्थों के सम्बन्ध में मीमांसकों में ऐकमत्य नहीं है। भट्ट मीमांसक के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, शक्ति और अभाव, ये छः पदार्थ और प्रभाकर मीमांसक के मतानुसार द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, समवाय शक्ति, संख्या और सादृश्य, ये बाठ पदार्थ स्वीकार किये गए हैं। इन पदार्थों में द्रव्य, गुण तथा कर्म का विवेचन प्रायः वैशेषिक के समान ही है, परन्तु यत्र-तत्र भेद भी मिलता है। यहाँ इन पदार्थों का संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित प्रतीत होता है।

द्रव्य—द्रव्य परिमाण का आश्रय होता है और यह परिमाण दो प्रकार का होता है—एक—अणुत्व तथा दूसरा महत्व। द्रव्य पदार्थ—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, शब्द तथा अंधकार भेद से ग्यारह प्रकार का है। यहाँ पृथ्वी आदि के सम्बन्ध में

पृथक्-पृथक् विचार किया जायेगा।

पृथकी—प्रथम द्रव्य पृथकी मन्दपुक्त द्रव्य है। इस पृथकी द्रव्य के दर्शन पृथकी, परंतु, वृक्ष शरीर और धारणिद्रिय के रूप में होते हैं। शरीर के जरायुज, अण्डा, स्वेदन और उद्भिज्ज भेद से चार रूप हैं। इनमें उद्भिज्ज को प्रभान्तर मीमांसक नहीं स्त्रीशर बताते।^१

ज्ञान—ज्ञान स्त्रीमात्रिक द्रव्यव वा अधिकरण है।

तेज—तेज उष्ण स्तरंवाला होता है। तेज के दर्शन, मूर्च, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि और चक्र इन्द्रिय के रूप में होते हैं। परन्तु वही वही तेजस पदार्थ में उष्णस्तरी वी उपर्ती ध नहीं भी होती, जैसे मुखर्ण भी तेजस पदार्थ है परन्तु उसमें पृथकी अश वी अधिकाता वे वारण उष्ण स्तरी वी उपर्ती नहीं होती।^२

वायु—पवरि वायु का रूप नहीं है, परन्तु किर भी वह स्तरवाला है। प्राचीन नैदायिक वी तरह भी मीमांसक वायु को आनुमानिक नहीं मानता। नव्यनैदायिक तो वायु वा प्रत्यक्ष स्थाप्त भी स्वीकार करता है।^३

आकाश—आकाश अनिम भूत द्रव्य है। शब्द के अधिकरण होते से आकाश वी सिद्धि स्पष्ट है। आनन्द नित्य है। भाटू भीमासको वे मन में आकाश वा भी प्रत्यक्ष होता है।^४

काल—काल सभी वा आधार है। काल विषु है और एक है।

दिशा—दिशा भी एक तथा नित्य है।

आत्मा—आत्मा वीतन्य वा आश्रय है। मीमांसक आत्मा वी व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी सभी शाशीरो के साथ उसकी एकता नहीं मानते।^५

गन—मन भी मूद्धम इन्द्रिय है। परन्तु यह भी भौतिक इन्द्रिय ही है। परन्तु शास्त्र-दीपिकाकार ने इसे भौतिक से विद्यक्षण भी माना है।^६

शब्द—शब्द शोत्र इन्द्रिय के द्वारा शाल्प है। शब्द के वर्णात्मक और घट्यात्मक, ये दो भेद हैं। वर्णात्मक शब्द द्रव्य तथा विषु है और आत्मा वी ही तरह नित्य भी है, परन्तु यह गुण नहीं है। इसके विवरण घट्यात्मक शब्द शब्द गुण और अनित्य है। यह घट्यात्मक शब्द ही वर्णात्मक शब्द वी प्राट बताते वाला है और यह वायु वा गुण है, क्योंकि वायु के अभिव्यात के द्वारा ही शब्द की उत्पत्ति होती है।^७

अन्यकार—तैयारिक वी तरह भीमांसक अन्यकार वी अभाव रूप नहीं मानता। भीमांसक वे भूत में अन्यकार चक्र से प्रहृण बताते योग्य है। यह अन्यकार प्रानाय में अभाव में

१. शरीर जरायुजाङ्गास्त्वेदजभिन विविधम्, उद्भिज्ज शरीर न भवति।—प्रवरण पचिका

प० १५० मुकुन्द शास्त्रीनिरते द्वारा सपादित, (स० दु० डिपो, १६०३)

२. अभिभूतात्मपरमात्मा गुणर्णन्। अभिमवस्तु वलवद्भि पार्यव त्वपदिभिरिति इष्टव्याप्तम्। (मानमेयोदय, प० १५५)

३. सत्यपि द्रव्यत्वे महत्वे स्वप्नस्वारामावात् वायोरतुपलक्षिति।—वै० स० ४। १। ७ तथा प्र० पा० ३०, प० १६।

४. तस्मात् प्रभा परमाभीतिवन् वायु सूक्ष्माभीति प्रत्यक्षस्य सभवाद् वायोरपि प्रत्यक्ष सभवत्येव।—मुकुतावली, वा० ४६।

५. मानमेयोदय, प० १६६।

६. मण्डनविधि गीमांसाद्वर्णन (जयपर), प० ३४६।

काले रूप में दिखाई पड़ता है। तेज की तरह अन्धकार भी अत्याका का शारीर है, और इसकी सृष्टि भी पृथक् रूप से की गई है। इसलिए इसको पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है।

इस प्रकार मीमांसकों के अनुमार द्रव्य पदार्थ के उक्त रूपार्थ भेद है।

गुण—मीमांसकों ने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, गुण, दुरुख, इच्छा, द्वेष, प्राकट्य, ध्वनि और संस्कार भेद से इकीस प्रकार के गुण माने हैं।

नैयायिक एक पृथक्त्व गुण की ओर कल्पना करता है जो मीमांसक को अभिमत नहीं है।

कर्म—‘चलति’ यर्थात् ‘चलता है’ आदि प्रत्यक्ष का विषयकर्म है। यह कर्म चलनात्मक, प्रत्यक्ष तथा एक प्रकार का ही है। उक्त कथन भावृ सम्प्रदाय के अनुसार है। इसके विपरीत प्रभाकर के अनुयायी कर्म को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानते हैं। भावृ सम्प्रदाय के अनुयायियों ने प्रभाकर-मतानुयायियों जी उक्त अनुमेयता का खण्डन करते हुए कहा है कि यदि कर्म का अनुमान किया जाने लगेगा तब तो पर्वत और वादल के संयोग से पर्वत में भी कर्म का अनुग्रान होने लगेगा। इस प्रकार मीमांसक न कर्म की अनुमेयता को नहीं स्वीकार करते।

सामान्य—‘यह मनुष्य है’, ‘यह जड़ है’ इस प्रकार सभी मनुष्यों और अश्वों आदि व्यक्तियों में रहने वाले और विजातीय व्यक्तियों से व्यावृत्त कराने वाले व्यावृत्त और अनुवृत्त शाकार में देशान्तर और कालान्तर में जो अवाधित ज्ञान उत्पन्न होता है, वही सामान्य है। यह सामान्य प्रत्यक्ष है। इस सामान्य के भी सामान्य और विशेष दो प्रकार हैं, जैसे मनुष्यत्व, अश्वत्व आदि। जाति का सामान्य आकार है और एक मनुष्य और एक अश्व आदि उसका विशेष आकार है।

शक्ति—शक्ति नामक पदार्थ की कल्पना मीमांसकों की स्वतन्त्र कल्पना है। मीमांसकों ने लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की शक्तियां मानी हैं। अग्नि की दाहक शक्ति लौकिक शक्ति है और यज्ञादि में स्वर्गादि प्रदान की शक्ति वैदिक शक्ति है।

अभाव—जिसके द्वारा किसी वस्तु की सत्ता का नियेत्र होता है, उसे अभाव कहते हैं। अभाव के—प्रागभाव, घंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव—ये चार भेद हैं। प्रभाकर के मत में अभाव नामक पदार्थ को नहीं स्वीकार किया गया है।

उक्त छः पदार्थ ही भावृ सम्प्रदाय में स्वीकार किये गए हैं।

जगत्—अद्वैतियों ने अद्वैत-सिद्धि के लिए जगत् को प्रर्पन कहकर जो जगन्मिथ्यात्व सिद्ध किया है, वह मीमांसक का अभीष्ट नहीं है। मीमांसक जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य मानता है। अतः मीमांसा के अनुसार जगत् के जिस रूप में दर्शन होते हैं, उसी रूप में जगत् की सत्यता स्वीकार की गई है।^१ इस प्रकार मीमांसक जगत् का आत्यन्तिक नाश नहीं स्वीकार

१. शास्त्रदीपिका, पृ० ३६।

२. अभिधातेन प्रेरिताः वायवः स्ति मितानि, वायवन्तराणि प्रतिवाधमानाः सर्वतो दिक्कान संयोगविभागानुत्पादयन्ति। शावरभाष्यम्।

३. तस्माद् यद् गृह्णते वस्तु येन रूपेण सर्वदा।

तत्त्वयोन्युपेतत्व्ये सामान्यमयवेतरत्॥ (श्लोकवार्तिक, पृ० ४०४)

वरता। कुछ मीमांसक जप्त को स्वीकार करते हुए परमाणु से जगत् की सूचिटि स्वीकार करते हैं।^१ परमाणुवादी मीमांसकों वे अनुसार, वर्षों के फलोन्मुख होने पर अणुमत्रोग से व्यक्ति उत्तर्वन होत है तथा कठ वी समाजित होने पर विच्छेद के कारण अवातर परिवर्तन हो जाता करत है। यद्यपि न्याय-जैसेधिक में भी जगत् की उत्पत्ति परमाणुवाद वे आधार पर ही मिठ वी गई है परन्तु परमाणुवादों में अन्तर है। न्यायदर्शन के अनुसार परमाणुओं की स्थिति प्रत्यक्ष मिठ न होकर अनुमतनगम्य है। त्रसरेणु के पष्ठ भाग वो परमाणु कहने की बात वो मीमांसक नहीं स्वीकार रखता। मीमांसक तो प्रत्यक्ष वर्तमान काणा वो ही परमाणु मानता है। न्यायदर्शन म परमाणु योग्य प्रत्यक्ष का विषय है परन्तु मीमांसा में परमाणु का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष स्वीकार हिया गया है।^२ अत भी मीमांसकों द्वारा स्वीकार की गई जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध होने के बारण सत्य है।

ईश्वर—जमा नि वहा जा चुका है ईश्वर के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दर्शन-पद्धतियों में भिन्न भिन्न मतवाद निकलते हैं। नैयायिक यदि ईश्वर को समार का निमित्त कारण माद्य मानता है तो वैदेयिक-दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर के सम्बन्ध में कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त ही नहीं मिलता। मात्र यदि एक प्रकार से निरीश्वरवादी है तो योग में एक विषेष पुण्यस्था में ईश्वर की प्राप्ता की गई है। वेदान्त का ईश्वर मायावी है। इस विषय में मीमांसा की स्थिति विचित्र है—बढ़ न ईश्वर का खण्डन ही वरता है और न गण्डन ही। मीमांसा में भी ईश्वर के सम्बन्ध में मिलन मिलन धारणाएँ मिलती हैं। प्राचीन मीमांसा के अन्तर्गत ईश्वर को नहीं स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत पर्वती मीमांसकों ने वैमी न-निमी रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है। लोकाल्पि भास्कर एवं आपेदेव ने ईश्वरगतिं बुद्धि से किए गए कार्य को मोक्ष का हेतु माना है।^३ प्रभाकरविजय के अन्तर्गत ईश्वर-सम्बन्धी अनुमानिताना का खण्डन करते हुए ईश्वर की स्फट सत्ता स्वीकार की है।^४

धर्म—धर्म मीमांसादर्शन का प्रमुख प्रतिशब्द है। इसीलिए जैमिति ने मीमांसामूड़ के दूसरे मूल—‘चोदनात्मणोऽयोधर्म’ में ही धर्म का लक्षण निया है। इस सूत्र के अनुसार चोदना वे द्वारा लक्षित वर्य धर्म कहताता है। चोदना—मूल, भविष्यत्, वर्तमान, मूल्य, व्यवहित तथा विप्रदृष्ट पदार्थों के वौध कराने में जैमी सनर्थ है वैमी जप्तिन न तो इन्द्रियों में है और न अन्य किनी पदार्थ में।

मीमांसा के धर्म का उत्तर्वक्त स्वरूप सप्रमाण है। परन्तु मीमांसा के प्रमाण, प्रत्यक्षादि में मिलते हैं। मीमांसा उे अन्तर्गत धर्म में विधि, अर्थवाद, गत्र, समृति, आचार, नामवेद्य,

१ प्रभाकरविजय, पृ० ४३-४६।

२ मानमेयोदय, पृ० १६४।

३ ईश्वरगतिं बुद्ध्या स्फुटनि विषेषमहेतु । न च तदपेण बुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणामाद । ‘यन्वदेवि यदश्वरामीति भगवद्गीतास्मृतेरेवप्रमाणत्वात् । स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रूतिमूलत्वेन व्यवस्थापनात् ।

वर्यमप्त्र पृ० १६६ तथा मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० १६० ।

४ एवं चानुमानित्यव्यवेश्वरस्य निराहम् । नेश्वरोऽपि निराहृत । अनेव न प्रभाकर गुद्धनिरीश्वरनिगम है । तत्समयं च वेदान्तमीमांसाया क्रियत दत्यभिप्रेतम् ॥

प्रभाकरविजय, पृ० ८२ ।

वाक्यरोप तथा सामय्यं—ये आठ प्रमाण स्वीकार किये गए हैं। यहाँ इनका संक्षिप्त निरूपण आवश्यक है।

(१) विधि—वेद-वाक्यों का प्रमुख उद्देश्य विधि का प्रतिपादन है। विधि धर्म में प्रमाण है, क्योंकि इसके द्वारा अन्य प्रमाणों से अचात और अलौकिक कल्याण के साधन यज्ञादि का विधान किया जाता है।

७६७०९

(२) अर्थवाद—वेद का दूसरा भाग अर्थवाद है। ज्ञानप्रतिपादक वाक्य किया की स्तुति या निषेध के प्रतिपादक होने के कारण परम्पराया कियापरक हैं। इन्हीं वाक्यों को 'अर्थवाक्य' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'वायव्य श्वेत मालमेत भूतिकामः' अर्थात् जो ऐश्वर्य चाहता है, वह वायव्य याग करे, यह तो विधिवाक्य है; परन्तु इसके अनन्तर उक्त वाक्य के समीप में—'वायुर्वेषेपिठा देवता वायुमेव स्वेन भागेयेनोपधावति स एवेन भूति गमयति' अर्थात् वायु तीव्र गति से चलने वाला देवता है, वही इसको ऐश्वर्य की प्राप्ति कराता है, यह अर्थवाद वाक्य है। विधि के साथ अर्थवाद वाक्यों की एकवाक्यता हो जाने पर विधि को प्रशंसा मिल जाती है और अर्थवाद वाक्यों का विशेष अर्थ की स्तुति के द्वारा किया के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। 'वायव्यश्वेतमालभेत्भूतिकामः' इस विधिवाक्य ने वायव्य याग में प्रवृत्त करने की प्रेरणा तो दी, परन्तु उक्त विधिवाक्य के पालन में जो प्रमाद और आलस्य सम्भव है उससे वाधित मानव को पुनः प्रेरणा देने के लिए ही 'वायुर्वेषेपिठा देवता...' इस उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य के द्वारा वायुर्वेषेपिठा की गई है। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य कहों विशेष किया की सांक्षात्, कहों उससे सम्बन्धित द्रव्य और देवता आदि की प्रशंसा करते हुए, प्रमाण बनते हैं।

(३) मन्त्र—तत्-तत् कर्मों का अनुष्ठान करते समय उनसे सम्बन्धित किंप्राओं, अंगों, द्रव्यों एवं देवताओं का प्रकाशन करना मन्त्रों का कार्य है। मन्त्रों का उक्त कार्य ही कर्मकाण्ड का विशेष प्रयोजन है। मन्त्र-स्मरण के विनान कर्म के अंगों की स्मृति हो पाती है थोर न उनके क्रम की व्यवस्था ही समुचित हो पाती है। विधि के अनुसार भी मन्त्रों द्वारा स्मरण प्रशस्त बतलाया गया है।

वैज्ञानिक आलोचना की दृष्टि से वैदिक मन्त्रों के तीन भाग किये जा सकते हैं—करणमन्त्र, क्रियमाणानुवादि मन्त्र और अनुपत्त्वण मन्त्र। करणमन्त्र वे मन्त्र हैं जो कर्म करने के पूर्व उच्चरित किये जाते हैं, जैसे 'इयेत्वा' एवं 'याज्या पुरोनु वाक्या' आदि। क्रियमाणानुवादि मन्त्र वे मन्त्र हैं जहाँ मन्त्र बोलने के साथ-साथ कर्म का अनुष्ठान किया जाता है, जैसे 'युवा सुवासा' आदि। 'युवा सुवासा' के उच्चारण के साथ-साथ ही धूप के ऊपर कपड़ा आदि लपेटते जाते हैं। तीसरे प्रकार के मन्त्र अनुपत्त्वण मन्त्र हैं। ये मन्त्र कर्म करने के पश्चात उच्चरित किये जाते हैं जैसे 'अग्नेरहं' देव यज्ययाऽनादो भूयासम्।'

इस प्रकार मीमांसक पदार्थ द्वारा मन्त्रों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं क्योंकि मन्त्र पदार्थ हैं।

(४) स्मृति—स्मृतियाँ भी धर्म के प्रति प्रंगमाण हैं, जैसे मनु, याज्ञवल्क्य और पाराशार आदि की स्मृतियाँ धर्म के सम्बन्ध में प्रमाण-रूप मानी गई हैं। सम्पूर्ण वेदों एवं शास्त्रों के रहस्य-ज्ञाता मन्वादि ने यत्र-तत्र विकीर्ण एवं शाखान्तर में गये वाक्यों को स्मृति के आधार पर उद्भृत कर एक जगह ग्रन्थित कर दिया है। यही स्मृतिग्रन्थ हैं। इस प्रकार वेद-मूलकता के ही कारण उनका प्रामाण्य है, परन्तु स्मृतियों का स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं है।

(५) आचार—धर्म के प्रति आचार की प्रामाणिकता भी विशेष स्तर से स्वीकार्य है परन्तु लोकधर्म की रक्षा के लिये भिन्न-भिन्न देशों के अनुमार भिन्न भिन्न आचार ग्राह्य हैं। आचार की महत्वा के 'स्वरूप म 'आचारहीनता' पुनर्निति वेदा' उक्ति तो प्रतिष्ठित ही है।

(६) नामवेद्य—नामवेद्य द्वारा विवेच थर्य का अन्ध अर्थों से व्यापर्वन हो जाता है, अतएव यह भी धर्म म प्रमाण है। उदाहरण के लिए उपोनिषदोंम आदि जो यज्ञों के नामवेद्य हैं वे उन्ह अन्धों से व्यापृत वराने हैं।

(७) वाक्यवेद्य—वाक्यवेद्य भी सन्दिग्ध वर्थ का निर्णय दराते हुए धर्म मे प्रमाण बनता है।

(८) सामर्थ्य—सामर्थ्य के द्वारा भी सन्दिग्ध वर्थ का निर्णय होता है। वह भी वाक्य गोप ही की तरह धर्म म प्रमाण के रूप म स्वीकार्य है।

इम प्रकार मीमांसकों के अनुमार उपर्युक्त आठ प्रमाणों से द्वारा धर्म की प्रामाणिकता स्वीकार की गई है।

भावता—'भावता' मीमांसकों का गवर्णरपूरा पिढ़ान है। आदेव ने भावता का लक्षण— भग्निर्भूतनात्मकृत भावव्यापारविभेद^१ किया है तिसका वर्थ उत्तरवामान वस्तु की उत्तरति के अनुकूल प्रयोजकात्मिक व्याचार वा प्रेरणा है। वैदिक ग्रन्थों के धरण के पद्धतान् तर्तुता कियाओं के अनुष्टान के लिए जो प्रेणा होती है उडे ही भावता कहौ है। प्रतिद जननं दासीं न काष्ट वा वैटेगारिक इतरेटिव' पीमात्ता की भावता से अविभ सनी है। मीमांसा वी भावता के भी दो भेद हैं ए— शास्त्री भावता और दूसी जारी भावता। उसह पार्थ, 'स्वर्योदामो यज्ञेत इस वाक्य मे 'उज्जेन इस विवाना ने दो जन हैं एन पञ्चात्तुत्या दूसरा लिङ्ग लकार। लिङ्गसारजन्य भावता शास्त्री भावता है तथा वाख्यतान्य भावता जारी भावता है।

मोन—मोश का लक्षण शास्त्रदीपिका मे— प्रपञ्चसंदर्भवितायो मोन^२ कहनरसिया गया है। इम लक्षण के अनुगार आत्मा ने प्रपञ्च सम्बन्ध के विषय ना नाम ही मोन है। उस मन भाट्ट मीमांसा दा है। प्रभावर के मन मे लिहि नी मोन है। प्रभावर के मनानुसार विमी वाह्य इन की कामता किये गिना रत्न-पुढ़िने जित्त-रमों का यनुष्ट न ही मोन है। इम प्रभावर प्रभावर भाट्ट मन वाहो रीतगृह प्रदर्श सम्बन्ध विषय औ मुक्ति नही भावते। मुख्यावस्था के सम्बन्ध मे भी भीमलाको ममर्मन म भेद है। मुख्यसंबन्ध के सम्बन्ध मे स्वयं भाट्टा मे ही दो मत हैं। एक मन के अनुमार, मुख्यान्तस्वा म नित्य गुरु की अभिष्यक्ति होती है।^३ यह मन कुमारिलभद्र का है। उक्त मन के किंगोन, पार्वतारामि के मनानुमार, मुख्य वस्था मे नुपु वा अत्यन्त समृच्छेर रहता है।^४ गुरु मा मे मुक्ति का स्वभाव भाट्टो के उक्त दो।। मनो मे भिन्न है। गुरु मन के अनुगार तो आनन्दान्तर्मुखदृष्टि मे लिये गए वैदिक

१. मण्डनपिथ—मीमांसादर्शन, पृ० ४८३ (नवार, १९५५)।

२. मीमांसान्वयप्रवादा, पृ० २।

३. शास्त्रदीपिका, पृ० ३५३।

४. दुर्गातदन्तगमुखदेशनि प्रापात्मविति।

मुख्य सम्बन्ध मुक्तिमुक्तिरस्ता गुराग्नि ॥ तारेशदा पृ० ८८२।

५. दोनों मनों के लिए देखिए, वेदान्तशास्त्रवित्ता, पृ० ८।

कर्मों के अनुष्ठान से धर्माधर्म का विनाश हो जाने पर देह तथा इन्द्रियादि सम्बन्ध का जो आत्मनिक विच्छेद होता है, वही मोक्ष है।^१

अद्वैत वेदान्त और मीमांसादर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

यदि भारतीय पड़दर्शन-पद्धतियों के सम्बन्ध में युगन कलना की जाए तो दार्शनिक समानताओं एवं पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर तीन युगन बनते हैं: एक न्याय और वैशेषिक का, दूसरा सांख्य और योग का और तीसरा पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा (अर्थात् वेदान्त) का। वास्तव में, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा में वडा धनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा कि आरम्भ में ही मीमांसादर्शन की चर्चा करने मध्य कहा जा चुका है, पूर्वमीमांसा वैदिक दर्शन का पूर्व पक्ष है और उत्तरमीमांसा, अर्थात् वेदान्त उत्तर पक्ष या निदान पक्ष^२। पूर्वमीमांसा का उद्देश्य यदि धर्म और कर्म के महत्व की स्थापना है तो उत्तरमीमांसा का उद्देश्य कर्म और ज्ञान का सामंजस्य है। मीमांसक के धर्म में कर्म और ज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना है; परन्तु वेदान्त में ज्ञान और कर्म के भेद को ही मिटाने का प्रयत्न है। इस प्रकार वेदान्तिक दृष्टि से ज्ञान स्वतः कर्म का ही रूप है।^३ पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के पारस्परिक सम्बन्ध के ब्रह्मयन के दृष्टिकोण ने आत्मा, इच्छा तथा मोक्ष के सम्बन्ध में दोनों दर्शन पद्धतियों के अनुसार विचार करना उपयुक्त होगा।

आत्मा—स्वयं मीमांसा में ही आत्मा के सम्बन्ध में प्रभाकर और कुमारिल की दो भिन्न दृष्टियाँ हैं। भाट्ट मीमांसक के अनुसार, आत्मा की सकियता को स्वीकार किया गया है। भाट्ट मीमांसक के अनुसार कर्म के दो भेद हैं: सान्द तथा परिणाम। आत्मा में स्पन्द न होकर परिणाम होता है।^४ कुमारिल के मत में परिणामी के नित्य होने के कारण आत्मा परिणामी होते हुए भी नित्य है। भाट्ट मीमांसक का आत्मा चिदचिदिशिष्ट है। सुख, दुःख, इच्छा तथा प्रयत्नादि आत्मा के अचिदंश के परिणाम हैं।^५ भाट्ट मीमांसक के अनुसार, आत्मा में जटत्व तथा चैतन्य दोनों हैं। शरीर तथा विषय का संयोग होने पर आत्मा में चैतन्य नहीं रहता। यही आत्मा की जडावस्था है। यहां मीमांसक कुमारिल और वेदान्त मत का अन्तर द्रष्टव्य है। वेदान्त का आत्मा चैतन्यस्वरूप है, परन्तु मीमांसक कुमारिल के अनुसार, आत्मा चैतन्य निश्चिप्त है।

१. वेदान्तकल्पतिका, पृ० ४।

२. For the line of thought commenced by the Mimansa is completed by Vedanta, which constitutes the last word on the problem of the soul with reference to both knowledge and action. (N. V. Thadani, MIMANSA, Introduction, p. CXI.)

३. N. V. Thadani, MIMANSA, XLIX

४. यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।

न परिस्पन्द एवैकः किया नः कण्ठोजिवन्॥ श्लो० वा०, पृ० ७०७।

५. चिदगेत्र द्रष्टव्यं मोक्षमिति प्रत्यबिज्ञा, विषयश्वरं च अचिदगेत्र ज्ञानमुखादिरूपेण परिणामित्वम्। म आत्मा अहं प्रत्ययेनैव वेदः। (कश्मीरक सदानन्द : 'अद्वैतग्रहसिद्धि')

प्रभावर का आत्मा-मन्त्रवन्धो मन कुमारिल के मत से भिन्न है। कुमारिल की तरह प्रभावर आत्मा में क्रियावता को नहीं स्वीकार करते। कुमारिल के अनुमार आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होना है तथा उनके मन में आत्मा ज्ञान वा कर्ता एवं विषय दोनों हैं, परन्तु प्रभावर के मतानुमार आत्मा को 'अहृपत्यय-वेद' कहा गया है। इस प्रकार प्रभावर भीमासर के अनुमार आत्मा की मन्त्रा प्रयोग ज्ञान के कर्ता रूप में मानी गई है।^१ इस प्रकार भीमासर द्वे अनुमार, आत्मा के कर्तृत्व के आधार पर उसमें वहकार की कल्पना भी दी गई है। इसके विपरीत वेदान्तिक दृष्टि में आत्मा भ कर्तृत्व और जातृत्व दोनों का सम्बन्ध है।^२ इस विवेदन से सुमाप्त है कि भीमासर और वेदान्तिक मिद्दान्ता में पारस्परिक सम्बन्ध होने हए भी पर्याप्त अन्तर है।

ईश्वर—जैसा कि कहा जा चुका है, आपदेव तथा तीगातिभास्तुरादि भीमासरों ने ही ईश्वर की मनों को स्वीकार किया है। तीगातिनाम्भर का कथन है कि ईश्वरार्णवुद्धि में विद्या मया कर्म त्रिधेयम वा हेतु होना है।^३ कर्मों के सम्बन्ध में ईश्वरार्णवुद्धि भी यह यात वेदान्त के समान ही है।^४ जहा तक प्राचीन भीमासर वा प्रसन्न है जैमिनि के अनुमार शर्मों से ही विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है, ईश्वर के द्वाग नहीं।^५ ऐसों विपरीत प्रद्युम्नवार वादरायण के अनुमार ईश्वर कर्म-फल का दाना है।^६ वद्रपि उपर्युक्त दृष्टिरौपि के आधार पर भीमासर और अद्वैत वेदान्त के ईश्वर-सम्बन्धीय मिद्दान्त में पर्याप्त भेद है, परन्तु यह तो जबदेव व्यक्तिकार करना होगा कि भीमासर में जिम वद्वृदेववद की स्थापता की गई है उसी में वेदान्तियों के वृद्धि अथवा ईश्वर वा विकाम हुआ है।^७ यो तो पूर्वभीमासर और उत्तरभीमासरा वा सम्बन्ध स्पष्ट ही है।

मोक्ष—भाद्र एव प्रभावर भीमासर के मोक्ष-सम्बन्धीय मिद्दान्ता का उल्लेख पीछे विद्या जा चुका है। भाद्र भीमासर के अनुमार प्रपञ्च-भगवत् के विलय का नाम मोक्ष है।^८ वेदान्तिक दृष्टि में भी जब जीव का मोक्ष होना है तो उसका प्रपञ्च के सत्य सम्बन्ध नष्ट हो जाता है, क्योंकि प्रपञ्च तो मिथ्या है। अद्वैत वेदान्त विचारधारा में अनुमार समस्त प्रपञ्च की जटनी अविद्या है। क्रम ज्ञान होने पर अविद्या निरूपित हो जाती है तो प्रपञ्च-युद्ध भी नहीं रहती। अद्वैत वेदान्त की उक्त विचारधारा हमें पूर्वभीमासरा वे भाद्र सम्प्रदाय में भी निवन्नी है। साम्प्रदीपिका में कहा गया है कि अविद्या निमित्त प्रपञ्च स्वप्न-प्रपञ्च के समान है और जिस प्रकार जागने पर

१ मानसेयोदय, पृ० १६२-१६४।

२. N. V Thadani MIMANSA, INTRODUCTION, p LXI, LXII

३ ईश्वरार्णवुद्या त्रियमाणस्तु नि धेयमहेतु ।—वर्णग्रह, पृ० १६६।

४ शाकरनाय्य, गीता, ६।२८।

५. शर्म जैमिनिराहद ।—क्रमसूक्त, ३।२।३०।

६ व्रह्यमूल, ३।२।३६।

७ It is only when we come to Vedanta that the Mimansa idea of the gods, and the Sankhya idea of Prakrti as a good and intelligent power, are expanded into that of Brahma or God (N. V Thadani, MIMANSA, Introduction, p LIX)

८ साम्प्रदीपिका, पृ० ३५७।

स्वप्न-प्रपञ्च नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के द्वारा ब्रह्मविद्या निवृत्ति होने पर प्रपञ्च का भी स्वयं विलय हो जाता है।^१ इस प्रकार भाद्र भूत और अद्वैतवेदान्त भूत के मोक्ष-सम्बन्धी सिद्धान्तों में पर्याप्त पारस्परिक सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। निश्चय ही, प्रभाकर मीमांसक के अनुसार, 'नियोगसिद्धिरेव मोक्षः' के आधार पर जिस मोक्ष की कल्पना की गई है, वह अद्वैत वेदान्ती की मुक्ति से पर्याप्त भिन्न है। प्रभाकर के उक्त कथन के अनुसार कर्तव्य-बुद्धि से किये गए नित्य-कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। इनके विपरीत 'नहि ज्ञानादृते मुक्तिः' के अनुसार अद्वैत वेदान्त में विना ज्ञान के मुक्ति की कल्पना नहीं की गई है। अद्वैत वेदान्त में तो नित्य-कर्म आदि कर्मपरम्परया कारण है, न कि साक्षात्। अतः प्रभाकर मीमांसक और अद्वैत वेदान्त-सम्मत मोक्ष-सम्बन्धी धारणाएँ भिन्न-भिन्न हैं।

मुक्ति के स्वरूप-निर्णय के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त में मुक्ति की अवस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है।^२ वैसे तो मन द्वारा भोग्य सुख तथा ब्रह्म-नन्द में पर्याप्त अन्तर है, परन्तु दुःखाभाव दोनों में ही है।

उपर्युक्त रीति से विचार करने पर यह निश्चिन्त रूप से ज्ञात होता है कि पूर्वमीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में वडा धनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों में पहला यदि पूर्वेष्ट है तो दूसरा उत्तरेष्ट।

समालोचना

ऊपर हमने अद्वैत वेदान्त के मूल्यांकन के दृष्टिकोण से उसका अन्य न्याय आदि दर्शन-पद्धतियों के साथ सम्बन्ध एवं प्रभाव देखने का प्रयत्न किया है। यों तो पद्धर्षन के अन्तर्गत प्रत्येक दर्शन-पद्धति का एक-दूसरी से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु उनमें भी कुछ-एक का विदेश सम्बन्ध है—जैसे न्याय और वैदेशिक का, सांख्य और योग का और पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा का। उत्तरमीमांसा या वेदान्त का तो उपर्युक्त पांचों दर्शनों से अत्यन्त धनिष्ठ सम्बन्ध है। यहां यह कथन अनुचित न होगा कि न्याय आदि समस्त दर्शनों का पर्यवसान वेदान्त में ही जाकर होता है। जैसा कि अद्वैत वेदान्त तथा अन्य पंच दर्शन-पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय देखा जा चुका है, अद्वैत वेदान्त की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में अन्य दर्शन-पद्धतियों पर प्रभाव की रेखाएँ भी मिलती हैं। इसका कारण यही है कि भारतीय दर्शन-पद्धतियों के विकास का मूल उपनिषद् ग्रन्थ हैं।^३ और इन उपनिषद्-ग्रन्थों का समन्वयभूत सिद्धान्त-अद्वैत वेदान्त है।^४ अतः औपनिषद अद्वैत वेदान्त से, परवर्ती न्याय-आदि दर्शन-पद्धतियों का प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। परवर्ती शांकर वेदान्त तो औपनिषद दर्शन के ही व्यवस्थित एवं संदान्तिक अध्ययन का एक विस्तृत रूप है।

१. अविद्यानिर्मितो हि प्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत् प्रबोधनेतैव ब्रह्मविद्यया अविद्याविलीनायां स्वय-
मेव विलीयते।—शास्त्रदीपिका, पृ० ३५६।

२. मानमेयोदय, पृ० २१२।

३. Ranade : CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 178-179. (Oriental Book Agency, Poona)

४. वेदान्तो नामोपनिषद्प्रमाणम्।—वेदान्तसार, पृ० २ (चौखम्बा संस्करण)

अद्वैत वेदान्त और यूनानी दर्शन

यह बहुगास्ते हास्यद न हामा कि भारतीय दग्न का अक्षुण्ण प्रभाव यूनानी दग्न पर भी पड़ा है। भारत आय यूनानी जिनसे मारतीय दग्न पढ़ति ग प्रभाविन हुए उनसे और किसी गास्थ या अ न व्यापार स नहीं। उक्त विचार की भार सरेत करते हुए विद्वान मम मूरर न लिखा है—

Nothing struck the Greeks so much as the philosophical spirit which seemed to pervade that mysterious country¹

अथान यूनानिया को लितना अधिक भारत की दानानिक प्रयृति भ प्रभाविन किया उतना किसी अ य न नहीं। यह प्रवत्ति ग्रन्थमय देश को व्याप्त किय हुए प्रतीत हानी थी।

यूनानी गजदूत मास्थनी इन भी जो ई० पू० तीसरी शताब्दी भ भारतवय आया या इस देश के आयामिता साधन विस्तार भ बणन किया है। उमने भारतवय के उत आध्यात्मिक मनुष्या का भी तगन किया है जो पवतों मदानों और बुजा भ निवाम करते हैं।²

भारतवय की प्राचीन दागनिक प्रवत्ति की प्राण प्रतिष्ठा उपनिषदा भ मिती है और उपनिषदा का प्रतिपाद्य अन बनान है। यहां यह व्यन अनुपयुक्त न हामा कि भौतिक देन त भा यून नी दग्न पर भी पवाप्त अ० है। ग्रन्थ का उक्त प्रश्न उत्तर न तिथि निश्चित पक्षिया क था तगन किया है—

The idea of salvation of the liberation of the God—the soul from the shackles of the earthly body doubtless originated in India where it makes its appearance in the so called Upanishads—it was this race which formed the bridge over which this oriental doctrine of deliverance crossed into Greece

(Edward Zeller OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY p 16)

जातर महोन्य की उपयुक्त पक्षियों का यही अभिप्राय है कि भौतिक परीक्षे वापतो से ईश्वर मदा या या वी मुक्ति का विचार नि मदेह भारतवय भ ही उत्तर न हुआ था। इस सम्बन्ध म प्रस ने सेतु का काथ किया था क्याकि इस नगर क माध्यम से ही मुक्ति का यह प्राचार मिदान्त प्रोक्षहुना था।

उपर किय गा उचाहरणा के आधार पर यह विट्ठि होता है कि विद्वान ने यूनानी दग्न पर भारतीय दग्न का नि मदोक स्वीकार किया है। अप इस स्वल पर यह दखन का प्रयास ह ति कित किन यूनानी दागनिका की दग्न पद्धतिया पर किम प्रवार भार तीय अद्वैत बनान का प्रभाव पड़ा है।

¹ Max Muller INDIAN PHILOSOPHY Vol I p 25

² J W McCrindle ANCIENT INDIA (1877) p 97

³ ग्रेस (Thrace) औरफियस (Orpheus) क ज म देन का नाम है। औरफियस के

एलिया के दार्शनिक और अद्वैत वेदान्त

प्राचीन बूनानी दर्शन का उदय-क्षेत्र एलिया है। एलिया दर्शन इटली में स्थित है। यह एक छोटा-सा नगर है। दार्शनिक परमेनिद् और जेनो इसी नगर के नागरिक थे। इस युग का एक तीसरा दार्शनिक और था और वह या क्सेनोफेन। क्सेनोफेन तो कदाचित् ही एलिया गया हो, परन्तु वह एलियातिक सम्प्रदाय का जन्मदाता अवश्य था। क्सेनोफेन, परमेनिद तथा जेनो ने दर्शन पर स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं लिखे थे। क्सेनोफेन की विचारधारा के स्रोत तो वे शोक-गीत तथा व्यंग-लेख हैं जो उसने होमर तथा हिसियड के विरोध में लिखे थे। इसके अतिरिक्त उसने कुछ पट्टपटी भी लिखी हैं। परन्तु उसके द्वारा लिखी गयी कोई दार्शनिक कविता नहीं उपलब्ध होती है। जहाँ परमेनिद् का प्रश्न है, उसका भी दर्शन के सम्बन्ध में कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। परमेनिद् की कुछ विखरी हुई दार्शनिक कविताएँ मिलती हैं, जिनकी सम्यक् व्यवस्था डील्स ने की है। जेनो ने एक गद्यलेख के अन्तर्गत अपनी दार्शनिक विचारधारा को प्रकट किया था। यहाँ इन तीनों दार्शनिकों की विचारधारा का अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जायेगा।

क्सेनोफेन (५७६-४८० ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैतवेदान्त

औरनिपद अद्वैतवाद के अन्तर्गत नानात्म रूप-प्रपञ्च का खण्डन करके एक अद्वैत सत्य की प्रतिष्ठा की गई है। कठोरनिपद् (२।१।१) में प्रपञ्च-नानात्म का मिथ्यात्व सिद्ध करते हुए लिखा है—

मनसैवेदमात्मव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥

अर्थात्, जगत् का नानात्म कल्पित है, यथार्थ नहीं। जो जगत् का नानात्म रूप से दर्शन करते हैं वे कभी मृत्यु के वन्धन से छुटकारा नहीं पाते। इस प्रकार कठोरनिपद् की उक्त विचारधारा के आधार पर वेदान्त के 'सर्वं तत्त्विदं त्रह्य' सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। लगभग यही विचारधारा क्सेनोफेन की भी प्रतीत होती है। वह भी ऐकेश्वरवाद का समर्थक है, परन्तु ऐकेश्वरवाद का समर्थक होते हुए भी वह ईश्वर की सत्ता जगत् से पृथक् नहीं भानता। उसके विचार का विश्लेषण करते हुए विद्वान् स्टेस (Stace) लिखते हैं :

“Therefore God is to be conceived as one... The world is God, a sentient being, though without organs of sense.”^१

उपर्युक्त पंक्तियों के अनुसार, क्सेनोफेन द्वारा कल्पित ईश्वर सूक्ष्म, चेतन तथा सतत्त्व है। अद्वैतवेदान्त का त्रह्य भी सत्, चित् एवं आनन्दरूप है। इस प्रकार सत् और चित् की कल्पना अद्वैतवेदान्त के ही समान है। रही आनन्द-रूप की वात, तो दार्शनिक धारा के इस उद्गम-काल में क्सेनोफेन जैसे शिशु दार्शनिक की दृष्टि में साधनासाध्य आनन्द का रूप आ ही कैसे सकता था। अद्वैत वेदान्त के ईश्वर के सर्वज्ञता की विशेषता प्रसिद्ध है। दार्शनिक क्सेनोफेन भी ईश्वर की सर्वज्ञता के पक्ष में था। क्सेनोफेन की अधोलिखित पंक्ति में भी यही सर्वज्ञता का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है—

"He sees all over, thinks all over and hears all over ;

वह वेदान्त प्रतिपादित ईश्वर की तरह ईश्वर को नियन्ता के रूप में भी स्वीकार करता था। ममानोक्त स्टेस महोदय की निम्नलिखित पक्षिन का भी यही आशय है

"He is all eye, all ear, all thought. It is he 'who' without trouble, by his thought governs all things."^३

विचारक क्षेत्रोफेन ने जिस नियन्ता ईश्वर की कल्पना की थी, वह जागतिक नियंता की तरह वाहु रूप से सत् नहीं या^४ क्षेत्रोफेन की उक्त विचारदृष्टि द्वारा शब्दा म अद्वैत वेदान्त के सम्मत ईश्वर के अन्तर्यामित्व के समान ही प्रतीत होती है। ईश्वर के इस अन्तर्यामित्व का उल्लेख करने हुए वृष्णि ने गीता में कहा है—

'ईश्वर सर्वभूनाना हृददेशेऽग्रुण निष्ठति।'^५

इसके अन्तिरिक्षन क्षेत्रोफेन की ईश्वर के सम्बन्ध में अनादित्व अनन्तत्व एवं अपरि वर्तन्तव को कल्पना^६ भी अद्वैत वेदान्त के ईश्वर के समान ही थी।

आत्मोचनात्मक दृष्टिकोण

यद्यपि ऊपर की गई आत्मोचनात्मक विवेचना से यह सर्वतं गिर्द है कि क्षेत्रोफेन एकैश्वरवादी या परन्तु विद्वानों में उम्मीदी इस विचारधारा के सम्बन्ध में अनन्त भत्त मिलत हैं।

फ्रूडेन्यल का मत—फ्रूडेन्यल वा क्यन है कि क्षेत्रोफेन एवं प्रबार से बहुदेववादी ही था।^७

(२) विलमोवित्ज (Wilamowitz) का मत—विलमोवित्ज का विचार तो यह है कि क्षेत्रोफेन कि सर्वप्रथम क्षेत्रोफेन ने ही वास्तुविक अद्वैतवाद के दर्शन दिये थे।

प्रो॰ वर्नेट न फ्रूडेन्यल के पूर्वोक्त मत का सम्झन और विलमोवित्ज के उक्त मत का सम्बन्धन करने हुए निम्नलिखित पक्षिया लिखी हैं—

I cannot help thinking that Freudenthal was more nearly right than Wilamowitz, who says that Xenophenes upheld the only real monotheism that has ever existed upon earth."^८

(३) डील्स का मत—विद्वान डील्स क्षेत्रोफेन की विचारधारा को कुद्दुमुद्द सीमित

^१ Burnet EARLY GREEK PHILOSOPHY, p 119

^२ Stace A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 42

^३ But it would be a mistake to suppose that Xenophenes thought of this God as being external to the world, governing it from the outside, as a general governs his soldiers (Stace A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 42)

^४ गीता, १८।६।१

^५ This all one was at the same time the Deity, without beginning and without end, always similar to itself and hence unchangeable (OUTLINE OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 42)

^६ Freudenthal DIE THEOLOGIE DES XENOPHENES (Braslau, 1886)

^७ Burnet EARLY GREEK PHILOSOPHY, p 129

एकेश्वरवाद का रूप देते हैं।^१

मेरे विचार से फूडेन्यल का क्सेनोफेन को वहुदेववादी कहना उचित नहीं प्रतीत होता, वयोंकि उसने होमर और हिसियड के बहुदेववाद का स्थान करके ही एकेश्वरवाद की स्थापना की थी। क्सेनोफेन ने अपने शोक-गीतों में देवताओं की जो चर्चा की है वह विरोधी मत वाले होमर तथा हिसियड के बहुदेववाद के सम्बन्ध में ही है। अतः फूडेन्यल का क्सेनोफेन को वहुदेववादी कहना उचित नहीं है। साथ ही डील्स का क्सेनोफेन को सीमित एकेश्वरवाद का समर्थक कहना भी समुचित नहीं है। यदि विचार कर देखा जाए तो वह एकेश्वरवादी तथा ग्रहाद्वैतवादी दोनों ही था। जब वह यह कहता है कि 'सब एक में है' तो वह एकेश्वरवादी है; और जब यह कहता है कि ईश्वर एक है, तब वह ग्रहाद्वैतवादी है।^२ उसके मत के सम्बन्ध में राहुल जी का निम्नलिखित मत उचित प्रतीत होता है :

"अर्थात्, वह रामानुज से भी ज्यादा स्पष्ट शब्दों में ईश्वर और जगत् को अभिन्नता को मानता था, साथ ही शंकर की भाँति प्रकृति ने इन्कार नहीं करता था।"^३

परमेनिद् (५१४ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैतवेदान्त

एलिया के प्रसिद्ध दार्शनिकों में दूसरा स्थान परमेनिद् का था। दार्शनिक दृष्टि से परमेनिद् का महत्त्व अत्यधिक है। प्रोफेसर ए० एच० आर्मस्ट्रांग का विचार है कि परमेनिद् यूनान का ऐसा पहला दार्शनिक है जिसने तर्क का आश्रय लिया है।^४ विद्वान् स्टेस तो परमेनिद् की दार्शनिक विचारधारा को प्लेटो के दार्शनिक विचार-प्रासाद की आधारभूमि मानते हैं।^५

परमेनिद् के सम्बन्ध में यह कथन सत्य ही होगा कि यह यूनानी दर्शन का ऐसा ज्वलन्त नक्षत्र है जिसने दर्शन के क्षेत्र में एक नई ज्योति एवं अन्य अनेक भावी महान् दार्शनिकों को जन्म दिया है। अब यह देखने का प्रयास किया जायेगा कि अद्वैत वेदान्त की विचारधारा और परमेनिद् की विचारधारा में कैसी सम्बद्धता है।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में सदसद्वाद की विचारधारा बड़ी प्राचीन है। वैदिक साहित्य में सदसद्वाद में सम्बन्ध में वडे विस्तार से विवेचन किया गया है।^६ अद्वैत वेदान्त दर्शन में ब्रह्म के लिए सत् और जगत् के लिए असत् शब्द का प्रयोग होता है।^७ यहां यह और कह देना उपयुक्त होगा कि अद्वैत वेदान्त के असत् से शशर्घ्यवत् अथवा आकाशकुसुमवत् असत्य से तात्पर्य कदापि नहीं है। यह पारमार्थिक दृष्टि से ही असत् है, न कि व्यावहारिक दृष्टि से। उक्त दृष्टिकोण के मूल स्वरूप ही छान्दोग्योपनिषद् में सत् को सृष्टि का मूल कारण-

१. Burnet : EARLY GREEK PHILOSOPHY, p. 129.

२. राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ७।

३. वही, पृ० ७।

४. AN INTRODUCTION TO ANCIENT PHILOSOPHY, p. 12.

(Methuen & Co., Roudon, 1957)

५. Stace : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 52.

६. ऋग्वेद संहिता, १०।१२६।१, १०।१२६।४; छा० उ०, ६।२।१; शतपथब्राह्मण, १०।५।३।१; तै० उ०, २।७।१; वृ० उ०, २।१।२०।

एवं अद्वैतरूप कहा गया है।^१ अद्वैतवेदान्त के उक्त परमतत्त्व सत् के अनुमार ही परमेनिद् भी परम तत्त्व को सत् तथा इस परिवर्तनसील एवं इन्द्रियज्ञे जगत् को असत् मानता है। परमेनिद् की दृष्टि म अद्वैतवेदान्त के समान ही यह दृश्य जगत् मिथ्या है। जगत् को पारमाधिक दृष्टि म सत्य न मानकर मिथ्या एवं उसकी दृश्य सत्ता मात्र को स्वीकार करता है। स्टेस महूद दय के निम्न कथन म यही आशय स्पष्ट है—

“The world of sense is unreal, illusory, a mere appearance”^२
उपर्युक्त मिदान्त के समान ही अद्वैती शक्तर ने भी जगत् की व्याकहारिक सत्ता को ही स्वीकार किया है।^३

परमेनिद् की मान्यता है कि परम सत् अनादि तथा अनन्त है, न इसका उत्थान है और न गमन। परम सत् के अनादित्व एवं अनन्तत्व पर प्रकाश ढालते हुए परमेनिद् का कथन है कि सत् की उत्पत्ति असत् से नहीं हो सकती और न ही अभाव से किसी वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है।^४ उग्र प्रवार सा का वारण न असत् हो सकता है और न अभाव। अतः परम सत् अद्वैतवादी के प्रह्ल की तरह अतादि एवं अनन्त है। इस अद्वैत सत् तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए परमेनिद् न तिया है—

‘ for it is complete, unmoveable, and without end. Nor was it ever, nor will it be, for now it is all at once, a continuous one.’^५

परमेनिद् की उपर्युक्त पक्षियों का व्याख्या है कि गत् पूर्ण, अचल तथा अन्त रहित है। न एसा है कि वह कभी था और न एसा है कि वह कभी होगा। क्योंकि यह तो पूर्ण रूप से सत् है। यही मान्यत्वमय अद्वैत तत्त्व है।

परमेनिद् की दार्शनिक विचारधारा शून्यवादी से भी दूर है। वह शून्यवादी की तरह परम तत्त्व को शून्यरूप न मानकर ब्रह्म की तरह उसकी सत्ता को स्वीकार करता है। स्टेस महोदय ने निम्नलिखित पक्षित म यही भाव व्यक्त किया है—

“It simply is, Its only quality is, So to speak, ‘isness’ ”^६

आलोचना

दार्शनिक परमेनिद् की विचारधारा के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उम पर अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव है, परन्तु किर भी कुछ दार्शनिक आलोचक विद्वानों की दृष्टि म वह ठेठ वस्तुवादी है। इन आलोचकों में प्रोफेसर बनेट अद्यगण्य हैं। प्रोफेसर बनेट

१ सदेव सोम्येदमग्र आमीदेवमेवाद्वितीयम्, धा० उ० ६१२।

२ A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 44

३ उ० मू०, धा० भा०, १९।१४।

४ Being cannot come out of not being, nor something out of nothing

(A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY)

५ Parmenid's THE WAY OF TRUTH (8), (quoted p 44), from Burnet's EARLY GREEK PHILOSOPHY, p 174)

६ A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 45
Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE WITH

परमेनिद् की विचारधारा में कल्पनावाद का दर्शन करने वाले विचारकों का खण्डन करते हुए निखते हैं—

"Parmenides is not, as some have said, the father of idealism. On the contrary, all materialism depends upon his view of reality."^१

अर्थात्, "जैसा कि कुछ लोगों ने कहा है परमेनिद कल्पनावाद या अद्वैतवाद का जनक नहीं है, इसके विपरीत सारा वस्तुवाद उसके भना-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित है।"

जब इम प्रो० वर्नेट के उक्त मत के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो यह देखते हैं कि परमेनिद् ने तो स्वयं ही कल्पनावाद नथा वस्तुवाद का भेद स्थापित कर दिया था। यद्यपि वहाँ यह कहना भी उपयुक्त होगा कि परमेनिद स्वयं मैटर (वस्तु) और आइडिया (कल्पना) के भेद से अवगत नहीं था; इसका यही कारण था कि यह भेद-व्यवस्था उसके उत्तरकाल में आकर निष्ठित हुई थी। वस्तुवाद के सिद्धान्त के अनुमार, जिस वस्तु का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होता है वही सत्य है। इसके विपरीत, परमेनिद् भन्न को चिन्तन का विषय मानता है।^२ अतः परमेनिद् वस्तुवादी कैसे हो सकता है? उपर्युक्त कथन के अनुमार वस्तुवादी की दृष्टि से, जैसा कि कहा जा चुका है, वही वस्तु गत्य मात्र जा न सकती है जिसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो; परन्तु परमेनिद् तो नत्य को तकं-भिन्न मानता था, न कि उन्निय-ज्ञान सिद्ध।

परमेनिद् इन्द्रिय प्रत्यक्ष-योग्य वाहा जगत् को मिथ्या मानता है तथा उसकी दृश्यमात्र सत्ता को स्वोकार करता है।^३

इम प्रकार परमेनिद् ने स्थूल और सूक्ष्म का भेद स्वतः स्वीकार किया है। अतः प्रो० वर्नेट का परमेनिद् को वस्तुवाद (Materialism) का प्रतिपादक कहना तकं-प्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता।

परमेनिद् की विचारधारा के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से तो ऐसा पता चलता है कि वह अद्वैतवाद (Idealism) तथा वस्तुवाद (Materialism) दोनों का ही जन्मदाता था। इसी के फल-स्वरूप उसके परवर्ती अनक्सायोर, एम्पेदोकल तथा देमोक्रितु ने द्वैतवादी दर्शन का प्रतिपादन किया था। परमेनिद् की विचारधारा के कल्पनावाद (Idealism) तथा वस्तुवाद (Materialism) के प्रतिपादक होने का प्रमुख कारण उसके सिद्धान्त का लचीलापन था। जैसा कि कहा जा चुका है, सत्य के बारे में परमेनिद् का विचार था कि सत् की उत्पत्ति असत् से नहीं हो सकती, तथा उन नृ (being) का न उत्थान होता है और न गमन। एंतदमुसार ही वह सत् का न आदि मानना था और न अन्त। यदि विचार कर देखा जाए तो परमेनिद् का उक्त मिद्दान्त आधुनिक वस्तुवाद या भौतिकवाद का भी समर्यक प्रतीत होता है। आधुनिक भौतिकवादी भी भौतिक पदार्थों की अविनाशिता में विश्वास करता है। उसकी दृष्टि में भी भौतिक पदार्थों का न आदि है और न अन्त। जहाँ तक वस्तुओं की उत्पत्ति तथा विनाश का प्रबन्ध है, आधुनिक भौतिकवादी इन्हें पदार्थों के लेखों के एकत्रीकरण एवं पार्यक्य का फल

१. Burnet : EARLY GREEK PHILOSOPHY, Ch IV, p. 82.

२. The thing that can be thought and that for the sake of which the thought exists is the same. (Parmenides : THE WAY OF TRUTH (8), (quoted from Burnet's EARLY GREEK PHILOSOPHY, p. 176)

३. Stace : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 49.

मानता है। उक्त दृष्टिकोण से विचार करने पर परमेनिद् वस्तुवादी प्रतीत होता है। परन्तु इस लेखक का विचार तो यह है कि परमेनिद् वस्तुवादी न होकर अद्वैतवादी ही था। परमेनिद् वा मर् और अमर् का साय-साय विवेचन करना अद्वैतवाद का ही समर्थन है। वह परम तत्त्व को मर् मानता है और जगत् बो असत्।^१ यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि शशरथचार्य का 'ब्रह्म सत्य जगन्मध्या'।^२

जेनो (४८९ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त

यूनानी दार्शनिकों में नीसरा अद्वैतवादी दार्शनिक जेनो था। जेनो परमेनिद् का प्रिय गिर्द था। अस्तु ने जेनो को दृग्वादाद वा जन्मदाता कहा है।^३ यदि देखा जाये तो परमेनिद् ने जिस एक सत्य का प्रतिपादन किया था उसी का आगे चलकर जेनो ने मण्डन किया था। परमेनिद् ने यदि सत्य के अवल एव अपरिवर्तनीय बहा था तो जेनो ने गति को असत्य। इस प्रकार जेनो अप्रभाव रूप से परमेनिद् का ही समर्थक था। दार्शनिक जेनो ने अद्वैत सत्य की रक्षा के लिए विदेश रूप से दो तर्कों का भाष्य लिया था। ये दो तर्क थे अनेकत्वाद और गतिवाद वा लग्नन।^४ परन्तु जेनो का न अनेकत्व के खण्डन से यह तात्पर्य था कि सप्तार में दृश्यमान वस्तुओं के अनेक रूपों की सत्ता नहीं है और न वस्तुओं की गति के खण्डन से यह अभिप्राय था कि उनमें दिवाई पड़ने वाली गति का अभाव है। जेनो का तो अनेकत्व और गति के खण्डन से यही आशय था कि यह अनेकत्वा एव गति सम्बन्ध जगत् वास्तविक सत्य नहीं है। इस विचार की पुस्ति में जेनो का वर्णन था कि अनेकत्वा और गति सत्य नहीं है। यही बात स्टेन महोदय ने जेनो के सम्बन्ध में कही है—

'Zeno said that motion and multiplicity are not real'^५

जेनो की उक्त विचारधारा का यदि अद्वैत मिद्दान्तों के साथ साम्य देखने की चेष्टा की जाये तो ज्ञात होगा कि सत्य एव जिस अनेकत्व और गतित्व का खण्डन जेनो ने किया था उसका निरसन उपनिषद्-दर्शन में पट्टने में ही किया जा चुका था। जहाँ तक जेनो के द्वारा किये गए अनेकत्व के खण्डन का प्रश्न है, कठोरनिषद् में प्रथम मूलक नानात्व का खण्डन करते हुए स्पष्ट रूप में कहा गया है—

"मनस्येवेदमाप्तव्य नेह नानास्ति विचन ।

मृत्यो समृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥"^६

अर्थात्, जो इस जगत् में ज्ञानात्व देखता है वह मरण-अन्धन में छुटकारा नहीं पाता। परन्तु वेवल ज्ञानी के लिए ही यह नानात्व का भेद नहीं रहता। उपनिषद्-परबर्ती वेदान्त में तो अनेकत्वमय प्रपञ्च का खण्डन घडे विस्तार के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त

^१ Stage A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 404

^२ विवेरचूडामणि, २०।

^३ Zeller OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 52

^४ कही।

^५ A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 60.

^६ कठोरनिषद्, २११११।

जेनो ने सत्य में जिस गति का खण्डन किया था, वह भी उपनिषद्‌दर्शन में पहले से वर्तमान था। कठोपनिषद्‌में अद्वैत सत्य को अग्रद्वद, अस्पर्य, अस्पृष्ट, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्ववत्, अनादि, अनन्त, महान् से भी पर तथा ध्रुव कहा है।^१ सत्य के 'ध्रुव' विशेषण से गति का खण्डन स्वतः सिद्ध है। उक्त मिद्धान्तों के अतिरिक्त जेनो अद्वैत वेदान्त के विवर्तन-वाद का भी समर्थक प्रतीत होता है। विवर्तनवाद के अनुसार सत्य के ही अनेक रूप दिखाई पड़ने हैं परन्तु वास्तव में सत्य एक ही है, उसमें अनेकहृपता तो रैखने-मात्र की ही है। अनेकता सत्यता का तात्त्विक परिवर्तन न होकर विवर्तन मात्र है।^२ इसी प्रकार जेनो का भी यही सिद्धान्त है कि जगत् के जो विषय हैं वे केवल सत्य के ही प्रदर्शन मात्र हैं। स्टेम महोदय के निम्नलिखित कथन में उक्त विचार दृष्टव्य हैं—

"They are, therefore, mere appearances of that other, which is the reality."^३

उपर्युक्त विवेचन में यह निहित रूप से जान होता है कि क्षेनोफेन और परमेनिद् की तरह जेनो पर भी अद्वैत दर्शन का पूर्ण प्रभाव मिलता है। यहाँ यह कहना और वर्णेक्षित होगा कि दार्शनिकता की दृष्टि से जेनो का महत्व क्षेनोफेन और परमेनिद् से भी अधिक है।

बब्र यहाँ यूनान के दो प्रमिद्ध दार्शनिकों, प्लेटो और वरस्तू, के दार्शनिक विचारों का अध्ययन अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक दृष्टि से किया जायेगा।

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैत वेदान्त

यदि देखा जाये तो प्लेटो एक समन्वयवादी दार्शनिक था। वह यहाँ यावर्यवादी सुकरात के इस कथन से सहमत था कि प्रयत्न द्वारा तत्त्व-ज्ञान सम्भव है, वहाँ हेराक्लिन्तु के इस मत का भी विरोधी नहीं था कि साधारणतया जिन भौतिक पदार्थों का साक्षात्कार होता है वे परिवर्तन के पूतले परमार्थ सत्य का रूप नहीं ग्रहण कर सकते। वह एलयातियों की तरह जगत् को परिवर्तनशील मानता था और परमाणुवादियों की तरह अनेक विज्ञानों की मान्यता के द्वारा वहुत्ववाद का भी समर्थन करता था। उसका विज्ञान (idea) पियागोर की 'आकृति' से भी मिलता-जुलता था। प्लेटो की विचारधारा के अनुमार विज्ञान की सत्यता स्वीकार की गयी है। उसके मतानुसार विज्ञान (आइडियाज) अनेक हैं; संसार में जितने विषय दृष्टिगोचर होते हैं, उतने विचारों को प्लेटो मस्तिष्क में सत्य मानता है। इसके अतिरिक्त, यदि मस्तिष्क में कोई ऐसा विचार है जो वाह्य जगत् में अप्राप्य है तो वह विचार प्लेटो की दृष्टि में मिया है। उदाहरण के लिए, गाय, अश्व और मनुष्य आदि का मस्तिष्क-स्थित विचार सत्य है वयोंकि वे जगत् में दिखाई पड़ते हैं। यहाँ यह भी विचारयोग्य है कि अश्व आदि का विज्ञान (आइडिया) ही सत्य है, न कि उनकी भौतिक सत्ता। प्लेटो विज्ञान को नैयायिक के सामान्य के रूप में स्वीकार करता है, वयोंकि अश्व के विज्ञान से उसका तात्पर्य अश्वत्व जाति में है। प्लेटो के 'विज्ञान' की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१. अग्रद्वदमस्पर्यमस्पृष्टमव्ययं, तथाऽरसं नित्यमग्रवच्च यन्।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं.....। —कठ० उ०, १३।१५।

२. अतस्त्वतोऽन्यया प्रथा विवर्त दृत्युदीर्घतः। —वेदान्तसार, प० ६६ (चौ० सं०)

३. A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 61.

- १ विज्ञान (ideas) सारभूत तत्त्व हैं।
- २ विज्ञान (ideas) व्यापक है।
- ३ विज्ञान (ideas) वस्तुएँ नहीं विचार हैं।
- ४ विज्ञान (ideas) में एकत्र है।
- ५ विज्ञान (ideas) अचल तथा अधिनाशी है।
- ६ विज्ञान (ideas) समस्त भौतिक वस्तुओं के सार हैं।
- ७ विज्ञान (ideas) वासने स्वरूप में पूर्ण सत्य है।
- ८ विज्ञान (ideas) देश तथा काल में परे है।
- ९ विज्ञान (ideas) रक्तंगनिष्ठ है।

अपर विज्ञान के सम्बन्ध में जो विवेचन दिया गया है उसमें स्पष्ट है कि प्लेटो अनेक विज्ञान स्वीकार दरका था परन्तु उसने एक सर्वोच्च विज्ञान की भी स्थीरार दिया था। इस सर्वोच्च विज्ञान को प्लेटो ने शिव स्थापना की है। यदि प्लेटो के उस सर्वोच्च विज्ञान की तुलना वौपनिषद् और्हनवाद के अन्तर्गत विवेचित रहा तो यात्मा में की जाये नो दोनों में पर्याप्त साम्य मिलता है। जिस प्रतार कि प्लेटो का सर्वोच्च विज्ञान विवेचन वाला अव्यक्त है उसी प्रतार उपनिषद् प्रतिग्रन्थ अर्द्धत तत्त्व ग्रन्थ को भी माण्डूकयोगनिषद् में 'विद्येय' अर्थात् विज्ञप्ति न्य से ग्रेप कहा गया है।^१ प्लेटो ने जगते 'सर्वोच्च विज्ञान' के साथ जो शिर्म विद्येया गोड़ा है, उसकी चर्चा भी माण्डूकयोगनिषद् म पहले से विली है। माण्डूकयोगनिषद् ने अर्द्धत तत्त्व को 'विद्यमन्त्र' कहरागिवहन माना है।^२ इसका ही नहीं प्लेटो ने जिस प्रतार 'सर्वोच्च विज्ञान' की उमा सूर्य से दी है^३ उसी प्रतार कठोरनिषद् में भी यात्मा का वर्गन सूर्य स्व में किया गया है।^४ प्लेटो उस सर्वोच्च विज्ञान वोटी नमेव सत्य मानता है और उसी बो वह समस्त जागतिक सत्ता जा आ गार माना है।^५ अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से पहुंचियानवाद का विद्वान्त है। अधिष्ठानवाद के जनुमार इन सरनरजात्साकुद्रन तुदम् जगत् ववश्य होना चाहिए। वह जगत् का अविष्ट रूप जापार है और जगत् उसमें वज्जन्त है। इस प्रतार अधिष्ठानमन्त्र में ही वहाँ जगत् का आरण रहा जाता है।^६ उपतिष्ठी में भी वहाँ जो जगत् जावारण कहा गया है। अद्वैत वेदान्त में वह जात्मा एवं 'प्लेटो के 'सर्वोच्च विज्ञान' में वट्टनकुद्र

^१ Zeller OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 133-134

^२ माण्डूकयोगनिषद् ७।

^३ वही, ७।

^४ In the Republic (VI, 504, Eff, VII 517 Bff), it is compared to the sun as the ultimate source of all being and knowledge and at the same time the final goal of the world (Zeller. OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 134)

^५ भूर्भु भया सर्वोक्तस्य चक्षुन्तं लिप्यते चाक्षुर्गंगाहृदोगे। —वृष्ट ० उ०, २०२११।

^६ This idea will be the one final and absolutely real Being which is the ultimate goal of itself, of the other Ideas, and of the entire universe (Slater A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 198)

^७ अधिष्ठानवाद में जगतारण गोपने। —वृष्ट मिं.म०, ५६।

साम्य होते हुए भी एक विचारणीय भेद यह है कि प्लेटो का 'विज्ञान' तर्क-लम्घ्य है^१ और इसके विपरीत ब्रह्मवादी का आत्मा या ब्रह्म तर्क द्वारा अलम्घ्य—'नैता तकेण मतिरापनेया'^२ (कठ०, ११२१६)। माया का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है इसका उद्गम उपनिषदों से ही आरम्भ हो जाता है^३ शंकराचार्य के दर्शन में आकर तो मायावाद के सिद्धान्त का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है। यदि मूक्षम दृष्टि से विचार करें तो भारतीय दर्शन की इस माया की द्याया प्लेटो के 'हाइल' (Hyle) में भी मिलती है। प्लेटो ने इस शब्द का प्रयोग भौतिक वस्तु के लिए किया है। अद्वैतवादी की माया की तरह प्लेटो की भौतिक वस्तु (Hyle) भी सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिवंचनीय है। इसकी अनिवंचनीयता को सिद्ध करते हुए प्रो० रे चौधरी का कथन है कि 'भौतिक वस्तु' (Hyle) प्लेटो के विज्ञान से विपरीत होने का कारण तो असत्-रूप है परन्तु यह पूर्णतया असत्-रूप भी नहीं है। वयोंकि सारे ऐन्द्रिय जगत् का यही आधार है।^४ इस प्रकार यह सत् एवं असत् दोनों से विलक्षण है एवं अनिश्चित तथा अनिर्वच्य है। इसी मत को स्पष्ट करते हुए रे चौधरी महोदय ने लिखा है:

"Samkar's maya also is distinguished from sat and a sat like Hyle, it is indeterminate and underfinable."^५

यद्यपि उक्त दृष्टि से विचार करने पर अद्वैतवादी की माया और प्लेटो की भौतिक वस्तु (Hyle) में पर्याप्त समानता है, परन्तु दोनों में एक महत्वपूर्ण भेद यह है कि अद्वैतवाद के अनुसार माया परमेश्वर की यक्षित है और प्लेटो द्वारा स्वीकृत भौतिक वस्तु की सत्ता 'सर्वोच्च विज्ञान' से भिन्न है। इसीलिए प्लेटो द्वैतवादी है।

यद्यपि प्लेटो द्वैतवादी है परन्तु उसके विज्ञान और उपनिषद् के आत्मा एवं ब्रह्म में बहुत-कुछ साम्य होने के कारण प्लेटो के 'विज्ञान'-सम्बन्धी विचार पर उपनिषदों का प्रभाव द्रष्टव्य है।

अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) की दार्शनिक विचारधारा और अद्वैतवेदान्त

अपने गुरु प्लेटो से वीस वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि अरस्तू की दार्शनिक विचारधारा पर अपने गुरु की दार्शनिक विचार-प्रक्रिया का पूर्ण प्रभाव हो; परन्तु यह प्रभाव अन्धश्रद्धा के रूप में नहीं था। जैसे अरस्तू, सुकरात और प्लेटो

१. The imperishable one, the absolute reality is apprehended not by intuition, or in any kind of mystic ecstasy, but only by rational cognition and laborious thought. (*Stace : A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY*, p. 191.)
२. *Thisought : SACRED BOOK OF THE EAST*, Vol. XXXXIV, Introduction (Oxford Clarendon Press, 1890.)
३. THE DOCTRINE OF MAYA, p. 175. (Das Gupta & Co., Calcutta, 1950.)
४. Ibid, p. 175.

की तरह, ज्ञान के लिए विज्ञान की सत्ता को तो स्वीकार करता था, परन्तु प्लेटो की तरह यह बात उसे मान्य नहीं थी कि 'विज्ञान-जगत्' (World of Ideas) की सत्ता भीतिक जगत् से पृथक् है।

प्लेटो की तरह अरस्तू विज्ञान पर बल नहीं देता था, उसका कहना था कि मूल स्वस्प (विज्ञान) भीतिक तत्त्वों में वर्तमान है और भीतिक तत्त्व मूल स्वस्पों में। सायं ही जानि (मामान्य) और व्यक्ति को भी अरस्तू प्लेटो की तरह अलग-अलग नहीं मानता था। उसका कहना था कि इन दोनों (जाति और व्यक्ति) को अलग अलग समझा जा सकता है, किन्तु अलग-अलग किया नहीं जा सकता।^१

बरस्तू के दर्शन का सर्वप्रमुख भिदान्त जगत् की नित्यता से सम्बन्धित था। 'जगत् नित्य है'—इस भिदान्त का सर्वप्रथम चिन्तन अरस्तू ने ही किया था और इस भिदान्त के ममर्यां में उसका कहना था कि भीतिक तत्त्व (मैटर) और आहृति (फार्म) भी नित्य हैं। इसी सम्बन्ध में वह 'गति' को अवादि तथा बनने मानता था।^२

अद्वैतवेदान्ती की तरह अरस्तू भी अधिष्ठानवादी था, परन्तु उसके दर्शन का अधिष्ठान वेदान्ती की तरह ब्रह्म थया कोई भन्य सूक्ष्म तत्त्व नहीं था। वह आहृति रहित वस्तु को ही अधिष्ठान (Substratum) मानता था।^३ द्रव्य के सम्बन्ध में अरस्तू का भिदान्त द्रव्य-सम्बन्धी साधारण मान्यता से भिन्न था। तोह अयवा काष्ठ द्रव्य (मैटर) है और उसके निर्मित पात्रादि आहृति (फार्म) हैं, यह बात अरस्तू को स्वीकार नहीं थी। वह तो द्रव्य और आहृति में अभिन्नता मानता था। जैसे काष्ठ और दीया के उदाहरण में काष्ठ द्रव्य है और दीया आहृति है और वृक्ष द्रव्य। कारण और कार्य की यही एकता अरस्तू के अधिष्ठानवाद का भूलाघार है। प्रो॰ रानाडे ने अरस्तू की द्रव्य (मैटर) और आहृति-सम्बन्धी विचारधारा को प्रश्नोभनिपद (१४, १३) की 'रयि' और 'प्राण' कल्पना-जैसी ही माना है।^४ रयि और प्राण के सिदान्त का उत्तेज अव्यातम-तत्त्व के द्वेष्टा पिण्डाद ने प्रश्नोभनिपद में जिज्ञासु कवन्यी कात्यायन के मृष्टि सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देने हुए किया है। पिण्डाद कहते हैं कि प्रजापति ने सृष्टि की इच्छा से पहले तत्त्व किया और किर तत्त्व के परचात् 'रयि' और 'प्राण' के मियुन की सृष्टि की और कहा कि मे 'रयि' और 'प्राण' ही समस्त मृष्टि की रचना करेंगे।^५ इस स्थल पर 'रयि' से भौतिक तत्त्व का सातर्य है। जिस प्रकार कि उमिपद में उस मिदान के अनुमार रयि और प्राण को समस्त मृष्टि का आधार कहा गया है, उसी प्रकार अरस्तू के दर्शन में भी द्रव्य और आहृति को समस्त मृष्टि का आधार माना गया है।^६

१. राहुल माहृत्यायन दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ २५।

२ Zeller, OUTLINES OF THE HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 180

३ Stace A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 278

४ Ra-ade CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p 49

५ गयि च प्राण चेतेऽमि मे वद्यता प्रजा, करिष्यत इति। —प्रश्नोभनिपद १४।

६ Stace A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p 274

अरस्तू के 'प्रथम दर्शन' (First Philosophy) या अध्यात्म-दर्शन की चिन्तनधारा का अन्तिम विपर्यय ईश्वर था। ईश्वर को अरस्तू योगदर्शन की तरह किसी 'पुरुष-विशेष' के रूप में नहीं स्वीकार करता,^१ वरन् अद्वैतवेदान्त की तरह सूक्ष्म ही मानता है।^२ वृहदारण्यक उपनिषद् में ईश्वर को अन्तर्यामी तथा समस्त सासार का शासक कहा गया है।^३ आगे चलकर शंकर वेदान्त में भी ईश्वर के अन्तर्यामित्व और शासकत्व की चर्चा पूर्ण रूप से मिलती है। उपनिषदों तथा परवर्ती अद्वैतवेदान्त की तरह अरस्तू के ईश्वर को भी रोस (Ross) महोदय ने अन्तर्यामी कहा है। परन्तु अरस्तू के अनुसार ईश्वर के अन्तर्यामित्व का अभिप्राय कुछ भिन्न है। प्रो० रोस अरस्तू के ईश्वर के अन्तर्यामित्व-सम्बन्धी विचार को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अरस्तू ईश्वर को जगत् के आन्तरिक शासन का कारण मानते हुए जगत् में उसके (ईश्वर के) कर्तृत्व का रूप देखता है। इसी अर्थ में अरस्तू ईश्वर को अन्तर्यामी मानता है।^४ ऊपर हमने उपनिषदों तथा अद्वैतवेदान्त के दृष्टिकोण के अनुसार ईश्वर के शासकत्व की बात कही है। अरस्तू-सम्मत ईश्वर के अन्तर्यामित्व के सम्बन्ध में उसके शासकत्व का सकेत भी अभी किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त अरस्तू के दर्जन में ईश्वर की तुलना सेना के 'कप्तान' से भी की गई है, जिसकी आज्ञा का पालन करना तेना का कर्तव्य है।^५ इसी प्रकार शंकराचार्य ने परमेश्वर की तुलना उस राजा से की है जिसकी आज्ञा में मनुष्य नियमरूपक चलता है। शंकराचार्य का कथन है कि अग्नि-वायु-सूर्य आदि जगत् इसी ज्ञात्व से भय पाकर विनयपूर्वक अपने व्यापार में प्रवृत्त होते हैं।^६ इस प्रमाण ईश्वर के नियन्त्रित्व का विचार उपनिषदों, परवर्ती वेदान्त और अरस्तू के दृष्टिकोण के अनुसार प्रायः समान ही है। ईश्वरेच्छा का सिद्धान्त भी उपनिषद्-दर्शन, परवर्ती अद्वैतवेदान्त दर्शन और अरस्तू के दर्शन में प्रायः समान ही है। ऐतरेय उपनिषद् में लोक-सृष्टि को ईश्वरेच्छा का फन कहा है।^७ प्राची अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य गोडपाद ने उपनिषद् के उक्त मन का वर्तिक्चित् परिमार्जन करते हुए कहा है कि सृष्टि की उत्तरति करना ईश्वर का स्वभाव है, क्योंकि जो ईश्वर पूर्णकाम है उसकी इच्छा किस प्रकार सिद्ध हो सकती है।^८ इस सम्बन्ध में परवर्ती आचार्य शक्तर का कथन है कि सृष्टि-रचना के मूल में निर्विकार ईश्वर का कोई अन्य प्रयोजन न होकर लीला-रूप प्रवृत्ति-मात्र ही प्रयोजन है।^९ अब अरस्तू के दर्शन को नीजिये। जैसा कि प्रो० रोस का कथन है, अरस्तू ईश्वर को विश्व के स्पष्टा के रूप में

१. Stace: A CRITICAL HISTORY OF GREEK PHILOSOPHY, p. 288.

२. गीता, शाँ० भा०, १५।१७।

३.तमन्तर्यामिनं च इर्मं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति ।
वृ० उ०, ३।७।१ तथा देखिये तै० उ०, २।६ (वृ० सू०, शाँ० भा०, १।१।२० और
१।३।३६)

४. Ross: ARISTOTLE, p. 185. (Methuen, London, 1953)

५. वही।

६. वृ० सू०, शाँ० भा०, १।३।३६।

७. स ईक्षत लोकानुसृजा ।—ऐतरेय उपनिषद्, १।१।३।

८. दैवस्यैष स्वभावोऽयमात्र कामस्य का सूहा ।—गोडपादकारिका, ६।

९. वृ० सू०, शाँ० भा०, २।१।३३।

नहीं देखना।^१ परन्तु प्रो० आर्गेस्ट्राग का विचार है कि जहाँ तक प्रथम गति पर आधारित विश्व की समस्त गतियों और परिवर्तनों का सम्बन्ध है उन सबका प्रमुख वारण वह थाक्षाणा है जो शुद्ध और पूर्ण ईश्वर के द्वारा प्रेरित होती है। इस प्रकार ईश्वर प्रेरणाशक्ति का सचार करता है।^२ मेरे विचार से ईश्वर की प्रेरणाशक्ति का मूल उसकी जगत् के शासन वीं इच्छा को ही मानना चाहिए। मेरे इस मत का अनुमोदन प्रो० रौम वे इस कथन से भी हो जाता है कि यह वल्पना न बरता कठिन है कि अरस्तू ने ऐसे ईश्वर की योजना की है जो विश्व के इतिहास के विकास की प्रमुख योजनाओं का अपनी इच्छा से शासन करता है।^३ उक्त दृष्टि से अरस्तू के दर्शन में भी ईश्वरेच्छा का एक स्पष्ट मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि अरस्तू का जगत् की अमरता और द्रव्य (भौतिक) की मूलकारणता का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त से पूर्णतया भिन्न है परन्तु जैसा कि ऊपर बहा जा चुका है दोनों दर्शन पद्धतियों की ईश्वर सम्बन्धी मान्यता से उड़न कुछ समानता है। अतः ईश्वर की अन्तर्यामिता शासनता और इच्छा के सम्बन्ध में अरस्तू के दर्शन पर उपनिषद्-दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है।

यद्यपि अरस्तू के बाद भी मूलान मेरीकुरा, जेनो (यह जेनो पूर्ववर्णित जेनो से भिन्न है) और पिग्ही जादि दार्शनिकों ने दर्शन ज्ञोनि की कुछ जाग्रत्त करने की चेष्टा की, परन्तु इन दार्शनिकों की दृष्टिया पूर्ण तर्फ परिष्कर न थी। इसीलिए राहुलनी ने अरस्तू परवर्ती दर्शन को रामनाम सत् का दर्शन कहा है।^४

अद्वैत वेदान्त और कतिपय पाद्यात्म दार्शनिक एव उन्हें दार्शनिक सिद्धान्त

शोपेनटर, सर विलियम जोन्स विक्टर कजिन और कैंट्रिक लेगिल आदि पाद्यात्म विद्वानों ने वेदान्तदर्शन का महत्त्व नि सतोच भाव से स्वीकार किया है।^५ इसने अनिरिक्त टामलिन-प्रभृति पाद्यात्म लालोच्चरों ने काप्त आदि पाद्यात्म दार्शनिकों पर शाकर दांत (अद्वैत वेदान्त) का प्रभाव भी स्वीकार किया है। टामलिन महोदय काण्डीय दर्शन पर शास्त्र-दर्शन का प्रभाव स्वीकार करते हुए निश्चित हैं।

‘शक्तर दर्शन की दिशा नगमन वही थी जिसको उत्तरमाल में जाकर जर्मन दार्शनिक काष्ट में अपनाया था।’^६

उरस्तूक वयन के आधार पर यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि पाद्यात्म लालोचक विद्वानों ने भी पाद्यात्म दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्वीकार किया है। वे तो अनेकों

^१ If the question be asked whether Aristotle thinks of God as creator of the world the answer would certainly be that he does not ARISTOTLE, p 184

^२ Armstrong AN INTRODUCTION TO ANCIENT PHILOSOPHY, p 89

^३ Ross ARISTOTLE, p 185

^४ राहुल साहित्यायन दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ३०।

^५ MaxMuller THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p 811

^६ THE GREAT PHILOSOPHERS, (The Eastern World), p 218 (Skeffington London 1952, first edition).

परिचमी दार्शनिकों पर भारतीय दर्जन का प्रभाव देखा जा सकता है, परन्तु इस स्थल पर हमारे अध्ययन की दिशा पाश्चात्य दर्जन पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव एवं सम्बन्ध देखना है। इस दृष्टि से हम यहां देकार्न, स्पिनोजा, नाइटिन्ज, वर्कने, काण्ट, फिक्ने, वैलिंग, हेगल तथा घोपेनहर के दार्शनिक सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा उपर्युक्त परिचमी दार्शनिकों के मिद्दान्तों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट हो जायेगा।

देकार्न (Descartes) (१५९६-१६५०) और अद्वैत वेदान्त

फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्न एक महान् गणितज्ञ भी था। गणित की नियमित प्रक्रियाओं के समान ही उसने दर्जन के क्षेत्र में भी एक नियमबद्ध प्रक्रिया को ही स्वीकार किया था।^१ उसका कहना था कि हम ईश्वर और जगत् के अनेक विषयों के बारे में संशेह करते हैं, अतः सन्देह एक निश्चित वस्तु है। इस तर्क के आधार पर देकार्न इस निकाय पर पहुंचा कि जिस आत्मा के विषय में हम सन्देह करते हैं उसकी सत्ता स्पति-सिद्ध है। देकार्न के Cogito, ergo sum (मैं तोचता हूँ इत्यन्ति मैं हूँ) वाक्य में उक्त मिद्दान्त की ही व्याख्या हुई है। प्रतीति वो सत्य भानने के कारण देकार्न ईश्वर तथा जात् को ही सत्य भानता था।^२ देकार्न एक द्वैतवादी दार्शनिक था। तृष्णिट के सम्बन्ध में देकार्न का कथन है कि ईश्वर ने प्रारम्भ में गति और विधाम के साथ भीतिक तत्त्वों, वर्यात् प्रकृति को उत्पन्न किया। ईश्वर ने प्रकृति में जिस गति का संचार किया उसे उसी मात्रा में रखने के लिए ईश्वर की आज भी आवश्यकता है यह तिद्वान्त देकार्न को नान्य था।^३ इस प्रकार देकार्न के अनुमार ईश्वर की सक्रियता सदा अपेक्षित थी।

वैसे तो, जैसा कि अभी कहा गया है, देकार्न एक द्वैतवादी दाशनक था, परन्तु उसका उपर्युक्त विचार कि मैं सोचता हूँ इत्यलिए मैं हूँ^४ अद्वैत वेदान्त के मिद्दान्त से बहुत-कुछ भिलता-जुलता है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी आत्मा के अस्तित्व का समर्थन किया गया है। हूँसे शब्दों में, अद्वैत वेदान्त में आत्मा के अभाव एवं घूम्यत्व का निराकरण किया गया है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुमार सभी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं! कोई नहीं मानता कि मैं नहीं हूँ। वंकराचार्य के पश्चर्ती दार्शनिक वाचस्पति मिथ के निम्नोद्धरण कथन में उपर्युक्त आशय पूर्ण स्पष्ट से निहित है:

“नहि करिचत् सन्दिग्धो नाहमस्मीति।”^५

वर्यात्, मैं नहीं हूँ, इस बात का सन्देह कोई भी नहीं करता।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त और देकार्न की दार्शनिक दृष्टि में प्रमुख भेद होते हुए भी कुछ विचारों के सम्बन्ध में साम्य मिलता है।

१. Radhakrishnan : EAST AND WEST, p. 99.

(London : Allen & Unwin, 1954)

२. राहुत संकृतवायन : दर्शनदिग्दर्शन, पृ० ३०६।

३. वही, ३०६।

४. वल्लदेव उपाध्याय : भारतीय दर्जन, पृ० ६२८।

स्पिनोजा (१६३२-१७७०) और अद्वैत वेदान्त

बास्तव दे स्पिनोजा हालैग्ड के एक सूपद्धयह टी-०८ वार मे उत्पन्न हुआ था। स्पिनोजा ने पहिने इत्तमी और फिर केवल दार्शनिक देशार्थ दे ग्रन्थो का अध्ययन किया था और इसके परचान वह दर्शन के स्पतन्त्र चिन्तन मे लगा गया था। स्पिनोजा पहिना दार्शनिक था जिसने लोकोत्तरवाद तथा धर्मान्वित्वाद का व्यष्टिन करके बुद्धिवाद तथा प्रकृतिवाद का समर्थन किया था। इसीनिए स्पिनोजा प्रकृति को ईश्वर-स्वरूप मानता था। यहाँ यह उन्नेश्यनीय है कि प्रकृति को ईश्वर स्वरूप मानते हुए भी स्पिनोजा प्रकृति को मानव-सत्ता से भिन्न मानता था।^१ उमड़ा कहना था कि जगत् वी अच्छी और बुरी नीच और ऊच, प्रत्येक वस्तु पूर्णतम ईश्वर का ही अंत है। वस्तुओं वी मुन्दरता और बुस्पता, मुस्पाटना तथा अस्पाटना का आधार स्पिनोजा वी दृष्टि मे हमारी उल्पना ही है।^२

स्पिनोजा सर्वेश्वरवादी दार्शनिक था। सर्वेश्वरवाद के अनुमार उसना कहना था कि मत ईश्वर है और ईश्वर ही मत है। इस सिद्धान्त की पुष्टि मे भिनोजा का वर्णन है कि जगत् के समस्त पदार्थ एक-दूसरे पर आक्रित हैं और इन समस्त पदार्थों का एह आधार भी है। यह आधार उमकी दृष्टि मे प्रकृति या ईश्वर है। स्पिनोजा के अनुमार, ईश्वर जगत् का वास्तविक व्यष्टिवाक वारण नहीं है, वरन् वह उपादान वारण है तथा उसकी वास्तविक सत्ता है। ईश्वर के अनन्त घर्म हैं। इन घर्मों मे विनाश तथा ज्ञान प्रमुख है। इनके अतिरिक्त स्पिनोजा के ईश्वर का देहारी व्यक्तित्व नहीं है, उमसा व्यक्तित्व तो समस्त व्यक्तित्वों से ऊपर है। यदि हम अद्वैत वेदान्त पर स्पिनोजा वी दार्शनिक विचारधारा के तुननास्त्र अव्ययन की दृष्टि ने विचार करें तो हम दानो विचारधाराआ म वहुत-कुछ भास्त्र भी भिन्नता है और वैषम्य भी। साम्य के लिए अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म और भिनोजा के 'स्वतन्त्र तत्त्व' (Substittuia) को ले सकते हैं। यही स्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व स्वतन्त्र तत्त्व स्वतन्त्र तत्त्व स्वतन्त्र तत्त्व अपरे म पूर्ण तथा किंवो दूसरे पर आधारित न होने के बारण स्वतन्त्र है।^३ स्पिनोजा ने उक्त स्वतन्त्र स्वतन्त्र तत्त्व को स्वतन्त्र तत्त्व स्वतन्त्र गिठ (In se est and per se concipiatur) माना है। स्पिनोजा के अनुमार उक्त तत्त्व असीम, अविभाज्य, अद्वैत, स्वतन्त्र तथा ज्ञानद्वय है। इसी प्रकार शांति वेदान्त और उपनिषद् दर्शन का ब्रह्म भी ज्ञान, अविनाशी, अनन्त पूर्ण, अचन, शान्त तथा दोपरहित है।^४ इस सम्बन्ध मे मौजमूलर का यह वर्णन उचित ही

१. THE ETHICS OF SPINOZA & DE EMENDA TIENE, p VII
(New York Dutton & Co, 1938)

२ Only in relation to our imagination can things be called beautiful and ugly, well or deret or confused Letter XV (VAN VLOTE & LAND, XXXII) addressed to Oldenburg, Nov 20, 1665

३ SPINOZA'S ETHICS, part 1, p 1 (Dutton & Co., New York).

४ It is according to him infinite, indivisible, one, free and eternal, just as Sankar's Brahman is called in the Upanishads unborne, undecaying, undying, without parts, without action, tranquil, without fault or taint Max Muller, THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p 123 (Longmans Green, London, 1894)

प्रतीत होता है :

"Thus the Brahman, as conceived in the Upanishads and defined by Sankar is clearly the same as Spinoza's 'Substantia'."¹

अर्थात् उपनिषदों और शङ्कराचार्य ने जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, वह स्पष्ट रूपसे वैसा ही है जैसा कि स्पिनोज़ा का 'मवस्टेपिशआ' अर्थात् 'स्वतन्त्र सत्त्व'।

शङ्कराचार्य की तरह स्पिनोज़ा भी व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य के बीच अन्तर स्वीकार करता था। प्राचीन भारतीय (वेदान्तिक) और ग्रीक दार्शनिकों की तरह स्पिनोज़ा का विचार था कि दास्तविक आनन्द मनुष्य की साधारण आकांक्षाओं जैसे— सम्पत्ति, सन्मान या तृष्णा तथा इन्द्रियों के आनन्द में नहीं है। उक्त भौतिक प्रसन्नताओं को स्पिनोज़ा अस्थिर, विनाशकील तथा प्रवृच्छामय मानता था। इस प्रकार स्पिनोज़ा उपर्युक्त वस्तुओं की केवल क्षणिक सत्यता स्वीकार करता था।² इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी व्यावहारिक जगत् की केवल लक्षणिक सत्यता है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त में परमार्थ सत्य की स्थापना की गई है। स्पिनोज़ा ने भी व्यावहारिक जगत के आकर्षणों में परम आनन्द न देखकर अपने ईश्वर में परम सत्य की स्थापना की थी। यही कारण था कि स्पिनोज़ा ईश्वर को परिपूर्ण, अद्वैत, आनन्द, सर्वव्यापक तथा सम्पूर्ण विश्व के सज्जा के रूप में देखता था। इसके अतिरिक्त स्पिनोज़ा ईश्वर को अन्तर्यामी तो मानता था, परन्तु जैसा कहा जा चुका है, वह ईश्वर को वस्तुओं का अनित्य कारण नहीं मानता था।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि स्पिनोज़ा की ईश्वर-सम्बन्धी विचारवारा बहुत-कुछ अद्वैत वेदान्त के समान ही थी। दोनों विचार-दृष्टियों में समानता होते हुए भी एक विपरीत यह थी कि अद्वैत वेदान्त-स्वीकृत ईश्वर और ब्रह्म का भेद स्पिनोज़ा को मान्य नहीं था। स्पिनोज़ा तो प्रकृतिगत एक ही ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता मानता था और उसे ही वह सर्वव्यापी स्वीकार करता था। हमारे अद्वैत वेदान्त में यह विचार 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' के विचार के रूप में प्रकट हुआ था। एक और दृष्टि से अद्वैत वेदान्त और स्पिनोज़ा के विचार में साम्य था। अद्वैती शङ्कराचार्य और स्पिनोज़ा, दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियानुभूत नानारूपात्मक जगत् एक दिखावट है और एक सीमित ज्ञान का फल है। जैसे ही वास्तविक ज्ञान होता है, पूर्वज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।³

लाइब्निज (१६४६-१७१६ ई०) और अद्वैत वेदान्त

गोटफ्रीड विल्हेल्म लाइब्निज (Gottfried Wilhelm Leibniz) लिब्जिक (जर्मनी) का रहने वाला था। लाइब्निज का प्रधान दार्शनिक सिद्धान्त आत्मकणवाद या शब्दयुग्मवाद (Monadism) था। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् के भौतिक पदार्थ वास्तु-सत्य नहीं हैं। उसके अनुसार यह मन के अनुभव के दिखावे मात्र हैं। अतः लाइब्निज के मत में आत्मकण (Monads) ही एकमात्र वास्तु-सत्य हैं। यहाँ यह उल्लेख्य है कि जहाँ स्पिनोज़ा एक स्वतन्त्र

१. Max Muller : THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p. 123.

२. Vasudeva J. Kirtikar . STUDIES IN VEDANTA, p. 20.

(Taraporewala, Bombay, 1924).

३. N. Shastri : A STUDY OF SANKAR, p. 96 (Calcutta, 1942).

और स्वतं सिद्ध तत्त्व (Substance) को स्वीकार करता था, वहाँ लाइब्निज़ उक्त तत्त्व को एक न मानकर अनन्त मानता था और इन्हे वह आत्मकण (Monads) कहता था।^३ लाइब्निज़ अनन्तजीववादी था। उसके द्वारा स्वीकृत आत्मकण, जीवों के रूप भी थे।^४ निम्न प्रकार जीवों भी भेद बिना हैं उसी प्रकार आत्मकण के विकास में भी भेद है। इनमें कुछ मुख्य से हैं कुछ स्वप्नावस्था की चेतना निसे हैं और कुछ पूर्णतया जाग्रत् चेतना-जैसे हैं।^५ ईश्वर को लाइब्निज़ सर्वोच्च आत्मकण मानता है। उसे वह सर्वोच्च तथा परिष्ठूँ मानता है। इस प्रकार ईश्वर की सम्भवता और सत्ता में लाइब्निज़ की तनिक भी सन्देह नहीं है।^६

वैमें तो आत्मकण की सद्व्याख्यनक मानने के कारण लाइब्निज़ द्वैतवादी है परन्तु अद्वैत वेदान्त और स्पिनोज़ा^७ की इस विचारधारा में सादृश्य है कि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं है। इसीलिए परमेश्वर कृष्ण ने भी अर्जुन को अपने परमेश्वर रूप के दर्शन कराने के लिए स्थूल नेत्रों की अरोग्यता देख दृष्टि प्रदान की थी।^८

अद्वैत वेदान्त को 'माया' और लाइब्निज़ का 'मैटेरिया प्राइमा' (Materia Prima) का सिद्धान्त

'माया' सम्बन्धी सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। माया सम्बन्धी मिदान्त का संदर्भान्तर प्रतिपादन शब्दराचार्य ने किया था। इस विषय में, अद्वैती की माया और लाइब्निज़ के मैटेरिया प्राइमा (Materia Prima) में समानता है कि माया और 'मैटेरिया प्राइमा' दोनों ही अनन्त परमेश्वर के आत्मसाक्षात्कार के बावजूद हैं।^९ शावर दर्शन के अनुसार जीव के आत्मस्वरूप के बोध होने में माया याघङ्ग है। माया के ही बारण जीव की जीवता है, अन्यथा तो अपने वास्तविक स्वरूप में जीव बहु ही है—'जीवो ब्रह्मैव नापर'।^{१०} परन्तु लाइब्निज़ बी प्रक्रिया इसमें कुछ भिन्न है। वह तो यही कहता है कि आत्मकण, 'मैटेरिया प्राइमा' के बारण ईश्वर नहीं हो पाता।^{११} जात्मकण से मैटेरिया प्राइमा का सम्बन्ध

१ Thus in place of the one substance of Spinoza, Leibniz came to admit infinite number of substances which he called 'Monads' (Dr. Nikunja Behari Banarjee's article on 'RATIONALISM', p 216 Published in 'HISTORY OF PHILOSOPHY', Vol II, edited by Dr. Radhakrishnan)

२ HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol II, p 216

३. राहन साहृत्यायन दर्शनदिग्दर्शन ए० ३०७।

४ Leibniz THE MONODOLOGY (Translated by Dr. Robert Latter, Oxford Clarendon, p 275 276).

५ Leibniz PRINCIPLES OF NATURE & GRACE, p 422 (Translated by Dr. Robert Latter, Oxford Clarendon, 1892).

६ शा० भा०, गीता ११।

७ Maya & Materia Prima agree in this respect that both of them hinder the self realisation of the finite (A K Ray Chaudhuri THE DOCTRINE OF MAYA, p 177)

८ He simply says that the Monad due to the Materia Prima fails to become God (A K Ray Chaudhuri THE DOCTRINE OF MAYA, p 178)

अमिट है तथा अनन्त है। इसीलिए एडमैन ने कहा है—

"From it, God himself has not the Power to free the monads."^१

अर्थात् स्वयं ईश्वर में भी आत्मकणों को 'मैटीरिया प्राइमा' से मुक्त कराने की सामर्थ्य नहीं है। वहां लाइब्निज और अद्वैतवेदान्त का यह वैषम्य द्रष्टव्य है कि जहां लाइब्निज के दर्शन में मैटीरिया प्राइमा का आत्मकण से अनन्त सम्बन्ध माना गया है, वहां अद्वैत वेदान्त में ज्ञान होने पर अविद्या की निवृत्ति सम्भव है। अद्वैत वेदान्त में अविद्या अनादि होने पर भी सान्त है।^२

लाइब्निज का यह कथन कि ईश्वर महान् आनन्द प्रदान करता^३ है, अद्वैत वेदान्त के बहुत समीप है, क्योंकि अद्वैतियों का ब्रह्म भी आनन्द-स्वरूप है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त का पर्यवसान आनन्द में ही होता है। लाइब्निज और अद्वैत वेदान्त की विचारधारा में एक बड़ा वैषम्य यह है कि लाइब्निज के भतानुसार परमानन्द कभी पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर अनन्त होने के कारण पूर्ण ह्य से नहीं जाना जा सकता।^४ इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त में जीव अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर ब्रह्माता को प्राप्त हो जाता है और ब्रह्म पूर्ण आनन्द स्वरूप है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के परवर्ती आचार्य चित्सुख अविच्छिन्नानन्द-प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं।^५

बतः उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचें हैं कि अद्वैत वेदान्त और लाइब्निज के दार्शनिक सिद्धान्तों में परस्पर साम्य होते हुए भी कठिपय स्थलों पर वैषम्य भी मिलता है।

वर्कले (१६८५—१७५३, ई०) और अद्वैत वेदान्त

आयरलैण्ड के दार्शनिक जार्ज वर्कले का अव्यात्मवादी सिद्धान्त जड़देहवृद के विरोध के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था।^६ दार्शनिक वर्कले ने यह सिद्ध किया था कि वाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है। इसके विपरीत विचारों की सत्ता केवल मस्तिष्क में विचार ह्य से स्थित है।^७ इसीलिये इस दार्शनिक का विचार है कि जिस वस्तु की अनुभूति होती है उसी की सत्ता है।

वर्कले का विचार है कि ईश्वर ने ही वस्तुओं और उनके अवान्तर प्रत्ययों का सम्बन्ध स्थापित किया है। अतः वर्कले की दृष्टि में ईश्वर, उसके द्वारा सृष्ट जीव एवं अनेक प्रत्यय ही सत्य हैं। इसके अतिरिक्त वाह्य वस्तुओं की सत्यता वर्कले को स्वीकार नहीं है।

अद्वैत वेदान्त और वर्कले की विचारधारा की यदि तुलना की जाए तो दोनों में कई सिद्धान्तों के सम्बन्ध में साम्य मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्कले के अनुसार

१. A.K. Ray Chaudhuri : THE DOCTRINE OF MAYA, p. 178 से उद्धृत।

२. अनन्तकृष्णजास्त्री : अद्वैत तत्त्वमुद्धा, भूमिका (द्वितीयभाग: प्रथम संपुट:) पृ० ४३,

तारा मुद्रणालय, वाराणसी, १९६२।

३. Leibniz : PRINCIPLES OF NATURE AND GRACE, p. 422.

४. वही, पृ० ४२४।

५. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ५२८।

६. Prof. G.C. Chatterji's article 'Empericism' (HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, p. 231).

विज्ञान के अतिरिक्त जगत् की वाह्य वस्तुओं की सत्यता नहीं है। यही बात अद्वैतवादी शक्तराचार्य न भी कही है। शक्तराचार्य कहते हैं कि जिस वस्तु का ज्ञान नहीं होता उस वस्तु की वाह्य सत्ता भी नहीं होती। इसी बात से पुष्ट ररने हुए आधार्य ने विम्लितित पवित्रता लिखी है—

यथा यथा यो य पदार्थो विज्ञायने तथा तथा ज्ञायमानं वादेव तस्य चेत् यस्या
व्यभिचारित्वं वस्तुत्वं भवति। किंचिन्न ज्ञायत इति चानुपात्मनम्।

(प्रश्नोपनिषद्, शाकरभाष्य ६२)

अपर्याप्त जैसा जैसा जो पदार्थ जाना जाता है वैसा-वैसा ही जाना हुआ होने के कारण उम पदार्थ का स्वरूप होता है। इसीलिए यह क्यन्ति कि अमुक वस्तु जानी नहीं गई, उचित नहीं है। इस प्रकार शक्तराचार्य और उक्त दोनों ही जगत् की सत्यता को स्वीकार करते हैं। परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि शक्तराचार्य ज्ञान की सत्यता स्वीकार करते हुए भी वाह्य जगत् को अभाव स्थाया पुनः के समान मिथ्या नहीं मानते।^१

बर्केसे और दृष्टि-सृष्टिवाद

बर्केसे का उक्त भन बदान्त के दृष्टि-सृष्टिवाद से भी वहूप तुल्य मिलता-नुगता है। दृष्टि सृष्टिवाद मिदान्त के अनुमार दृष्टि ही विश्वसृष्टि है। इस प्रकार स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूपा दृष्टि ही प्रश्न की सृष्टि है। अन दृष्टि समवाचिक यन्य प्रपञ्च भी सृष्टि नहीं हैं। इस दृष्टि-सृष्टिवाद का समर्यन वेदान्तमिदान्तमुक्तावतीकार प्रवादानन्द न भी किया है।^२ इस मिदान्त के अनुमार जैसा कि प्रवादानन्द ने कहा है—सक्त जगत् की सत्ता आत्मा में ही है।^३ बर्केसे भी जैसा कि ऊर वहा जा चुका है, वाह्य जगत् की सत्यता को अस्वीकार करके, केवल जान जगत् की सत्यता को ही स्वीकार करता है। इस प्रकार बर्केसे और दृष्टि-सृष्टिवादी, दोनों के ही अनुमार जगत् का आधार जाता है।

काण्ट (१७२४—१८०४ ई०) और अद्वैत वेदान्त

जर्मन दार्शनिक काण्ट ने मानसिक शक्ति से की समीक्षा के लिये तीन ग्रन्थ लिखे थे

- (१) Critique of pure reason, (२) Critique of practical reason,
(३) Critique of Judgment

इन ग्रन्थों में काण्ट ने दो प्रकार की शक्तियाँ मानी हैं—एन इन्द्रियशक्ति और दूसरी बुद्धिशक्ति। इन्द्रियशक्ति भिन्न भिन्न एवं अमम्बद्ध सवेदनों की प्रस्तुतकर्त्ता है और बुद्धिशक्ति प्रस्तुत की गयी सवेदनशक्ति में विभिन्न राम्बन्धों की स्थापिका है। बुद्धिशक्ति का यही सम्बन्ध-स्थापन अनुभव का मूल है। काण्ट की दृष्टि से अनुभवों के दो भेद हो सकते हैं—अनुभव का एक तत्त्व द्रष्टा ने वाहर रखने वाला वाह्य जगत् है और द्रष्टा तत्त्व बुद्धि है। इस प्रकार काण्ट ने प्रत्येक अनुभव में उक्त दोनों तत्त्वों का सम्बन्ध बरके अनुभववाद तथा

१ न खन्त्वभावो वाह्यस्थार्थस्याध्यवमान् यवयने कस्मात् ? उपाद्ये नहीं विष्णुमित्रो बन्ध्यापुनवद्वद्यभासेत। —३० मू०, ३० भा०, २। २। २६।

२ अप्पददीश्वर मिदान्तलेगप्रह, पू० ३६८।

३ आत्मन्येष जगत् सर्वम्। —३० मि० मू० २५ (कलकत्ता, १६१३)।

बुद्धिवाद का सामंजस्य स्पष्ट किया है।

काण्ट ने अनुभव-तिरपेक्ष और अनुभव-सापेक्ष दो प्रकार की वस्तु-सत्ताएँ मानी हैं। देश और काल, इच्छा गुण, कार्य-कारण आदि सम्बन्धों के ज्ञान की गणना पहली श्रेणी में की जाती है। इन्द्रियों के द्वारा जिन पदार्थों को प्रस्तुत किया जाता है उनकी सत्ता का परिचायक अनुभव ही होता है। यही अनुभव-सापेक्ष स्थिति है। काण्ट के अनुसार, प्रजा में शुद्ध वस्तु (Ding-an-sich-thing in itself) के प्रकट होने की शक्ति नहीं है; यही कारण है कि काण्ट की दृष्टि में शुद्ध वस्तु (Thing in itself) का बोध होना असम्भव है।^१ इसीनिए वह वस्तुगार (Nomina) को अज्ञय मानता है। ईश्वर को काण्ट बुद्धि तथा अनुभव दोनों की पहुँच से बाहर स्वीकार करता है। वह ईश्वर की सत्ता श्रद्धा पर आधारित मानता है। इस निए काण्ट की दृष्टि में नर्वोच्च तत्त्व (ईश्वर) एक विचारमात्र है। अत काण्ट का विचार है कि सर्वोच्च सत्ता (ईश्वर) की वास्तविक सत्यता की स्थापना केवल इस तत्त्व के आधार पर करना बहुत कठिन है कि वह (ईश्वर) एक तर्कसम्बन्धी आदर्शकर्ता है।^२

काण्ट और अद्वैत वेदान्त के भिन्नान्तों में परस्पर साम्य भी मिलता है और वैषम्य भी। अद्वैती धंकराचार्य और काण्ट के दार्शनिक सिद्धान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध विचारयोग्य है। काण्ट और धंकर वेदान्त दोनों ही के अनुसार ईश्वर जगत् का बाधार है।^३ बास्तव के शुद्ध वात्मस्वरूप के ज्ञान की स्थिति के मम्बन्ध में भी काण्ट और अद्वैत वेदान्त की विचारधारा में सादृश्य है।^४ इस विषय में तो काण्ट और धंकराचार्य ही नहीं, बोद्धों का भी ऐकमत्य है कि ज्ञान की निविकल्प अवस्था (Indeterminate state) शुद्ध अनेकलूपता (Pure manifold) की अवस्था है।^५ तत्त्वज्ञ ज्ञान के विषय जगत् के समस्त विकल्पों की सत्ता वाह्य है। शुद्ध अनेकलूपता ही आकार ग्रहण करके जगत् की व्यावहारिक सत्ता का कारण बनती है।^६ जैसा कि डॉवटर दाम का कथन है, यहाँ तक तो काण्ट धंकर और बोद्धों में भी ऐकमत्य है,^७ परन्तु आगे चलकर इन दार्शनिकों को विचारधारा में मतभेद हो जाता है। काण्ट का विचार है कि इन्द्रिय-संवेदन की अनेकलूपता शुद्ध वस्तुओं (Things in themselves) की किया से उत्पन्न होती है। काण्ट कहता है कि यह शुद्ध वस्तुएँ यद्यपि चैतन्य तत्त्व से भिन्न हैं, परन्तु सीमावारी होने

१. H.J. Paton : KANT'S METAPHYSICS OF EXPERIENCE, Vol. I, p. 64 (London, Allen & Unwin, 1951).
२. Kant : CRITIQUE OF PURE REASON, p. 364. Translated by J.M.D. Meiklejohn, London, G.Bell & Sons, 1930).
३. E. Caird : PHILOSOPHY OF KANT, p. 164 (Glasgow, James Maclepose, 1877).
४. Ranade : CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 269.
५. In the first instance we can class together the Buddhists Sankara and Kant so far as they agree in holding the indeterminate state to be a pure manifold. — Dr. S. K. Das A STUDY OF VEDANTA, p. 146 (University of Calcutta, 1937).
६. Dr. S.K.Das : A STUDY OF VEDANTA, p. 146.
७. वही, पृ० १४३।

के कारण इनकी सत्यता में चेतन्य सत्त्व की अपेक्षा कोई घूलना नहीं है। इसके विपरीत शास्त्र विचारधारा के अनुमार जगत् की अनेक लक्षण चेतन्य में उत्पन्न हुआ ही विकल्प है।^१ शास्त्र वेदान्त में इस विकल्प का कारण अध्यात्म अथवा माया है। परन्तु आचार्य शश्वर की माया काण्ट की शुद्ध वस्तुओं की तरह मर्य नहीं है। शास्त्र वेदान्त की माया तो अवेतन तथा मिथ्या है। जैसा कि प्रो० पैटन का विचार है व्यावहारिक जगत् जो कि ज्ञान है, और शुद्ध वस्तु जगत् (World of things in themselves) जो कि अज्ञात है, के बीच भेद स्थापित करना काण्ट के दर्शन का मुख मिहान्त है।^२ प्रो० पैटन ने उक्त वयन के अनुमार काण्ट ने दो प्रश्न दोनों मायाएँ मानी हैं—एक व्यावहारिक मत्ता और दूसरी वस्तुमारात्मक मत्ता (Noumenal reality)।^३

प्रो० रानाडे ने काण्ट द्वारा स्वीकृत उक्त दोनों मत्ताओं को शक्तराचार्य की व्यादहा रिक्त और पारमार्थिक मत्ताओं के ममान ही रहा है।^४ यह यदि गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाय तो काण्ट की वस्तुमारात्मक मत्ता (Noumenal reality) और शक्तराचार्य की पारमार्थिक मत्ता भेद दियाई पड़ती है। आचार्य शश्वर ने जिसकी पारमार्थिक मत्ता को स्वीकार किया है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है तथा अविद्या निवृत्ति के द्वारा उसका वो प्रसम्भव है। यहाँ यह अवश्य उल्लेखनीय है कि ब्रह्मज्ञान स्थूल इन्द्रिया का विषय नहीं है। परन्तु इससे यह अर्थ बदापि न लगाना चाहिए कि ब्रह्मज्ञान होना ही नहीं है। यदि ऐसा हुआ होना तो वेदान्तमूलकार महापि दादरायग अपने प्रबन्ध सूत्र—‘अथातो ब्रह्म जिज्ञासा’ में ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रेस्तन ही क्यों उठाने। इसके विपरीत, दार्शनिक काण्ट का अनुमार (Noumena) अज्ञात होने के कारण उभी प्राप्त नहीं किया जा सकता।^५ काण्ट के अनुमार वह वेदल विश्वास का विषय है। अत बाण्ट की वस्तुमारात्मक मत्ता (Noumenal reality) और शक्तराचार्य की पारमार्थिक मत्ता में उर्ध्युत्तन भेद द्रष्टव्य है। मेरे विचार से काण्ट की वस्तुमारात्मक मत्ता को अज्ञात एव अप्राप्तव्य कहना काण्ट के दर्शन की दुर्बलता है। यही कारण है कि जर्मनी के विचारवादी दर्शन ने काण्ट की अभान शुद्ध वस्तु (Unknown thing in itself) की अवहेलना की थी। काण्ट के दर्शन वी उर्ध्युत्तन दुर्बलता के कारण ही इत्तेज के नवीन काण्टवादियों ने काण्ट के दर्शन के उक्त दृष्टिकोण को उत्तेजा की थी।^६

१ Dr S.K Das - A STUDY OF VEDANTA, p 146

२ H J Paton KANT'S METAPHYSICS OF EXPERIENCE, Vol I, p 64

३ E Codd THE PHILOSOPHY OF KANT, p 403

४ Sankara makes the great distinction between the Parmarthika and Vyavaharika views of reality as Kant makes the distinction between the Noumenal and the phenomenal (CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p 215)

५ Consistently with his method he arrived at the absurd finding that the Noumenon the supreme reality, the thing in itself is unknown and unknowable —N Shastri, A STUDY OF SANKARA p 50

६ KANT'S METAPHYSICS OF EXPERIENCE, Vol. I, p 65

जैसा कि डाबटर राधाकृष्णन् का विचार है : अद्वैतीशंकराचार्य और कान्ट की परमार्थ सत्य सम्बन्धी विचारधारा में यह महान् अन्तर है कि जहां काण्ट शुद्ध वस्तुओं की अनेकता (Plurality of things in themselves) में विश्वास करता है वहां आचार्य दांकर केवल एक मूल सत्य (ब्रह्म) की घोषणा करते हैं।^१

इस प्रकार विचार करने पर अद्वैत वेदान्त और काण्ट के दार्शनिक दृष्टिकोण में माम्य और भेद दोनों ही गिलते हैं। परन्तु दोनों में भेद होते हुए भी इतना तो स्वीकार्य होगा कि काण्ट अद्वैत वेदान्त, विशेषतः यांकर वेदान्त से पूर्णतया प्रभावित है। इस प्रभाव का सकेत प्रौढ़ टीमलिन ने भी किया है।^२

फिक्टे (Fichte) (१७६५-१८१४ ई०) और अद्वैत वेदान्त

जर्मन दार्शनिक फिक्टे ने अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों—काण्ट और स्पिनोजा के दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध किया था। फिक्टे जहां काण्ट की तरह नैतिक आदर्ज को स्वीकार करता है, वहां स्पिनोजा के समान व्यवहार और परमार्थ की एकता को भी स्वीकार करता है। फिक्टे जगन् को मूल तत्त्व की प्रतिलिपि या बनुकरण मात्र मानता है। फिक्टे की दृष्टि में मूल तत्त्व आत्मा है और इस आत्मा में ही अनात्म की स्थिति है।^३ इस प्रकार आत्मा में फिक्टे विषय-विषयिभाव मानता है, क्योंकि फिक्टे के अनुसार आत्मा विषयी तथा अनात्म विषयरूप है।

ईश्वर, फिक्टे के विचार से अद्वैतीय सत्ता है।^४ फिक्टे की दार्शनिक दृष्टि अद्वैत वेदान्त की विचारदृष्टि से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फिक्टे के विचार से ईश्वर एक अद्वैतीय सत्ता है। अतः फिक्टे के ईश्वर और अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म का प्रायः एक-सा ही रूप है। अद्वैती के विवर्णवाद के अनुसार अनात्म-जगन् ब्रह्म का विवर्त है, अर्थात् जगन् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है। इसी प्रकार फिक्टे के दर्शन में भी विषय रूप अनात्म जगन् की स्थिति विषयी परमात्मा से पृथक् नहीं है। अतः दोनों ही अद्वैतवादी हैं।

अद्वैत वेदान्तिक सिद्धान्त के अनुसार जीव की स्थिति सोपाधिक है; अपने मूल रूप में तो जीव ब्रह्म ही है। अद्वैत की इस प्रक्रिया के अनुरूप जब जीव को आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है तो उसकी स्थिति ब्रह्म की ही स्थिति हो जाती है। फिक्टे की विचार-प्रक्रिया में भी, जैसे ही मनुष्य अपने मूल रूप को प्राप्त करता है तो वह वैवल रर्वशक्तिमान् ईश्वर के रूप में ही जीप रह जाता है। इस प्रकार वह जीव-कोटि से परमात्मा कोटि में प्रवेश करता है।^५ अतः फिक्टे और अद्वैतवेदान्त की उक्त दार्शनिक दृष्टि बहुत कुछ समान ही है।

१. While Kant believes in a plurality of things in themselves, Sankara declares that there is only one fundamental reality. (Dr. S. Radha-krishnan, INDIAN PHILOSOPHY, Vol. II, p. 522.)
२. The Great Philosophers (The Eastern World) p. 218, Skeffington, London, 1932.
३. Dr. Rasbehari Das's article on 'Fichte, Schelling & Hegel' (Published in HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol. II, p. 264.)
४. Pfleiderer : PHILOSOPHY OF RELIGION, Vol. I, p. 291. (Williams and Norgat, 1887.)
५. Pfleiderer : PHILOSOPHY OF RELIGION, Vol. I, p. 293.

फिने और शाकर वेदान्त की व्यावहारिक और परमार्थिक सत्ताओं का स्वरूप भी एक-मा ही है। अद्वैत मिदान्त के अनुमार व्यावहारिक जगत् की सत्यता केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही है, परमार्थ दृष्टि से तो जगत् मिथ्या है। जैसा कि वीतिकर महोदय ने लिखा है कि फिने के दर्शन में भी व्यावहारिक जगत् की अनेकल्पता व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि में ही है, वास्तविक दृष्टि से तो यह जगत् कल्पना के दर्शन में पड़ा हुआ परमात्मा वा अतात्त्व प्रतिविम्बमात्र है।^१ अत फिने के विचार से भी परमार्थ-दृष्टि से जगत् के मिथ्यान्व का ही वास्तव है।

फिने का 'असटास'-सम्बन्धी सिद्धान्त और अद्वैत वेदान्त की 'माया'

अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त के अनुमार माया उत्ताधि के बारण ही ब्रह्म वा जीवत्व दिलाई पड़ता है, परन्तु यह यह और समझना होगा कि जीवत्व ब्रह्म की परिवर्तित स्थिति नहीं है। अविद्या के बारण ही जीवत्व की अनुभूति होती है। परमार्थत तो ब्रह्म अचल, तथा दात्त्वत है। उससे इनी प्रशार का परिवर्तन नहीं होता। फिने का 'प्रतिनिवृत्ति' (Anstoss The principle of Repulsion) रा मिदान्त भी वहू बुद्ध अद्वैत वेदान्त की माया-जैसा ही है, यस्ति इन दोनों में कुछ भेद अवद्य है। फिने के 'प्रतिनिवृत्ति' मिदान्त के अनुमार आत्मा में एक विशेषी प्रतिनिवृत्ति की किथा होती है निम्नके द्वारा आत्मा में सीमितता जाती है। प्रो॰ रे थोरो ने फिने के प्रतिनिवृत्ति मिदान्त (Principle of Ansto's) का प्रभाव स्पष्ट बताने हुए लिखा है

"We thus See that through the Anstoss the absolute of Fichte finitises itself, limits itself and becomes other than what it is"^२

इस प्रशार हम देखते हैं कि प्रतिनिवृत्ति किया (Ansto's) के द्वारा, फिने द्वारा स्वीकृत परमात्मा सर्वादित एव सीमित तथा परिवर्तित हो जाता है। इस प्रशार जैसे हि अद्वैत मत में ब्रह्म माया अथवा अविद्या के बारण सीमित दिलाई पड़ता है, उसी प्रकार जैसा कि अभी वहा जा चुका है फिने के 'प्रतिनिवृत्ति' मिदान्त के अनुमार परमात्मा सीमित एव सर्वादित हो जाता है। इन दोनों मिदान्तों में उक्त दृष्टि से साम्यहोते हुए कुछ मौलिक वैपर्य भी मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अनुमार, जैसा कि ऊपर सरेत किया जा चुका है, माया दे द्वारा ब्रह्म में किसी प्रशार का परिवर्तन नहीं होता। न कह सीमित होता है और न बढ़ता है। इसके विपरीत फिने के प्रतिनिवृत्ति मिदान्त के अनुमार परमात्मा सीमितता को प्राप्त होता है। इन दोनों दर्शन पदनियोंमें एक गहान् भेद यह है कि फिने के प्रतिनिवृत्ति मिदान्त के अनुमार अचेतन परमात्मा बैठन ही जाता है, परन्तु माया के बारण ब्रह्म में इस प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता। ब्रह्म तो स्वयं चिन् स्वल्प है।^३

१. Vasudeva J. Kirtikar STUDIES IN VEDANTA, p 72.

२ A K Ray Chaudhuri THE DOCTRINE OF MAYA p 176

३ Again due to this principle of Anstoss, the unconscious absolute of Fichte becomes conscious. But Maya has got nothing to do with Brahman in this respect —A K. Ray Chaudhury. THE DOCTRINE OF MAYA, p 176

जापर किये गये विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त और फिक्टे के दार्शनिक सिद्धान्तों में वैषम्य होते हुए भी पारस्परिक सम्बन्ध मिलता है।

शेलिंग (Schelling) (१७७५-१८५४ई०) और अद्वैत वेदान्त

यद्यपि शेलिंग फिक्टे का शिष्ट था, परन्तु फिक्टे से उसके विचार पूर्णतया नहीं मिलते थे। शेलिंग को फिक्टे का यह मत मान्य नहीं था कि कूटस्थ तत्त्व आत्मा ही अपनी अनिच्छा तथा अजात दया में अनात्म-जगत् को उत्पन्न करता है। फिक्टे के विपरीत, शेलिंग का परम तत्त्व (Absolute) आत्मा तथा अनात्मा से परे तथा स्वतन्त्र है। इस प्रकार शेलिंग द्वारा स्वीकृत परम तत्त्व अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म के समान ही है। डा० रासविहारीदास की निम्न-लिखित पंचितयों में उक्त विचार की ही ध्वनि मिलती है :

"The distinctionless identical absolute of Shelling easily reminds one of the non-dual Brahman of the Advaita Vedanta."^१

उपर्युक्त कथन के अनुसार शेलिंग द्वारा स्वीकृत भेदरहित तथा स्वतःसिद्ध परमतत्त्व सरलता से अद्वैत वेदान्त के अद्वैत ब्रह्म का स्मरण दिला देता है।

प्रकृति को शेलिंग परमात्म-तत्त्व की अभिव्यक्ति मानता है। शेलिंग एक समन्वयवादी दार्शनिक था। उसके दर्शन के परम तत्त्व के सिद्धान्त का पृष्ठ के ज्ञाता और ज्ञेय, फिक्टे के आत्म तथा अनात्म और स्पन्नोंग्रा के विचार और विस्तार की समन्वयवात्मक भूमि मिलती है।

जैसा कि रासविहारीदास के उमर्युक्त कथन से ध्वनित हजा है, शेलिंग की दार्शनिक विचारधारा अद्वैत वेदान्त के बहुत-कुछ समान है। अद्वैत वेदान्त और शेलिंग का परम तत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्त तो समान ही है। अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के अनुल्प ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है—‘ब्रह्मविद् ब्रह्मेव भवति’। जैसा कि ‘ज्ञाते द्वैतं न विद्यते’ मे स्पष्ट है ब्रह्म-ज्ञान होने पर हेतुबुद्धि नष्ट हो जाती है। ठीक यही मत शेलिंग का भी है। शेलिंग के मत का उल्लेख करते हुए कीर्तिकर महोदय ने लिखा है :

"To know the Absolute is, as Shelling says, to be the Absolute and all differentiations would necessarily vanish with that knowledge."^२

अर्थात् शेलिंग के मतानुसार, परमात्मा को जानना ही परमात्म-रूप हो जाता है। इस परमात्म ज्ञान के होने पर समस्त भेद निश्चित रूप से दूर हो जाते हैं। इस प्रकार अद्वैतवाद और शेलिंग की उक्त विचारधाराएँ बहुत गिलती-जुलती हैं। वाह्य जगत् के मिथ्यात्व और ब्रह्म की सत्यता सम्बन्धी धारणायें भी अद्वैत वेदान्त और शेलिंग के दर्शन में समान ही मिलती हैं। ‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिया’ अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सिद्ध न्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार पारमाधिक दृष्टि से केवल ब्रह्म की सत्यता तथा जगत् का मिथ्यात्व स्पष्ट किया गया है। परम सत्य ब्रह्म की सत्ता जीव से अतिरिक्त नहीं है। अपिनु जीव जीव न होकर मूलतः ब्रह्म ही है। जीव और ब्रह्म के मम्बन्ध में ज्ञाता और ज्ञेय भी काल्पनिक ही है ‘अहं ब्रह्मास्मि’ और ‘तत्त्वमसि’

१. Dr. R V. Das's Article on, Fichto, Schelling & Hegel, HISTORY OF PHILOSOPHY : Eastern & Western, Vol. II, Edited by Dr. S. Radha-krishnan.

२. Vasudeva, J. Kirtikar : STUDIES IN VEDANTA, p. 36.

आदि महावाक्यों के द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्त का ही समर्थन किया गया है। अद्वैत मत के दृष्टव्य मिद्दान्त वा तात्त्वं शैलिंग की तिम्लिति पक्षियों में भी मिलता है।

"In all of us there dwells a sure marvellous power of freeing ourselves from the changes of time, of withdrawing to our secret selves away from external things, and so discovering in ourselves the eternal in us in the form of unchangeability."^१

उपर्युक्त व्याख्यन द्वे अनुमार हम यत्र में एवं ऐसी अद्भुत शक्ति है जो हमें कालकृत परिवर्तनों में मुक्त वा सक्ती है वाह्य जगत् की वस्तुओं से तिवृत्ति की ओर ले जा सकती है और जो हमारे भीतर बनमान गायत्र तत्त्व की खोज रुका सकती है।

शैलिंग ने उपर्युक्त व्याख्यन में स्पष्ट रूप से परमतत्त्व की शाश्वतता और जगत् के मिथ्यात्व की ओर मरेत चिया गया है।

अद्वैत दर्शन की माया नवा शैलिंग का 'डार्क ग्राउण्ड' (Dark Ground) वा गिद्धान्त

प्रौढ़ रे चौपरी ने अद्वैतदर्शन की माया नवा शैलिंग के 'डार्न ग्राउण्ड' की तुलना बरते हुए कहा है कि जिस प्रकार शहराचार्य वे अनुमार माया वहाँ न होकर ब्रह्म में रहने वाली ओई वस्तु है उसी प्रकार शैलिंग के अनुमार भी डार्क ग्राउण्ड परमतत्त्व में रहने वाली ओई वस्तु है न कि स्त्रय परमतत्त्व।^२ जिस प्रकार शहर वेदान्त वा वहाँ मायाशक्ति से सम्बद्ध होने पर ईश्वर-रूप को प्राप्त होता है उसी प्रकार शैलिंग का परमदुन्दृ भी 'डार्क ग्राउण्ड' के सम्बन्ध से स्पष्टा या ईश्वर रूप को प्राप्त हो लेता है। इसके अनिरिक्त बढ़ जीव नवा वह का विचार भी शाहर वेदान्त तथा शैलिंग के दर्शन में समान ही है।^३

शाहर वेदान्त और शैलिंग द्वी माया और 'डार्क ग्राउण्ड' सम्बन्धी विचारधाराओं में उपर्युक्त भास्य होने पर भी यह भेद दृष्टब्द है कि शैलिंग का 'डार्क ग्राउण्ड' का सिद्धान्त परमात्मा के सम्बन्ध में अत्म प्रवाशन (Self Revelation) का सिद्धान्त है और इसके विपरीत शाहर वेदान्त के अनुमार ब्रह्म शाश्वत रूप में स्वत प्रवाशमान है। इसके अनिरिक्त अद्वैत वेदान्त और शैलिंग के दार्त्तिंग मिद्दान्तों में बनेर प्रकार की समानताएँ होते हुए भी वई-एक वंशभ्य के स्थान भी गिलते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुमार ध्यावहारिक जगत् अविद्याजन्य अध्यास है और ब्रह्म विष्टान है, परन्तु शैलिंग के दर्शन में जगत् अध्यास न होकर परमात्मा के ही अनुग्रह वा परिणाम है। अद्वैती शरत्व और शैलिंग के दर्शन का यह वंशभ्य भी

१. Shelling's Philosophical Letters upon Dogmatism and Criticism—Radhakrishnan INDIAN PHILOSOPHY, Vol II, p 360

(Γ N) से उद्दृत।

२. The Dark Ground in the Absolute of Shelling is conceived by him as something in the Absolute (Not the Absolute itself) just as Maya is considered by Sankara as something in Brahman THE DOCTRINE OF MAYA, p 177

३. A K RAY Chaudhuri THE DOCTRINE OF MAYA, p 177

विचारणीय है कि जहाँ अद्वैती आचार्य शंकर के वलाद्वैतवादी होने के कारण पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म को ही सत्य मानते हैं, वहाँ शेलिंग परमात्मा तथा जगत् को भी पौरमार्थिक दृष्टि से सत्य मानता है। इस प्रकार आचार्य शंकर की तरह जगत् की पौरमार्थिक सत्यता का निपेद, दार्शनिक शेलिंग को स्वीकार नहीं है।^१ इस प्रकार जहाँ शंकराचार्य के वलाद्वैतवादी हैं वहाँ शेलिंग का प्रमुख सिद्धान्त अद्वैत-द्वैतवाद है।

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन और शेलिंग के सिद्धान्तों में साम्य के साथ वैपर्य होने पर भी यह कहना अनुचित न होगा कि शेलिंग का दर्शन भारतीय अद्वैतवाद के सिद्धान्त से अत्यधिक सम्बन्धित एवं प्रभावित है।

हेगल (Hegel) (१७७०-१८३१) और अद्वैत वेदान्त

जर्मनी के दार्शनिकों में जैसे कि काण्ट प्रसिद्ध है, वैसे ही हेगल भी। हेगल का मत अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों, फिल्मे तथा शेलिंग, के विपरीत है। फिल्मे के मत में वस्तु आत्मा ही है। यही आत्मा अज्ञान शवित से प्रवंच की उत्पत्ति करता है और फिर स्वतन्त्र तथा ज्ञानपूर्वक उद्योग से प्रवंच को स्ववशीभूत कर लेता है। इसके विपरीत शेलिंग की दृष्टि में वह वस्तुनन्तर न आत्मा है और न अनात्मा, वरन् वह मूल कारण है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के विरोध का पर्यंवसान होता है। शेलिंग का यह निर्मुण तत्त्व सर्वोपरि है। हेगल का निरपेक्ष परम तत्त्व निषिक्षय न होकर सक्रिय है। हेगल का यह परम तत्त्व मन तथा प्रकृति का आधार तत्त्व न होकर स्वतंक्रम से प्रकृति तथा आत्मा के रूप में परिणत होता है। अतः विद्वान् वेलेस के अनुसार हेगल के मत में जगत् की सत्ता परमात्मा के सत्यरूप का ही व्यक्तीकरण है।^२

हेगल का दर्शन तर्कप्रधान है। उसका विचार है कि वास्तविक तत्त्व तर्कयुक्त है और तर्कयुक्त ही वास्तविक तत्त्व है (The real is rational and the rational is real)। इस प्रकार हेगल अनुभव-जगत् के बीच भी दुष्टि का राज्य स्वीकार करता है।

हेगल विश्व को ईश्वर-रूप ही देखता है। जगत् और ईश्वर के बीच भेद-व्यवस्था को हेगल काल्पनिक कहता है।^३ अतः हेगल के दर्शन में प्रवंच का मिथ्यात्व पाया जाता है।^४

भारतीय अद्वैतवाद और जर्मन दार्शनिक हेगल के दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना करते समय दोनों दर्शन-पद्धतियों में अनेक समानताएँ मिलती हैं। अद्वैतवाद के प्रतिपादक शंकराचार्य ने आत्मा को सत् तथा असत्-रूप मानते हुए कहा है: 'सोऽयमात्मा परमार्थपरमार्थ रूपश्च'... 'तस्यापरमार्थरूपमविद्याकृतम्।' (शां० भा०, माण्डूक्योपनिषद् ११७) अर्थात् यह आत्मा परमार्थ तथा अपरमार्थ (सत् तथा असत्) दोनों रूपों वाला है; उसका अपरमार्थ अर्थात् असत्-रूप अविद्याकृत है। शंकराचार्य के परमार्थ तथा अपरमार्थ के योग का उक्त भाव

१. Sankara denies ultimate reality to the pluralistic aspect of the universe but Shelling does not.—N. Shastri : A STUDY OF SAN-KARA, p. 98.

२. HEGEL'S LOGIC, pp. 161-167.

३. Natur hat weder kern noch schale.

४. HEGEL'S LOGIC, p. 391.

हेगल की निम्नलिखित परिभ्रम स्पष्ट रूप से मिलता है। दार्शनिक हेगल नियते हैं

“True infinitude is the unity of the finite and infinite”^१

अथर्वा अभीम (परमात्म तत्त्व) समीम तथा अभीम वी ही एक हृष्णा है। हेगल की तरह परमात्मा वे सद् तथा असद् होने की बात दृष्टि ने गीता में भी स्पष्ट रूप में कही है—‘सदमन्वचाहुर्मर्जुन’^२।

ब्रह्मतत्वादी दार्शनिकों तथा हेगल की जीव की जगत् से निवृत्ति-सम्बन्धी विचारधारा भी प्रायः समान होती है। अद्वैत जीव का कथन है कि द्वैत जगत् के बल मानसिक वर्त्तना मात्र ही सिद्ध होता है।^३ इस स्थिति में जीव की द्वैत जगत् से निवृत्ति हो जाती है तथा वह ब्रह्मात्म हो जाता है। हेगलीय दर्शन में भी आत्मा का बाह्य जगत् से निवृत्त होता तथा परमात्मा के साथ ऐप्र प्राप्त करना स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।^४

जैसा प्रो॰ हार्डेन कहते हैं, हेगल के मतानुसार जैसे-जैसे परमात्म तत्त्व वी उपलब्ध होती है, भेददृष्टि समाप्त होती जाती है।^५ यही बात गौडपादाचार्य ने ‘ज्ञाने द्वैत न विद्यने’ (मा० वा० ११८) की उकिल वे द्वारा स्पष्ट की है। शब्दराचार्य ने भी उक्त मत का ही समर्थन किया है। शब्दराचार्य का कथन है कि परमात्मतत्त्व का ज्ञान होने पर द्वैतज्ञान नष्ट हो जाता है।

एक और दृष्टि में भी हेगल और अद्वैतवादी दृष्टिकोण में सामीक्ष्य है। हेगल मानता है कि जगत् की समस्त वस्तुओं का पर्यवेक्षण विचार या विज्ञान में होता है।^६ इस प्रकार ईश्वर तो भी वह पूर्ण विचार रूप ही मानता है। हेगल के अनुसार इस पूर्ण विचार की स्थिति में सर प्रकार की वास्तविकताएँ नष्ट हो जाती हैं।^७ इस प्रकार हेगलीय दर्शन में विचार ही परमार्थ है।^८ अद्वैतवादी आत्मायं गौडपाद और दशरथे मन के अनुसार भी परमात्म सत्य का ज्ञान होने पर ज्ञानी में सर्वदा सर्वज्ञता का भाव जाग्रत हो जाता है।^९ इस प्रकार अद्वैत मत में भी परमात्म-त्रौप की स्थिति विचार या विज्ञान की स्थिति है इसी प्रकार गीता में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब ज्ञानी ज्ञूता के पृथक्-पृथक् भागों को एक अन्तर्मा में ही स्थिर देखता है तथा उस अन्तर्मा में ही मात्रा विम्बात्तर, उत्पत्ति तथा विरास रेष्वता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है।^{१०} इस प्रकार गीता द्वारा निर्दिष्ट ज्ञानी की उक्त स्थिति भी विचारकी ही स्थिति है।

१ HEGEL'S LECTURES ON THE PHILOSOPHY OF RELIGION,

Vol I, p 328

२ गीता, ६।१६

३ शा० भा० मा० उ०, २।३२

४ STUDIES IN VEDANTA, p 15 Haldane, PATHWAY TO REALITY, Vol II, p 169, (Gifford Lectures for 1902-3) Murray, 1903

५ Haldane PATHWAY TO REALITY, Vol II, p 221

६ A. Schwegler HISTORY OF PHILOSOPHY, p 432 (Oliver and Boyd Edinburgh, 14th edition)

७ Haldane : PATHWAY TO REALITY, Vol II, p, 170

८ सरज्ञता ही सर्वेष मवाहि महाविष भा० वा० ४।८६ तथा शा० भा० (४।८६)

९ गीताभाष्य, १।३।३०

भ्रम की सत्ता के सम्बन्ध में भी हेगल और अद्वैतवाद की विचारधारा में समानता मिलती है। दार्शनिक हेगल भ्रम को, परम सत्य के प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक मानता है। इन्हिए उन्हें कहा है—

Otherness or error as itself a necessary moment of truth.¹

अर्थात् द्वैत या भ्रम की निवृत्ति का धरण भी सत्य का एक आवश्यक धरण होता है। हेगल की तरह ही अद्वैत दर्शन में भी भ्रम अथवा अविद्या के महत्व को स्वीकार करते हुए 'अव्यारोगान्वाद' की कल्पना की गई है। अद्वैत सत्य की स्थापना द्वैत एवं अनात्म बुद्धि की निवृत्ति के बिना असम्भव है। इसनिए अद्वैतमन में पहने ब्रह्म में अविद्याजन्य अनात्म जगत् का आरोप किया गया है और फिर अविद्या निवृत्ति होने पर उग अविद्याजन्य आरोप का अपवाद किया गया है।² इस प्रकार अद्वैत मत में अनात्म का अपवाद होने पर परमार्थ सत्य की स्थापना की गई है। अतः यदि अविद्या अथवा भ्रम को न स्वीकार किया जाता तो अविद्याजन्य अनात्म जगत् का भिन्नात्म सिद्ध न होने के कारण अद्वैतसिद्धि न हो पाती। अतः हेगल और अद्वैत वेदान्त दोनों की विचार-धारा के बनुमार मत्य की स्थापना में भ्रम का प्रोगदान स्वीकार किया गया है।

उपर किये गये विवेचन में भारतीय अद्वैतवाद तथा हेगलीय दर्शन में अनेक समानताएं मिलती हैं, परन्तु इन समानताओं के साथ-साथ दोनों दर्शनसिद्धान्तों में कुछ विपर्यास भी मिलती हैं। उदाहरण के लिए अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से जीव बात्मबोध होने पर ब्रह्म रूप हो जाता है। परन्तु हेगल को यह मत स्वीकार नहीं है। इसके अतिरिक्त जहाँ हेगल एकता में अनेकता मानते हैं वहाँ अद्वैत दर्शन में अनेकता अविद्याजन्य होने के कारण मिथ्यारोप मात्र है। इसी प्रसंग में इन दोनों दर्शन पद्धतियों का यह वैषेषिक भी उल्लेखनीय है कि हेगलीय दर्शन में जो परम तत्त्व सदसन् रूप है—वह अद्वैत दर्शन में शुद्ध सत् रूप है।³

इस प्रकार अद्वैत-दर्शन और हेगल-दर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर साम्य होते हए भी कुछ विपर्यास भी मिलती हैं।

शोपेनहार (Schopenhauer) (१७८८-१८६० ई०) और अद्वैत वेदान्त

शोपेनहार का प्रमुख सिद्धान्त संकल्पवाद (Voluntarism) है। पूर्ववर्ती दार्शनिक हेगल की दृष्टि में चैतन्यसार था—बुद्धि और शोपेनहार की दृष्टि में चैतन्यसार था संकल्प। शोपेनहार के मतानुसार संकल्प शक्ति सर्वव्यापिनी है और अखिल सृष्टि का मूल है। शोपेनहार संकल्पों के अनेक रूप मानता है।

शोपेनहार एक निराशावादी दार्शनिक था। इस निराशावादिता के कारण ही उसके दर्शन में पलायनवादिता का समावेश हो गया था। कुछ आनोचकों ने उसके निराशावाद को भारतीय दर्शन का प्रभाव कहा है। इस सम्बन्ध में अभी आगे विचार किया जायेगा।

1. HEGEL'S ENCYCLOPAEDIA, WORKS, Vol. VI, p. 15, quoted by Prof. Upton in Hibbert Lectures for 1893.

2. वेदान्तसार ५, ६।

3. Vasudeva, J. Kirtikar : STUDIES IN VEDANTA, p.69.

जहांतक शोपेनहार के दर्शन और अद्वैत वेदान्त के साम्य मूलतः दृष्टिकोण का सम्बन्ध है। शोपेनहार ने अद्वैत वेदान्त की नहीं भारतीय दर्शन के मूलाधार उपनिषदों की प्रशंसा बड़ी मात्रायां एवं यथार्थ अभिव्यक्ति के साथ की है। उपनिषद् दर्शन की सराहना तो सम्बन्ध में शोपेनहार की निम्ननिवित उक्ति जो उन्होंने अपने ग्रन्थ Welt als Wille und Vorstellung के प्राकाशन में कही है इन्हीं प्रसिद्ध है कि प्राय जहाँ इनी लेखक के हांग शोपेनहार की चर्चा हूँदी है वहाँ इस निम्ननिवित उक्ति को या इसके कुछ जगह को ग्रन्थ उद्दृत किया गया है। इस लेखक ने भी इस उक्ति का समेत अद्वैत वेदान्त दर्शन के महत्व के सम्बन्ध में वारम्ब में ही कर दिया है। यहाँ भी उसका उल्लेख तरना अनुपश्चात् होगा। शोपेनहार ने इसी है—

In the whole world there is no study, except that of the originals so beneficial and so elevating as that of the Aupnîkhâi. It has been the solace of my life and it will be the solace of my death.^१

अर्थात् शोपेनहार का तात्पर्य है कि वेदों को छोड़कर मसार भर में उपनिषदों के ममान लाभ-प्रद तथा उनमें दर्शन और दूसरा नहीं है। निज पर पड़े प्रभाव की ओर निर्देश करते हुए शोपेनहार कहते हैं कि उपनिषद् मेरे जीवन में सहायता देने रहते हैं और मेरे मृत्यु के समय पर भी दृढ़ मुक्ते सातड़ना प्रदान करते।

शोपेनहार के उल्लंघन के आधार पर यह तिं मन्देह स्वीकार करना होगा कि उन पर भारतीय उपनिषद सामित्र्य या नत्प्रतिपादित वेदान्त दर्शन का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। इस दृष्टि पर इस प्रभाव की दिशा देखन का प्रयाग किया जायेगा।

शोपेनहार और उपनिषद्वर्णी सत्त्वव्याद (Voluntarism)

शोपेनहार ने जिस सत्त्वप गति या इच्छान्वयित के आधार पर सत्त्वव्याद की स्थापना की है उसका स्पष्ट रूप हमें ध्यानदोग्योपनिषद् के निम्ननिवित उद्दरण में मिलता है—

तानि ह वा एतानि सर्वांगायनानि, सर्वान्वयनानि, सर्वव्येषतिष्ठानि... सर्वलम्भास्म्वेति।^२ पर्यात् यह (मत आदि) सर्वला ह्य लत्र स्थौत वाले, सर्वचमग तथा सर्वल म ही प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार ध्यानोर द्वारा पृथ्वी, वायु और जागीर जन और तेज भी सर्वत्प इत हैं। इनके सम्बन्ध के निए वृष्टिं समर्थ होते हैं यथार्थ यो वहाँये कि उन ध्यानों को आदि के सर्वला ने वृष्टि होनी है। वृष्टि के गवाप के लिए अन्त ममर्थ होता है, अन्त के सर्वत्प के लिये प्राण समर्थ होते हैं, प्राण के सर्वला के लिए मन्त्र ममर्थ होते हैं, मन्त्रों के सर्वत्प के

१. MaxMuller THREE LECTURES ON THE VEDANTA PHILOSOPHY, p 8

Dr. Radhakrishnan INDIAN PHILOSOPHY, Vol II, p 633 (F.N.)

Dr S N Das Gupta, INDIAN PHILOSOPHY, Vol I, p 40

Dr S K. Maitra's article - Schopenhauer & Neitzsche (HISTORY OF PHILOSOPHY, p 286)

२. THE WORLD AS WILL AND & IDEA, Vol. I, pp. XII-XIII
(Translated by Haldane & Kemp)

३. ध्यानदोग्योपनिषद् ७।५।२।

लिए कर्म समर्थ होते हैं, कर्मों के संकल्प के लिए सब समर्थ होते हैं, इसी संकल्प की उपासना करो। संकल्प को बहु का रूप देने हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि जो इस संकल्प बहु की उपासना करता है वह भगवान् के हृष को प्राप्त करता है।^१

छान्दोग्योपनिषद् के उन उद्धरण में संकल्पवाद की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा मिलती है। मेरे विचार से उपनिषदों के उर्ध्वकृत संहितावाद का प्रभाव शोपेनहार के संकल्पवाद पर भी पड़ा है। परन्तु यहाँ यह और उत्तेजनीय है कि छान्दोग्योपनिषद् में उक्त उद्धरण के आधार पर जहाँ संज्ञपवाद (Voluntarism) की प्रतिष्ठा की गई है वहाँ ज्ञानवाद (Intellectualism) का प्रतिगादन भी किया गया है।^२

भारतीय दर्शन के शोपेनहार के दर्शन पर उपर्युक्त प्रभाव के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने शोपेनहार के निराशावाद को भारतीय दर्शन का प्रभाव कहा है। इन विद्वानों में डेविट^३ तथा रानाडे^४ प्रमुख हैं। रानाडे महोदय ने शोपेनहार के निराशावाद पर औपनिषद निराशावाद का प्रभाव खो दिया हुए कठोपनिषद् का नीचे लिखा उद्धरण दिया है—

अजीर्यतानमृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वचस्यः प्रजानन्।

अभिव्यायन् वर्णनति प्रमोशनति दीर्घं जीविते को रमेत। (क० उ० १११२६)

कठोपनिषद् की उपर्युक्त पंक्तियों में नचिकेता यमराज से कह रहा है कि हे यमराज नाप ही बताइये भना आप जैसे अजर अमर महात्माओं का सम्पर्क प्राप्त करके भी मृत्युलोक का जरा-मरण भी ल ऐसा कौन मनुष्य होगा जो स्त्रियों के सौन्दर्य, कीड़ा और आमोद-प्रमोद में आसवत होकर उनकी ओर दृष्टियात करेगा और इन लोक में दीर्घकाल तक जीवित रहने में आनन्द मानेगा। कठोपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरण में शोपेनहार के विचार की तुलना करते हुए रानाडे महोदय लिखते हैं—

This is almost in the spirit of Schopenhauer who said that the last thing for man here below is not to have been born at all and the second last to have died young.^५

रानाडे महोदय के कथनानुसार उपनिषद् की उपर्युक्त विचार दृष्टि शोपेनहार के इस कथन के लगभग समान ही है कि मनुष्य के लिए सबसे अच्छा तो यह होता कि वह इस पृथ्वी पर जन्म ही न लेता और किर दूसरी कोटि की अच्छाई यह होती कि वह युवावस्था में ही मर गया होता। इसके अतिरिक्त जैसा कि अभी उद्घृत किया जा चुका है प्रो० डेविट^६ ने शोपेनहार पर हिन्दू विचारवारा का प्रभाव स्वीकार किया है, परन्तु हिन्दू विचारधारा से मेरे

१. छा० उ० ७।४।३।

२. THE WORLD AS WILL AND IDEA, (Book I), Ranade's CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, pp. 116, 117. से उदृत।

३. छा० उ० ७।५।१,२,३।

४. Another instance of the effect of Hindu thought upon the philosophy (Schopenhauer) was his pessimism. Dewett, H. Parker : SELECTION FROM SCHOPENHAUER. Introduction.

५. Ranade : CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p. 294.

६. वही।

विचार से उपनिषद् वर्णी विचारधारा का ही तात्पर्य प्रहग करना चाहिए क्योंकि शोपेनहार पर जैसा कि उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है उपनिषदों का ही विशेष प्रभाव पड़ा है। प्रो० डेविड तथा रानाडे के उक्त मर्मों की व्युत्पत्ता के सम्बन्ध में मेरा निर्देश यह है कि उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित दर्शन को कदाचि निराशावाद वा जनन नहीं कहा जा सकता। उपनिषदों में इस लोक में जीव के आत्मतत्त्ववेत्ता होने वा वर्णन इस वर्तन का प्रमाण है कि उपनिषद् दर्शन नहीं है। इस वर्तन के प्रमाण में हमें यहाँ दारणपूर्वक उपनिषद् के उपचरण की ओर दृष्टिपात्र करना चाहिये जिसमें कहा गया है कि आत्मानी शात दान्त, उपरत नितिकु तथा समाहित होकर आत्मा को आत्मा में ही देना है ताकि सब कुछ आत्म स्वस्त्र ही देना है।^१ यही नहीं उपनिषदों में जटा जटा इग्लौर में ही जात्य ज्ञान होने की बात रही है^२ उसमें यही सिद्ध होता है कि औपनिषद्-दर्शन इन लोक में ही मनुष्य के साक्ष्य का दोतक है। अत शोपेनहार पर औपनिषद् दर्शन के निराशावाद का प्रभाव बतलाना उचित प्रतीत नहीं होता। प्रो० रानाडे ने शोपेनहार के निराशावाद में गुनना करने हुए कठोरनिषद् के जिम अथ को उद्भृत किया है उसमें नविनेंगा के द्वारा इस सासारिक सौन्दर्य तथा प्रेमजन्म सुन्दर के जीवन को ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले अमर जटों के जीवन की अपार्थी हेतु बतलाया गया है। ब्रह्मानन्द और सासारिक सुन्दर वा भेद तथा अपेक्षाकृत उत्त्वावचमाव स्वाभाविक ही है। अत कठोरनिषद् की ऊपर विदिष्ट गयी पक्षियों के जापार उरनाडे मर्मोदर का शोपेनहार के निराशावादी दर्शन से उपनिषद् दर्शन की साम्यमूलक तुलना करना उचित नहीं है। परिणामतः यह लेखक डॉक्टर गण० के० मंत्रा के इस वर्तन में गुणतया गह त है कि शोपेनहार का निराशावाद उसके भारतीय दर्शन की विचारधारा के अध्ययन का प्रभाव नहीं था।^३ अब जहाँ तक शोपेनहार द्वारा सूख उपनिषद् दर्शन वा प्रमाण स्वीकार करने की बात है तिथक्षय ही शोपेनहार की दार्शनिक दृष्टि पर उपनिषद् दर्शन का प्रभाव पड़ा है, परन्तु यह प्रभाव शोपेनहार पर शान्त नया चित्त। पूर्ण जीवन के स्पष्ट भौं पड़ा था। अत जैसा कि डॉक्टर मंत्रा का विचार है शोपेनहार का चित्तन पूर्ण जीवन के प्रतिनीत्र प्रेम भारतीय दर्शन के सम्बन्ध का ही प्रभाव था।^४ इस सम्बन्ध में यह कहना अनु गत न होता कि शोपेनहार के दर्शन पर उपनिषद् दर्शन के प्रभाव की दिग्ना निराशावाद की कदाचि गूच्छा न हो थी। अरप्त तो यह है कि दार्शनिक शोपेनहार का यह दुर्भाग्य ही रहा कि वह भारतीय दर्शन के प्रभाव से प्रेरित अपनी हादिक अनुभूति को दाशनिक स्वर देने में असफल रहा। परन्तु इसी आलोचक विद्वान् को इस विषय में वैमत्य नहीं होता चाहिए कि शोपेनहार की दार्शनिक दृष्टि पर औपनिषद् वेदान्त का पूर्ण प्रभाव पड़ा था।

१. ब्रह्मानन्दकोपनिषद्—४।४।२३ सेकेड बुक्स आफ दी ईस्ट, भाग २, पृष्ठ १५०।

२. धार्मदोयोपनिषद्—४।१।४।३, ७।२।६।२।

३. Schopenhauer's Pessimism, therefore was not derived from his study of Indian thought Dr. S K Maitra's Article Schopenhauer and Nietzsche (HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol II, p 290).

४. HISTORY OF PHILOSOPHY, Vol II, edited by Dr Radha Krishnan, p 290.

अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन

इस्लामी दर्शन के कुछ प्रवर्तक : इस्लामी दर्शनाकाश का सर्व प्रथम दृष्टिमान् नक्षत्र इस्लामी दर्शन का प्रमुख एवं सर्वप्रथम गतिपादक दार्शनिक मुहम्मद है। मुहम्मद का जन्म ५७०ई० में मक्का में एक पुजारी वंश—कुरैश—में हुआ था। पैगम्बर मुहम्मद के आजन्म अनगढ़ रहने की वात विवादश्रस्त है। इतना अवश्य स्वीकार्य होना चाहिए कि इस्लाम के इस पहले दार्शनिक ने यहाँदी और ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का गम्भीरनापूर्वक अध्ययन किया था। यह वात दूसरी है कि उसका यह अध्ययन पुस्तकों पर आधारित था अथवा सत्-संगति पर। अपने अद्भुत ज्ञान के आधार पर चालीस वर्ष की अवस्था में मुहम्मद ने अपने आपको अल्लाह का भेजा हुआ (रसूल) घोषित कर दिया था। मुहम्मद ने अपने समय में प्रचलित पुरोहितवाद का घोर विरोध किया था। यह इसी का फल था कि मक्का के पुजारी उनके कट्टर शत्रु हो गए थे, और अन्त में रसूल मुहम्मद को मक्का छोड़कर यज्ञिव को सन् ६१४ई० में प्रवास करना पड़ा था। उनके इस 'हिज्रब' (प्रवास) के आधार पर ही इस्लाम के भानने वालों ने हिज्री सन् का आरम्भ किया था। जहाँ मुहम्मद साहब मक्का से भागकर पहुंचे थे—उस 'यज्ञिव' का नाम ही मदीना पड़ गया था। मुहम्मद साहब की जीवनी बड़ी अद्भुत एवं रोचक है, परन्तु यहाँ उसका विस्तार विषयान्तर हो जायेगा, इसलिए हम यहाँ यही कह कर 'बलम्' करेंगे कि मुहम्मद साहब ने अरब के लोगों में केवल इस्लाम के वास्तविक सिद्धान्तों का ही प्रचार नहीं किया, वरन् उन्होंने अपने न्रुयाधियों का आर्थिक, सामाजिक एवं सैनिक दृष्टि से भी नेतृत्व स्वीकार किया था।

हज़रत मुहम्मद की मृत्यु (६२२ई०) के पश्चात् इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रचारकों की कमी न रही। अबूवकर, उमर, उमान, आदि ने मुहम्मद के सिद्धान्तों की मान्यता को स्थायी रखने का पूर्ण प्रयास किया था, परन्तु सब विफल होकर रह गया। इस विफलता का यह फल हुआ कि इस्लामी दर्शन में भी भारतीय दर्शन के शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, निष्ठार्काचार्य और मध्वाचार्य आदि के सम्प्रदायों की तरह अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए।

इन सम्प्रदायों में निम्नलिखित सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे—

१. मोतज़ला सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के आचार्यों में अल्लाफ अबुल-हुज़ैल अल-अल्लाफ् (नवीं शताब्दी), नज़ार (८४५ई०), जटीज़ (८६६ई०), मुअम्मर (६००ई० के आस-पास), अबूहाशिम वस्ती (६३३ई०) आदि प्रसिद्ध थे।

२. करामी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुहम्मद विन्-कराम थे। इन्ही के नाम से इस सिद्धान्त का प्रचार हुआ था।

३. अश्अरी सम्प्रदाय

इसके प्रवर्तक अबुल-हसन अश्अरी (८७३-६३५ई०) थे।

उपर्युक्त इस्लामी दार्शनिकों के अतिरिक्त अनेक इस्लामी दार्शनिक जैसे अजीजुदीन

राजी (६२३ या ६३२ई०), अबू याकूल किञ्ची (८७०ई०), पारावी (८७०-८५०ई०), बू-अली मस्कविया (१०३०ई०) और गजाली (१०५६-१११ई०) आदि तत्त्व चिन्तन में लगे रहे। इन स्थिति पर लेखक का उद्देश्य यह देखना है कि अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों में कौन पारस्परिक सम्बन्ध बनाना है।

अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय यद्यपि लेखक के हृदय में यह धारणा बढ़मूल नहीं है कि इस्लामी दर्शन अद्वैत दर्शन से अभ्यावित है, परन्तु यह उन्नेस्को बनना आवश्यक है कि इनिहाम के अभिवारी विद्वानों ने इस्लामी दर्शन पर जहा प्लेटो और अरस्तू, प्लॉटिनस और फिलो, जोरोस्ट्र और मनी वे विचारों का प्रभाव स्वीकार किया है वहा उन्होंने महायात्रा बोद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन के विचारों का प्रभाव स्वीकार करने में भी मनोच नहीं किया है।^१ समानोचकों का उपर्युक्त कथन कहा तक सत्य है इस बात का निर्णय दोनों सिद्धान्तों के साम्यमूलक अध्ययन से स्वत हो जायेगा।

अद्वैत वेदान्त का ब्रह्मवाद और इस्लामी दर्शन

ब्रह्मवाद अद्वैतवेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है और इस सिद्धान्त का मौलिक प्रतिपादन हमें उग्निपर्दों से मिलता है। तंत्रिरीयोपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण बरते हुए वहा गया है कि यह सब शाणी जिसमें उल्लंघन होते हैं और जिसके महारे जीवित रहते हैं तथा अन्त में द्विष्टप्रेतवाद करते हैं, उसी को जानने की इच्छा बरों और वही ब्रह्म है।^२ परमात्मा के सम्बन्ध में यही भाव हमें कुरान की निर्मलितित आयत में भी मिलता है—

‘इन्हा लिल्लाह व इन्हा इलेहे राज्यून’

बगदि हम लोग परमात्मा से उन्नन हुए हैं और परमात्मा भी ही जायेगे।

देखा जाए तो कुरान की उक्त भायत ही इस्लाम के ‘वहदतुल्लाजूद’ के मिद्दान्त की आधार मालूम होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्मूर्ण सृष्टि का उद्गम एवं ही तत्त्व है और उसी में सारो सृष्टि का लय हो जाता है। इसके अन्तिरिक्त इन्द्रुल का वरदी ‘हमावृस्त’ भर्त्यान् सब कुछ वही है, सिद्धान्त भी कुरान की उपर्युक्त आयत पर ही आधारित प्रतीत होता है। उग्निपर्द् परवर्ती दर्शन में भी इष्ट ब्रह्मवाद का विवेचन गोडपाद, शकराचार्य वाचस्पति मिश्र और मधुसूदन सरस्वती आदि के ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से मिलता है।

आत्मा के बारे में मूर्कियों का विचार है कि सम्मूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा है जो विभिन्न पदार्थों और जीवों के रूप में अभिव्यक्त होता है।^३ मूर्कियों का यह विचार स्वेताशद्-पूर उपनिषद् के नीचे उद्भूत मन्त्र में पूर्ण रूप से मिलता है—

‘एकोदेव भवेभूतेऽग्रुद्ध सर्वव्यापी सर्वं भूतान्नरात्मा।’^४

१. HISTORY OF PHILOSOPHY, Eastern & Western, Vol. I, p 490.

२. मर्तो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन त्रानानि जीवन्ति यत् प्रयत्न्यभिसविगत्ति तद्विजित्ता स्वस्व तद् ब्रह्मेति ॥ (८० उ०, मृगुपल्ली, प्रथम बनुवास)

३. Wahid Hussain CONCEPTION OF DIVINITY IN ISLAM AND UPANISHADS, p 18

कुरान में परमात्मा के सर्वज्ञत्व की चर्चा करते हुए कहा गया है कि परमात्मा की दृष्टि से अपने को कोई नहीं बचा सकता।^१ कुरान में अभिव्यक्त परमात्मा के सर्वज्ञत्व का विचार वृहदारण्यकोपनिषद्^२ में वर्णित परमात्मा के 'लोकवित्' सर्ववित्^३ विशेषणों के अन्तर्गत पूर्ण रूप से मिलता है। उपनिषद् परवर्ती अद्वैत वेदान्त में तो परमात्मा के सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन विशेष रूप से मिलता है। अद्वैत ऋग्वा की एक मात्र पारमार्थिक सत्तता को स्वीकार करते हुए अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जगत् को माया कहा गया है। माया सम्बन्धी सिद्धान्त के बीज उपनिषदों में ही मिलने आरम्भ हो जाते हैं। शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के हेतु जगत् की उपमा इन्द्रजाल से दी है।^४ इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक का सारा इन्द्रजाल मिथ्या है उसी प्रकार यह जगत् भी मिथ्या है। इसी प्रकार कुरान में भी एक स्थल पर कहा गया है कि जान लो कि यह सांसारिक जीवन एक सेल-न्नमाशा है, यह बाह्य आडम्बर है और तुम्हारे भीतर मिथ्या अहंकर को जन्म देने वाला है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अद्वैतत्व और माया सम्बन्धी सिद्धान्तों से इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों की समानता देखने को मिलती है।

अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन का सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त

ऊपर यह देखा जा चुका है कि अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के अनुसार जगत् की उत्पत्ति का कारण परमात्मा है। पूर्ण परमात्मा को सृष्टि के उत्पन्न करने की क्षमता आवश्यकता पड़ती है? इस प्रश्न के उत्तर में सूफी निम्नलिखित हदीस का प्रमाण देते हैं—

'कुन्तों कनजन मखफीयन् फ़ाहवतो अन ओरिफो फ़खल कतुल 'खल्क'
अर्थात् इस परमेश्वर ने कहा कि मैं एक छिपा हुआ राजा था, किर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें। इसलिए मैंने सृष्टि की रचना की। अब वेदान्त को लीजिये। तैत्तिरीयो-पनिषद् में कहा गया है कि 'उस परमेश्वर ने इच्छा की कि मैं अनेक रूपों में प्रकट होऊँ'—सोइकामयत वहुस्थां प्रजायेयेति' (तै० उ० २१६) इस प्रकार सृष्टि के सम्बन्ध में ईश्वरेच्छा का विचार वेदान्त और इस्लामी दर्शन में प्रायः समान ही है।^५

जीवन का अविनाशित्व—

इस्लामी दर्शन का प्रसिद्ध दार्शनिक गजाली (१०५६-१११६०) जीव का लक्षण बतलाते हुए कहता है—

'व लैसल—यद्नो मिन् कवाये जातेका
फ इन्हदाम ले—वद्ने ला य अद्मो-का'^६

अर्थात् शरीर तेरे अपने लक्षणों (स्वरूपों) में नहीं है, इसलिए शरीर का नष्ट होना तेरा नष्ट होना नहीं है। इस प्रकार दार्शनिक गजाली ने जीव को अविनाशी तथा शरीर को नेश्वर

१. कुरान सूरा (८६:१३) (सूरा ५७:६, १०)।

२. दृ० उ० ३। ७। १।

३. दृ० सू० शा० भा० २। १। ६।

४. कुरान सूरा ५७:२०।

५. राहुल सांकुर्यायन : दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ १७१ से उद्धृत।

बनलाया है। यह विचार हमें ठीक इसी रूप में उपनिषदों और गीता में मिलता है। उपर्युक्त मात्र की व्याकुल निम्नलिखित पवित्र कठोपनिषद् और गीता दोनों में ही प्राप्त है।

अत्रोनित्यं शास्त्रानीग्म पुराणा न हन्ते हन्यमाने शरीरे

(कठ० उ० १२११, गीता २२०)

अर्थात् यह आत्मा नित्य, शाश्वत एव मनात्मन है। शरीर के नाम होने पर भी आत्मा वा नाम नहीं होता।

परम तत्त्वज्ञान के स्वरूप का विचार

गजासी का परवर्ती दार्शनिक इन्हरोश (१२६-११८८५०) गरम विज्ञान की अवस्था वा वर्णन करते हुए कहता है कि ईश्वर का ज्ञान ज्ञान न ज्ञान का नाम है बगावि उम अवस्था म ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता में कोई भेद नहीं होता। जो ज्ञान है वही ज्ञाता है, जो ज्ञाता है वही ज्ञेय है और इसके अनिस्तिन किसी वस्तु की भूता नहीं है।^१ अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत परम ज्ञान का उक्त रूप 'व्रिद्धिवद्' अर्थात् 'ब्रह्मज्ञानी' स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। इस बाबत के द्वारा ब्रह्मस्यात् हुआ है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त सम्बन्ध मुकित म भी जहाँ ब्रह्म की ही मुकित वी अवस्था है^२ ज्ञाना, ज्ञान और ज्ञेय की भेद ब्रह्मस्या के लिए स्थान नहीं है। अन ज्ञान वी यह अद्वैत स्थिति वेदान्त और इस्लामी दोनों दर्शन पढ़तियों में समान ही है।

जैसा कि पीछे यूनानी दर्शन की अद्वैत वेदान्त के साथ तुलना करते समय रेखा जा चुका है, वेदान्तिक दृष्टि में अद्वैत तत्त्व तर्फ द्वारा ब्रह्मस्यात् है।^३ इस सम्बन्ध में इस्लामी दार्शनिकों ने भी उक्त विचार ना ही आश्रय लिया है। अबुल हुमेन अलनूरी का वक्तव्य है कि ईश्वर को तर्फ के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसे ईश्वर के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।^४

इसी प्रकार इस्लामी दार्शनिक खलून (१३३२-१४०६ ई०) वा विचार है कि तर्क ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, वह केवल उम पथ को अक्षित करता है, जिसे हमें मनन करते समय पकड़ना चाहिए था, वह बदलता है कि कैमें हम ज्ञान तर्फ पहुँचते हैं।^५ दोना पढ़तियों म इस प्रकार ने बधन स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

जाग्रत्, स्वप्न, सुपुण्डि और तुरीया अवस्थायें

कठोपनिषद् में जाग्रन, स्वप्न, सुपुण्डि और तुरीया, इन चार अवस्थाओं का निहणण किया गया है।^६ इस्लामी दर्शन में यह अवस्थायें चार मजिनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। पहली जाग्रन अवस्था नों इस्लामी दर्शन में 'नामून', स्वप्नावस्था को 'भनकून', सुपुण्डि को 'जबूल' और तुरीया नों 'लाहून' कहा गया है। तुरीयावस्था वा 'सोहूमस्तिम' का अनुभव इस्लामी

१. भावादनवद्यान्, पृष्ठ २५५।

२. ब्रह्म वहि मुक्तयस्या उ० मू० शा० भा० ३।४।५२।

३. कठ० १।२।१।

४. "For it is not for reason to know God but through God" HISTORY OF PHILOSOPHY, Eastern and Western, Vol p 512

५. राहुल, दर्शन दिव्यर्द्दन, पृष्ठ २५६।

६. कठ० उ० ६, १०, ११, १२।

दार्शनिक की चतुर्थ मंजिल नाहूत का 'अनलहक' का अनुभव है।^१

इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के अनेकों सिद्धान्तों में केवल नाम का ही नेद प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, वेदान्त का अद्वैत इस्लाम में 'तौहीद', वेदान्त का परम सत्य इस्लाम का 'मुल्कः', वेदान्त का 'म-सत्य सत्यम्' इस्लाम में हकीफल-उल-हकाहक और वेदान्त की 'ज्योतिर्यां-ज्योतिः' इस्लाम में नूर-अल-नूरित्' के नाम से प्राप्त है। वेदान्त ने जिस जगत् को मिथ्या, एवं माया कहा है इस्लामी दर्शन में उसे 'मअनूम-इ-म-अदूम' और मीजूद-इमीहूम कहते हैं। जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त में ईश्वर को विवरणवक्तव्यसर्वच्यापी, एवं अन्तर्यामी कहा गया है उनी प्रकार इस्लामी दर्शन में ईश्वर को 'वातिन' और 'जाहिर' तथा 'मुरीद' थीं। 'सादी' बनलाया है।

जार किये विवेचन में हर इस निर्धार पर पहुंचते हैं कि अद्वैत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों में वहुत कुछ साम्य होने के कारण इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध प्राचीन काल से चला आ रहा है। दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों की उपर्युक्त नामनाथों के आधार पर यह मानना न्यायमंगल ही होगा कि इस्लामी दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव है। इसी-लिए जैसा कि ब्राह्मन, मैत्रार्थिन और गो-डजीहर आदि पाश्चात्य विद्वानों का कहना है इस्लाम की विचारधारा के प्रमुख तत्त्व भागतवर्ग में लिये गये हैं।^२ अब: जैसा कि भारम्भ में कहा जा चुका है इस्लामी दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव देखना उचित ही है परन्तु यहाँ लेखक यह कहना कठापि न भूलेगा कि दोनों दर्शन पठनियों के सिद्धान्तों में उपर्युक्त साम्य होते हुए भी, इस्लामी दर्शन के सिद्धान्त पूर्णतया वेदान्त के ही सिद्धान्त नहीं है।

अद्वैतवाद की संद्वान्तिक विचारधारा का संक्षिप्त स्वरूप

यद्यपि, जैसा कि प्रो॰ र्म्बनमूनर भी मानते हैं प्राचीन उपनिषदों के अन्तर्गत वेदान्त धर्म का प्रयोग न मिलते पर भी वेदान्तिक विचार दृष्टियों के सम्बन्ध में संशेद् नहीं किया जा सकता,^३ परन्तु मेरे विज्ञार में औदिपिद विचारों से किसी एक सिद्धान्त का समर्थन करना कठिन ही नहीं असम्भव प्रतीत होता है। अन. उपनिषदों में अनेकानेक अद्वैत परक अभिव्यवितयां होने हुए भी केवल अद्वैतवाद का मण्डन नहीं किया जा सकता। उपनिषदों में प्राप्त अद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्तों के सम्बन्ध में द्विनीय अध्याय में विवेचन किया जायेगा। इस स्थल पर तो अद्वैतवाद सिद्धान्त के प्रम्यापक आचार्य एवं गुरु नामत अद्वैतवाद का भंकित स्वरूप प्रस्तुत करना ही उपयुक्त होगा। वेदे तो यास्तर अद्वैतवाद का मागोपाग विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा।

अद्वैत सिद्धान्त के अनुमार केवल एक अद्वैत नहर की ही पारस्परिक सत्यता स्वीकार

१. HISTORY OF PHILOSOPHY, Eastern and Western, Vol. I, p. 513.

२. But the fact remains and as Brown, Max Harten, Gold Zihler and others have testified, there are important elements in Western speculation which have been derived from India. HISTORY OF PHILOSOPHY, Eastern and Western, Vol. I, p. 502.

३. Max Muller : INDIAN PHILOSOPHY; Vol. II, p. 3.

की गई है। इसीलिए अद्वैतवाद को केवलाद्वैतवाद भी कहते हैं। अद्वैती शास्त्राचार्य ने 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या'^१ (ब्रह्म सत्य है और जगन् मिथ्या है) और 'ज्ञाते परमार्थं त्वे द्वैत न विदते'^२ (परमार्थं तत्त्वं त्वा ज्ञानं होने पर द्वैत नहीं रहता) आदि अनेक उक्तियाँ द्वारा अद्वैतवाद सिद्धान्त की मूल विनारधारा की ओर सकेत किया है। अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुपार वेवन ग्रन्थ ही सत् तत्त्व है। परन्तु इस सत् ता एक पारिभाषिक जरूर है। अद्वैती शक्ति ने 'सत्' की परिभाषा दत्तताते हुए कहा है—

सत् क्रिम् कालयोऽपि तिष्ठति इति सत्^३

अर्थात् सत् वया है ? जो तीना कालों में मिथ्यत रहता है, वह सत् है। ब्रह्म अद्वैत वेदान्त का यही सत् तत्त्व है। एक मात्र सत् तत्त्व ब्रह्म ज्ञानस्वरूप, अनादि, अनन्त, सर्वोच्च तथा निर्णय तत्त्व है। प्रो० फैरियर ने ब्रह्म को एक आवश्यक तत्त्व माना है।^४ जगत् का मूल कारण ब्रह्म ही है। यह ब्रह्मवाद अद्वैतवाद का एक पक्ष है।

अद्वैतवाद का दूसरा पक्ष मायावाद है। मायावाद सिद्धान्त के अभाव में अद्वैतवाद का संदानिक इष्ट नहीं होता। यही कारण है कि उपनिषदों में अनेक अद्वैतवाद का संदानित प्रतिपादन नहीं विदा जा सकता। यो, मायानु प्रहृति विद्यान्तमायिन तु महेद्वरम्^५ अर्थात् माया रो, मायी परमात्मा की प्रकृति जानता चाहिए के इष्ट म माया की चर्चा तो इवेताद्वर उपनिषद् में मिलती है। परन्तु इम शेषक की दृष्टि में केवल माया शाद वे प्रश्नों के आधार पर मायावाद सिद्धान्त की निष्पत्ति उपनिषदों में नहीं देखी जा सकती।^६ प्रकृतिविद्यानुपार तो यही कहा है कि मायावाद के द्वारा ही अद्वैतवाद की पुष्टि सम्भव है। जद्वैत तिष्ठिके सम्बन्ध में जड़ वह प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म मत्य है तो जगत् की उत्तरति किस प्रकार हुई तो इस प्रश्न का उत्तराधार माया के सिद्धान्त के द्वारा ही होता है। माया परमात्मा की अनादि शक्ति है और इस माया के ही कारण परमात्मा में जगत् का उत्पादानकारणत्व तथा निमित्तकारणत्व है।^७ इष्ट प्रकार जगत् की सत्ता मायिक है और माया मिथ्या है। परन्तु यहा यह स्मरणीय है कि माया शाश्वतावत् मिथ्या नहीं है। माया का मिथ्यात्व सदसद्वित्तकाणत्व वाला मिथ्यात्व है। इन्हीलिये अद्वैती शास्त्राचार्य ने भी जगत् के व्यवहार दो स्त्रीलाल किया है।^८ परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सत् होने हुए भी जगत् पारमायिक दृष्टि से पूर्णतया मिथ्या है। अत परमार्थ भवेवत् अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है। अद्वैतवाद की यही समिप्ति दर्शरेता है। इस निष्पत्ति द्वा विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत विषय जायेगा।

१. विवेक चूहानणि-२०।

२. शा० मा० मा० उ० ११८।

३. तत्त्वदेश —२३। भागव पुस्तकालय, सत् १६६८।

४. Turner INSTITUTIONS OF METAPHYSICS, p 522

५. इव० उ० ४१०।

६. विवेक देविये दा० रामकृति शर्मी, शक्तिवाचार्य, पृष्ठ १०३ १०४।

७. तत् ब्रह्म जगदुपादानकारण निमित्त शारणव्येत्य द्वैतसिद्धान्त, महामहो० अनन्तशृण शास्त्री, अद्वैतनत्वमुघा द्वितीय भाग, परम सट् भूमिका। पृ० ८।

८. सत्यानुरो मिथ्यी वृत्त्यायलीभव्यवहार, प० सू० शा० मा० उपोदान।

अद्वैतवाद और आचार दर्शन

आचार दर्शन पूर्णतया जीवन दर्शन है। साथ ही साथ वेदान्तिक आचार दर्शन को तो मैं मानव के ऐहिक मूल्यों की प्राप्ति का साक्षात् तथा पारलोकिक मूल्य की प्राप्ति का पारम्परिक हेतु मानता हूँ। 'आ' उपतर्ग पूर्वक चर धातु से भाव में घञ्च प्रत्यय होने पर आचार शब्द निष्पत्र होता है जिसका अर्थ व्यवहार होता है। इस प्रकार आचार दर्शन को व्यवहार दर्शन भी कहा जा सकता है। इन्साइवलीपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स के अन्तर्गत भी आचार के पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द इथिक्स का विषय मानवीय व्यवहार एवं चरित्र को ही माना है।^१

उपनिषद्‌वर्ती आचार तत्त्व

उपनिषदों के अन्तर्गत भी हमें आचार सम्बन्धी तत्वों का पूर्ण विकास मिलता है। उपनिषद्‌वर्ती आचारवाद के सम्बन्ध में प्रो० डायसन का मत है कि उपनिषदों में व्यक्तिगत आचार सम्बन्धी मूल्यों का ही वाहूल्य है। डायसन महोदय का विचार है कि लोकोपयोगी नैतिक मूल्यों का उल्लेख उपनिषदों में पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा अत्यन्त निष्पत्र स्वं में मिलता है।^२ मेरे विचार में डायसन महोदय का विचार श्रौन्तित्य पूर्ण नहीं है। यहां हम उपनिषदों के कठिपय लोकोपयोगी आचारिक तत्वों का उल्लेख करेंगे।

छान्दोग्योपनिषद् के अन्तर्गत जीवन को सोमोत्सव के रूप में चिह्नित किया गया है। इस स्थल पर यत्न के भोजन के सम्बन्ध में पांच प्रकार की दक्षिणा वतलाई गयी है। इस दक्षिणा के यह पांचरूप—तप, दान, आजंत्र, अहिंसा तथा शत्य वचन हैं।^३ वृहदारण्यक उपनिषद् में जहाँ प्रजापति के द्वारा देव, मनुष्य और असुरों को केवल 'द' वक्तर के द्वारा क्रमशः दमन, दान एवं दया के उपदेश की बात वतलाई गयी है, वहां भारतीय आचार तत्त्व का निष्पत्र किया गया है।^४ महानारायणोपनिषद् में सन् कर्म का महत्व प्रदर्शित करते हुए एक स्थल पर कहा गया है कि जिस प्रकार संपुणित वृथा की गन्ध दूर तक वहती है उसी प्रकार सन् कर्म की गन्ध भी दूर तक जाती है।^५ इस उक्ति के अन्तर्गत लोकोपयोगी कर्म का स्पष्ट संकेतमिलता है।

इसके अतिरिक्त आचार दर्शन की पौयक आश्रम व्यवस्था का वर्णन भी उपनिषदों के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। ब्रह्मचर्य,^६ गृहस्थ,^७ वानप्रस्थ,^८ एवं सन्त्यास^९ आश्रमों का जो

१. Its subject matter is human conduct and character. E. R. E.
Vol : V, p. 414.

२. Deussen : PHILOSOPHY OF UPANISHADS, p. 364, 365.

३. छान्दोग्योपनिषद् ३।१७।

४. तदेतदैवैया देवीवागनुवदति-स्तनवित्नुर्दद इति दाम्यत, इत दयध्वमिति तदेतूर्यं शिक्षेद्दमं, दानं, दयामिति । वृ० ७० ५।२

५. महानारायणोपनिषद् ८।२।

६. कौपीतकि ब्रह्मणोपनिषद् ४।१६ छा० ७० २।२३।१, ८।५।१, ८।५।२, ४।४।५, मुण्डक० १।२।१।२।

७. तैत्तरीयोपनिषद् १।१।११, छा० ७० २।२३।१।

८. वृ० ७० २।४।१, ४।५।१।२।

९. सन्त्यासोपनिषद् ।

विवेचन उपनिषदों में मिलता है उसमें मानव जीवन के ऋसिक आचारिक विवास की ही मावना निहित है। इस प्रकार उपनिषदा में लोकोग्योगी आचार सम्बन्धी तत्त्वों की कमी नहीं कही गयी गयी गयी।

शाकर अद्वैत वीर आचार दर्शन

अद्वैत शाकर के जगन्मध्यात्म के सम्बन्ध में प्रसाप्त धारणा ख्यन के कारण इन प्रमाणों उनके दर्शन को जाए में प्रतिष्ठित मानते हैं तभी यह जाते गये हैं कि उसमें आचार का कोई महत्व नहीं है। यह तिन नहीं हैं कि यहाँ आचार प्रति अन्य अद्वैती विद्वानों के दर्शन का घरम प्रतिगाय आत्मरात्म जगत् छहजात् या मानते हैं^१ मात्र ही यह भी उल्लेख है कि लड़नी का ग्रहण वर्तन तान स्वयं ही तीर्थी है वरन् यह जानन्दनप्रभी है। प्रदिवसी दायतिनि तिनाङ्ग भी जाते एवं जीवा तत्त्व के प्रति विद्या गाए प्रेम से उत्तम अजनन्दन का एष इसके स्वरूप में स्वित्त मानता है^२ इस प्रकार यह नीतिरात्र वर्तने में विद्युति भी सदाचार नहीं है कि इस यात्रा भी जाते तरजु तात्रात्र धरती तरी तीर्थी है। परन्तु अद्वैतवेदान्त के निरुत्तर आचार का नियमेष्ट एवं इन तीर्थों में सदाचार निष्ठा नहीं है। अद्वैतवेदान्त द्वारा चार का नियम है कि यह जाते वह सर्वं वर्त्तव वर्त्तमात् है परन्तु किर भी सर्वं अवभावित न होता। इन्होंने विद्युति भी स्वरूप पदार्थों में ही पढ़ सकता है रसी प्राप्त आपायोग भी तिमत वर्तन वर्तन यात्रा भी ही हो सकता है^३ अन्य वरण के इस नैर्मल्य का कारण ही आचार नहीं है। जैन परमार्थ आचार भी भी मानते ही माध्यन भूमध्यना उपयुक्त ही है। आचाराद्य का नोट ऐ परमार्थ भावना के मीलार वर्तन में वापत्ति नहीं है। उद्दीपन स्पष्ट कहा है कि वेशव्यवस्था, यत् दान, तपश्चर्गी और वृत्तज्ञान के ही सामने है।^४

अद्वैत दर्शन में आचार पद के ही वर्णनात् दाग को भी वात्सव्यान जा कारण माना गया है। अद्वैत मन में दोग प्रतिगादिन यम और तिरते को प्रहिरा भावना तथा धर्म और ध्यान को अन्तरण माध्यना वा कारण वर्तनाया गया है।^५ इसके अनिवित योग के अम उपर्याति, तिनिया तथा नमार्पण को अद्वैत + त मन नामा वा माध्यन स्वीकार किया गया है।^६

अद्वैत दर्शन का दर्शन मिद्दान्त तथा आचार पद

जान तथा वर्म का विवरण प्रतिगादा अद्वैत वेदान्त के आचार पद का पूर्णतया

१. आकर भाष्य—बृ० सू० १११।

२. But love towards an object eternal and infinite feeds the mind with a joy that is pure with nothing of sadness. DIVERTELLED FROM EDITION pp 9 & 10

३. पदासर्वं तोत्पात्मा न सर्वत्रावभाषते।

बुद्धावेषावभाषेन स्वप्नेषु प्रतिविष्टवत्। जान्मरोप ७३।
(धोर्मिन्टन बुद्ध एव भी पूता—१४५)

४. वृ० उ० ना० ना० ४। ८। ८। २।

५. दा० राधाकृष्णन् दिडिन विद्वासपी, नाम २ पृष्ठ ६१६।

६. द० स०, दा० ना० ३। १। २।

समर्थक है। वैसे तो शांकर वेदान्त के अनुमार सीधे कर्म अयच्च ज्ञानकर्म भयुच्चय से मुक्ति लाभ करने के सिद्धान्त को न स्वीकार करके केवल ज्ञान के द्वारा मुक्ति स्वीकार जी गई है।^१ परन्तु अद्वैतवादी शंखचार्य ने कर्म का महत्व स्वीकार करते हुए अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत आचार पद्धति की रक्षा की है। आचार्य ने अपने वृहद्वारण्यक उत्तिष्ठते आत्मा को द्विना किसी प्रतिवर्णध के जानने में समर्थ होने है। इन प्राप्तार आचार्य वंश का विचार है कि कामा वर्गित नित्य कर्म अत्मज्ञानोत्पत्ति के द्वारा मोक्ष के साथक है।^२ अतः नित्य कर्म दरमाया मोक्ष के साथक है। शंखराचार्यनवरत्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्य मुख्यमूर्दन सरस्वतीने आचार एवं कर्म की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है कि जब मनुष्य स्वाभाविक राग और द्वेष को जीनकर द्युमवासना की प्रवलना से अवर्मरायण होता है तो वह देवगीटि को प्राप्त होता है और जब वह स्वभावसिद्ध राग द्वेष की प्रवलना से अवर्म पराण होता है तो वह अमुक्त्व को प्राप्त करना है।^३ इस प्रकार भयुमूर्दन सरस्वतीने भी अवर्म परायणता एवं अवर्मरायणता की व्यवस्था द्वारा कर्म के क्षेत्र में आचार का ही समर्पण किया है। इन प्रकार जो नित्य कर्म करता है उसका अन्तःकरण फनरागादि ने कल्पित नहीं होता। नित्य कर्मों के अनुच्छान से अन्तःकरण शुद्ध ही जाता है एवं विजुद्व तथा अनन्दिष्व आत्मा के सामान्यार में समर्थ हो जाता है। अतः यह स्वीकार करने में नकोच नहीं करना चाहिये कि अद्वैत दर्शन में आचार पद्धति के अन्तर्गत कर्म की महत्ता भी स्वीकार जी गई है।

आश्रम व्यवस्था और आचार्य पथ

अद्वैत दर्शन जाति-पांति एवं वर्ग-वर्णगत संकीर्णताओं से दूर है। शांकर वेदान्त के अनुमार किसी सी जाति का कोई भी पुरुष परम ज्ञान (व्रह्मज्ञान) प्राप्त कर सकता है। अद्वैत मत के अनुसार व्रह्मज्ञान के लिए आश्रम व्यवस्था भी अनिवार्य नहीं है। आथर्व रहित जीव भी ब्रह्म विद्या का अधिकारी है। इस सम्बन्ध में शंखचार्य का निन्दिति भत्त उद्भृत किया जा सकता है—

अनाश्रमित्वेनवर्त्मानोऽपि विद्यायामधिकिवते (ब्र० सू० शा० भा० ३।४।३६) उत्तर सिद्धान्त की प्रामाणिकता के लिए गंकराचार्य ने श्रुति समर्थित रेति और वाचनवी के दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं।^४ अनाश्रमी होते हुए भी यह दोनों ही ब्रह्मवेत्ता थे।

इसके अतिरिक्त अद्वैतवेदान्त के अनुसार पुरुष मात्र जप, उपवास और देवता आराधन का अधिकारी होने के कारण व्रह्म विद्या का अधिकारी कहा गया है।^५ इस प्रकार अद्वैत

१. ऐतरयोपनिषद्, शा० भा० उपोद्घात।

२. वृ० उ०, शा० भा० ४।४।२२।

३. स्वाभाविकी रागद्वैषो अभिभूययदा शुभवासनाप्रावल्येन धर्मपरायणो भवति तदा देवः। यदा स्वभावसिद्धरागद्वेषप्रावल्येन अधर्मपरायणोभवति तदा असुरः। गीता व्याख्यायां मधुमूर्दनः (वलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन पृ० ४४७ से उद्धृत)

४. ब्र० सू० शा० भा० ३।४।३६।

५. पुरुषमात्र सम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्वर्मविशेषरुग्रहो विद्यायाः सम्भवति। ब्र० सू० शा० भा० ३।४।३८।

वेदान्त दर्शन के दृष्टिकोण से ब्रह्मविवित्सु के लिए आश्रमादि की व्यवस्था अनिवार्य नहीं है। यही अद्वैत दर्शन का समर्तव्यूनक एवं व्यापक दृष्टिकोण है।

उपर्युक्त विवेचन के साथ-साथ यह भी उन्नेसनीय है कि जहां अद्वैत दर्शन में आश्रमादि व्यवस्था को ब्रह्मज्ञानी के लिये अनिवार्य नहीं बतलाया गया है, वहां आचार पक्ष की रक्षा के लिए आश्रमादि व्यवस्था को स्वीकार भी किया गया है।^१ इस लेखक का दिचार है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम की व्यवस्था का पालन करने से मोक्ष मार्ग में सरलता हो जाती है। अत आचार की दृष्टि से आश्रम व्यवस्था का महत्व भी स्वीकार्य होना चाहिये। इस प्रकार उर्म एवं आश्रमादि वीं व्यवस्था के द्वारा अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादकों ने अद्वैत दर्शन के आचार पक्ष को ही सबल बनाया है।

द्वितीय अध्याय

अद्वैतवाद का अन्यवस्थित इतिहास

वैदिक अद्वैतवाद

अद्वैतवाद दर्शन के एकमात्र तत्व ब्रह्म के सत्, सर्वव्यापी, अनादि एवं अनल्ल होने के कारण इस अनादि सृष्टि में, उसके रहस्यमय रूप की जिज्ञासा एवं तद्विषयक चिन्तन - मनन की प्रवृत्तियों का अनादिकाल से ही पावा जाना स्वभाविक है। यही कारण है कि अद्वैतवाद का सैद्धान्तिक विकास गत्युत्तरकाल (दंस्तराचार्य काल) में होने पर भी, वैदिक साहित्य के अन्नगंत हमें अद्वैतवाद दर्शन की पृष्ठभूमि को बलवती बनाने वाली अभिव्यक्तियां मिलती हैं। इस स्थल पर हम वैदिक साहित्य के थंग-संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों आरण्यकों और उपनिषदों में अद्वैत दर्शन की पोषक अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

संहिताएँ और अद्वैत वेदान्त

संहिताओं में दार्शनिक विचारों की उपलब्धि के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस्पीरियल गजेटियर में कहा गया है कि इस काल में ही चिन्तकों द्वारा आत्मवाद का चिन्तन आरम्भ हो गया था^१। इस सम्बन्ध में प्रो० कीय ने कहा है— The earliest poetry of India already contains many traces of the essential character of the philosophy of India.^२

अर्थात् भारत की प्राचीनतम कविता में भारतीय दर्शन के मौलिक स्वरूप के चिह्न पहले से घर्तमान हैं।

प्रो० मैथमूलर^३ तथा डायसन^४ ने भी वैदिक संहिताओं में भारतीय दर्शन के बीज निःसंकोच रूप से स्वीकार किए हैं। अब यहां यह देखने का प्रयत्न किया जाएगा कि संहिताओं में भारतीय दर्शन की प्रमुख विचारधारा अद्वैतवाद के बीज किस सीमा तक उपलब्ध होते हैं।

१. तिलेपुतैलवद्वेदेवेदान्तः सुप्रतिष्ठतः । मु० उ० १ । ६ ।

वेदा: ब्रह्मात्म विषया: । श्रीमद्भागवत ११ । २१. ३५ ।

२. Imperial Gazetteer of India, Vol. : I, p. 404.

३. Keith : RELIGION AND PHILOSOPHY OF THE VEDA, p. 433. Harvard Oriental Series, Longman Vol : 32.

४. MaxMuller : THE SIX SYSTEMS OF INDIAN PHILOSOPHY, Vol : II, p. 32.

५. Deussen : ALLGEMEINE - GESEHICHTE DER PHILOSOPHIE, p. 83.

ऋग्वेद सहिता और अद्वैतवाद

देवतावाद और अद्वैतवाद —ऋग्वेद के अन्यंत गाप्त देवताओं के वर्णन में अद्वैतवाद मिहान की साट पृष्ठभूमि दिलाई मिलती है। मैत्रमूलर द्वारा विचारित हेनोथीस्म (Henothicism) की विचारधारा में भी अद्वैतवाद के अन्यंत प्रतिसादित परमात्मा सम्बन्धित सवशक्तिवाद की द्वापा मिलती है। हेनोथीस्म की विचारधारा वे सम्बन्ध में पाश्चात्य समाजोचक विद्वानों में वहा भत्तेद उत्तर्ण हो गया था। अर्थात् विद्वान् प्रो० वेवर भी हेनोथीस्म के सम्बन्ध में भ्रात हो गये थे।^१ वदाचिन् हेनोथीस्म के सम्बन्ध में होने वाली आन्तियों की आशका से ही मैत्रमूलर ने हेनोथीस्म की विचारधारा दो गाप्त करते हुए चिपा है—

.. to address either Indra or Agni or Vrtruna, as for the time being the only God in existing with an entire forgetfulness of all other gods, is quite another, and it was this phase, so fully developed in the hymns of the Veda, which I wished to mark definitely by a name of its own calling it Henothicism.^२

मैत्रमूलर की उपर्युक्त पक्षियों के अनुमार अन्य देवताओं की सत्ता को पूर्णतया भूलकर इन्द्र अथवा अग्नि वर्षण को अद्वैतीय देवताता के रूप में सम्बोधित करना 'हेनोथीस्म' का विचार है। उच्च विचार के अनुमार त्रिस मनव त्रिम देवतावाद वर्णन दिया जाता है उस समय उमसा स्वरूप सर्वोच्च होता है। परन्तु इसमें यह कहाँ नहीं गगड़ना चाहिए कि एक देवता की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन करते मनव वनर देवताओं का मूल्यन्यून हो जाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि उस समय देवताओं के वर्णनकर्ता की दृष्टि में अब देवताओं की सत्ता का लोगन्या रहता है। अन्य देवताओं की मना के लोप का कारण भौति दृष्टि में यही प्रतीत होता है कि वर्णनकर्ता का मतिलक्ष स्वरचि के अनुमार त्रिम देवता में प्रभावित होता था, वह उसी को सर्वोच्च एव सर्वशक्तिमात् मानते वर्णन करता था। यही कारण है कि एक स्थान पर यदि इन्द्र को सर्वशक्तन एव उत्कृष्टतम् वहा गया है तो एक दूसरे स्थान पर वर्षण देवता को अविन भुवन का अविनित वहा गया है। इसके अनिरिक्त एक अन्य स्थल पर वर्षण देव की प्रधानता वो दोनित वरते हुए उनकी प्रक्षा वो अहंस्य वहा गया है। इस प्रकार वर्षण देवता को भी विलोक्ति का निरोभूत वहा गया है। इस प्रकार के वर्णन, चाहे प्रो० मैट्डोनेस के भत्ते में अत्युभित पूर्ण ही क्यों न हो,^३ परन्तु इतना तो नि सकोच कहा जा

^१ MaxMuller SIX SYSTEMS OF INDIAN PHILOSOPHY, Vol. II, p 39

^२ वही, प० ३६।

^३. THE RIGVEDA by Dr. Adolf Kaege, p 27

^४. ऋग्वेदमहिता ५। ३०। ५।

^५ वही ० ५। ८५। ३।

^६ ऋग्वेद ५। ८५। ६।

^७ ऋग्वेद १०। ८८। ५।

^८ Macdonell: Vedic Mythology, p 17

सकता है कि उनमें अद्वैतवादी विचार की आरम्भिक पृष्ठभूमि निश्चित मिलती है। परन्तु यहाँ वह संकेत करना भी उत्तम होगा कि जहाँ देवताओं के अत्युक्तिन्यूण वर्णन में अद्वैतिक विचार के वीज मिलते हैं, वहाँ देवताओं के पारस्परिक सम्बन्ध एवं स्वतन्त्र सत्ता के आधार पर वहृदेवताद का भी समर्थन होता है।^१

प्रजापति, विश्वकर्मा एवं त्वष्टा के वर्णन में अद्वैतवाद के वीज

ऋग्वेद में प्रजापति, विश्वहर्मा और त्वष्टा सर्वोच्च देवताओं के रूप में वर्णित हुए हैं। ऋग्वेद में प्रजापति को अद्वैतीय अशीश्वर एवं अखिल जगन् का स्वप्ना कहा गया है।^२ इसी प्रकार विश्वकर्मा को भी जगन् का स्वप्ना तथा पालक एवं इन्द्रादि देवताओं का निर्माण करने वाला तथा उन्हें तत् तत् पदों पर स्थापित करने वाला कहा है।^३ ऋग्वेद में प्रजापति एवं विश्वकर्मा की ही तरह त्वष्टा को भी सर्वोच्च देवता का रूप दिया गया है। त्वष्टा के मन्त्राव में कहा है कि वे द्यावा पृथिवी एवं संगार के समस्त प्राणियों के न्यूप्ता हैं।^४

उपर्युक्त देवताओं के सर्वोच्च एवं देवाविदेवत्व के रूप में हमें अद्वैत वेदान्त के परात्पर एवं जगन् के स्वप्ना परमात्मा के स्वरूप के वीज रूप में दर्शन होते हैं।

परमनन्त्व के एकत्र एवं अजत्त्व की अभिव्यक्ति

ऋग्वेद संहिता के अन्तर्गत प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त के पाठ मन्त्र में पड़ लोकों के धारण कर्ता को अजन्मा एवं एक कहा गया है।^५ आचार्य सायण ने उक्त मन्त्र में वेदान्त दर्शन के ब्रह्म मन्वन्धी विचार के वीज रूप में दर्शन किये हैं।^६ ऋग्वेद के—‘एकसंद्विप्रा वहुधा वदन्ति’^७ वाक्य के अन्तर्गत भी एक तथा सत् तत्त्व की ओर ही संकेत है। उक्त वाक्य में एकत्र में अनेकत्र की कल्पना अद्वैतवाद के विवरणवाद का ही मूलरूप है। नासदीय सूक्त में तो, जिसका देवता परमात्मा है, स्पष्ट उल्लेख है कि प्रलयकाल में केवल एक तत्त्व के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं था।^८ नासदीय सूक्त के द्वारा एक तत्त्व में भी परमात्मा की ही अभिव्यक्ति मिलती है। नासदीय सूक्त की अद्वैतिक विचारव्याप्ति का निरूपण अगे किया जायेगा।

पुरुष सूक्त के विराट् पुरुष में ब्रह्म के स्वरूप की पृष्ठभूमि

ऋग्वेद में पुरुष सूक्त के अन्तर्गत विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए कहा है कि विराट् पुरुष सहस्र अिरों, अनन्त चक्षुओं तथा अनन्त चरणों वाला है। वह (विराट् पुरुष) भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके तथा दशांगुन वरिमाण अविक होकर—ब्रह्माण्ड से वाहर

१. Das Gupta : INDIAN PHILOSOPHY, Vol. I, p. 19.

२. ऋग्वेद संहिता १०।१२।१-१०।

३. वही, १०।८।२।

४. वही, १।१।१।६।

५. वही, १।१।६।४।६।

६. नायण भाष्य, ऋग्वेद १।१।६।४।६।

७. ऋग्वेद १।१।६।४।६।

८. तदेक तस्माद्बान्यन् परः किञ्चनाम—ऋग्वेद १०।१२।१।२

भी अवस्थित है।^१ यह सारा ब्रह्माण्ड उस विराट् पुरुष का चतुर्पाँच मात्र है। इस विराट् पुरुष के अविनाशी तीन पाद तो दिव्यलोक मे स्थित हैं। पुरुष के सण्ठा रूप का वर्णन करते हुए पुरुष सूक्त मे कहा है कि उम आदि पृथ्वी से विराट् (ब्रह्माण्ड देह) उत्तरन हुआ और ब्रह्माण्ड देह का बायर्य करके भीव रूप से पुरुष उत्तरन हुए। ते देव मनुष्यादि रूप हुए। उन्होने भूमि बनाई और पुन भीवों के शरीरों की रचना की।^२ इस एकार पुरुष सूक्त के पुरुष को अद्वैत वेदान्त के उम ब्रह्म का पूर्वाल्प कहता जनुचित न होगा जो सर्वत्र व्यापक तथा जगत् का कारण है।

नासदीय सूक्त और अद्वैतवेदान्त

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से ऋग्वेद वा नासदीय सूक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूक्त है। लोकमान्य तिलक ने तो इस सूक्त को मनुष्य जाति का सर्वोत्कृष्ट स्वाधीन चिन्नन करा है।^३ वस्तुत नासदीय सूक्त ऋग्वेद काल के ऋषियों के अलौकिक दार्शनिक चिन्नन का पूर्णतर परिचायक है। इस सूक्त का देवना भी परमात्मा है। इन सूक्त का ऋषि परमेष्ठी प्रजापति जगत् वी प्राग्रम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि सृष्टि के आरम्भ मे न अपन् या और न न अपन् न दिन था और न रात थी। पृथिवी भी नहीं थी और जाकाश तथा आकाश मे विद्यमान गत्यामुक्त भी नहीं थे। आवरण (ब्रह्माण्ड) भी कहा था? विमर्श कहाँ स्थान था? कहा उम समय दुर्गम और गम्भीर जल था?^४ इस प्रकार जगत् वी आरम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उम समय सभी अज्ञान और सभी जलमय था। तुच्छ वस्तु अज्ञात् द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छल्न था। तपस्या के प्रभाव से वह एक तत्त्व उत्तरन हुआ।^५ इसी पश्चात् परमात्मा मे सृष्टि की इच्छा उत्तरन हुई।^६ उत्तरिष्ठ से भी परमात्मा वी तिरूक्षा वी और सैन करते हुए कहा है—सोऽज्ञामयन वहुस्या प्रजायेष इति^७ सृष्टि का आरम्भ यताने हुए नासदीय सूक्त मे कहा है कि सर्व प्रथम परमात्मा से वीज वी उत्पत्ति हुई और ब्रुदिमानों ने दुष्कृद्वारा अपने वक्त करण मे विचार वरके अविद्यमान वस्तु से विद्यमान वस्तु का उत्तरात्ति स्थान निर्विति निया।^८ इसी सूक्त के सप्तम मन्त्र मे परमात्मा वी और सैन करते हुए कहा है कि यह नाना मूर्च्छिया वहा से उत्तरन हुई इन्हें सृष्टिया उत्तरन की, विन्मने नहीं की—यह सब वे ही जानें जो इनके रक्षामी परमधार्म मे रहते हैं। वह सर्वत्र परमात्मा ही इस सृष्टि को जानना है जन्य कोई नहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्थन वी दृष्टि से नासदीय सूक्त मे परमात्मा को अज्ञान से

१. ऋग्वेद १०।६०।१।

२. वही १०।६०।३,५।

३. ऋग्वेद सहिता ११।१२६ पर देखिये पाद टिप्पणी (श्रीरामायण का द्वारा प्रकाशित, मुलायं गज, १६३२)।

४. ऋग्वेद १०।१२६।१।

५. ऋग्वेद सहिता १०।१२६।३।

६. कामस्नादये समवर्त्त।—ऋग्वेद सहिता १०।१२६।३।

७. तंतिरीयोपनिषद् ब्रह्मतत्त्वी, पठ अनुदाक।

८. ऋग्वेद १४।१२६।६।

आच्छन्न कहना, परमात्मा की सिसृभा का वर्णन करना, परमात्मा से धीजोत्पत्ति का निरूपण करना तथा परमात्मा की सर्वज्ञता की ओर निर्देश करना अद्वैत वेदान्त के परमेश्वर के रूप का ही अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन करना है।

शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत नासदीय सूक्त की प्राचीनतम टिप्पणी मिलती है।^१ इस टिप्पणी के अनुसार “आरम्भ में यह जगत् न सर्व रूप था और न असत् रूप था। आरम्भ में यह था भी और नहीं भी था। उस समय केवल मन मात्र की ही सत्ता थी। यही कारण था कि क्रृष्ण ने यह कहा कि ‘न अमत् आसीन् नो मत् आमीत् तदानीम्’ अर्थात् आरम्भ में न असत् था और न सर्व था क्योंकि मन न सन् है और न अमत् है। उम मन ने ही अनेक रूपों में प्रगट होकर अनेक रूप ग्रहण करके सृष्टि की इच्छा की। उमने अपने आपको खोजा, फिर तप किया और इस प्रकार फिर सृष्टि की उत्पत्ति हुई।”^२

इस प्रकार शतपथब्राह्मण की उपर्युक्त टिप्पणी से यह पता चलता है कि सत् असत् तत्त्व की जो विवेचना उत्तर काल में आकर अद्वैत वेदान्त की मूलाधारवनी, उसका आरम्भिक रूप हमें नासदीय सूक्त के अन्तर्गत मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत मायिक जगत् को सत् तथा असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा गया है। यह सिद्धान्त नासदीय सूक्त के अन्तर्गत ‘नासदासीन्नो सदासत्तदानी’ मन्त्र में अन्तर्भूत है। नासदीय सूक्त के अन्तर्गत प्रयुक्त असत् शब्द का अर्थ शशविष्पाणवत् असत् तथा सत् शब्द का अर्थ निर्वाच्य पदार्थ से है।^३ इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में जो मूल तत्त्व था वह न शशविष्पाण वत् असत् था और न निर्वाच्य (व्यावहारिक) सत्। इमीलिए वह सत् तथा असत् से विलक्षण है।

प्रो० गफ़ ने नासदीय सूक्त के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के मायावाद सिद्धान्त के मूल रूप के दर्घन किये हैं।^४ प्रो० गफ़ के कथन का औचित्य इस तथ्य से प्रकाशित होता है कि जिन प्रकार नासदीय सूक्त में जगत् के मूल कारण को सत् तथा असत् से विलक्षण कहा गया है, उनी प्रकार अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य शंकराचार्य ने भी जगत् की उत्तरादिका धीज शक्ति अविद्या को सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है। परन्तु यहाँ यह और विचारणीय है कि नासदीय सूक्त में मूल तत्त्व के जिस सत् रूप का निषेव किया गया है उससे निर्वाच्य एवं व्यावहारिक मत् का तात्पर्य है, परन्तु इसके विपरीत माया की सद्गता के निषेध से उपकी (माया की) पारमायिक सत्ता के निषेव का तात्पर्य है।

हंसवती ऋचा और अद्वैत वेदान्त

अद्वैत वेदान्त विचारधारा की दृष्टि से ऋग्वेद की हंसवती ऋचा (४।४०।५) अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस ऋचा के अन्तर्गत सर्व प्राणियों के चित्त में स्थित एव समस्त उपाधियों से रहित परमात्मा का वर्णन हंस रूप में किया गया है। यहाँ हंस शब्द का अर्थ आदित्व है। इस ऋचा

१. शतपथब्राह्मण १०।५।३।१।

२. Dr. Muir: SANSKRIT TEXTS, p. 358, 'Eggeling's Translation of S. B. S. B. E. Vol. XLIII, p. 374, 375.

३. यदस्य जगती मूलकार्ण तत् असत् शशविष्पाण त्रिनिरूपाख्यं न आसीत् ।” तथा नो सत् नैवसदात्मवत् सत्वेन निर्वाच्यम् आसीत् । सायणभाष्य ऋग्वेद १०।१२६।१।

४. गफ़ के मत के लिए देखिए—जै० कीतिकर—स्टडीज इन वेदान्त, पृ० ३८।

के अन्तर्गत आदित्य का वर्णन सर्वांगिष्ठान ब्रह्म के रूप में करते हुए कहा गया है कि आदित्य दीप्त द्युमोह में स्थित रहते हैं। वे ही वायु रूप में अन्तरिक्ष में अवस्थित रहते हैं तथा हीता (वंदिकामिन) के रूप में वे ही स्थूल पर गाहूंपत्यगदि रूप में स्थित रहते हैं एवं अतिथिवर् पूज्य होता रह गढ़ (पाकादि माधव रूप से) अवस्थिति करते हैं। वे मनुष्यों के मध्य में चैत्यरूप से स्थित रहते हैं। इस लेखक की दृष्टि से उक्त विचार आदित्य की परमात्म रूपता का दोषतात्त्व है। इस अच्छा में आदित्य की परमात्मस्तका का वर्णन करते हुए कहा है कि वे वरणीय मण्डल अत (सत्य ब्रह्म या पत्र) तथा जन्तरिक्ष में स्थित रहते हैं। वे (आदित्य) जल में उत्पन्न हुए हैं रम्भिमो में उत्पन्न हुए हैं सत्य में उत्पन्न हुए हैं तथा पर्वतों में उत्पन्न हुए हैं। आदित्य के सर्वदृश्य एवं सत्य जात स्वरूप को निश्च वर्तने हुए सायण वा क्षयत है कि आदित्य इन्द्रादि को तरह परीक्ष नहीं होते।^१

हम दोनों अच्छा के अन्तर्गत आदित्य का वर्णन सर्वांगी परमात्मा के रूप में विया गया है। आदित्य वे उत्तर रूप का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत भी मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण के मन्त्र में भी आदित्य का मूलक हम शब्द ही है।^२

इस प्रकार अग्नवेद सहिता के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त की मूल पृष्ठभूमि अपने परिपक्व रूप में मिलती है।

सामवेद सहिता और अद्वैत वेदान्त

जैसा कि प्री० ग्रिफिथ ने कहा है सामवेद वा महत्त्व पवित्रता एवं धार्मिकता की दृष्टि से अग्नवेद से दूसरा है।^३ परमात्मा कृष्ण ने तो गीता में अपने थाप को सामवेद ही कहा है—वेदना सामवेदोऽस्मि (गीता १०।२२)। अत परमात्मा रूप सामवेद में परम तत्त्व सम्बन्धी विचार सूत्र मिलना आशक्यास्तपद नहीं है। सामवेद वे अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के परम तत्त्व ब्रह्म को सत्यरूप बाला कहा है।^४ ब्रह्म वी एक मात्र सत्यला अद्वैतवेदान्त का तो प्राण ही है। इसके अनिरिक्त सामवेद के एक मन्त्र^५ में मृष्टि के आदिकारण के रूप में भी अद्वैत तत्त्व स्वरब्रह्म की चर्चा हुई है। यद्यपि उक्त मन्त्र के अन्तर्गत ब्रह्म शब्द का स्पष्ट उल्लेख

१ देविये, सायण भाष्य, अग्नवेद ४।४०।५।

२ हम धुचिपरिदर्शेष वै हम गुचिपत् ॥ (ऐ० ग्रा० ४।२०)

३ The Samveda or Veda of holy songs, third in the usual order of enumeration of the three vedas, ranks next in sanctity and liturgical importance to the R, gveda or veda of Recited praise
R T. H. Griffith THE HYMNS OF THE SAMVEDA, preface, (Lazaras & Co Banaras) 1926

४ सामवेद १।३।४।१० (थीराम सर्मा वाचार्य सामवेद, गायत्री तपोभूमि, मयुरा १६६)।

५. In all the worlds that was the best and highest whence sprang the mighty one, of splendid valour R. T. H. Griffith · HYMNS OF THE SAMVEDA, 8/4/17.

नहीं है। परन्तु जैसा कि आचार्य सायण मानते हैं तत्^१ शब्द से यहां ब्रह्म का ही तात्पर्य है।^२ 'स्टीवेन्सन ने तत्' (that) शब्द से आदिम मूल तत्त्व का अर्थ ग्रहण किया है।^३ मेरे विचार से यहां तत शब्द का अर्थ सृष्टि का आदि कारणरूप मूल तत्त्व ही प्रतीत हो गा है। इसी मूल तत्त्व की परवर्ती वेदान्त दर्शन में ब्रह्म रूप से विस्तृत व्याख्या हुई है। सामवेद संहिता में एक स्थल^४ पर ब्रह्मज्ञान का संकेत भी मिलता है। इस स्थल पर स्कालिअस्ट (Scholiast) के अनुसार 'Great delight' का अर्थ ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान है।^५ मेरी विचार दृष्टि से 'Great delight' का अर्थ ब्रह्मानन्द ही है।

उपर्युक्त संकेतों के आधार पर यह मन्देहास्पद नहीं रह जाता कि सामवेद के अन्तर्गत भी अद्वैत वेदान्त के पुष्ट एवं प्रामाणिक संकेत मिलते हैं।

यजुर्वेद संहिता और अद्वैत वेदान्त

यजुर्वेद संहिता के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित विचार रेखायें मिलती हैं। यहां कठिपय स्थलों की ओर ही संकेत किया जायेगा।

यजुर्वेद के ३२वें काण्ड के प्रथम से पंचम मन्त्र तक के स्थल में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि दिव्य, सुर्पण, गरुडमान्, यम और मातरिश्वा आदि नाम उस एक ही परमात्मा के हैं। वही परमात्मा अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र ब्रह्म आदि और प्रजारति आदि नामों से अभिहित होता है। सब निमेपादि कालविभाग उसी के उत्पन्न किये हुए हैं। वह ऊपर, नीचे, तिरछे और मध्य से नहीं ग्रहण किया जा सकता। उसकी कोई प्रतिमा नहीं है, क्योंकि वह महान् यश वाला है। इसीलिए अनेक वेद मन्त्र उसकी स्तुति करते हैं। परमात्मा के सर्वव्यापकत्व एवं अधिष्ठातृत्व को सिद्ध करते हुए इसी स्थल पर कहा है कि वही देव सब दिशा-विदिशाओं में व्याप्त है और वही सब के अन्दर पहिले से स्थित है।^६ इसके अतिरिक्त वीसवें काण्ड के ३२वें मन्त्र में परमात्मा को समस्त भूतों का अधिपति तथा समस्त लोकों का अधिष्ठान स्वीकार किया गया है।^७ अद्वैत वेदान्त के मत के अनुसार भी ब्रह्म समस्त जगत् का अधिष्ठान ही है। एक और

१. तदिहास भुवनेषु ज्ञेऽर्थं यतोऽज्ञ उग्रस्त्वेष नृणः—सामवेद ६।३।१७ श्रीराम आचार्य संपादित, पृ० ३६२।

२. That : meaning, according to Sayana, Brahman, the original cause of the universe, that (Primoval essence alone) Stevenson, R. T. H. Griffith : THE HYMNS OF THE SAMVEDA, p. 266 (F. N.).

३. R.T.H. Griffith : THE HYMNS OF THE SAMVEDA, p. 266 (F.N.).

४. सामवेद ६।२।१० (ग्रिफिथ सम्पादित)

५. Great delight : meaning according to Scholiast, perfect knowledge of Brahman. R. T. H. Griffith : THE HYMNS OF THE SAMVEDA, p. 331 (F. N.).

६. यजुर्वेद ३२।१-४।

७. यो भूतानामधिपतिर्यस्मिल्लोका अधिष्ठितः—यजुर्वेद २०।३२।

मन्त्र में परमात्मा को समस्त लोक लोकान्तरों का वेता कहा गया है।^१ ४०वें अध्याय के प्रथम मन्त्र के अन्तर्गत 'ईशावास्यमिद सब द्वारा भी अद्वैत सत्ता का ही बोध होता है। यजुर्वेद के अन्तर्गत उपलक्ष्य प्रमिद्व विशद् पुष्ट वा वर्णने^२ भी अद्वैत मत का ही समर्थक है। एक अन्य स्थल पर ब्रह्म रूप होने की स्थिति का वर्णन वरते हुए कहा है कि जो द्यावा पृथिवी को प्रद्यु जानकर और लोकों को भी ब्रह्म मानते हुए तथा दिशाओं और स्वर्गादि की परिक्रमा कर, यत्त कर्म दो अनुष्ठान आदि से सम्पन्न न कर ब्रह्म को देखता है, वह अत्तान से छूटते ही ब्रह्म स्प हो जाता है।^३

यजुर्वेद में ब्रह्म और माया शब्दों का प्रयोग

ब्रह्म शब्द का प्रयोग यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर हुआ है।^४ परन्तु यह विचारणीय है कि इन शब्द का प्रयोग वहा सर्वत्र परमात्मा या अद्वैत तत्त्व के लिए ही नहीं मिलता। ब्रह्म शब्द का प्रयोग यजुर्वेद में ही परमात्मा,^५ वही ब्रह्म,^६ कही ब्रह्मण^७ और वही प्रजापा^८ के लिए किया गया है।

अद्वैत सिद्धान्त की प्रतिपादक माया का उल्लेख भी यजुर्वेद में अनेक स्थलों पर मिलता है। यजुर्वेद के ११वें अध्याय के ६१वें मन्त्र में आमुरी माया का वर्णन किया गया है। यहा माया की अविन्यस्यना तथा विचित्रता भी प्रतीन होती है। यजुर्वेद में माया शब्द का प्रयोग प्रायः प्रजा के लिए ही किया गया है।^९

इस प्रकार यजुर्वेद महिता में हम अद्वैतवाद में सम्बन्धित पर्याप्त विकीर्ण मामणे मिलती हैं।

अथर्ववेद सहिता और अद्वैत वेदान्त

ऋग्वेद, सामरेद, और यजुर्वेद सहिताओं की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का कहीं अधिक साप्त उन्नेव अथर्ववेद सहिता में उल्लंघन होता है। इस मन्त्रभूमि में परा वित्तिय स्थलों का विवेचन किया जायेगा।

वेदान्त सूत्र के अन्तर्गत वादाराध्यन ने, 'नदतन्यत्वमारभमणगद्वादित्य'^{१०} सूत्र के द्वारा वारण ब्रह्म से कार्यं जगत् की अनन्यता स्वीकार करने हुए अद्वैतवाद के समर्थन विवरणाद मिदान्त की पुष्टि की है। अथर्ववेद महिता के अन्तर्गत भी हमें परमात्मा के इस अनन्यत्व प्राप्त

१. यजुर्वेद ३२।१०।

२. वही, ३।१५।

३. वही, ३।१२।

४. यजुर्वेद सहिता २३।४८, २३।६२ १।१।८।, २२।२२ ३।२।१।, ३।२।१६, ३।२।१२, ३।१।१।

५. यजुर्वेद २३।४८, २३।२२, ३।२।१। ३।२।१२।

६. वही, २३।६२।

७. वही, १।१।८।, ३।२।१।

८. वही, ३।२।१।

९. वही, १।३।४४, ३।०।३।

१०. सू. २०।२।१।४।

अधिष्ठान रूप के दर्शन होते हैं। अथर्ववेद संहिता में कहा गया है कि गुहाहृष्ट सब प्राणियों के हृदय में भूत्य, ज्ञानादि लक्षण वाला परब्रह्म विद्य नाम है, जिस अधिष्ठान रूप ब्रह्म में आरोपित गम्भीर जगत् एकाकार हो जाना है, वरोकि आरोपित वस्तु अधिष्ठान से अनगत नहीं होती।^१ ऐसे ब्रह्म को वेन-भूर्य ने देखा। इस प्रकार नाम रूपात्मे प्रसंचरण भौतिक जगत् को ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण, तर्वं विक्ति सम्पन्न होने से पृथिवी (भूर्य या आकाश) ^२ ने प्रकट नाम और हृष्ट वाला कहा है।^३ अथर्ववेद में एक स्थन पर ब्रह्म को उपदेश योग्य सिद्ध करते हुए कहा है कि निरुपाचिक ब्रह्म के तीन पद गुहा में निहित हैं। इससे यहा पर तात्पर्य है कि गुहा में स्थित पदार्थ के समान अवशाल एवं अपरिच्छिन्न ब्रह्म के बल उपदेश द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।^४ आगे चनकर अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक नदानन्द ने भी अव्यारोप एवं अपवाद न्याय के द्वारा ब्रह्म विद्या के उपदेश की वान वत्तनाई है।^५

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड में एक स्थान ५२ माया शक्ति नम्पन ब्रह्म का वर्णन है। इस स्थान पर कहा गया है कि परब्रह्म अपनी माया शक्ति ने आदित्य (वेन) का ऊपर ग्रहण करके अपने तेज से भूतभौति कास्तम्ह प्रपञ्च रूप जगत् को व्याप्त किये रहता है।^६ एक अन्य स्थल पर भी ब्रह्म की व्यापकता की ओर सकेत कर्त्ता हुए कहा है कि वह (ब्रह्म) ही ब्रह्मा, यिव, हरि, इन्द्र, भूतराज्यं परम तत्त्व का स्वरूप है।^७ परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत परब्रह्म के उक्त स्वरूप का विवरण विस्तार ने किया है।

अद्वैतवेदान्त के दृष्टिकोण के अनुसार परब्रह्म का बोध अविद्या निवृत्ति होने पर जीव को अपने में ही होता है। उक्त विचार की मूल पृष्ठभूमि हमें अथर्ववेद महिता में उक्त स्थल पर निनती है जहा विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए कश्यप अपि यह कहते हैं कि अप्राणा विराट् प्राप्तान करने वाली प्रजायों के प्राणहृष्ट में जाता है, और विराट् स्वराट् हृष्ट को प्राप्त हो जाता है। संवेदवर्णी विराट् के दर्शन पुरुष माया से अमोहित होने पर ही कर सकते हैं, मोहित होने पर कदाचि नहीं।^८ अद्वैत वेदान्त नम्पत जगत् की उपादान कारणता के स्वप्न यीव भी हमें अथर्ववेद में उम स्थल पर उपलब्ध होते हैं जहा ब्रह्म की लक्ष्मि की गई है। इस स्थल पर कहा गया है कि ब्रह्म होना है और योतिष्ठोम आदि यज्ञ भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म के द्वारा ही सप्त स्वरों एवं उदात्तादि की यज्ञानुप्रवेष्टना व्यार्थं उद्गतृत्व आदि हैं। इस स्थल पर ब्रह्म के होता आदि कहने से ब्रह्म का जागतिक पदार्थों त्रे अपार्थक्य एवं उपादान कारणत्व सिद्ध होता है।^९

१. यत्र यस्मिन् अधिष्ठान रूपे ब्रह्मणि विश्वम् ज्ञारोपितम् हृतस्तं जगत् एकहृष्टं एकाकारं नवति, ज्ञारोपितस्य अधिष्ठान व्यतिरेकेण सत्काभावात् ॥ सायणभाष्य—अ० वे० सं० २११११।

२. दिवश्च लादित्यस्य च साधारणतामैतत (सायणभाष्य—अ० वे० सं० २११११)।

३. अथर्ववेद संहिता—२११११।

४. देविये अथर्ववेद संहिता २११११ पर सायण भाष्य।

५. वेदान्त सार ४।

६. सायणभाष्य अथर्ववेद संहिता ४।१।१।

७. नायण भाष्य अथर्ववेद संहिता ४।१।१।

८. सायण भाष्य अथर्ववेद संहिता ४।४।१।

९. अथर्ववेद संहिता १६।५।४।१।

इस प्रकार अथर्ववेद साहिता के अन्तर्गत हमें अद्वैत वेदान्त का पर्याप्त विकसित पृष्ठाधार मिलता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ और अद्वैत वेदान्त

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत महिताओं के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों वा महत्व है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत ज्ञान एवं कर्मज्ञाण मन्त्रान्धी अनेक विवेचन मिलते हैं। ब्राह्मणों में अद्वैत वेदान्त से सम्बन्धित अनेक विचार सर्वेत मिलते हैं।

अथर्ववेद में ब्रह्म का दार्शनिक अर्थ में स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। सर्व प्रथम शतपथ ब्राह्मण में ही ब्रह्म सम्बन्धी विवेचन मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत ब्रह्म वा स्पष्ट विवेचन वर्ते हुए कहा गया है कि आरम्भ में यह जगत् ब्रह्म स्पष्ट ही था।^१ इसी ने पहिले देवताओं की सूचिकी और किर उन्हें भिन्न भिन्न लोकों वा स्वाभित्व प्रदान किया, जैसे अग्नि को इस भर्त्य लोकवा, वायु को वायुतोक वा और सूर्य को आशाश लोक वा। तद् पश्चात् ब्रह्म परार्थ व्यवहा मत्यतोक को चला गया।^२ किर उसने इस पर विचार किया कि वह किस प्रकार इस जगत् में अवतरित हो सकता है। उक्त विचार के बाद वह नाम और हा के द्वारा इम जगत् में अवतरित हुआ। इसी प्रसाद में आगे कहा गया है कि नाम और स्पष्ट ब्रह्म दो महती शक्तियाँ हैं। जो इन नाम और स्पष्ट शक्तियों को जान सकता है वह स्वयं महती शक्ति में सम्मन्न हो जाता है।^३ एक दूसरे म्यान पर ब्रह्म का पूर्ण मत्ता के स्पष्ट में उल्लेख किया गया है तथा उसका सम्बन्ध प्रजापति, पुरुष एवं प्राण (वायु) से दियाया गया है।^४ इमें अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण में ही एक अन्य स्थल पर ब्राह्मण वो स्वयम्भू भी कहा गया है।^५ शतपथ में ही सूचिकी वे आरम्भिक स्पष्ट के सम्बन्ध में भी एक सूक्ष्म दृष्टि देते हुए कहा है कि आरम्भ में न सत् था और न असत्। उम समय वेवल मन (mind) मात्र ही था। मन ही ने अनेक हांगे में प्रकट होने की इच्छा की।^६ इसी सिद्धान्त विन्दु वा सविस्तार विवास हमें अद्वैत वेदान्त के 'सो कामयत ब्रह्मस्या प्रजापेय'^७ सिद्धान्त के अन्तर्गत मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में ईश्वर शब्द का प्रयोग भी मिलता है, परन्तु वहाँ इस शब्द का अर्थ परमेश्वर न होकर सामर्थ्यवान् है।^८

शतपथ ब्राह्मण के उपर्युक्त स्थलों में अद्वैत वेदान्त की विचारधारा वा स्पष्ट आधार ब्रह्म जा सकता है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत ईश्वर शब्द का प्रयोग तो हुआ है परन्तु वह परमात्मा के

१. श० ब्रा० १११२।३।१

२. श० ब्रा० १११२।३।१ पर देविएर्हरिस्कामी की टीका।

३. देविएर्हरिस्कामी की टीका।
४. देविएर्हरिस्कामी की टीका।
५. देविएर्हरिस्कामी की टीका।
६. देविएर्हरिस्कामी की टीका।
७. देविएर्हरिस्कामी की टीका।
८. देविएर्हरिस्कामी की टीका।

९. देविएर्हरिस्कामी की टीका।

१०. देविएर्हरिस्कामी की टीका।

११. देविएर्हरिस्कामी की टीका।

१२. देविएर्हरिस्कामी की टीका।

अर्थ में नहीं।^१ ऐतरेय ब्राह्मण में ही वृहस्पति का ब्रह्म रूप से भी वर्णन मिलता है।^२ इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण में परमात्मा का विराट् रूप से भी वर्णन किया गया है।^३

तत्त्विरीय ब्राह्मण में कृष्णवेद के^४ इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि किस काष्ठ और किस वृक्ष से स्वर्ग एवं भूलोक की सृष्टि हुई, कहा गया है कि ब्रह्म रूप काष्ठ एवं ब्रह्म रूप वृक्ष से ही स्वर्ग एवं भूलोक का निर्माण किया गया है।^५ उक्त कथन से प्रद्युम्न की जगत् कारणता का तथ्य प्रकट होता है। तत्त्विरीय ब्राह्मण में ही ब्रह्म ज्ञानी के अर्थ में ब्रह्मवादी की चर्चा मिलती है।^६ उक्त अर्थ में ही एक स्थान पर तत्त्विरीय ब्राह्मण में ब्रह्मविद् शब्द का प्रयोग भी किया है।^७ तत्त्विरीय ब्राह्मण में ही ब्रह्म को शुद्धि का माध्यन भी कहा है।^८ पञ्चविंश ब्राह्मण के अन्तर्गत भी ब्रह्मवादी की चर्चा मिलती है^९ पञ्चविंश ब्राह्मण में प्रजापति का वर्णन किया गया है जो अनेक रूपों में प्रकट होने की कामना करते हैं।^{१०} सामवेद के दैवत ब्राह्मण में सकल साम मन्त्रों की सृष्टि ब्रह्म से ही स्वीकार वीर्य है तथा भिन्न-भिन्न देवताओं के व्याज से ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है।^{११}

ब्राह्मण ग्रन्थों के ब्रह्मविद्या रम्भन्धी उपर्युक्त संकेतों से अद्वैत वेदान्त के मूल इतिहास का परिचय मिलता है। संहिताओं की अपेक्षा ब्राह्मणों का वेदान्त कुछ अधिक स्पष्ट एवं सैद्धान्तिक है।

आरण्यक ग्रन्थ और अद्वैत वेदान्त

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आरण्यक ग्रन्थों में भी ब्रह्म विद्या का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। ऐतरेय आरण्यक में परम पुरुष को ही महान् प्रजापति का रूप दिया गया है—‘अयमेव महान् प्रजापतिः’ (ऐ० आ० २।१२)। आत्मा के विभूत्व को सिद्ध करते हुए ऐतरेय आरण्यक में कहा है कि आकाश और पृथिवी आत्मा का ही रूप हैं।^{१२} ऐतरेय आरण्यक में ही कहा है कि सच्चिदानन्द रूप परमात्मा ही जगत् का कारण है और वह यृत्पापाणादि, औपध्यादि

१. ईश्वरः पर्जन्योवर्पर्टोः (ऐ० ब्रा० ३।१८) ईश्वरोहनृणाकर्तोः (ऐ० ब्रा० १।१४) (डॉ० मंगलदेव शास्त्री के ‘हिंस्त्री आफदि वर्ड ईश्वर’ नामक लेख से उद्धृत। यह लेख सातवीं आल इन्डिया ओरियन्टल कानकेन्स वडोदा की रिपोर्ट के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है।)
२. ऐतरेय ब्राह्मण ३।२।१३।
३. वही, (प्रथम भाग पृ० २८) आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थ माला बनारस।
४. कृष्णवेद १०।३।१४।
५. ब्रह्म वर्ण ब्रह्म सबृक्ष आसीन् यतो द्यावा पृथिवी निष्टत्तमः। तै० ब्रा० २।८।१६।
६. ब्रह्मवादिनोवदन्ति, तै० ब्रा० १।३।१०।६।
७. तै० ब्रा० १।४।८।६।
८. वही, १।४।८।२।
९. पञ्चविंश ब्राह्मण ४।३।३, ६।४।१५।
१०. पञ्चविंश ब्राह्मण २।१।१।
११. दैवत ब्राह्मण २।२।१ तथा देखिए इसी पर सायण भाष्य।
१२. यावती वै द्यावा पृथिवी तावानात्मा ऐ० आ० १।३।८।

एवं प्राणधारियों में क्रम से अपने को प्रकट करता है।^१ सृष्टि की आरम्भिक मिथ्यति का वर्णन करते हुए ऐतरेयारण्यक में कहा है कि भारम्भ भ केवल आत्मा की सत्ता थी। उसने ही लोकों की सृष्टि की इच्छा की और फिर लोकों की सृष्टि की।^२ ऐतरेयारण्यक में ब्रह्म को प्रजान स्वयं कहा है।^३ ऐतरेयारण्यक में ही एक स्यान पर ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा है कि शार्कराक्षर (शार्कराक्ष नामक महर्षि के पुत्र) उद्दर ब्रह्म है, यद् मानकर उभाना उरते हैं और अश्व नामक महर्षि के पुत्र 'दृदय ब्रह्म है' ऐसा मानकर उपानिषद् उरते हैं।^४ इसके अतिरिक्त पुरुषों-धौरतात्त्विक वे सम्बन्ध भ कर्म और ज्ञान का समन्वय सिद्ध उरते हुए ऐतरेय आरण्यक में कहा है—ऐतर्यान्या—एतत्वर्त्तद् ब्रह्म (ऐ० आ० २।१।१) अर्थात् यह वर्म और ब्रह्म दोनों ही पृथ्यार्थ के माध्यम हैं। यहा मायण ने कर्म शब्द से प्रियव वे ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान का तासंयं ग्रहण किया है और ब्रह्मशब्द में विषय वे ज्ञान भाव का।^५

इस प्रकार ऐतरेयारण्यक में अद्वैत वेदान्त की विचार दूष्टि के सम्बन्ध में अनेक सरेत उपलब्ध होते हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक भ प्रजापति के सम्बन्ध में कहा है कि उन्होंने पहले अपने आपमें जगत् को उत्पन्न किया और फिर वे उम जगत् भ प्रवेश दर नये।^६ इस प्रकार मग्न जात् प्रजापति का ही क्षय है। यहा ब्रजापति का वर्णन परमात्मा के रूप म किया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में परब्रह्म की सत्ता को सिद्ध उरते हुए कहा है कि वह परब्रह्म ही जग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र जल और प्रजापति हैं।^७ इसी प्रकार तैत्तिरीय आरण्यक में एक और स्थल पर भी कहा है कि वह ब्रह्म ही ब्रह्मा तिव, हरि इन्द्र, लक्ष्मि और परम तत्त्व है। वह स्वतं दीप्त रहता है।^८

परबर्ती अद्वैत वेदान्त दूष्टि के अनुसार ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म रूप ही हो जाता है—‘ब्रह्मदिद् ब्रह्मं व भवति’। उबत विचार के सम्बन्ध में तैत्तिरीय आरण्यक में भी श्वास रूप से उल्लेख करते हुए कहा गया है—‘दद्यै व सन् ग्रह्याप्येति १ अर्थात् ब्रह्म न्या होता हुआ पुर्ण ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। एक दूसरे स्थान पर भी कहा है कि ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म में तीन हो जाता है—ब्रह्मवेद ब्रह्मं व भवति’^९—तैत्तिरीय आरण्यक म ही यह भी कहा है कि परमात्मा ने इस जगत् प्रकृति की सृष्टि की और किर वह उसी में प्रवेश दर गया।^{१०}

१. द्व० मग्नलदेव शास्त्री ऐतरेयारण्यक पर्यालोचनम्, पृ० ३५।

२. ऐ० आ० २।४।१।

३. प्रजान ब्रह्म—ऐ० आ० २।६।१।

४. उद्दर ब्रह्मेति शार्कराक्षया उपामते। दृदयब्रह्मेत्या दग्ध—ऐ० आ० २।१।४।

५. ऐतरेयारण्यक पर्यालोचनम्, पृ० १७।

६. तै० आ० १।२।

७. तैत्तिरामिन्स्तद्वायुत्तरै सूर्यस्तचन्द्रमा तदेवभुक्तद् ब्रह्म तत् आपस्तत् प्रजापति —१० आ० १।०।१।२।

८. तै० आ० १।०।१।२।

९. वही, २।१।

१०. वही, ८।१।

११. वही, ८।६।

शास्त्रायनारण्यक में जिसे कावेल ने कौपीतद्यारण्यक भी कहा है, आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने हुए लिखा है कि आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म अपूर्व, अपर, अनपर, अनन्त एवं ब्रह्म ही है।^१

उपर्युक्त संकेतस्थ्यनों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उपनिषद् पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में भी हमें अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म, आत्मा, जगन् और सोऽन आदि विचारों के स्पष्ट संकेतवर्णन गिनते हैं। उपनिषद् पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में आत्मा का व्यवहार तीन अध्यों में मिलता है—प्राण श्वास के जर्य में, विश्वात्मा के रूप में और जीवात्मा के रूप में।^२

उपनिषद् और अद्वैत वेदान्त

उपनिषदों में प्राप्त वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाद्यात्म विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यहाँ उनमें से कठिपय का उल्लेख करना उपर्युक्त होगा।

सदानन्द का मत

वेदान्त को उपनिषद् प्रमाण कहकर सदानन्द ने उपनिषदों में वेदान्त दर्शन की प्रमाणिक पृष्ठभूमि की ओर संकेत विया है।
(वेदान्त सार ३)

च्छूमफील्ड का मत

पाद्यात्म विद्वान् च्छूमफील्ड का तो यहाँ तक कहना है कि नास्तिक बुद्धवाद को मिनाकर हिन्दू दर्शन का कोई ऐसा महत्वपूर्ण रूप नहीं है जिसका मूल रूप उपनिषदों में निहित न हो।^३

मैक्समूलर का मत

प्राचीन उपनिषदों में वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि खोजते हुए मैक्समूलर का विचार है कि दर्शकर वेदान्तिकविचारों या उनके अंकुरों को प्रत्येक स्थिति में प्राचीन उपनिषदों में खोजने में सफल हुए हैं।^४

आयसन का मत

पाद्यात्म विद्वान् आयसन मैक्समूलर के मत के ही समर्यंक प्रतीत होते हैं। उन्होंने परवर्ती वेदान्त की अध्यार भूमि वेदान्त मूल को बोपनिषद् सिद्धान्त का ही नूत्न संग्रह कहा है।^५

१. शास्त्रायनारण्यकम्, व्योदय अव्याय; आनन्दाध्यम नस्कृत ग्रन्थावलि, १६२२।

२. S. N. Das Gupta : INDIAN PHILOSOPHY, Vol : I, P. 26.

३. There is no important form of Hindu thought, heterodox Buddhism included, which is not rooted in the Upanishads. (THE RELIGION OF THE VEDA, p. 51)

४. MaxMuller : VEDANTA PHILOSOPHY, p. 135.

५. Deussen : PHILOSOPHY OF UPANISHADS, p. 27.

प्रो० जे० एस० मेरेन्जी का मत

प्रो० मेरेन्जी का कथन है कि मृष्टि विज्ञान के क्रमिक सिद्धान्त वा प्राचीनतम् एव महत्वपूर्ण प्रयत्न यह है जो उपनिषदों में प्रकट किया गया है। इस प्रयत्न मेरेन्जी ने भी उपनिषदों को वेदान्त सिद्धान्तों की प्राचीनतम् पृष्ठभूमि के रूप में ही स्वीकार किया है।^१

प्रो० गफ का मत

गफ महोदय का विचार है कि उपनिषद् दर्शन के सर्वातिमहान् व्याख्याता शक्ति या शक्तराचार्य है।^२ गफ कहते हैं कि स्वयं शक्ति की विज्ञान उपनिषद् दर्शन की ही स्वाभाविक एवं उचित व्याख्या है।

उपरिनिर्दिष्ट उद्घरणों से यह सम्पूर्ण रूप से ज्ञान होता है कि प्राचीन एवं अर्वाचीन भभी यात्रोचक विद्वान् उपनिषदों को वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि उपनिषदों में केवल शक्ति वेदान्त के ही मूल बीज नहीं उपलब्ध होते वरन् रामानुज बल्लभ मध्य और निमार्क के दार्यनिर्दि विचारों के बीज भी उनमें देखे जा सकते हैं। इसका प्रयत्न कारण यही है कि उपनिषद् किसी एक सिद्धान्त के प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं है परन्तु जैसा कि प्रो० दाम गुप्त भी मानते हैं,^३ शक्तराचार्य का दार्यनिक दृष्टिकोण प्राचीन उपनिषदों के सिद्धान्तों व प्रतिनिधित्व में अत्यधिक सफल हुआ है। वैमें तो, जहाँ उपनिषदों में विभिन्न दर्शन पद्धतियाँ के मूल बीज खोजने की बात है वहाँ यह कहना असम्भव न होगा कि उनमें देवतन रामानुज एवं वाचनाभादि आचार्यों के वेदान्तिक सिद्धान्तों के धीज ही नहीं उपलब्ध होते अग्रिम जैसा कि रानाहे आदि विद्वानों ने अपने नाम पूर्ण जन्मदान के अन्तर्मान स्पष्ट दिया है,^४ त्रौढ़, साहस्र, योग, न्याय वंशेविह, भीमसार एवं शैवदर्शन के धीज भी उपनिषदों में मिलते हैं। यहाँ हस्तारा अभियाय उपनिषदों में अद्वैत वेदान्त के धीजदर्शन मात्र से है। इस दिशा में यह देखने का प्रयत्न दिया जायेगा कि उपनिषदों में अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, जीव जगत् एवं मुक्ति आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों की आधार भूमि किस रूप में उपलब्ध होती है।

उपनिषद् और वहाँ सम्बन्धी विवेचन

परखनी अद्वैत प्रासाद का आधार ब्रह्म और जगत् के धीज भेद दृष्टि का अभाव एवं एकमात्र ब्रह्म वीं सत्त्वाना स्वीकार करता है। कठोरप्रतिष्ठि दे उक्त विचार को सम्पूर्ण करने हुए कहा है कि जो इस जगत् में भेद देखता है वह जन्म-मरण के वर्धन से मुक्त नहीं होना परन्तु अद्वैत विद्या से बुद्धि के सहस्रन होने पर ही द्वैत दृष्टि का विनाश सम्भव है।^५ इसके अनिरिक्त

१. E R E Vol VIII, p 597

२. Gough PHILOSOPHY OF THE UPANISHADS, Preface p VIII.

३. Das Gupta - INDIAN PHILOSOPHY, Vol I, p 42

४. Ravade CONSTRUCTIVE SURVEY OF UPANISHADIC PHILOSOPHY, p 182 - 184

५. क० उ० २० २।१।१।१।

द्याम्बोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु और उनके पिता आरुणि के सम्बाट में भी ब्रह्म एवं नामहृषा-स्मक जगत् की एकहृपता का स्पष्ट विचार मिलता है। जब द्वादश वर्षे के पश्चात् श्वेतकेतु विद्या अव्ययन करके अपने पिता आरुणि के पास पहुँचे तो वह वडे गर्वित एवं सन्तुष्ट थे और अपने आपको विद्वान् समझ रहे थे। पिता आरुणि ने श्वेतकेतु से पूछा कि क्या तुमने अपने गुरु से वह शिक्षा प्राप्त करली है जिसके प्राप्त कर नेने पर अश्रुतश्रुत, अविनित, विनित एवं अज्ञात ज्ञात हो जाता है। पिता के उक्त वचनों को सुनकर श्वेतकेतु ने अपनी अज्ञानता स्वीकार की और पिता से अपनी ज्ञानसाप्रस्तु की। तब पिता की आरुणि ने श्वेतकेतु को समझाते हुए कहा कि एक मृत्युपिण्ड का ज्ञान होने पर नारे मृण्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, सुवर्ण पिण्ड का ज्ञान होने पर मुवर्ण जन्य कुण्डलादि विकारों का ज्ञान हो जाता है एवं जिस प्रकार निहिन्ने का ज्ञान होने पर सारे लीह निमित पदार्थों का ज्ञान हो जाता है वर्योऽसि मृतिमा सुवर्ण एवं लौह के विभिन्न विकार नाम मात्र के तथा वाचारभ्यग्म मात्र हैं।^१ इसी प्रकार जगत् की तत्ता ब्रह्म से पृथक नहीं है सारा जगत् ब्रह्म का ही है। यही विचार वृहदारण्यक उपनिषद् में भी मिलता है।^२ वृहदारण्यक उपनिषद् में यात्रवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं कि ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, समस्त लोक, सहस्र देवता, समस्त भूत और यह सब आत्मा का ही स्वरूप है।^३ इसके अतिरिक्त तैतिरीय उपनिषद् में ब्रह्म की जो परिभाषा मिलती है वह भी पूर्णतया अद्वैत मत की ही समर्थक है। तैतिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत वर्णन अपने पुत्र भूगु से ब्रह्म के स्वरूप की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि जिसमें समस्त भूत उत्तर्ण होते हैं, जिसमें उत्तर्ण होकर जीवित रहते हैं और मृत्यु होने पर जिसमें प्रेतय करते हैं उसी को जानने की इच्छा करो वही ब्रह्म है।^४ तैतिरीय उपनिषद् के उक्त उद्धरण में अद्वैत वेदान्तसम्मत ब्रह्म की अधिष्ठानता के पूर्ण लक्षण मिलते हैं। अधिष्ठानवाद के अनुसार ब्रह्म अविष्ठान है और जगत् अव्याप्त। जगत् रूप अव्याप्त ब्रह्म रूप अविष्ठान में अविद्या से उत्तर्ण होता है और अविद्या निवृत्ति होने पर अव्याप्त भी नाट हो जाता है। कठोपनिषद् में अश्वत्य वृक्ष के माध्यम से ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि यह सनातन गश्वत्य वृक्ष उच्चमूल एवं अवाक्षायक है। वही शुद्ध, शुभ्र ब्रह्म एवं अमृतहृप है। समस्त लोक उसी में आवित हैं। उस ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यहां अश्वत्य वृक्ष से संसार रूप वृक्ष का संकेत किया गया है और ब्रह्म से उसके मूल का।^५ यहां भी ब्रह्म के अद्वैत एवं अधिष्ठान रूप का विवरण स्पष्ट ही है।

उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश अनेक रूपों में मिलता है। यहां उनमें से कठिपय विशिष्ट स्वरूपों का उल्लेख किया जायेगा।

१—सत् एवं असत् रूप में ब्रह्म का चित्रण-

वृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन सत् एवं असत् दोनों रूपों में किया

१. छा० उ० ६। १२-७।

२. व० उ० २। ४४-६।

३. वही ४। २। ६।

४. कठोपनिषद् २। ३। १।

५. यदस्य संसारवृक्षस्य मूर्त्तं तदेवशुकं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्यात्म ज्योतिः स्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्वाप् ॥ शा० भा० क० उ० २। ३। १।

गया है।^३

२—ब्रह्म का चित् रूप मेर वर्णन

ब्रह्म का चित् विशेषण उसकी ज्ञान एवं प्रकाशमयता का द्योतक है। ब्रह्म ज्ञान एवं प्रकाश रूप है। इसीलिये बृहदारण्यक मेर ब्रह्म को 'ज्योतिष्योति'^४ कहा गया है। बृहदारण्यक मेर ही एक स्थल पर परम तत्त्व को सत् चित् एवं ज्ञानन्द से पूर्ण कहा है।

(व० उ० २४।१२)

३—ज्ञानन्द रूप मेर किया गया ब्रह्म वर्णन

ज्ञानन्दवादी अद्वैत दर्शन मेर ब्रह्म को ज्ञानन्द स्वरूप कहा गया है। ज्ञानोग्रन्थिग्रन्थ मेर ब्रह्म वोध की स्थिति को ज्ञानन्द का ही रूप कहा है। (छा० उ० ३।२३)

४—देशातीत ब्रह्म का वर्णन

उपनिषदा मेर ब्रह्म को देशादि की सीमा से अतीत कहा गया है। याजवत्का गार्गी को ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि—हे गार्गी! जिसमे सब ओन प्रोत हैं, वह अग्निदी है, वह न रथूल है, न मूढ़म है न छोटा है न बड़ा है न वह लोहित है, न वह समार जीव की तरह स्नेह बाना है। वह आवरण रहित, तम रहित, वायु रहित, स्वाद रहित, गन्ध रहित, नेत्र रहित, श्रोत्र रहित, वाणी रहित, मन रहित, नेत्र रहित, प्राण रहित, मुख रहित, परिणाम रहित, अन्तर रहित^५ तथा वाह्य रहित है। न पह कुद्र बाना है औरन वोई उपरोक्ता बाना है।^६ इस प्रवार उक्त विवेचन मेर ब्रह्म का देशातीत रूप स्पष्ट रूप से वर्णित हुआ है।

५—कालातीत ब्रह्म का वर्णन

जिम प्रवार हि ब्रह्म देशातीत है उसी प्रवार कालातीत भी है। बृहदारण्यक मेर ब्रह्म की भूत एवं भवित्वत् काल का स्वामी^७ तथा इवेतारन्तर उपनिषद् मेर त्रिकालातीत कहा है।^८

६—कार्य-कारणावस्था से अनीत ब्रह्म का वर्णन

बृहदारण्यक उपनिषद् मेर ब्रह्म को अक्षर^९ वहना उसकी कार्य-कारणावस्था का नियेत करना है। वयोऽकि जो अक्षर है उसमे परिवर्तन सम्भव नहीं होता। उक्त विचार को ही स्पष्ट करते हुए बृहदारण्यक (४।४।२०) मेर याजवन्धु जनक से कहते हैं कि यह ब्रह्म अपमेय, एवं घृत है।^{१०} प्रकार उपनिषदो के अन्तर्गत कार्य-कारणावस्था से अनीत ब्रह्म का

१ द्वैवाव ब्राह्मणी ल्पे मूर्त्तं चेत्तामृतं च मर्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सञ्च त्यच्च।

(व० उ० २।३।१)

२ व० उ० ४।४।१६।

३ व० उ० ३।८।

४ इत्यन्तम् भूतमव्यन्त व० उ० ४।४।१५।

५ 'परस्तिवान्त' इद० उ० ६।५।

६ व० उ० ३।८।८।१०।

वर्णन भी उपलब्ध होता है।

७—पूर्ण सत्य के रूप में ब्रह्म वर्णन

उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन पूर्ण सत्य के रूप में भी मिलता है। बृहदराण्यक उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है।^१ बृहदराण्यक में ही एक स्थल पर वह भी कहा गया है कि आत्मा के दर्शन, श्रवण एवं ज्ञान से समग्र जगत् का ही ज्ञान हो जाता है।^२ इस प्रकार औपनिषद् दर्शन के अनुमार ब्रह्म अद्वैत एवं पूर्ण सत्ता है।

८—ईश्वर रूप में ब्रह्म वर्णन

परवर्ती वेदान्त के अन्तर्गत माया शक्ति विशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी परमेश्वर को मायी कहा है।^३ कौपीनकी उपनिषद् में ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह न साधु कर्मों से महान् बनता है और न असाधु कर्मों से हीन बनता है। वही जिसकी उन्नति चाहता है उसे साधु कर्म करने की प्रेरणा देता है और जिसकी अवनति चाहता है उसे असाधु कर्म करने की प्रेरणा देता है। वही लोकालयोकाधिपति एवं सर्वेश है। इसी प्रकार उपनिषदों में अनेक स्थानों पर ब्रह्म का ईश्वर रूप में वर्णन मिलता है।^४

९—स्त्रिया रूप में ब्रह्म वर्णन

सूक्ष्मकार वार्ताग्रन्थ ने 'जन्माद्यस्थ यतः' (१११) सूक्ष्म के अन्तर्गत ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का कारण कहा है। परवर्ती वेदान्ती वादराण्यक का उक्त विचार अपने मूल रूप में हमें सर्व प्रयत्न तंत्रिधीय उपनिषद् के अन्तर्गत गिलता है।^५ तंत्रिधीय उपनिषद् में ब्रह्म के स्त्रिया रूप का वर्णन करते हुए वर्णन ने अपने पुत्र भूगु से कहा है कि जिससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें प्रवेश कर जाते हैं उसे जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है। इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म का स्त्रिया रूप भी प्राप्त होता है।

१०—रक्षक रूप में ब्रह्म वर्णन

बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य ने आत्मा को ईश्वर का रूप दिया है और सन्हीने कहा है कि वह आत्मा ही सबका ईश्वर है। वही सब भूतों का अधिपति एवं पालक है। इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य ने आत्मा की तुलना सेतु से की है क्योंकि जगत् का रक्षक आत्मा ही सेतु की तरह सब को पार लाने वाला है। वही लोकों की रक्षा के लिये

१. न तु तद्दितीयमस्तिततोऽन्यद् विभवत्तं यत् पश्येत्, वृ० उ० ४। ३। २३।

२. वृ० उ० २। ४। ५ तथा देखिए मु० उ० १। १। ३।

३. श्वेत० उ० ४। १। १०।

४. कौपीनकी उपनिषद् ३। ८ तथा देखिए ईशावास्योपनिषद् १ छा० उ० ४। १। ५। ४। वृ० उ० ४। ४। २२।

५. तै० उ० ३। १।

उनको धारण करता है।^१ इस प्रकार उपनिषद् दर्शन में ब्रह्म एवं आत्मा के रक्षक का वर्णन भी स्थाप्त रूप से मिलता है।

११—उपनिषदों में ब्रह्म के नियन्ता रूप का वर्णन

उपनिषदों में परमात्मा का नियन्ता रूप भी मिलता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में एक स्थल पर गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो पृथिवी के अध्यन्तर और बाहर ऊपर और नीचे स्थित है, जिसको पृथिवी नहीं जानती है और जो पृथिवी को जानता है, जिसका पृथिवी जारी रहता है, जो पृथिवी के बाहर व भीतर रह कर पृथिवी का शामन करता है, जो अविनाशी एवं निविकार है और जो तुम्हारा और सब का आत्मा है, वही है गौतम, अन्तर्यामी है।^२ इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद्^३ नृष्टिपूर्वतापिन्दुपनिषद्^४ व नृसिंहोत्तरापिन्दुरानिषद्^५ रामोत्तरतापिन्दुपनिषद्,^६ ब्रह्मोपनिषद्^७ में भी ब्रह्म के अन्तर्यामी रूप का वर्णन मिलता है।

उपनिषदों में ब्रह्म के नकारात्मक रूप का वर्णन

उपनिषदों के अन्तर्गत ब्रह्म का नकारात्मक रूप से भी वर्णन किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य ने पाँच स्थलों पर आत्मा एवं ब्रह्म के अप्नेयत्व की ओर सकेत किया है।^८ ब्रह्म के नकारात्मक रूप का वर्णन करते हुए वृहदारण्यक के अन्तर्गत एक स्थल पर याज्ञवल्क्य बहते हैं—

सएप नेति नेत्यात्माऽग्रहो न दि गृह्णनेऽशीर्यो न हि शीर्यंतेज्यगो न हि भजते
इमितो न व्ययते न व्ययति विजात्तारमरे केन विजयानीयात्,^१ अर्थात् वह आत्मा 'नेति-नेति'
शब्द करके अग्रहा है। वह आत्मा अशीर्य, असग एवं अवद्ध है। क्षोकि न वह जीर्ण हो सकता
है, न इसी में आमत है और न उसको कोई पीड़ा दे सकता है तथा न वह हर हो सकता है।
मैत्रेयी में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि है मैत्रेय, उम जानस्वद्य आत्मा को क्वोई किम के द्वारा
जान सकता है। वृहदारण्यक के उपर्युक्त अथ में प्रयुक्त 'अनित' शब्द के विद्वानों ने एकाधिक
अर्थ किये हैं। यहां इस सम्बन्ध में डाक्टर दास गुप्त के मत के सम्बन्ध में विचार करना उपयुक्त होगा।

१ एप सर्वेश्वर एप भूताधिपतिरेय भूतपाल एपमेतु विघरण एपा लोकानामसभेदाय...” “
वृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२२।

२ वृ० च० ३।३।१।

३ माण्डूक्योपनिषद्-६।

४ नृष्टिपूर्वतापिन्दुपनिषद् ४।१।

५ नृष्टिहोत्तरतापिन्दुपनिषद् १।

६ रामोत्तरतापिन्दुरानिषद् १।

७ ब्रह्मोपनिषद् १।

८ वृ० च० ४।२।४, ४।४।२२, ४।४।५, ३।६।२६, २।३।६।

९ वृ० च० ४।४।१५।

डा० दास गुप्त का मत और उसकी आलोचना

डाक्टर दास गुप्त ने 'असितः' का अर्थ करते हुए कहा है कि वह आत्मा खड़ग के बाधात से बाहर नहीं हो सकता।^१ डायसन ने 'असितः' का अर्थ Not Fettered अर्थात् अबद्ध किया है।^२ डाक्टर दास गुप्त ने डायसन, मैक्समूलर और विद्वान् रोर के मत की लालोचना करते हुए कहा है कि इन विद्वानों ने वृद्धारण्यक के उपर्युक्त वंश की ऋन्तिपूर्ण व्याख्या की है। उक्त विद्वानों के मत की आलोचना करते हुए डा० दासगुप्त का विचार है कि डायसन, मैक्समूलर और रोर ने 'असितः' की व्याख्या विशेषण वधवा कृदन्त शब्द भान कर की है। डा० दास गुप्त के मतानुसार 'असितः' की विशेषण वधवा कृदन्त शब्द भानकर की गई व्याख्या वप्रामाणिक है। डा० दास गुप्त के मतानुसार 'असितः' असि शब्द का अपादान कारक का रूप है।^३ मेरे विचार से डाक्टर दास गुप्त का 'असितः' को अपादान कारक का रूप मानना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि अपादान कारक का अवहार पृथक्करण के अर्थ में होता है। इसके विपरीत डा० दास गुप्त ने 'असितो न व्यवते' का अर्थ करते समय असितः को अपादान कारक न मानकर करणकारक माना है। जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है, डा० दास गुप्त ने 'असितो न व्यवते' का अर्थ किया है—He cannot suffer by a stroke of the sword.....अर्यात् वह आत्मा खड़ग के बाधात से बाहर नहीं हो सकता। इस प्रकार 'असितः' को अपादान स्वीकार कर लेने पर उससे करण कारक का अर्थ निकालना, मेरे विचार से अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है। अतः मैक्समूलर वादि विद्वानों द्वारा स्वीकृत 'असितः' का अबद्ध अर्थ ही समीक्षीय कहा जायेगा। इस मत के समर्थन में यह तर्क भी दिया जा सकता है कि जिस प्रसंग में असितः का प्रयोग हुआ है वहाँ असितः से पूर्व बगौहा, अशीर्ष एवं असंग शब्द का नज़र्य वोच्य है। अतः असितः में भी असि को पृथक् शब्द के रूप में न ग्रहण करके नज़र्य वोच्य अबद्ध अर्थ लेना ही संगत होगा। जैसा कि वृद्धारण्यक के उपर्युक्त स्थल (वृ० ३० ४५।१५) में भी कहा गया है, नेति-नेति के द्वारा उपनिषदों में अनेक स्थलों पर आत्मा एवं ब्रह्म के विचार का निरूपण नकारात्मक रूप से ही किया गया है। नेति नेति से आत्मा अवदा ब्रह्म के अवर्ण्य होने का अभिप्राय है।^४ याज्ञवल्य ने ब्रह्म का नकारात्मक रूप ही से वर्णन करते हुए कहा है कि द्रहु वक्षर, अस्यूल, अनगु, अहस्व, अदीघं, अलोहित, अस्येह, अच्छाय, गतम, अवायु, अनाकाश, असंग, अरम, अगन्व, अचक्षुपक, अयोत्र, अवाक्, अमन, अते ग्रस्त, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनन्तर तथा अवाह्य है।^५ याज्ञवल्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के उक्त नकारा-

१. ...He cannot suffer by a stroke of the sword. S.N. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 44, 45.

२. डायसन, किलासकी आफ उपनिषद्, प० १४७। (मैक्समूलर ने भी डायसन के समान ही असितः का अर्थ अबद्ध ही किया है—मैक्समूलर के मत के लिये देखिए—सेक्रिड वुक्स आफ दी ईस्ट, भाग १५, प० १८५)

३. ...It is evidently the ablative of Asi, a sword. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 45 (F.N).

४. वृ० ३० ४२।४, ४।४।२२, ३।६।२६, २।३।६।

५. वृ० ३० ३।८।८।

तमक स्थ परे प्रतिपादन में भी नेति नेति' वाली शंखी की ही पृष्ठभूमि है। पश्चिमी विद्वा् ए हिलेव्रा और एकहार्ट ने नेति नेति के सम्बन्ध में एक वित्तक्षण मत प्रस्तुत किया है। यहा् इस मत के सम्बन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

'नेति नेति' के सम्बन्ध में हिलेव्रा और एकहार्ट का मत और उसकी आलोचना

हिलेव्रा ने 'नेति नेति' में 'न' का अर्थ नियेष परक न स्वीकार करके स्वीकृतिपरक माना है।^१ इसी प्रकार पश्चिमी विद्वान् एकहार्ट भी 'न' का अर्थ नियेष परक न प्रहृण करके स्वीकृति परक मानते हैं। एकहार्ट ने 'नेति नेति' की व्याख्या बरते हुए कहा है कि 'ब्रह्म नहीं है, ऐसा नहीं है वरन् वह (ब्रह्म है) (न इति न, इति) इस प्रवार एकहार्ट ने नामारद्य के द्वारा नियेष का भी नियेष माना है।^२

पश्चिमी विद्वानों का उपर्युक्त मत भारतीय अध्येताओं के लिए एक नवीन मत तो है परन्तु उचित नहीं। नेति नेति' की व्याख्या करते हुए वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—

'नेति नेति' [नह्ये तस्मादिति नेति, अन्यत् परमस्ति]^३ अर्थात् 'नेति नेति' से बढ़ार परमात्मा का उपदेश दूसरा नहीं है। इस स्थल पर स्पष्ट ही नेति के अन्तर्गत प्रयुक्त तकार का अर्थ नियेष परक है। वादरायण ने भी 'प्रकृतं नावत्वं हिप्रनियेषति तनो ब्रह्मीति च भूय'^४ (द० सू० ३।२।२२) के अन्तर्गत यही कहा है कि नेति नेति इत्यादि श्रुति प्रवृत्त म प्रथानवया उपर्यस्त ब्रह्म के मूर्त्तं और अमूर्तं दोनों स्फोटों का ही नियेष बरती है। शक्तराचार्य ने भी वादरायण के उक्त गुण पर भाष्य करते हुए स्पष्ट रूप में कहा है कि 'नेति नेति' श्रुति ब्रह्म के रूप प्रपञ्च का प्रतियेष करती है और ब्रह्म को शेष रखती है।^५

प्रकरण एव विषय समन्वय की दृष्टि से हिलेव्रा एव एकहार्ट की 'नेति नेति' की व्याख्या ऊपर निर्दिष्ट की गई उपनिषद् वित्ती एव वादरायण और शक्तराचार्य वृत्त व्याख्या की अपेक्षा हेय एव बनुचित प्रतीत होनी है।

उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप

ऋग्वेद में एक और आत्मा वा प्रदाग जात् के मृत तत्त्व के लिये किया गया था और दूसरी और मनुष्य के प्राणायुके अर्थ में।^६ उपनिषदों म ब्रह्म और आत्मा एवं आत्मा वा प्रदोग प्राय समान अर्थ में मिलता है।^७ उपनिषदों में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि पुरुष और आदित्य म रहने वाला ब्रह्म एक ही है।^८

उपनिषदों में आत्मा के भेदों (विभिन्न स्वरूपों) का निरूपण

छान्दोरोपनिषद् के एक प्रमाण के आधार पर आत्मा के निम्नलिखित तीन स्वप्न मिसते

^१ A Review of Deussen's Translation of the Upanishads, Deutsche Literaturz., 1897

^२ देखिय एकहार्ट के मत के लिए—Deussen Philosophy of Upanishads, p 149
३. द० ३।२।१६।

^४ द० सू०, शा० भा० ३।२।२२ तथा देखिये शा० भा०, द० ३।२।४।५।

^५ Das Gupta Indian Philosophy, Vol I, p 15

^६ तद् ब्रह्म स आत्मा—न० ३।२।१।।।

^७ स यस्त्वापुरुषे मस्त्वामी जादित्ये—त० ३।२।८ तथा देखिये द्या० ३।१।३।३,
३।१।४।४, द० ३।२।४।२, म० ३।२।१।१।।।

है—^१ (१) शारीरिक आत्मा (२) जीवात्मा (३) मर्वोच्च आत्मा या परमात्मा।

शारीरिक आत्मा के सम्बन्ध में उपदेश करते हुए प्रजापति—इन्द्र तथा विरोचन से कह रहे हैं कि अन्य पुरुष के नेत्र में पुरुष का दर्शन आत्मा का ही स्वरूप है और यह आत्मा अमर तथा अभय है। उक्त विषय के सम्बन्ध में जब इन्द्र तथा विरोचन प्रजापति से पूछते हैं कि भगवन् जल और दर्पण में दिवाई पड़ने वाली वस्तु क्या है तो प्रजापति यही उत्तर देते हैं कि वह आत्मा ही मव में दिवाई पड़ता है।^२ आत्मा के दूसरे रूप जीवात्मा के सम्बन्ध में गिरावटें हुए प्रजापति कहते हैं कि स्वप्न में जो आनन्द का अनुभव करते हुए विचरण करता है, वह आत्मा ही है। आत्मा के इन स्वरूप का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के एक तीसरे स्वरूप का निरूपण करते हुए प्रजापति इन्द्र और विरोचन से कहते हैं कि यह जीव सुप्त रहता हुआ आनन्द की ऐसी ऊँची स्थिति को प्राप्त कर लेता है कि उसे किसी स्वाप्निक विचार का ज्ञान नहीं होता।^३ आत्मा का यही मर्वोच्च रूप है।

इसके अतिरिक्त उपनिषदों में आत्मा के अन्य पांच रूप और मिलते हैं। यह पांच रूप हैं—(१) अनन्मय आत्मा (२) प्राणमय आत्मा (३) मनोमय आत्मा (४) विज्ञानमय आत्मा (५) आनन्दमय आत्मा।

उपनिषदों में माया का स्वरूप—मायावाद का सिद्धान्त अहृत वेदान्त का मूलभूत सिद्धान्त है। विना माया के बहा की सिद्धि अमम्भव ही कही जायेगी। यहां यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि उपनिषदों में प्राप्त माया सम्बन्धी विचार परवर्ती मायावाद (शांकर मायावाद) की विचारवारा से भिन्न है। परन्तु इतना तो निःसंकोच स्वीकार किया जायेगा कि उपनिषदों में परवर्ती मायावाद की पृष्ठभूमि लब्ध्य मिलती है। प्राचीन उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है—एक बार प्रश्नोपनिषद् (११६।१) में और एक बार वृहदारण्यकोपनिषद् (२४।१६) में। प्रश्नोपनिषद् में माया शब्द का प्रयोग आचार की कुटिलता के लिए किया गया है, वृहदारण्यक उपनिषद् में रहस्यमयी यक्ति के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्राचीन उपनिषदों के उपर्युक्त माया शब्द के प्रयोग के अतिरिक्त उत्तरकालिक उपनिषदों में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। इवेताश्वतर उपनिषद् में माया को प्रकृति एवं परमेश्वर को मायी कहा है।^४ इसके अतिरिक्त भी उत्तरकालिक उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग अनेक रूपों पर मिलता है।^५

उपनिषदों में मुक्ति का सिद्धान्त—मुक्ति सम्बन्धी विचार का पृष्ठाधार औपनिषद दर्शन में भी पूर्ण रूप से मिलता है: मुण्डक उपनिषद् में कहा है कि जो उस परंब्रह्म को जानता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है।^६ मुक्त पुरुष का लक्षण वत्तलाते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि जिस प्रकार पुक्तरप्यलाश को जल स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार आत्मज्ञानी को पापकर्म नहीं

१. Deussen : Philosophy of Upanishads, p. 94.

२. छा० उ० द० ७।४।

३. कही, दा१०।१ तथा देखिये छा० उ० द० १।१।

४. इव० उ० ४।१०।

५. देखिये न० पू० ३।१, क० १।२, सर्व० सार० ४, राम० पू० ता० २।४, गोपीचन्दन २, कठ० रूद्र० १०, गोपाल० उप० १७, कृष्ण ४।

६. मुण्डक० ३।२।६।

लगता।^३ मुक्त पुण्य का वर्णन करते हुए बृहदारण्यक उपनिषद् में वहां गया है कि जैसे सर्वं जब अपनी निर्जीवत्वता को त्याग देना तो वह किसी वामी के ऊर पड़ी रहती है उस समय सर्वं न उमकी रक्षा का यत्न करता है और न उसे फिर ग्रहण करता चाहता है। इसी प्रश्न ज्ञानी का शरीर सर्वं की त्यागी हुई त्वता की तरह जीते जी भी निर्जीवित पड़ा रहता है अर्थात् ज्ञानी उसमें अममत्ता रहता है। इसीलिये ज्ञानी पुण्य शरीर रहित और भरण धर्म एवं रहित होता है।^४ मेरे विचार से परवर्ती वेदान्त सम्मिलन जीवन्मुक्ति सम्बन्धी विचार की पृष्ठभूमि बृहदारण्यक के उत्तर्युक्त विचार में मिलती है। अब यह नि सक्तोच कहा जा सकता है कि परवर्ती अद्वैत दर्शन में मुक्ति के जिस स्वरूप की विवरण की गई है उसी ती मूल स्पर्शवा उपनिषद् दर्शन में उपलब्ध होती है।

सूत्र साहित्य और अद्वैतवाद

अद्वैतवाद का प्रमुख आधार महर्षि वादरायण का ब्रह्मसूत्र है। ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत ब्रह्म शब्द का प्रयोग चार जगह हुआ है।^५ चारों जगह ब्रह्म शब्द का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में ही हुआ है। अद्वैतवाददर्शन की प्राणप्रनिष्ठाकर्त्ता माया का सर्वेन ब्रह्मसूत्र में वैवत एवं स्थान पर हुआ है और वह माया मायन्तु कात्स्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (ब० सू० ३।२।३) सूत्र के अन्तर्गत हुआ है। उक्त सूत्र में माया शब्द का प्रयोग स्वाप्निक प्रकृति के मिथ्यात्व के लिए किया गया है। इसके अनिरिक्त 'तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिम्य' (ब० सू० २।१।४) सूत्र के अन्तर्गत सूक्ष्मकार ने जागतिक प्रकृति की सत्यता का स्पष्ट निपेद्ध किया है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र—अथातोब्रह्मजिज्ञासा—में भी सूत्रकार के दर्शन का प्रमुख लक्ष्य ब्रह्मज्ञान ही बनलाया गया है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र के सूक्ष्मों की रचना सिद्धान्तवद्ध नहीं है तथापि उसमें अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि का पर्याप्त आधार मिलता है।

ब्रह्मसूत्र के अनिरिक्त शाणिडल्य सूत्र आदि सूक्ष्मों में भी अद्वैतिक विचारधारा के स्रोत मिलते हैं,^६ परन्तु न्यून सूप्रभाव में ही।

पुराण साहित्य और अद्वैतवाद

यद्यपि कालनिर्गत आदि की दृष्टि से पुराणों की प्रामाणिकता समयप्रस्त है, परन्तु कही-कही तो पुराणों को वेदों से भी प्राचीन बनलाया गया है।^७ अद्वैतवादी शक्तावायं ने भी

१. यथापुष्टरामानादा यापोनदितिष्ठव्यन्त एवमेन विदि पाप कर्म न दित्यते। छा० ३० ४।१।४।३।

२. ब० ३० ४।४।७।

३. अथातोब्रह्मजिज्ञासा (ब० सू० १।१।१), ब्रह्मेण जैमिनिस्पृग्यासादिम्य (४।४।५), स्याच्चैवस्पत्रब्रह्मद्वयै २।३।५, ब्रह्मदृष्टिष्ठव्यन्त् ४।१।५।

४. S K Belvalkar & R D Ranade: History of Indian Philosophy, Vol VII, p 12

५. पुराण सर्वास्त्वाणा प्रथम ब्रह्मास्मृतप्—आनन्द च वृत्तेभ्यो वेदारन्तम् वितिर्गंगा (विभिन्नपुराण ५।३।३ अष्टादशपुराण दर्शन, पृ० ११ से उद्धृत)

पुराणों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। पुराण भारतवर्षे के प्राचीन धर्म एवं दर्शन के अद्भुत संग्रह रूप हैं। भारतीय दर्शन के विविध सिद्धान्तों का व्यवस्थित नहीं तो विस्तृत विवेचन पुराणों में अवश्य मिलता है। यहां पुराणों के अद्वैततत्त्व सम्बन्धी विचार सूत्रों के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

विष्णु पुराण के अन्तर्गत परमात्मा के वासुदेव नाम की चरितार्थता बतलाते हुए कहा है कि यह सर्वत्र स्थित है और सब कुछ इसी में स्थित है, इसीलिए इसे वासुदेव कहते हैं।^१ यह तत्त्व पूर्णतया शुद्ध है, क्योंकि इसमें हेयांग किंचत् भी नहीं है।^२ परम तत्त्व सम्बन्धी उक्त संकेतों में व्रह्य के सर्वव्यापकत्व और उसकी शाश्वतता का स्पष्ट निरूपण मिलता है। विष्णु-पुराण के अन्तर्गत विष्णु की सर्वव्यापकता एवं अद्वैतता का संकेत करते हुए एक स्थल पर कहा है कि जगत् के अनेक रूप विष्णु के ही विकार रूप हैं।^३ विष्णु पुराण के अन्तर्गत विष्णु की माया का उल्लेख भी मिलता है। मोहिनी रूप धारी भगवान् विष्णु अपनी माया के द्वारा दानवों को मोहित करके उनसे कमण्डल लेकर देवताओं को दे देते हैं।^४ विष्णु पुराण के अन्तर्गत एक स्थल पर विष्णु के मायामोह उत्पन्न करने का वर्णन भी मिलता है।^५

शिव पुराण का शिवाद्वैत वाद तो प्रसिद्ध ही है। शिव पुराण की कैलाशसंहिता में शिव का वर्णन परब्रह्म के रूप में मिलता है। इसीलिए शिवपुराण का दार्शनिक सिद्धान्त शिवाद्वैत कहलाता है।^६ शिव पुराण की रुद्र संहिता के द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत परमार्थसत्य का विवेचन करते समय जीव और ब्रह्म की अद्वैतता का निरूपण करते हुए कहा है कि सर्वोच्च सत्य जिससे कि मुक्ति की प्राप्ति होती है शुद्ध चिद् रूप है और उस चिद्रूपता की स्थिति में जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं होता।^७ जीव और ब्रह्म के इस ऐक्य का प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त में विस्तार से सम्पन्न हुआ है। अज्ञान के सम्बन्ध में शिव पुराण में कहा गया है कि वह तो बुद्धि भेद का ही फल है। अज्ञान की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है।^८ परमात्मा रूप शिव के अतिरिक्त जगत् के दर्शन का मूल शिव पुराण में भ्रान्ति बतलाई गयी है।^९ शिव पुराण में कारण और कार्य के भेद को भी अवास्तविक कहा गया है। इस प्रकार शिव पुराण के अन्तर्गत ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं जहां अद्वैत तत्त्व का स्पष्ट विवेचन मिलता है।

श्रीमद्भागवत पुराण का महत्व तो 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' से स्पष्ट ही है। श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक में ही अद्वैतवाद का विचार सूत्र वर्तमान है। इस श्लोक में परम सत्य का वर्णन किया गया है। श्रीधराचार्य ने इस श्लोक में प्रयुक्त पर शब्द का अर्थ परमेश्वर

१. विष्णु पुराण १।२।१२।

२. हेयाभावाच्च निर्मलम्—विष्णु पुराण १।२।१३।

३. विष्णु पुराण १।२।३२

४. वही, ६।१०६।

५. वही, ३।१७-४।

६. शिवाद्वैतमहाकल्पवृक्ष भूमियंधाभवत् ॥ शिव पुराण ६।१६।१।

७. शिव पुराण २।२।२३।

८. अज्ञानं च भते भेदो नास्त्यन्यच्चद्वयं पुनः ॥ शिवपुराण ४।३।८।

९. भ्रान्त्या नानास्वरूपोहि भासते शंकरसदा—शिव पुराण ४।४।३।१५।

किया है। इसी श्लोक में परमेश्वर के अधिष्ठान स्थ का भी सकेत उपलब्ध है।^१ इस पुराण में प्राय सभी प्रमुख दर्शन पद्धतियों के सूत्र मिलते हैं। अद्वैत वेदान्त के ब्रह्मादि तत्त्वों के सम्बन्ध में भी श्रीमद्भागवत में अनेक स्थलों पर विवेचन किया गया है। श्रीमद्भागवत में परमेश्वर के ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् नाम दिये गये हैं। परन्तु वस्तुत परमेश्वरकी श्रीमद्भागवत में अरूप एव विदातमा कहा है।^२ परमात्मा अपनी माया शक्ति द्वारा ही जगत् का स्थाप्ता है। माया के अस्तित्व के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में स्पष्ट रूप से कहा मर्या है कि ब्रह्म के बिना माया की सत्ता सम्भव नहीं, परन्तु उसकी सत्ता की प्रतीति ब्रह्म में सम्भव नहीं है।^३ श्रीमद्भागवत में जगत् के स्थाप्ता परमात्मा को आनन्द एव अव्यवन रूप तथा चिन् एव अचिन् शक्ति से सम्पन्न बनलाया गया है।^४ इस प्रकार श्रीमद्भागवत में अद्वैतवाद मिद्धान्त सम्बन्धी विचारों का निष्पण स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है।

मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के समान ही ज्ञान का भूत्व प्रदर्शित किया गया है। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार ज्ञान द्वारा ज्ञान की निवृत्ति वो ही योग वहा है। जिसका कल एक और तो भुक्ति एव द्रष्टव्य है और दूसरी ओर प्राकृत गुणों के साथ अनेक्य का भाव है। जीव एव ब्रह्म के ऐक्य के सम्बन्ध में मार्कण्डेय पुराण में एक स्थल पर कहा है कि जिस प्रकार जल में कौका गया जल एकता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार योगी भी पूर्णता की स्थिति में एकता वो प्राप्त होकर ब्रह्मरूप हो जाता है।^५ मार्कण्डेय पुराण के उक्त विचार अद्वैत के प्रमुख विचार गूढ़ों के अत्यन्त भमान हैं।

नारदीय पुराण में तो नारायण का ही सर्वोच्च सत्य के रूप में वर्णन किया गया है। नारायण ही स्वय स्थाप्ता, ब्रह्मा, लोकरक्षक, विष्णु एव सहारकर्ता रुद का रूप ग्रहण करते हैं।^६ नारदीय पुराण में सर्वोच्च सत्य को भ्राविष्णु भी कहा है। भ्राविष्णु या नारायण अपनी शक्ति के द्वारा ससार की सृष्टि करते हैं। नारायण को यह शक्ति सत् एव असत् तथा विद्या एव अविद्या दोनों प्रकार की है।^७ नारायण और उनकी शक्ति का उक्त विचार अद्वैत दर्शन की प्रमुख विचारधारा के बहुत कुछ समीप है। शक्ति के सम्बन्ध में नारदीय पुराण में कहा गया है कि जिस प्रकार उपन्ति अग्नि में व्याप्त होती है उसी प्रकार परमेश्वर की शक्ति भी परमेश्वर से कभी पृथक् नहीं हो सकती।^८ नारदीय पुराण में ईश्वर प्राप्ति के दो साधन द्वत्तलाये हैं एक ज्ञान और दूसरा कर्म। ज्ञान का विचास नारदीय पुराण में दो प्रकार से बतलाया गया है—एक श्रुति ग्रन्थों के अध्ययन से और दूसरे विवेक के द्वारा।^९

१. श्रीमद्भागवत प्रथम अध्याय, प्रथम स्कन्ध, प्रथम श्लोक। तथा देखिये श्रीघरी टीका।

२. श्रीमद्भागवत १।३।३०।

३. वही, २।६।३३।

४. वही, ७।३।३४।

५. मार्कण्डेय पुराण ३।६।१, ४०-४१।

६. नारदीय पुराण १।३।४।

७. वही, १।३।६।

८. वही, १।३।१३।

९. वही, १।३।५।

कूर्म पुराण में सर्वोच्च सत्ता को विष्णु न कहकर महेश्वर कहा गया है। कूर्म पुराण के अनुसार महेश्वर को अव्यक्त चतुर्व्यूह, सनातन, अनन्त, अप्रमेय; नियन्ता एवं सर्वतोमुख वतलाया गया।^१ अव्यक्त रूप सनातन ईश्वर से ही सर्वप्रथम मन की उत्पत्ति होती है।

वायु पुराण में सर्वोच्च सत्य का वर्णन ब्रह्म, प्रधान, प्रकृति, प्रसूति, आत्मा, गुह, क्षेत्र, अमृत, अक्षर, शुक्र, तप, सत्य एवं अति प्रकाश आदि रूपों में किया गया गया है। वायु पुराण में ब्रह्म को सर्वोच्च सत्य सूक्ष्म अनन्त, आनन्दभय, सर्वव्यापी, कूटस्थ, स्वर्यप्रकाश एवं चिदरूप कहा है। वायु पुराण के अनुसार परमात्मा सर्वात्मा एवं भूतात्मा है। इस प्रकार ब्रह्म समस्त संसार में व्याप्त एवं सर्वोच्च है।^२ मोक्ष के उपाय के सम्बन्ध में चर्चाकरते हुए वायु पुराण में कहा गया है कि सत् एवं असत् कर्मों का त्याग ही मोक्ष का हेतु है।^३ जो पूर्णतया शुद्ध एवं पापरहित है वही परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मानुभव के सम्बन्ध में वायु पुराण में वतलाया गया है कि समाधि के द्वारा उस वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती है जिसकी स्थिति में साधक ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है।^४ इस प्रकार वायु पुराण के उक्त विचार अद्वैतवाद की विचारधारा के लिये उपयुक्त विचार-सूत्र प्रदान करते हैं।

स्कन्द पुराण का अद्वैत-विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। स्कन्द पुराण की ब्रह्म गीता के अन्तर्गत ब्रह्म, ईश्वर, जीव, माया, जगत् एवं कार्य कारणवाद आदि के सम्बन्ध में अद्वैत दृष्टि से विचार किया गया है। स्कन्द पुराण में शिव को ही परमात्मा एवं परब्रह्म का रूप दिया गया है। वह शिव रूप परमात्मा भोक्ता, भोग्य एवं भोग से विलक्षण है। यही सदाशिव एवं अद्वैत सत्य है।^५ स्कन्द पुराण के अनुसार ईश्वर जीव अज्ञान एवं दृश्य जगत् की सत्तायें ब्रह्म से भिन्न न होकर ब्रह्म ही हैं।^६ यहां तक कि व्यावहारिक सत्तारूप अज्ञान को भी स्कन्द पुराण में ब्रह्म रूप ही माना गया है।^७ इस प्रकार स्कन्द पुराण में अद्वैत सिद्धान्त का बहुत कुछ व्यवस्थित विवेचन मिलता है।

गरुड़ पुराण में शिव का ही ब्रह्म रूप में वर्णन किया गया है। गरुड़ पुराण का शिव सर्वव्यापी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। गरुड़ पुराण में शिव का परब्रह्म रूप से वर्णन मिलता है।^८ गरुड़ पुराण के अनुसार अविद्यावन्धन से मुक्ति प्राप्ति करने का उपाय ज्ञान है। ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्ति का गरुड़ पुराण का उक्त विचार अद्वैतवेदान्त का प्रमुख विचार है।

ब्रह्म पुराण के अन्तर्गत अदिति द्वारा की गयी कृष्ण की एक स्तुति में उन्हें सनातन

१. माहेश्वरः परो व्यक्तश्चतुर्व्यूहः सनातनः। अनन्तश्चाप्रमेयश्च नियन्ता सर्वतोमुखः॥

कूर्म पुराण ४, ५।

२. वायु पुराण १४।३, ६-८, १३-१४।

३. वही, १७।७।

४. वही, १०, ८६, १८।५, १४।७।

५. ब्रह्मगीता २।१७, १८, ३।१६, १७, ५।१-५३, ६।१, १४।१७, १०।३५, ३६, १।१।३६।

६. वही, ५।१।१०।

७. वही, ५।८।५, ८६।

८. गरुड़ पुराण ४।६।६।

भूतात्मा एव सर्वात्मा कहा गया है।^१ इसके अतिरिक्त ससार में भक्ति की भावना का कारण परमेश्वर की माया को बतलाया गया है।^२ इसी स्थल पर भगवान् की माया के द्वारा पुरुषों के बढ़ होने का उत्तेज भी मिलता है।^३ ब्रह्म पुराण के अन्तर्गत माया को बन्धन वा नृ स्वीकार करना अद्वैत दर्शन के ही समान है।

ब्रह्मवैवर्तं पुराण के अन्तर्गत ब्रह्म को ही भर्वोच्च सत्य के स्प में वर्णित किया गया है। ब्रह्म वैवर्तं पुराण के अनुसार भगवान् एव भक्त में भेद नहीं। भगवान् स्वयं बहुते हैं कि मैं भक्तों का प्राण हूँ और भक्त मेरे प्राण हैं।^४ इनना ही नहीं, भगवान् यह भी कहते हैं कि मैं भक्तों की रक्षा करने के लिये सदा उनके समीप स्थित रहता हूँ।^५ ब्रह्मवैवर्तं पुराण के अनुसार मुक्ति इसी जीवन में सुलभ बतलाई गयी है। जीवन मुक्ति के बन्धन में ब्रह्मवैवर्तं पुराण में कहा गया है कि जो आन्तरिक एव बाह्य दोषों से हरि वा स्मरण करता है वह इसी जन्म में मुक्ति लाभ करता है।^६

आनेये पुराण में तो स्पष्ट स्प में ही अद्वैत विद्वान्त वा विवेचन मिलता है। अग्नि पुराण के अनुसार चित् एव ब्रह्म के दोग के ऐन्य का नाम योग है। अग्नि पुराण में विष्णु को ही ब्रह्म का स्प दिया गया है। अग्नि पुराण वे अनुमार ब्रह्म के भी दो स्प हैं—एक परब्रह्म और यज्ञब्रह्म।^७ विद्या भी दो प्रकार भी है—एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। परा विद्या ब्रह्म गम्यन्विती है और अपरा विद्या वेद वेदाओं के ज्ञान से सम्बन्धित है।^८ जब जीव परमात्मा के साथ पूर्ण ऐक्य को प्राप्त हो जाता है तो उसे आत्मनित्त प्रलय कहते हैं। इस प्रकार अग्नि पुराण के अन्तर्गत अद्वैतवाद विद्वान्त के अस्त्यन्त स्पष्ट बीज मिलते हैं।

पद्मपुराण में एक स्थल पर भगवान् शकर का वर्णन परमेश्वर के स्प में किया गया है। इस स्थल पर परमेश्वर शकर को शरण्य, शाश्वत एव शास्त्रा कहा गया है। इसी प्रसंग में विष्णु आदि की उत्पत्ति भी मायिक बतलाई गयी है।^९ पद्मपुराण में आत्मा के अविनाशित वा भी वर्णन मिलता है।^{१०} इसके अतिरिक्त पद्मपुराण में ब्रह्मज्ञानियों की भी चुर्चा मिलती है।^{११}

वामन पुराण में एक स्थल पर जब वामन भगवान् वी स्तुति की गयी है तो उनके मायिक स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसी स्थल पर भगवान् की माया वा भी वर्णन है।^{१२}

१ ब्रह्मपुराण २०३।६

२ वही, ३०२।११

३ यदेतेपुरुषा बद्धा मायया भगवस्त्व। ब्रह्मपुराण २०३।१५।

४ ब्रह्मवैवर्तं पुराण ६।५२।

५ वही, ६।४७।

६. J. N. Sinha A History of Indian Philosophy, Vol I, p. 165
(Sinha Publishing House, Calcutta 1958).

७. अग्नि पुराण १।१।११, ५।

८ वही, १।१।१५, १७।

९ पद्मपुराण १।४५।१७६, १।४५।१७८।

१० वही, १।४५।१७६।

११ वही, १।३।१२३।

१२ वामनपुराण ३०-२४, २५, २६, २८।

अद्वैत वेदान्त के माया सम्बन्धी विचार का उल्लेख ब्रह्माण्ड पुराण में भी किया गया है। ब्रह्माण्ड पुराण में माया का प्रयोग अनात्मारसूचक अर्थ में किया गया है।^१

देवी भागवत में शक्ति को परब्रह्म स्वरूपिणी कहा गया है। देवी भागवत के अन्तर्गत ब्रह्मा जी के यह पूछने पर कि शक्ति और वैदिक ब्रह्म में क्या भेद है, देवी न्यून कहती है कि मुझमें और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। मनिविभ्रम के कारण मनुष्यों को भेद की प्रतीति होती है।^२ देवी भागवत में अद्वैतीय ब्रह्म को नित्य एवं सनातन कहा है।^३ शक्ति और परब्रह्म के सम्बन्ध को एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हुए देवी भागवत में कहा है कि जो दर्पण और प्रतिविम्ब का सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध ब्रह्म और शक्ति का है।^४ इस प्रकार देवी भागवत का शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त भी अद्वैतवाद का ही पोषक है।

मत्स्य पुराण में एक स्थान पर देवता घंकर की स्तुति कर रहे हैं। देवताओं द्वारा की गई इस स्तुति में घंकर का स्वरूप अद्वैत-परमात्मासम्बन्धी विचार के अत्यन्त सन्निकट कहा जा सकता है। इस स्तुति स्थान पर घंकर को विश्वात्मा विश्वकृष्णा एवं विश्व को आवृत्त करके स्थित रहने वाला कहा गया है।^५ अद्वैत वेदान्त सम्मत ब्रह्म के भी उक्त लक्षण ही विशेष रूप से वर्तलाये गये हैं। मत्स्य पुराण के अन्तर्गत औपनिषद ज्ञान का भी संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त इस पुराण में नारायण को ब्रह्म स्वरूप बनाया गया है।^६

जहर पुराणों के जिन विचार सूत्रों का उल्लेख किया गया है, उनमें अद्वैत वेदान्त की प्रधान विचार-धारा, अद्वैतवाद की स्पष्ट पृष्ठभूमि मिलती है।

श्रीमद्भगवद्गीता और अद्वैतवाद

श्रीमद्भगवद्गीता में अद्वैत तत्त्व का निरूपण अनेक स्थलों पर किया गया है। ब्रह्म का वर्णन भी गीता के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर मिलता है। यद्यपि यह सत्य है कि गीता में सर्वत्र ब्रह्म शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ में नहीं है परन्तु अनेक स्थलों पर ब्रह्म शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक एवं अद्वैतपरक अर्थ में किया गया है।^७ इस प्रकार गीता में जहाँ आध्यात्मिक एवं अद्वैतपरक अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ वह सर्वोच्च सत्य के रूप में ही वर्णित हुआ है। यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि गीता द्वारा प्रतिपादित सर्वोच्च सत्य निर्गुण तत्त्व ही है, संगुण नहीं। गीता में परमात्मा को अनादि एवं निर्गुण होने के कारण ही अव्यय कहा गया है।^८ अनादि ब्रह्म को सत् तथा असत् से विलक्षण कहना भी उसके निर्गुण होने का

१. ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग, अनुपंगपाद १६।१०५।

२. देवीभागवत ३।६।२।

३. एकमेवाद्वितीर्यं वै ब्रह्मनित्यसनातनम्, देवीभागवत ३।६।४।

४. देवीभागवत ३।६।५।

५. मत्स्य पुराण १६।१२।

६. वही, १६।१४, १६।१२।

७. 'तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म' गीता ३।१५, ४।२४, ४।३।, ५।६, ५।१६, ७।२६, ८।३, ८।१३, १०।१२, १३।३०, १४।४, १३।१२, १०।५०।

८. गीता १३।३।

ही प्रमाण है। माया परमात्मा ज्ञान की वाधिका है। गीता में स्पष्ट कहा है कि योग माया के आवृत होने के कारण परमात्मा साधारणतया लागों के लिये नहीं प्रकट होता। यही नहीं, गीता में ईश्वर की माया के भ्रमोत्पादक स्पष्ट का वर्णन भी मिलता है।^१ गीता में माया का वर्णन ईश्वर की शक्ति के स्पष्ट में किया गया है।

माया शक्ति विशिष्ट बहा ईश्वर है और जीव ईश्वर का ही अस है। यहा अस शब्द वा अर्थ अग, माग एवं देरा है।^२ इस दृष्टि से गीता का जीव और ईश्वर का सिद्धान्त भी अद्वैतवाद का ही समर्थन है। जहा तक जगत् वी उत्पत्ति का प्रश्न है, परमेश्वर माया शक्ति के द्वारा जगत् का बारण है।^३ परमात्मा से पृथक् जगत् के मिथ्यात्व का सवेत भी गीता में स्पष्ट स्पष्ट से उपलब्ध होता है। सप्तम अध्याय में वृष्णि अर्जुन में बहते हैं कि मेरे अनिरिक्त जगत् का बारण और कुछ नहीं है। यह जगत् मुझ में उसी प्ररार स्थित है, जिस प्रकार कि सूत्र में मणिधा अनुस्थूत रहती हैं।^४ वैसे तो, गीता में कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग के स्वरूप में तीन प्रकार के योग का वर्णन मिलता है, परन्तु इनमें सावधिक भृत्य ज्ञानयोग का ही है। इसीलिये आतं, जिजामु, अर्थार्थ एवं ज्ञानी इन चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी को ही भगवान् का वर्त्यधिक प्रिय बतलाया गया है।^५ इस प्रकार गीता में परम तत्त्व को ज्ञान स्पष्ट, ज्ञेय एवं ज्ञानगम्य सिद्ध किया गया है।^६ मोक्ष के स्वरूप का निरूपण करते हुए गीता में बहा गया है कि जिसने इन्द्रिय मन और बुद्धि को बड़ा भ कर लिया है, जो ईश्वर का यनन करने के बारण सत्यामी हो गया है और जो इन्द्रा, भय एवं क्रोध से रहित है, वही मुक्त बहलाता है। आत्म दृष्टा के सम्बन्ध में बतलाते हुए गीता में एक स्थल पर बहा गया है कि जो विनाशील सर्वभूतों में अविनाशी परमेश्वर को समान स्वरूप से स्थित देखता है, वही वस्तुत तत्त्वदृष्टा है।^७ ब्रह्मज्ञानी का लक्षण भी गीता में निर्दिष्ट है। जो प्रिय वस्तु बो प्राप्त बरके प्रसन्न नहीं होता और अत्रिय वस्तु बो प्राप्त बर दुखी नहीं होता ऐसी स्थिर बुद्धि वाला एवं मोहरहित पूरण ब्रह्मज्ञानी एवं ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहता है।^८ मुमुक्षुओं दी कर्म व्यवस्था के सम्बन्ध में गीता में यह विचार स्पष्ट स्पष्ट से मिलता है कि मोक्ष के अभिनाशी जन कनकनामना को त्याग बर परमात्मभाव से अनेक प्रकार की यजादि क्रियाओं को करते हैं।^९ इसके अनिरिक्त मुक्ति प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए गीता में यह भी बहा गया है कि मुमुक्षु को समार के समस्त घर्मों का त्याग बरके एक मात्र परमात्मा की ही शरण प्रहृण बरनी चाहिए। ऐसे पुरुष को मुक्त बरने का वचन स्वयं वृष्णि ने अर्जुन को दिया है।^{१०} जहा तक ज्ञान द्वारा मुक्ति प्राप्ति का प्रश्न है, गीता में

^१ वही, १३।१२, ७।२५, १८।६।

^२ अविद्याइतोपाधिपरिच्छन्न एवं देरा अस ईश्वर क्लितो यत्। शा० भा० गीता १५।३।

^३ गीता १४।३।

^४ वही, ७।३।

^५ वही, १३।१७।

^६ ज्ञान ज्ञेय ज्ञानगम्य हृदिसर्वस्य विधिनम्। गीता १३।१७।

^७ गीता १३।२७।

^८ वही, ४।२०।

^९ वही, ७।२५।

^{१०} वही, १५।६।

ज्ञान को स्पष्ट ही मोक्ष का कारण स्वीकार किया गया है।^१

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्म, ईश्वर, माया एवं मुक्ति आदि से सम्बन्धित अनेक विचार अद्वैत विचार धारा के पोषक हैं। अतः निश्चय ही यह विचार परवर्ती शंकर अद्वैतवाद के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आधारतत्त्व कहे जा सकते हैं। उक्ततत्त्व का समर्थन इस तर्क से भी होता है कि शंकराचार्य ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिये अनेक स्थलों पर गीता के उद्धरण भी दिये हैं।^२

तन्त्र और अद्वैत वेदान्त

तन्त्र के शक्त्यद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत अद्वैतवाद विचारधारा की प्रवल पृष्ठभूमि मिलती है। यहाँ तात्त्विकों के शक्त्यद्वैतवाद के स्वरूप का विवेचन किया जायेगा।

शक्त्यद्वैतवाद का स्वरूप

शाक्त दर्शन के प्रौढ़ समालोचक जान बुडरफ ने शाक्त दर्शन को अद्वैतवाद का ही रूप माना है।^३ जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म ज्ञान के विना मुक्ति असम्भव है, उसी प्रकार शक्त्यद्वैतवाद सिद्धान्त में भी शक्ति ज्ञान के विना मुक्ति की कल्पना असम्भव ही है—‘शक्तिज्ञानं विना देवि निर्दिष्टं नैव जायते’ (निरुत्तर तन्त्र) शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार शक्ति ब्रह्म का ही रूप है।^४ यद्यपि शक्ति से स्त्रीत्व की व्यंजना होती है, परन्तु आद्या शक्ति स्त्रीत्व, पुरुषत्व एवं बलीवत्त्व से अतीत है।^५ शक्ति, शक्तिमान् में रहती है, अतः परमात्मा रूप शिव शक्तिमान् है और परा प्रकृति उसकी शक्ति है।^६ दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। शिव का शिवत्व भी शक्ति पर ही आधारित है क्योंकि शक्ति के विना शिव में विश्वकिया के स्पन्दन की क्षमता नहीं है।^७ शक्ति के अभाव में तो शिव शब मात्र होने के कारण जड़ है। शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार परमात्मा की शक्ति होते हुए भी परा प्रकृति वेदान्त की माया शक्ति से भिन्न है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार परमात्मा की शक्ति माया, मिथ्या एवं अनिर्वचनीय है। इसके विपरीत शाक्त दर्शन की परा प्रकृति—महामाया शक्ति·सर्वव्यापिनी, सर्वशक्तिमती एवं शिव रूपिणी है।^८ इस प्रकार शाक्त दर्शन के अनुसार शक्ति ही अद्वैत सत्य है। यही शक्ति, चित् एवं आनन्द रूपिणी है।^९

१. गीता ६।१।

२. देखिये न० सू०, शा० भा० १।२।६, १।२।१६, १।३।२३, १।४।२२।

३. It is sufficient to say that Shakta Doctrine is a form of Advaitavada. Shakti and Shakta 1, p. 350.

४. अथवंशीर्ष ।

५. नाहूं स्त्री न पुरांश्चाहं नक्लीर्वं सर्वसंक्षये ।

सर्वे सति विभेदः स्यात् कल्पितोऽयं विधा पुनः ॥ देवीभागवत ३।६।७ ।

६. महानिर्वाण तन्त्र ४।१० (गणेश एण्ड कम्पनी मद्रास) ।

७. सौन्दर्यं लहरी, १ ।

८. Para Prakriti is the omnipotent, omniscient, Ishvara or Shiva. Arthur Avalon : The Great Liberation, p. 66 (F.N.).

९. चिदानन्द परायणा । कुलचूडामणितन्त्र १।१६ ।

शक्त्यद्वैतवाद मत मे जीव और शिव के ऐक्य एवं मुक्ति का विचार

अद्वैतवेदान्त मिदान्त के अन्तर्गत जीव एवं ब्रह्म की सत्ता पृथक् न होकर दोनों मे ऐक्य भाव है। यही सिद्धान्त शाकार वेदान्त मे 'जीवो ब्रह्मेव नापर' के विचार द्वारा प्रस्फुटित हुआ है। इसी प्रकार तन्त्रदर्शन मे भी जीव और परमात्मा शिव का विवेचन अद्वैत-वेदान्त जैसा ही है। कुलाणंव तन्त्र मे स्पष्ट कहा है कि जीव शिव एवं शिव जीव का रूप है। वह जीव के बल शिव ही है।^१ इस प्रकार तन्त्र दर्शन मे भी अद्वैतवेदान्त की तरह जीव और परमात्मा वे ऐक्य को स्वीकार किया गया है।^२ जीव और आत्मा के ऐक्य को ही योगियों ने योग कहा है।^३

जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञान की मुक्ति का रूप कहा है उसी प्रकार तन्त्र के अन्तर्गत भी ज्ञान से ही मुक्ति की व्यवस्था बनलाई गई है।^४ यह ज्ञान प्रकृति और परमात्मा शिव की एकता का ज्ञान है। मुमुक्षु के लिए यह ज्ञान परम अभेदित है।^५ शक्तिस्थिति प्रकृति को परमात्मा शिव से पृथक् देखना अज्ञानता है। जैसा कि इस प्रकरण के बारम्ब मे ही कहा जा चुका है शक्ति के बाबाव मे परमात्मा शिव सामर्थ्य हीन है।^६ अतः शिव एवं शक्ति के ऐक्य का प्रतिपादन ही शक्त्यद्वैतवाद सिद्धान्त वा प्रगृह विषय है।

अब उपर्युक्त शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत परवर्ती वेदान्तिक अद्वैतवाद की स्पष्ट एवं विस्तित पृष्ठभूमि मिलती है, यह कहना सर्वथा समीक्षीन होगा।

योगवासिष्ठ एवं अद्वैतवाद

योगवासिष्ठ भारतीय दर्शन, यम एवं भाचार शास्त्र का एक विशालकाय प्रन्थ है। इस प्रन्थ मे अद्वैतवाद एवं उनके पोषक अनेक सिद्धान्तों वा विशद विवेचन मिलता है। यहाँ हम योगवासिष्ठ के कठिपय अद्वैतपरक सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।^७

योगवासिष्ठ मे धर्मार्थ सत्य ब्रह्म का स्वरूप—ब्रह्म तत्त्व का विवेचन योगवासिष्ठ मे २२१ विस्तार के साथ किया गया है। योगवासिष्ठार ने ब्रह्म का विवेचन करते समय लिखा है कि ब्रह्म सर्व प्रकार की शक्तियाँ से युक्त है। वह सर्ववस्तुभय है तथा उसकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों की नेति नेति की शैली में, योगवासिष्ठ के अन्तर्गत ब्रह्म को व्यवर्णनीय भी सिद्ध किया गया है।^८ योगवासिष्ठ दर्शन के अनुसार एक मात्र ब्रह्म

१ जीव शिव जीवो जीव सजीव बेवल शिव (कुलाणंव तन्त्र, ६।२२)।

२ परात्मजीवपोरेक्य मयात्र प्रतिपाद्यते। (गच्छवं तन्त्र) (भा कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ ६६ मे उद्दृत)।

३ ऐक्य जीवात्मनोराहुर्योग योगविशारदा (कुलाणंव तन्त्र ६।३०)

४ ज्ञानादेवविमुक्ति स्यान्नायथावैरवन्दिते। (कुलाणंव तन्त्र १।१०५)

५ मुमुक्षुश्चिन्तनयल्लीना प्रकृति परमात्मनि। (गच्छवं तन्त्र)

६ परापि शक्तिरहित शक्त्या शक्तो भवेद्यदि।

गृष्टस्थितिलयान् कर्तुमराकृत शक्त एवहि॥ वाभवेद्वर तन्त्र

(भा कमेमोरेशन वाल्यूम, पृष्ठ ६७ से उद्दृत)

७ देविए योगवासिष्ठ ६।१४।८।

८ योगवासिष्ठ ५।३२।४१ तथा देविए ५।३२।४२, ५।३२।४३।

की ही अद्वैतात्मक सत्ता सिद्ध की गयी है।

जीव का स्वरूप—योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत जीव की भृत्या स्वतन्त्र न होकर ब्रह्म में ही कल्पित है। योगवासिष्ठकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि परब्रह्म में स्वतः ही इस प्रकार की कल्पना का उदय होता है कि 'मैं प्रकाश का एक केन्द्र हूँ।' यही केन्द्र जीव कहलाता है। काल्पनिक चन्द्र के समान वह जीव सत्य न होता हुआ भी सत्य प्रतीत होता है।^१ जीव के बन्धन का मूल उत्तका संकल्प है। योगवासिष्ठकार का कथन है कि जिस प्रकार शृंखलावद्व सिंह विवश होता है उसी प्रकार जीव भी अपने ही संकल्पों द्वारा रचित विषयों की अभिन में पड़कर विवश हो जाता है।^२ जब जीव के वह वासनाजन्य संकल्प नष्ट हो जाते हैं तो वह शुद्ध ब्रह्मरूप हो जाता है।

योगवासिष्ठ का कल्पनावाद—जहां शांकर अद्वैतवाद में जगत् के स्वरूप का विवेचन करने के लिए मायावाद सिद्धान्त की अवतारणा की गई है, वहां योगवासिष्ठ का प्रमुख सिद्धान्त कल्पनावाद है। कल्पनावाद के सिद्धान्त के अनुरूप समस्त जगत् कल्पनामात्र है। जाग्रत्, स्वप्न एवं सुपुत्ति काल का त्रिविध जगत् मन के-मनन से ही निर्मित है।^३ जिस प्रकार कि कुम्भ कार घट का निर्माण करता है तथा उसे भग्न करता है उसी प्रकार मन ही रूप (विषय), आलोक (सर्वेदन), मनस्कार (मन का विचार) तत्ता (पदार्थ का तात्त्विक रूप) एवं काल और किया सम्पन्न जगत् का निर्माण तथा विनाश करता है।^४ जागतिक पदार्थों के अतिरिक्त देश और काल की सत्ता भी मानसिक कल्पना पर ही आधारित है।^५ यही नहीं, देश और काल का परिमाण भी कल्पना पर ही आश्रित है। इसलिए तो कभी-कभी व्यक्ति को निर्मेप, कल्प सदृश और कल्प निर्मेप सदृश वर्तित होते दिखाई पड़ते हैं। यही कारण तो यह कि हरिश्चन्द्र को एक रात्रि द्वादश वर्ष की हो गई थी।^६

पदार्थों का कल्पनामात्र सिद्ध करते हुए योगवासिष्ठ में कहा नया है कि जिस प्रकार वालक को प्रेत न होते हुए भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार पृथिव्यादि पदार्थ असत् होते हुए सत् के समान प्रतीत होते हैं।^७ इस प्रकार जगत् के भौतिक तत्त्वों को भी कल्पनामात्र सिद्ध करते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है कि भौतिक शब्द और अर्थ दोनों ही शब्दशृंग के समान पूर्णतया असत् हैं। जहां तक जगत् के स्थूल रूप से दर्शन की समस्या है, योगवासिष्ठकार का तर्क है कि मानसिक देह ही चिकित्सा की भावना के अभ्यास के कारण भौतिक शरीर का रूप धारण करता हुआ प्रतीत होता है।^८ इस प्रकार मानसिक कल्पना ही जड़ता का रूप धारण

१. योगवासिष्ठ ३।१३।२०।

२. वही, ४।४२।३४।

३. मनोमनन निर्माणमात्रमेतंजगत्त्रयम्। यो० वा० ४।११।२३।

४. यो० वा० ४।४८।५२।

५. वही, ३।११०।५६।

६. रात्रिद्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्र तथा ह्यभूत्। यो० वा० ३।२०।५१ तथा देखिए

Dr. B.L. Atreya : Yogvashistha and Modern Thought, p. 41.

७. योग० वा० ३।२२।४५।

८. वही, ३।५७।१६, ३।२१, ५४।

कर सेती है।^१

योगवासिष्ठ का उपर्युक्त वल्पनावाद का सिद्धान्त बौद्ध विज्ञान वाद के वर्त्यधिन् समान प्रतीत होता है। साथ ही यह सिद्धान्त गौडगादाचार्य के स्वप्नवाद के भी समीप है। निश्चय ही, योगवासिष्ठ के वल्पनावाद पर बौद्ध विज्ञानवाद का प्रभाव रूप से परिलक्षित होता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों वे अतिरिक्त योगवासिष्ठ के जगत् एव मुक्ति आदि में सम्बन्धित सिद्धान्त भी अद्वैतवाद के ही पोषक हैं।^२

वेदान्त दर्शन के प्रवर्तक प्रभुत्व महर्षि एवं आचार्य

वेदान्त दर्शन के कुछ ऐसे प्राचीन महर्षियों का उल्लेख मिलता है जिनमें मता का यानि चित् सम्बन्ध वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों के साथ प्रतीत होता है। इन महर्षियों में वादरि, वाचनिंजिनि, आवेय, औहुलोगि, आश्मरथग, वादाहृत्सन, जैमिति, और काश्यप के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन महर्षियों की दार्शनिक वृत्तियाँ अनुपलब्ध हैं परन्तु फिर भी यदनन्त्र उपलब्ध सकेतों के आधार पर इनके मतों का गवेषण सम्भव है। यहाँ उपर्युक्त महर्षियों और उनके दार्शनिक मतों के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा।

बादरि—आचार्य बादरि का उल्लेख चार बार बादरायण के ब्रह्मसूत्र^३ तथा चार बार जैमिनी के मीमांसा सूत्र^४ के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। आचार्य बादरि के दार्शनिक सिद्धान्तों की जो स्फुरणेखा उपलब्ध होती है वह इस प्रवार है—

(१) आचार्य बादरि वैदिक कर्म में प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति का अधिकार स्वीकार करते हैं। यह सिद्धान्त आचार्य की अद्वैतपरत्व बुद्धि का ही परिचायक है।

(२) उपनिषदों में कहीं वही सर्वव्यापी ईश्वर का प्रादेश मात्र रूप से वर्णन मिलता है। इस सम्बन्ध में उत्तरति देने हुए बादरि का विचार है कि मन प्रादेश मात्र हृदय में रहने के बारण शास्त्रों में प्रादेश मात्र वहा जाता है। उस प्रादेश मात्र मन से ही ईश्वर का स्मरण होता है, इसीलिए वह (ईश्वर) प्रादेश मात्र रूप से वर्णित होता है।

(३) छान्दोग्योपनिषद् (४।१०।७) 'तथा इह रमणीयचरण' वाक्य में प्रयुक्त चरण शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। आचार्य बादरि के अनुसार सुहृत और दुष्पृत ही चरण शब्द के वाक्य हैं। इस प्रवार अनुष्ठान वाचन चरण शब्द का प्रयोग बादरि ने कर्म के अर्थ में स्वीकार किया है।

(४) छान्दोग्योपनिषद् (४।१५।५) के 'सएनान् ऋषुगमयति' वाक्य में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द का अर्थ बादरि ने कार्य ब्रह्म प्रहृण निया है। अपने मत की पूर्णि में इस आचार्य का क्षयन है कि ब्रह्म से यहा परब्रह्म का अर्थ नहीं लिया जा सकता। परब्रह्म स्वर्ग है और गत्ता का

१ विदेश देविए द्वा० वी० एल० आवेय, योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृ० १६७ (तारा प्रिन्टिंग कर्म, वाराणसी, १९५७)।

२ योगवासिष्ठ ४।४५।२६, ६।१२।४५।

३ ब्रह्मसूत्र १।२।३०, ३।१।१।, ४।३।७, ४।४।१।

४ मीमांसा सूत्र ३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ८।२।२।३। (गेकेड बुक्स आफ दि हिन्दूज वे अन्तर्गत प्रकाशित)।

प्रत्यगात्म स्वरूप बहु है, इसलिए उसमें गन्ता गन्तव्य और गति आदि की भेद व्यवस्था सम्भव नहीं है। इसके विपरीत कार्य बहु प्रदेशवान् है। इसी लिए उसका गन्तव्य रूप से वर्णन किया जाता है। इसीलिए छान्दोग्योपनिषद् के उक्त वाक्य में वादरि ब्रह्म शब्द से कार्य बहु का अर्थ ग्रहण करना समुचित मानते हैं।

(५) छान्दोग्योपनिषद् (८।२।१) में ही मुक्त पुरुष के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि—‘संकल्पादेवास्त्वपितः समुत्पत्तिन्ति’ अर्थात् मुक्त पुरुष के संकल्प से ही पितृगण उठ जाते हैं। यहां यह शंका होती है कि ईश्वर भावापन्न पुरुष के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता रहती है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में आचार्य वादरि का विचार है कि ईश्वरभावापन्न निद्रान् के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता नहीं रहती है, इसीलिए तो छान्दोग्योपनिषद् (८।१।२।५) में कहा गया है—‘मनसा एतान् कामान् पश्यन्’।

आचार्य वादरि के उपर्युक्त मतों के आवार पर यह प्रतीत होता है कि यह आचार्य किसी न किसी रूप से वेदान्त के ही समर्थक थे।

जैमिनि—आचार्य जैमिनि मीमांसा सूत्र के लेखक के नाम से विल्यात हैं। ब्रह्मसूत्र में इनकी चर्चा घ्यारह बार हुई है।^१ प्रो० विघुशेखर भट्टाचार्य का विचार है कि इन्होंने ब्रह्म सूत्रों की भी रचना की थी।^२ इस सम्बन्ध में उन्होंने नैष्कर्म्य सिद्धि का प्रमाण रूप में उल्लेख किया है।^३

जैमिनि को वादरायण का शिष्य बतलाया जाता है। पुराणों में इन्हें वेदव्यास का शिष्य बतलाया जाता है। इन्होंने वेदव्यास से सामवेद और महाभारत की शिक्षा प्राप्त की थी। मीमांसा दर्शन के अतिरिक्त जैमिनि ने भारतसंहिता जिसे जैमिनि भारत भी कहते हैं, की रचना भी की थी। कहते हैं, जैमिनि ने द्रोणपुत्रों से भार्कण्डेय पुराण सुना था। इनके पुत्र सुमन्तु और पौत्र सत्वान थे। इन तीनों ने मिलकर वेद की एक-एक संहिता बनाई है। इन संहिताओं का अध्ययन हिरण्यनाभ, पैष्पञ्ज और अनन्त्य नामक शिष्यों ने किया था।

काशकृत्स्न—ब्रह्मसूत्र में आचार्य काशकृत्स्नकी चर्चा केवल एक बार हुई है।^४ इसके अतिरिक्त पतंजलि के महाभाष्य में काशकृत्स्न की मीमांसा की चर्चा तीन बार की गई है।^५ यह मीमांसा कर्मपरक भी है और ज्ञानपरक भी। आचार्य काशकृत्स्न का विचार है कि छान्दोग्योपनिषद् के पृष्ठ प्रपाठक से प्रतीत होता है कि परमात्मा ही जीव लोक में अवस्थित है। काशकृत्स्न जीव को परमात्मा का विकार नहीं स्वीकार करते। काशकृत्स्न के उक्त मत का उल्लेख शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इस प्रकार किया है—काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इतिमतम्—(ब्र० सू० शा० भा० १।४।२२) इस प्रकार काशकृत्स्न

१. ब्र० सू० १।२।२८, १।२।३।१, १।३।३।१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२ ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११।

२. *B. Bhattacharya* : Agam Sastra of Gaudpada, Introduction.

३. सुरेश्वर, नैष्कर्म्यसिद्धि, पृ० ५२ (द्वितीय संस्करण प्रो० हिरियन्ता द्वारा सम्पादित)।

४. ब्र० सू० १।४।२२।

५. *Yogsutra, Keilhorn*, Vol. II, pp. 206, 249, 325 (Government Central Book Depot, Bombay, 1883.)

जीव को अविद्या कहित मानते हैं। शून्यवार ने काशकृत्स्न के मत का उल्लेख करते हुए कहा है काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं कि अविद्या कलित्त भेद से ब्रह्म ही जीव ह्य से स्थित है—अवस्थितेरिति काशकृत्स्न।— (ब० सू० १।४।२२) शशाचार्य ने आचार्य काशकृत्स्न के मत को श्रुति के अनुकूल कहा है।^१

ओडुलोमि—ओडुलोमि का उल्लेख ब्रह्म सूत्र के अन्तर्गत तीन स्थानों पर किया गया है।^२ अ चार्य ओडुलोमि के अनुमार भेद तथा अभेद अवस्थान्तर के अनुमार है। ओडुलोमि के मत के अनुसार समार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है, परन्तु मुक्ति दशा में अभेद है। वाचस्पति मिथ्र ने भाष्मी में ओडुलोमि के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है:—

‘जीवो हि परमात्मनोऽप्यन्त भिन्न एव सन् देहेन्द्रियमनोवृद्ध्युपनानसम्पर्कात् मवंदा
वत्युष तस्य च ज्ञानध्यानादि साधनानुष्ठानात् सप्रसन्तस्य देहेन्द्रियादिसंघातात्
उत्क्रमिष्यत परमात्मना ऐक्षोपते इदमभेदेनीतकमणम् । एतदुक्त भवति भविष्य-
न्तमभेदमुपादाय भेदातेऽपि अभेद उक्त ।’ (भाष्मी)

आर्युक्त कथन के अनुसार जीव एव ब्रह्म में मूलत ऐक्य ही है। जब जीव ज्ञानादि साधनों के अनुष्ठान से देहादि के संघात में क्षार उठ जाता है तो इस स्थिति में जीव और ब्रह्म वा ऐक्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आगामी अभेद वे आधार पर भेद काल में भी अभेद ही भावना चाहिए। ओडुलोमि के भेदाभेद सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए शक्ताचार्य ने कहा है—

ओडुलोमि पश्चेषु पुन रूपमध्यभेदावस्थान्तरपैक्षी भेदाभेदी गम्यते

(ब० सू० शा० भा० १।४।२२)

उपर्युक्त भेदाभेद सिद्धान्त के अतिरिक्त आचार्य ओडुलोमि का मत है कि जीवों के चंतन्य स्प होने से चंतन्यरूप से अवस्थित मुक्त ब्रह्म में सर्वंगत्व आदि शब्द व्यर्थ ही प्रयुक्त होते हैं।^३

काण्डाजिनि—आचार्य काण्डाजिनि के नाम का उल्लेख ब्रह्मसूत्र (३।१।६) तथा मीमांसा सूत्र (४।३।१७), दोनों में उपलब्ध होता है। काण्डाजिनि के मत का उल्लेख व्यास देव ने अपने मत के समर्थन में तथा जैमिनि ने उनके मत का खण्डन करने के लिए किया है।^४ इस प्रकार काण्डाजिनि वेदान्त के ही आचार्य प्रतीत होते हैं।

आत्रेय—आचार्य आत्रेय का नामोल्लेख ब्रह्मसूत्र (३।४।४४) मीमांसा सूत्र (४।३।१८, ६।१।२६) तथा महाभारत (१३।१३।३।३) में उपलब्ध होता है। आचार्य आत्रेय का मत है कि यजमान को ही यज्ञ की अग्नभूत उपासना का फल प्राप्त होता है, ऋत्विक् को नहीं। ब्रह्मसूत्रवार ने निम्नोद्घृत सूत्र में आत्रेय के उक्त मत को ही उद्धृत किया है—स्वामिन फलश्रुतेरियात्रेय। (ब० सू० ३।४।४४) अत आत्रेय के मतानुसार सारी उपासानाएँ यजमान को वरनी चाहिए न कि पुरोहित को।^५ महाभारत (१३।१३।३।३) में आत्रेय का नाम निर्मुण ब्रह्म विद्या के उपरेक्षा के रूप में विवरित है। किन्तु लिङ्गिन रूप से यह कहना कठिन है कि

१०. तत्रकाशकृत्स्नीय मत शुभ्यनुगारीति गम्यते । ब० सू० शा० भा० १।४।२२ ।

२. ब० सू० १।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६।

३. वर्ती ४।४।६।

४. वेदान्तात् (कर्त्त्वाण) पृ० ६३७ ।

५. तत्स्मात् स्वामिन एव कर्त्त्वसूत्रासनेषु वर्त्त्वमित्यात्रेय । (ब० सू०, शा० भा० ३।४।४४)।

ब्रह्मसूत्रोक्त आत्रेप उनसे भिन्न हैं अथवा अभिन्न।

आश्मरथ्य—आश्मरथ्य के नाम का उल्लेख ब्रह्म सूत्र के दो सूत्रों (ब० सू० ११२।२६, १४।२०) तथा मीमांसा सूत्र (६।५।१६) में मिलता है। आश्मरथ्य के मत के अनुसार परमेश्वर वस्तुतः अनन्त होने पर भी उपासक के कृपर अनुग्रह करने के लिये प्रादेश मात्र में आविर्भूत होता है, क्योंकि सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। आश्मरथ्य का वैकल्पिक मत यह है कि हृदयादि उपलब्धि स्थानों अर्थात् प्रदेशों में परमेश्वर की उपलब्धि विशेष रूप से होने के कारण भी परमेश्वर को प्रादेश मात्र कहा जा सकता है। आश्मरथ्य के मतानुसार विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में परस्पर भेदभेद सम्बन्ध है। अंकराचार्य ने आश्मरथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है—

आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्तत्वमिप्रेतं तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति
सापेक्षत्वाभिधानात् कार्य-कारणभावः कियानपि अभिप्रेत इति मन्यते।

(ब० सू०, शा० भा० १४।२२)

उपर्युक्त कथन के अनुसार आश्मरथ्य के मत में यद्यपि जीव परमात्मा से अभिन्न है, तो भी प्रतिज्ञासिद्धि से सापेक्षत्व का अधिधान है। इससे यत्किंचित् कार्दकारणभाव इष्ट ही है। आश्मरथ्य के भेदभेदवाद की पुष्टि परवर्ती काल में यादव प्रकाश ने भी की थी।^१

काश्यप—ब्रह्मसूत्र में तो काश्यप का उल्लेख नहीं है परन्तु शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र (तामैश्वर्यपरां काश्यपपरत्वात्, २६) में शाण्डिल्य की चर्चा मिलती है। शाण्डिल्य के मतानुसार काश्यप भेदवादी थे तथा वादरायण अभेदवादी।

शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र के अतिरिक्त महाभारत (१३।३।११।५६) में भी काश्यप का उल्लेख मिलता है। अभिनव गुरुत आचार्य ने भी नाट्यशास्त्र की टीका में एक काश्यप का उल्लेख किया है। हृदयर्गमा नामक ग्रन्थ में काश्यप तथा वररुचि प्रभृति के लक्षण शास्त्र का उल्लेख मिलता है। राजा नान्यदेव ने स्वर्निमित सरस्वती हृदयावलंकार नामक नाट्य शास्त्र की टीका में स्थान-स्थान पर काश्यप का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त नान्यदेव की उक्त रचना में ही एक वृहत्काश्यप का उल्लेख भी प्राप्त होता है। चित्रविद्या में कुशल काश्यप की चर्चा भी कहीं-कहीं मिलती है।^२ मेरे विचार से शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र में चर्चित काश्यप उपर्युक्त काश्यपों से भिन्न प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त कृपियों के अतिरिक्त जिन्होंने विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का प्रचार किया था उनमें असित, देवल, गर्ग, जैगीपव्य, पराशर और भृगु के नाम विशेष रूप से उल्लिखित किये जा सकते हैं। इस दिवदर्शन से केवल इतना कहा जा सकता है कि भर्तृहरि के पूर्ववर्ती प्राचीन महर्पियों एवं आचार्यों में भी वेदान्त दर्शन की यत् किंचित् धारणा वर्तमान थी। इस धारणा का आधार कोई सिद्धान्त विशेष न होकर व्यक्तिगत स्वतन्त्र अनुभूति मात्र था। अतः इन उपर्युक्त प्राचीन महर्पियों एवं आचार्यों के दार्शनिक विचारों में अद्वैत वेदान्त के अस्पष्ट दीज ही देखे जा सकते हैं।

१. अच्युत, पृष्ठ ५, संवत् १६३ में प्रकाशित।

२. देखिए, अच्युत, पृष्ठ ६-७ पर टिप्पणी।

तृतीय अध्याय

अद्वैतवाद का व्यवस्थित इतिहास

शकराचार्य पूर्ववर्ती वेदान्ती आचार्य और उनकी रचनाओं में अद्वैतवाद के बीज

हम अद्वैत वेदान्त-दर्शन का अव्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत करते समय पिछले अध्याय में कुछ वादार प्रभूति प्राचीन कृपियों एवं आचार्यों का उल्लेख कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ केवल यही कथ्य है कि उन्हें आचार्यों के यश-तत्त्व प्राप्त विचारों में किसी दार्शनिक सिद्धान्त का पूर्ण विवेचन न मिलकर विभिन्न दर्शन पद्धतियों के बीज भाव ही मिलते हैं। इन प्राचीन आचार्यों के अतिरिक्त अद्वैतवाद के प्रस्थापक शकराचार्य के पूर्ववर्ती कुछ अन्य आचार्य भी मिलते हैं जिनकी रचनाओं में अद्वैत वेदान्त की सूक्ष्म विचारदृष्टि का संकेत मिलता है। इस स्थल पर शकराचार्य पूर्ववर्ती आचार्यों की व्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का विवेचन किया जायेगा।

शकराचार्य के पूर्ववर्ती अद्वैतवेदान्त के जो आचार्य मिलते हैं उनमें बोधायन, उपदेष्य, मुहुर्देव, कपर्दी या व्यपदिक, भारचि, भत्तृहरि, भत्तृभित्र, ब्रह्मानन्दी भा ब्रह्मानन्दी, टक, द्रविड़ाचार्य, ब्रह्मदत्त, भत्तृप्रपच, मुन्दर पाण्ड्य और गीडपादाचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ इन आचार्यों की रचनाओं एवं दार्शनिक विचारधारा के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

बोधायन—बोधायन उपर्युक्त आचार्यों में सर्वाधिक प्राचीन थे। इनका काल सगभग प्रथम-द्वितीय शताब्दी माना जाता है। इन्होंने वादरायण के ब्रह्म सूत्र पर एक विस्तीर्ण वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति का उल्लेख ढा० थीबो ने ब्रह्मसूत्र भाष्य की भूमिका के अन्तर्गत लिया है।^१ इसी वृत्ति का नाम इत्तबोटि है।^२ रामानुज का विद्यिष्टाद्वैत सिद्धान्त और जैमिनि का भीमासा दर्शन इसी वृत्ति पर आधारित बतलाया जाता है।^३ परन्तु प्रतिष्ठ जर्मन विद्वान् जैकोबी ने ब्रह्मना है कि बोधायन ने भीमासा सूत्र पर भीवृत्ति लिखी थी।^४ यही वृत्ति जैमिनि के भीमासा सूत्र का आधार रही होगी।

उपदेष्य—यह कहा जाता है कि उपदेष्य ने ब्रह्मसूत्र तथा भीमासा सूत्र दोनों परही वृत्ति लिखी थी। उपदेष्य की चर्चा शावरभाष्य (भी० सू० १११५) तथा शाकर भाष्य (३३१५३) में उपलब्ध होती है।

१. S.B.E Vol. XXXIV, p. 21, तथा देखिए—*Sukhlankear The Teachings of Vedanta According to Ramayana*, p. 9.

२. देखिए विवेन्द्रम से प्रकाशित 'प्रपच हृदय', 'पृ० ३६।

३. B. Bhattacharya· Agam Shastra of Gaudapada(Introduction), p. CVIII

४. Journal of the American Oriental Society-1911, p. 17.

गुहदेव और कपर्दी—रामानुज के वेदार्थ संग्रह^१ और श्रीनिवासदाम की यतीन्द्रमत दीपिका^२ में गुहदेव, कपर्दी और भारचि का नाम वेदान्त के विद्वानों के स्वयं में मिलता है। प्र० ० विवुगेश्वर भट्टाचार्य का मत है कि रामानुज ने गुहदेव और कपर्दी की गणना शिष्ट जनों में की है, इसलिए ये दोनों विद्वान् विशिष्टाद्वैतवाद के नमर्थन रहे होंगे।^३

भारुचि—विज्ञानेश्वर ने मिनाधरा (११८, २१२४) और माववाचार्य ने पाराशर संहिता^४ की टीका में भारुचि को धर्मशास्त्र का लेखक बतलाया है। नरस्वती विलास (पैराग्राफ १३३) में भी धर्मशास्त्रकार भारुचि का उल्लेख मिलता है। इन्होंने विष्णुकृत धर्मसूत्र पर भी एक टीका निली थी। परन्तु यह कहना कठिन है कि वेदान्ती भारुचि तथा धर्मशास्त्रकार भारुचि एक ही थे। यदि दोनों को एक ही मान लिया जाए तो इनका समय नवम शती के प्रथमार्द्ध में माना जा सकता है।^५

भर्तृहरि—बौद्ध दर्शन के अनुवायी चीनी याज्ञी इतिमंग, जिसने भारत की यात्रा सातवीं शताब्दी में की थी, का कथन है कि नगभग चालीम वर्ष पहले भारतवर्ष में भर्तृहरि नाम के एक महान् वैद्यकरण की मृत्यु हुई थी।^६ मैत्रमूलर ने भी भर्तृहरि का देहावसान सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का घन्त ही माना है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि भर्तृहरि बौद्ध थे। परन्तु अब अन्तःसाद्य एवं वहि: साध्य के आधार पर इस मत का निराकरण हो चुका है और यह मिथ्या हो चुका है कि भर्तृहरि वेदान्ती ही थे।^७ काश्मीरी वैवदर्जन के लेखक सोमानन्द गवं उत्तल ने स्फोटवाद मिद्दान्त की धालोचना करने हुए भर्तृहरि को उद्भृत किया है, तथा उन्हें अद्वैतवादी कहा है।^८ आचार्य चित्सुन्न की तत्वप्रदीपिका के टीकाकार प्रत्यग्रहा ने भर्तृहरि को ब्रह्मवित् प्रकाण्ड कहा है। यामुनाचार्य के सिद्धित्रय (पृ० ५) में भर्तृहरि का उल्लेख वेदान्त के लेखकों के अन्तर्गत किया गया है।

भर्तृहरि की प्रगिद्ध रचना यद्व ब्रह्मवाद का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' है। वाक्यपदीय का प्रमुख चिन्हान्त यद्वब्रह्मवाद अथवा यद्वाद्वैतवाद है। किसी-किसी आचार्य का नह यह भी है कि भर्तृहरि के यद्वब्रह्मवाद का प्रधानतथा अवलम्बन करके मण्डन विश्व ने ब्रह्मसिद्धि

१. वेदार्थ संग्रह, पृ० १५४।

२. यतीन्द्र मत दीपिका, पृ० २ (पूना संस्करण)।

३. Agam Sastra of Gaudapada (Introduction), p. CIX.

४. पाराशर संहिता, पृ० ५१० (वाम्बे, संस्कृत सिरीज संस्करण)।

५. P.V. Kane : History of Dharma Sastra, Vol. I, p. 265; B. Bhattacharya : Agam Sastra of Gaudapada, p. CIX.

६. Dr. C. Kunhan Raja's Article—I-tsing & Bhartrhari's Vakyapadiya, Dr. Krishna Swami Aiyangar Commemoration Volume, pp. 293-298.

७. T.M.P. Mahadevan : Gaudapada, p. 228.

८. K. Madhava Krishnan Sarma's article—Bhartrahari not a Buddhist, Poona Orientalist Vol. No. I (1940), p. 1.

नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था।^३ उत्तलाचार्य के गुह काश्मीरीय शिवाद्वैत के प्रधानतम आचार्य सोमानन्दपाद ने अपने शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ में भत्तृहरि के शब्दाद्वैतवाद की विशेष समालोचना की है। इसके अनिरिक्त शान्तरक्षितहृत 'तत्त्व सप्रह', अविमुक्तात्माहृत 'इष्ट सिद्धि' तथा जयगत कृत 'न्याय मजरी' में भी शब्दाद्वैतवाद का उत्तेस मिलता है। उत्पन तथा सोमानन्द के बचनों से ज्ञात होता है कि भत्तृहरि 'पद्यन्ती' वाक् को ही शब्दव्याख्य सामने थे। इसके अनिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि इस मत में पद्यन्ती वाक् ही परा वाक् के हृष में व्यवहृत होती थी। सूर्य नारायण शुक्ल ने भाव प्रदीप नामक अपनी वास्त्र पद्मीय बीटीका में परावाक् को ही ब्रह्म कहा है। शुक्ल जी का उक्त विचार निम्न वर्णन से स्पष्ट है—

'शब्दव्याख्य वादिनस्तु (परावाक्) एव ब्रह्म तदेव अविद्या नानाहप भासते इति प्राहु
(भावप्रदीप, वाक्यपदीय, 'ब्रह्मकाण्ड, इलोक १३२)

उपर्युक्त वाक्य से ही यह भी प्रतीत होता है कि ब्रह्म ही अविद्या के कारण नाना रूपों में भासित होता है। यही दार्शनिक दृष्टि अद्वैत वेदान्त की भी है। तत्त्वदीपिकाकार ने भी भत्तृहरि को स्पष्ट रूप से अद्वैतवादी स्वीकार किया है। उमामहेश्वर हृत 'तत्त्वदीपिका' में निया है—

महामात्यं व्याचक्षाणो भगवान् भर्तृहरिरपि अद्वैतमेवाम्बुपगच्छति ।

इस प्रकार भत्तृहरि निरिक्त ही शब्द ब्रह्माद्वैतवाद के समर्थक सिद्ध होते हैं।

भत्तृमित्र—जयन्त हृत 'न्याय मजरी' (प० २१३-२२६) तथा यामुनाचार्य वे 'मिद्धिश्य' (प० ४, ५) में भत्तृमित्र का उल्लेख किया गया है। इसके अनिरिक्त कुमारिल ने अपने 'इलोक वातिक' (१११११०, १११६।१३०-१३१) में भी भत्तृमित्र की चर्चा की है। इलोकवातिक के दीक्षाकार पायंसारथि मित्र की अपनी न्यायरत्नाकर नाम की टीका में भी भत्तृमित्र हृत 'मीमांसा सूत्र' की टीका का उल्लेख मिलता है।^४ धैर्यग्रन्थोंमें वर्णित भत्तृमित्र तथा मीमांसा शास्त्र के ग्रन्थोंमें भी वर्णित भत्तृमित्र एक ही हैं, यह कहना कठिन है। मुहुर्मट्ट ने अपने 'अभिधा वृत्ति मातृका' ग्रन्थ में भी भत्तृमित्र का उल्लेख किया है।^५

ब्रह्मनन्दी—मधुसूदन सरस्वती ने अपनी सक्षेपशारीरक की टीका (३२१७) में ब्रह्मनन्दी को वाक्यकार कहा है। ब्रह्मनन्दी ने द्यान्दोग्योपनिषद् पर वाक्य लिखे थे और इन वाक्यों पर भाष्य लिखा था द्रविडाचार्य ने।^६ ब्रह्मनन्दी के धैर्य का उल्लेख सक्षेप शारीरक की अन्वयार्थप्रकाशिका टीका में भी मिलता है।^७ आचार्य भास्कर के मतानुमार ब्रह्मनन्दी परिणामवाद सिद्धान्त के समर्थक थे।^८ इसके विपरीत मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार ब्रह्मनन्दी अद्वैतवेदान्त के मिद्धान्त के अनुयायी प्रतीत होते हैं।^९ ब्रह्मनन्दी विवर्णवाद सिद्धान्त के समर्थक थे।

१ अच्युत, प० ११।

२ Agam Sastra of Gaudapada, p CX

३. अभिधा वृत्ति मातृका, प० १७ (विंशतिसाल, वस्त्रई)।

४. K.B. Pathak : Commemoration Volume, pp. 157-158.

५. अन्वयार्थप्रकाशिका, सक्षेप शारीरक ३२२१।

६. भास्कर भाष्य, ब्रह्मसूत्र १।४।२५।

७. सक्षेप शारीरक ३२१७।

टंक—राजानुजाचार्य के 'वेदार्थ संग्रह' (पृ० १५४) में टंक का उल्लेख मिलता है। टंक विगिट्टाद्वैतवाद सिद्धान्त के समर्थक प्रतीत होते हैं।

द्रविडाचार्य—द्रविडाचार्य का उल्लेख भारतीय दर्शन के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। शंकराचार्य ने द्रविडाचार्य को माप्टूक्योपनिषद् कारिका भाष्य में आगमविन् कहा है तथा द्रविडाचार्य के 'सिद्धंतवर्तनक्त्वान्' सूत्र को उद्धृत किया है।^१ उक्त स्वल पर शंकराचार्य के भाष्य पर टीका करते हुए आनन्दगिरि ने द्रविडाचार्य के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया है उसके अनुमार वे अद्वैतवादी प्रतीत होते हैं। इस मत के अनुसार द्रविडाचार्य स्वाभाविक द्वैत के अभाव वो वेद के द्वारा अध्यस्त जगत् की निवृत्ति मानते हैं।^२ इसके अतिरिक्त वृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य ने आचार्य द्रविड को 'सम्प्रदायवित्' कहा है,^३ ग्रन्थन्दी ने द्यान्दोग्योपनिषद् पर जो वाक्य लिखे थे उनपर द्रविडाचार्य ने भाष्य रचना की थी। वृहदारण्यक उपनिषद् पर भी द्रविडाचार्य का भाष्य वत्तनाथा जाता है।

उपर्युक्त वेदान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी द्रविडाचार्य का उल्लेख उपलब्ध होता है। रामानुजाचार्य ने अपने वेदार्थ संग्रह में भी द्रविडाचार्य का उल्लेख किया है।^४ तिद्वित्र ने यानुनाचार्य ने भी—'भगवता वादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमितगम्भीरनाप्यकृता' कहकर 'भाष्यकृता' शब्द से द्रविडाचार्य का ही संकेत किया है। किसी-किसी विद्वान् का यह भी मत है कि द्रविड संहिताकार अल्पवर, घठकोप अथवा वकुलाभरण ही वैष्णव ग्रन्थों में द्रविडाचार्य के नाम से विद्यता है।^५ सर्वज्ञातम् मुनि ने संक्षेप शारीरक (३२२१) के अन्तर्गत जिन भाष्यकार का उल्लेख किया है उससे द्रविडाचार्य का ही तात्पर्य है।

ब्रह्मदत्त—ब्रह्मदत्त की रचनाओं एवं उनके स्थिति काल का निर्णय अत्यन्त डुप्लिकेट है। शंकराचार्य पूर्ववर्ती वेदान्तियों में ब्रह्मदत्त का प्रमुख स्थान है। उनके नाम एवं मत का उल्लेख वेदान्त के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वेदान्तदेविकाचार्य ने तत्त्वमुक्ताकालाप की टीका सर्वार्थसिद्धि में ब्रह्मदत्त का जो मत दिया है उसके अनुमार वे जीव को अनित्य तथा एक मात्र ब्रह्म को नित्य पदार्थ मानते हैं।^६ चुरेश्वराचार्य के नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रन्थ के अनुसार ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं।^७ परन्तु ब्रह्मदत्त आत्मज्ञान में उपासनाविधि का श्रेय मानते हैं।^८

ब्रह्मदत्त कर्म और ज्ञान के समुच्चय के पक्षपाती प्रतीत होते हैं। ब्रह्मदत्त के मतानुसार

१. सिद्धं तु निर्वर्तनक्त्वात्—इत्यागमविदां सूत्रम् (मा० का०, शा० भा० ३।३२)।

२. देखिये गा० का० २।३।२ पर आनन्द गिरि की टीका।

३. वृहदारण्यक उपनिषद्, पृ० २६७ (पूना संस्करण)।

४. वेदार्थ संग्रह, पृ० १५४ (काशी संस्करण)।

५. अच्युत, पृ० १७।

६. Hiriyan's article— Brahmadutta: & Old Vedantin, J.O.R.M.
1928, pp. 1-9.

७. सर्वार्थसिद्धि २।१६।

८. नैष्कर्म्य सिद्धि १।६८।

९. देखिये, नैष्कर्म्य सिद्धि १।६७।

साधक वो पहले उपनिषद के द्वारा ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान लाभ करना चाहिए। तदनन्तर 'अह ब्रह्माभ्यम् इन्याकारकं भावना का अस्याम् करना चाहिए। इस थवस्था मे ब्रह्मदत्त वर्म वी आवश्यकना स्वीकार करते हैं। यही ब्रह्मदत्त का ज्ञानवर्भमुच्चयवाद है। ज्ञानोत्तम ने ब्रह्मदत्त वो नैष्ठक्यम् सिद्धि रीटीका मे ज्ञानसमुच्चयवादी गिरि करते हुए वहा है—

बावपजन्यज्ञतानोत्तरकालोनभावतोत्पर्णि ॥ भावनाजन्यसाभाकारलक्षणज्ञानात्तरेण्व
अज्ञानस्य निवृते ज्ञानाभ्यासदशाया ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयप्रोपयत्ति (ज्ञानोत्तम चन्द्रिका,
नैष्ठक्यमिदि १६०)

भन्तृप्रपञ्च—भन्तृप्रपञ्च भी वेदान्त के एक प्राचीन आचार्य थे। सक्षेप शारीरक वे टीकाकार मधुमूदन भग्नवती के निष्ठलिखित वाक्य के अनुमार भन्तृप्रपञ्च ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भी प्रतीत होते हैं।

केदिचन तत् सूथ व्याचधार्णे भन्तृप्रपञ्चादिभि ॥

यामुनाचार्य ने अपने मिदित्रय म भी भन्तृप्रपञ्च को वेदान्त दर्शन का लेखक स्वीकार किया है। आनन्द गिरि ने वृहदारण्यक उपनिषद् पर लिखे गए मुरेश्वर के वार्तिकों की व्याख्या करते हुए अनक घटना पर भन्तृप्रपञ्च का उल्लङ्घन किया है।

जैमा वि कठपर वहा जा सका है भन्तृप्रपञ्च ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रणेता तो प्रतीत होते ही है, साथ ही कठोरनिष्पद् तथा वृहदारण्यक उपनिषद् पर भी उनका भाष्य बनलाया जाता है।^१ कुछ विद्वाना न भन्तृप्रपञ्च के वनिष्पद लेखादा को सक्तिनिर्वाचन करने का भी प्रयत्न किया है।^२

भन्तृप्रपञ्च वा दार्शनिक सिद्धान्त—भन्तृप्रपञ्च वा दार्शनिक सिद्धान्त भेदभेदवाद या द्वैताद्वैतवाद अथवा अनेकान्वयवाद वहा जाता है। भन्तृप्रपञ्च के भेदभेदवाद के अनुमार परमार्थ भएक्त्व भी है और अनेक्त्व भी। परमार्थ, ब्रह्म स्य मे एव है और जगत् स्य मे नाना। भन्तृप्रपञ्च के मत मे जीव नाना तथा परमात्मा एकदेश मात्र हैं। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र तरर के समान द्वैतमय है। ब्रह्म म अनेक जीवों की सत्ता होने वे कारण ही वह अनेक स्य है और मूलत ब्रह्मस्य मे वह एक स्य ही है। ब्रह्मत्प मे वह अभेद, अद्वैत एव एव है परन्तु अनेक जीवों के स्य मे वह भेदपूर्ण, द्वैतमय एव अनेक स्य है। इसीलिए भन्तृप्रपञ्च वा उक्त सिद्धान्त भेदभेदवाद, द्वैताद्वैतवाद तथा अनेकान्वयवाद के नाम से प्रस्तुत है।

उपर्युक्त दृष्टिवौण के अनुमार परमात्मा मे एक्त्व के साथ अनेक्त्व वी कल्पना करके भन्तृप्रपञ्च ने ज्ञान एव वर्म के समुच्चय की स्थापना की है। परमात्मा के एक्त्व की स्थापना के द्वारा उन्होंने मोत की साधिका ज्ञानसीमामा पर बल दिया है और दूसरी और परमात्मा मे अनेक्त्व वी कल्पना के द्वारा वर्मनाइ पर थायित लीकिए एव वैदिक व्यवहारों की महत्ता वो पुष्ट किया है। भन्तृप्रपञ्च के उक्त दार्शनिक विचार की अधिकारित गतराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (ब्र० म०, शा० भा० २।१९८) के अन्तर्गत भ्यष्ट की है।

१ देविये, मधुमूदन मरम्बनी रीटीका 'गणेश शारीरक', १।३ पर।

२ अच्युत, पृ० ८।

३ देविया, हिरिद्यना का लेय—Indian Antiquary 1924, pp 76 86 वे अन्तर्गत तथा

Hinduism, Dissevered उल्लेख <https://dsc.ggg/dharma> | MADE WI

भर्तृप्रपञ्च का मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त—भर्तृप्रपञ्च की दृष्टि में जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति की तरह ही मुक्ति के दो रूप मिलते हैं—एक अपर मोक्ष अथवा अपवर्ग एवं दूसरा परामुक्ति अर्थात् ब्रह्मभावापत्ति। अपरमोक्ष मनुष्य को इसी शरीर में आत्मसाक्षात्कार होने पर होता है। यह जीवन्मुक्ति के ही समान है। इसके विपरीत परामुक्ति अथवा ब्रह्मभावापत्ति देहपात होने पर होती है।^१ यही विदेह मुक्ति की अवस्था है।

भर्तृप्रपञ्च का परिणामवाद—भर्तृप्रपञ्च परिणामवाद को भी स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार ब्रह्म का परिणाम अधोलिखित तीन प्रकार से उपलब्ध होता है—

- (१) अन्तर्यामी तथा जीव रूप में;
- (२) अव्याकृत, सूत्र विराट् तथा देवता रूप में;
- (३) जाति तथा पिण्डहृप में।

इस प्रकार ब्रह्म की उपर्युक्त अन्तर्यामी आदि आठ अवस्थायें सिद्ध होती हैं।

भर्तृप्रपञ्च का प्रमाणसमुच्चयवाद—भर्तृप्रपञ्च की दृष्टि में लौकिक एवं वैदिक दोनों ही प्रकार के प्रमाणों की सत्यता है। इसीलिए वे प्रमाण समुच्चयवादी कहलाते हैं।

संस्कृत के निष्णात विद्वान् डा० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय ने भर्तृप्रपञ्च के दार्शनिक मिद्धान्त को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया है— (१) राशित्रयवाद (२) अनेकान्तवाद (३) परिणामवाद और (४) मोक्ष निरूपण।

प्रथम राशित्रयवाद को छोड़कर अन्य तीन सिद्धान्तों का संकेत ऊपर किया जा चुका है। राशित्रयवाद के अनुसार उपाध्याय जी ने परमात्मा को उत्तम राशि, जीव को मध्यम राशि और शेष मूर्तिमूर्ति जगत् को अवम राशि कहा है।

सुन्दर पाण्ड्य—सुन्दर पाण्ड्य दक्षिण भारत के मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन के विद्वान् थे। यह अनुमान किया जाता है कि इन्होंने ब्रह्मसूत्र के किसी प्राचीन भाष्य से सम्बन्धित कारिकावल्ल वातिक ग्रन्थ की रचना की थी। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत तो नहीं मिलता, परन्तु विद्वानों का कहना है कि शंकराचार्य ने सम्बन्धाधिकरण के भाष्य के अन्त में (ब्र० नू०, शा० भा० १।१४) जो निम्नलिखित तीन इलोक उद्घृत किये हैं वे सुन्दर पाण्ड्य के वातिक ग्रन्थ से ही उद्घृत हैं :

अपि चाहुः :

गीणमिद्यात्मनो सत्त्वे , पुत्रदेहादि वाधनात् ।

सद् ब्रह्मात्माहित्येवं वोवे कार्यं कर्त्यं भवेत् ॥

अन्वेष्टव्यात्म विज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः ।

अन्विष्टः स्यात् प्रमातृव पापोपादि वर्जितः ॥

देहात्मप्रत्ययो यद् वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः ।

लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात् ॥

(ब्र० सू०, शा० भा० १।१४ में उद्घृत)

उपर्युक्त कथन के अनुसार जब तक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ब्रह्म ज्ञान का उदय नहीं होता, उस समय तक समस्त प्राणियों एवं विधियों की सार्थकता है। जहाँ तक आत्म वस्तु का सम्बन्ध है वह न होय है और न उपादेय। अद्वैत दृष्टि के अनुसार आत्म के वोध में प्रमाण

१. अच्युत, पृ० १०।

२. देखिए, वेदान्तांक (कल्याण) में भर्तृप्रपञ्च का अद्वैत निद्धान्त नामक लेख, पृ० ३३२।

की आवश्यकता नहीं क्योंकि आत्मब्रोध की स्थिति में प्रमाणा एवं विषय की सत्ता नहीं रहती। भास्मीकार वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त श्लोकों वा 'ब्रह्मविदा गाथा' वहन्तर वर्णन किया है। परन्तु नर्सिंह स्वरूप के शिष्य आत्मस्वरूप द्वारा रचित पद्मपाद की पचादिका की टीका प्रब्रोध परिदोषिनी के अनुसार उपर्युक्त श्लोक सुन्दर पाण्ड्य कृत ही बनलाए जाने हैं। माघव मन्त्रिकृत सूतसहिता की तात्पर्य दीपिका नाम की टीका में भी यह उल्लेख मिलता है कि उपर्युक्त शकराचार्य द्वारा उद्भूत श्लोकों में तृनीष श्लोक—'देहात्मप्रत्ययो निश्चयात्' सुन्दरपाण्ड्य कृत वातिक से उद्भृत है। अग्नलानन्द के कथनह (३।३।२५) के अन्तर्गत सुन्दर पाण्ड्य के १। 'थेष्यारोहणप्राप्यम्' आदि और तीन वचन ग्राथा तन्त्र वातिक (वनारम सस्करण, पृष्ठ ८५२-८५३) में उक्त तीन तथा 'तेन यद्यपि सामर्थ्यम्' प्रभूति दो यो पात्र वचन उद्भृत किये गये हैं। 'न्यायसुधा' (पृष्ठ १२२८) के अन्तर्गत उक्त पात्र श्लोक 'बद्धानाम्' के नाम से उद्भृत किये गये हैं, इस प्रकार अनेक ग्रन्थों में सुन्दरपाण्ड्य के वातिक के प्रमाण सकेत उपलब्ध होते हैं।

कुछ विद्वानों के मत में तो सुन्दर पाण्ड्य राजा नेदूमारण नायनर का नामान्तर है।^१ इसके विपरीत कुछ विद्वानों के अनुमार यह पाण्ड्यराज कुञ्जवर्धन या कुञ्जपाण्ड्य वे नाम से भी प्रयित्व थे। कतिपय विद्वानों वा विचार है कि प्रसिद्ध शैव आचार्य तिरुनान सम्बन्धर इनके समसामयिक थे। इन्हीं के प्रभाव से प्रभावित होकर सुन्दर पाण्ड्य ने जैन धर्म को छोड़कर शैव धर्म को स्वीकार किया था। यह भी उल्लेख मिलता है कि सुन्दर पाण्ड्य ने चोल-राज-कुमारी से विवाह किया था।^२

इस प्रकार सुन्दर पाण्ड्य एवं उनके दार्शनिक मत के सम्बन्ध में अनेक मतवाद मिलते हैं।

अपर हमने जिन शकराचार्यपूर्वकर्ता आचार्यों की चर्चा की है उनमें विषय ही ऐसे हैं जिनकी रचनाओं की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इसके अनिरिक्त कुछ ऐसे हैं जिनकी रचनाओं के कुछ संकेत मात्र ही यन्त्र उपलब्ध होते हैं। अन भृंहरि आदि कतिपय वो छोड़कर अन्य आचार्यों के दार्शनिक मतों वा उल्लेख विभिन्न टीकाओं, भाष्यों एवं अन्य विविध ग्रन्थों में प्राप्त संकेत के आधार पर ही किया गया है। अन यहां यह निर्देश करना उपर्युक्त होगा कि उक्त प्राचार्यों के मतों में अद्वैतवाद के सूदूर वीज मात्र ही उपलब्ध होते हैं। अब यहा शकराचार्य के पूर्वकर्ता आचार्यों में प्रधान गोडपादाचार्य के दार्शनिक मिदान्तों के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

गोडपादाचार्य का दर्शन

प्राचीन अद्वैताद वा पूर्णतया विवास्तव स्वरूप गोडपादाचार्यके दर्शन में ही उपलब्ध रोता है। गोडपादाचार्य वा प्रमुख दर्शन ग्रन्थ गोडपादकारिका है। 'गोडपादाचार्य' के दार्शनिक द्वान्त का प्रभाव उनके प्रतिष्ठित शकराचार्य के दार्शनिक मिदान्त अद्वैतवाद पर भी पूर्ण

^१ देविण—महामन्त्रीपाठ्याय कुण्ठ स्त्रामी शास्त्री द्वारा लिखित लेख—

Some problems of Identity in the Cultural History of Ancient India
(Journal of Oriental Research, Madras, Vol I)

^२ देविण—नव्यु, पृष्ठ १८ परा गार्दिनारपी।

रूप से पड़ा है। डाक्टर वलेसर,^१ जैकोवी,^२ एवं डाक्टर दास गुप्त^३ आदि कुछ विद्वानों ने गौडपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त पर बोद्ध दर्शन का प्रभाव ढूँढने की चेष्टा की है। इस स्थल पर आचार्य गौडपाद के दार्शनिक सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में विवेचन किया जायेगा।

गौडपादाचार्य द्वारा अद्वैत तत्व का प्रतिपादन

ओपनिपद दर्शन के अनुसार गौडपादाचार्य विश्व, तैजस एवं प्राण को आत्मा के विभिन्न रूपों में न स्वीकार करके एक ही स्वीकार करते हैं। आचार्य गौडपाद के अनुसार उपर्युक्त तीन स्वरूप एक ही आत्मा की अभिव्यक्तियां हैं—(एक एवत्रिवासमृतः, गौ० का० ११)। यही आत्मा अद्वैत ज्ञान-स्वरूप है। (अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः, गौ० का० ११०)। अद्वैत तत्व का प्रतिपादन करते हुए गौडपादाचार्य ने कहा है कि अनादि माया के कारण अज्ञान की निद्रा में सुप्त जीव अज्ञान निवृत्ति होने पर जब प्रबुद्ध होता है तभी अज, अनिद्र, अस्वप्न एवं अद्वैत तत्व का बोध होता है।^४ इस प्रकार शांकर वेदान्त की तरह आचार्य गौडपाद की दृष्टि से द्वैत जगत् की सत्ता मायिक ही है। माया अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति होने से तत्व ज्ञान होने पर प्रपञ्चमय द्वैत जगत् की भी निवृत्ति हो जाती है—ज्ञाते हीं न विद्यते (गौ० का० ११८)।

प्रवर्ती अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म को अद्वैत तत्व के रूप में स्वीकार करके ब्रह्म तत्व का विस्तार से विवेचन किया गया है। गौडपादाचार्य ने प्रणव अर्थात् ओंकार को ब्रह्म रूप ही माना है। (प्रणवो ब्रह्म निर्भश्म, गौ० का० १२५)। प्रणव रूप ब्रह्म में समाहित चित्त वाले व्यक्ति के लिए किसी प्रकार का भय नहीं रहता। प्रणव ही अपर, पर, अपूर्व, अनन्तर, अवाद्य अनपर तथा अव्यय रूप है। प्रणव ही सर्व प्रपञ्च का आदि, मध्य तथा अन्त है।^५

ब्रह्म का स्वभाव—जो ब्रह्म जिज्ञासु का ज्ञेय है उसे, गौडपादाचार्य ने अज तथा नित्य कहा है—‘ब्रह्मत्रे यमजं नित्य’ (गौ० का० ३।३३) यही ‘शान्त तथा अद्वयरूप’ तत्व है तथा प्रत्येक स्थिति में समान है। ब्रह्म स्वभाव से स्वस्थं, शान्तं तथा विशुद्ध रूप है। आचार्य गौडपाद ने ब्रह्म को अनिद्र, अस्वप्न, नाम रूप स्मृति, सङ्कृदिविभात तथा सर्वज्ञ कहा है।^६

१. डा० वलेसर के मत के लिये देखिए—J. R. A. S. (1910) p. 1363.

२. जैकोवी के मत के लिये देखिए—J. O. S. (1913), pp. 52, 54.

३. डा० दास गुप्त के मत के लिए देखिए—Indian Philosophy, Vol. 1, p. 423.

४. अनादिमायया मुप्तो, यदा जीवः प्रबुद्धने।

अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं ब्रुव्यते तदा ॥ गौ० का० ११६।

५. गौ० का० १२५, २६।

६. शान्तमद्यश्म, गौ० का० ४।४५।

७. समतांगतम्, गौ० का० ३।२।३८।

८. स्वस्थं शान्तम्, ब्रह्म, ३।४७।

९. वटी, ४।६।३।

१०. वटी, ३।३५।

ब्रह्म दर्जन के लिये किसी अन्य प्रवाहा की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह तो स्वयं प्रकाश स्फूरण है। इसमें अनिरिक्त ब्रह्म अनुत्तम मुख एवं तिर्यग स्थृप है।^३ एक कारिका के अन्तर्गत परमार्थ तत्त्व का वर्णन वर्तों हुए रहा है कि परमार्थ दृष्टि से न किसी का प्राप्ति है न किसी की उत्पत्ति, न होई वह है तथा न कोई साप्तर। इस प्रवाह तो मुमुक्षु एवं मुकुर का भेद भी मिथ्या ही है।^४

उपर्युक्त दृष्टि के अनुसार गौडपादाचार्य ने जिस अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया है उग्रा पूर्ण समर्थन तत्त्व एहाही ही रहा जाएगा जब तक कि जगत् के सम्बन्ध में गौडपादाचार्य के दृष्टिभेदों का व्यवहारिका मना को स्वीकार करने हुए उसका मिथ्यात्व गिर्द किया था। गौडपादाचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन करते हुए स्वप्न सादृश्य के आधार पर जगन्मिथ्यात्व का समर्दन किया है। इस स्थल पर आचार्य गौडपाद द्वारा प्रतिपादित जगत् के स्वाभिन्न मिथ्यात्व के सम्बन्ध में विचर करना उचित होगा।

गौडपादाचार्य द्वारा स्वप्न सादृश्य के आधार पर किया गया जगन्मिथ्यत्व का प्रतिपादन

आचार्य गौडपाद ने भाष्मदूष कारिका के वैताय्य एवं अनातगान्ति प्रकरण के अन्तर्गत जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन स्वप्नमिदान्त के आधार पर किया है। स्वप्निक विषयों का मिथ्यात्व निष्पन्न परते हुए आचार्य ने वैताय्य प्रकरण में वहाँ है कि स्वप्न काल के समस्त वाह्य एवं आध्यात्मिक भाव मिथ्या होने हैं।^५ क्योंकि स्वप्नात्मस्या के परचान् जाग्रत् अवस्था में स्वाभिन्न भीवों की मृत्यु नहीं देखी जाती। उदाहरण के लिए स्वप्न में गज या पर्वत देखने वाले व्यक्ति के निए जाग्रत् अवस्था में गज या पर्वत की सत्ता नहीं देखी जाती। अतः स्वप्न काल के गज या पर्वत के भाव भी मिथ्या ही हैं। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य गौडपाद ने वहाँ है कि स्वप्न में जो डग्किन अपने मित्रों से आलाप करता है वह जाग्रत् दशा में नहीं करता।^६ इसी प्रकार स्वाभिन्न रथादि की सत्ता भी मिथ्या ही है।^७

गौडपादाचार्य ने उपर्युक्त स्वप्न मिदान्त के आधार पर ही स्वाभिन्न पदार्थों की सत्ता की तरह जाग्रत् जगत् की सत्ता की मिथ्या कहा है।^८ स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के मिथ्यात्व का विवेचन करते हुए आचार्य गौडपाद ने उक्त दोनों अवस्थाओं को एक ही कह दिया है—स्वप्न जागरितस्थाने ह्येकमाहूमनीषिण (गो० वा० २४)।

— शर्माचार्य ने गौडपादाचार्य के उपर्युक्त स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के साम्बन्धे

३. प्रभान् भवति स्वयम्, गो० वा० ४१।

४. वही, ३।६३।

५. वही, २।३२।

६. वैताय्य सर्व भावाना स्वप्नमाहूमनीषिण, गो० वा० २।१।

७. मिदार्थं सह सम्मन्त्रय सम्बुद्धो न प्रपञ्चते। गो० वा० ४।३५।

८. गो० वा० २।३।

९. वही, २।४।

प्रतिपादक कथन (गो० का० २१४) पर नैयायिक शैली में भाष्य करते हुए कहा है—

१—जाग्रद्दृश्यानां भावना वैतथ्यम्—इति प्रतिज्ञा

अर्थात् जाग्रत् अवस्था में देखी हुई वस्तुएँ मिथ्या हैं, यह प्रतिज्ञा है।

२—दृश्यत्वात्—इति हेतुः ।

वयोङ्कि वे दृश्य हैं, यह हेतु है।

३—स्वप्न दृश्य भाववत्—इति दृष्टान्तः ।

स्वप्न में देखी हुई वस्तुओं के समान मिथ्या हैं, यह दृष्टान्त है।

४—यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावना वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टम् इति हेतुपनयः ।

अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न में देखी गई वस्तुएँ मिथ्या हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में देखी गई वस्तुएँ भी मिथ्या ही हैं! यह हेतुपनय है।

५—तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतम्—इति निगमनम् ।

अर्थात् इसलिए जाग्रत् जगत् में देखी गई वस्तुएँ मिथ्या हैं—यह निगमन है।^३

उपर्युक्त भाष्य के अनुसार स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं का साधर्म्य स्पष्ट है। परन्तु प्रकारान्तर से देखने पर स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में भेद भी दृष्टिगोचर होता है। शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२।२।२६) के अन्तर्गत स्वप्न एवं जाग्रत् के भेद का प्रतिपादन भी किया है।

शंकराचार्य द्वारा किया गया स्वप्न एवं जाग्रत् के भेद का प्रतिपादन

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२।२।२६) के अन्तर्गत विज्ञानवादी वीद्व के मत को प्रस्तुत करते हुए और उसका खण्डन करते हुए कहा है कि—

यद्वतं वाहृर्थापिलापिना स्वप्नादि प्रत्ययवृज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्ययाविनेव वाहृनाथेन भवेषुः प्रत्यपत्वाविशेषादिति वक्तव्यम् । अर्थात् स्वप्नादि अवस्था के ज्ञान के समान जाग्रत् अवस्था में हुए स्तम्भ आदि ज्ञान भी वाहृ अर्थ के विना ही हों, यह मुनत है, वयोङ्कि दोनों में प्रत्ययत्व समान है, ऐसा वाहृ अर्थ के निषेध करने वाले ने जो कहा है उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए।

शंकराचार्य विज्ञानवादी के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं—अब्रोच्यते— न स्वप्नादि प्रत्यय वज्जाग्रत् प्रत्यया भवितुमर्हन्ति । अर्थात् स्वप्न इतिहासिक प्रत्ययों के समान जाग्रत् अवस्था के प्रत्यय नहीं हो सकते । अपने मत के समर्पन में हेतु प्रदर्शित करते हुए शंकराचार्य ने कहा है—कस्मात्? वैधर्म्यतः। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्न जागरितयोः—अर्थात् वैधर्म्य हेतु है । स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में वैधर्म्य है । इम पैदार्थ को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य ने कहा है—कि पुनर्वैधर्म्यम् । वाधावाधाविति तूमः । वाध्यते हि स्वप्नोयलञ्च वस्तु प्रतिवुद्धस्य

१. डा० राधाकृष्णन् ने नैयायिक शैली में इए गए उपर्युक्त प्रतिपादन का महत्त्व जैकोवी महोदय को दिया है। (देखिए, डाक्टर राधाकृष्णन्, इन्डियन फिलामेंटी, भाग २, पृ० ४३६ पर पाद्विष्टपणी) परन्तु शंकराचार्य ने तो उपर्युक्त विषय का नैयायिक शैली में प्रतिपादन जैकोवी से शक्तियों पूर्व कर दिया था । अतः नैयायिक शैली के प्रतिपादन का महत्त्व जैकोवी ने देखा उन्हीं नहीं पारीत द्दोना ।

मिद्यामधोपलब्ध भगवन्नसमागम इनि, नहुरित मम महाजनसमागमो निद्रालान तु
भेदभनो बभूत् तेर्णपा आन्तिरहद्वभूवेनि । अर्थात् वैधर्म्यं क्या है? वाध और अवाध । वयोकि
स्वप्न में उपलभ्य हुई वस्तु वा जाग्रत् अवस्था म वाध होना है । उदाहरण के लिए यदि किसी
को स्वप्न में महाजन का समागम होना है तो जाग्रत् में स्वप्न प्रष्टा वो उस स्वप्न दृष्टि महा-
जन की उपलब्धि नहीं होती । इनीलिए जाप्रत् अवस्था में वह स्वप्न दृष्टा यही बहुत है कि स्वान
में महाजन समागम वी मुझे जो उपलब्धि हुई थी वह मिद्या है । वास्तव म मुझे महाजन
समागम नहीं हुआ । मेरे मन के निद्रा से न्यायि युक्त होने के कारण मुझे यह भावित हा रही
थी ।

स्वप्नावस्था वा जाग्रत् अवस्था से भेद दिखनाने हुए शक्तराचार्य ने कहा है—नेव जाग-
रितोपलभ्य वस्तु स्तम्भादिक वस्यानिद्रप्रवस्थाया वाच्यतः ।^१ अर्थात् जाग्रत् अवस्था में जिन
स्तम्भादि अवस्थाओं की उपलब्धि होती है उनका किसी अवस्था में भी वाध नहीं होना ।

उपर्युक्त रीति से स्वप्न एव जाग्रत् अवस्थाओं म भेद की स्थापना करते हुए शक्तरा-
चार्य ने स्वान एव जाग्रत् अवस्था आ व मौलिक भेद को स्पाठ उरने हुए कहा है कि स्वप्न
दर्शन का कारण स्मृति है और जाग्रत् अव था के दर्शन का कारण उपलब्धिः^२ । स्मृति और
उपलब्धि का प्रयोग भेद स्वप्न अनुभव म आता है । वह भेद यह है कि प्रयत्न म अर्थं का
विप्रयाप्त है और दूसरे मे सम्प्रयोग है^३ । इस प्रवार गत्तराचार्य ने स्पष्ट ही स्वप्न एव जाग्रत्
के वैधर्म्य का प्रतिपादन किया है ।

समालोचना

अद्वैतवाद ग्रन्थ के लेखक गगा प्रसाद ने शक्तराचार्य के उपर्युक्त मत की आलोकना
की है । गगाप्रसाद प्रभृति कुद्विद्वानाका कथन है कि जिन शक्तराचार्य ने माण्डूक्य कारिका
(२।४) पर भाष्य करते हुए स्वप्न एव जाग्रत् अवस्था के साधर्म्य का प्रतिवादन किया है,
उन्होंने धोगाचार वौद्ध के मत वा लण्डन (व० सू०, शा० भा० २।२।२६) उरने हुए स्वप्न एव
जाग्रत् के वैधर्म्य की स्थापना करके माण्डूक्यकारिकाभाष्य वर्ती मत के विरोधी मत की
स्थापना की है । इस मध्यवन्ध मे अद्वैतवाद के समालोचक गगाप्रसाद ने लिया है—

‘उन्होंने यह त सोचा कि हम अपने ही शब्दों म अपने मत का व्यङ्गत कर रहे हैं’^४

मेरे विचार से गगाप्रसाद आदि का उपर्युक्त दृष्टि से शक्तराचार्य के मत मे विरोध
दृढ़ना उचित नहीं प्रतीन होता । शक्तराचार्य का माण्डूक्य कारिका भाष्य एव ब्रह्मसूत्र भाष्य
मे भिन्न भिन्न तात्पर्य है । माण्डूक्य कारिका (२।४) पर भाष्य करते हुए जहा शक्तराचार्य
ने स्वप्न एव जाग्रत् के साधर्म्य का प्रतिवादन किया है, वहा उनका उद्देश्य गोडपादाचार्य के
इस मत का न सर्वन वरता है कि जाग्रत् जगत् के पदार्थ मत्य न होकर मिया हैं । जिस प्रकार
स्वप्नावस्था के पदार्थों का जाग्रत मे वाध हो जाता है उसी प्रकार परमार्थविस्था मे जाग्रत्
अवस्था के पदार्थों का वाध हो जाता है । परमार्थविस्था मे आत्मनत्व वा बोध होने पर केवल
वा० म तत्व की ही सत्ता मिह होनी है । अत जहा अचार्य ने स्वप्न एव जाग्रत् के माधर्म्य को

^१ व० सू०, शा० भा० २।२।२६ ।

^२ विद्येपदिग्याः—व० सू०, शा० भा० २।२।२६ ।

^३ गगाप्रसाद अद्वैतवाद प० ७० । (कला प्रेस, अनाहावाद—१६५३म०)

स्वीकार किया है, वहां उनका तात्पर्य गोडपाद के अनुसार जाग्रत् के पदार्थों का मिथ्यात्व-सिद्ध करना है।

जहां तक शंकराचार्य द्वारा ब्रह्ममूल भाष्य (२।२।२६) के अन्तर्गत स्वप्न एवं जाग्रत् के वैधम्य निरूपण का प्रश्न है वह भी शंकराचार्य के माण्डूक्य कारिका भाष्य (२।४) का विरोधी नहीं है। विज्ञानवादी वौद्ध के भत का स्पष्टन करते हुए शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में भेद अवश्य स्थापित किया है परन्तु वहां भी उन्होंने जाग्रत् जगत् के पदार्थों की परमार्थ सत्यता को स्वीकार नहीं किया है। स्वप्न एवं जाग्रत् का अवस्थागत भेद निश्चित है। स्वप्न द्रष्टा के लिए अपनी चार हाथ की कुटियां में जिन गजराजों के दर्शन होते हैं उनकी वहां (कुटिया में) स्थिति भी असम्भव है। इससे गहर स्पष्ट है कि स्वप्नकालिक पदार्थों की सत्ता केवल मन का भ्रममात्र ही होती है। परन्तु इसके विपरीत इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जगत् के पदार्थ केवल मानसिक कल्पनामात्र न होकर भौतिक दृष्टि से सत्य हैं। गोडपादाचार्य^१, शंकराचार्य^२ एवं आनन्दगिरि^३ ने भी स्वप्न एवं जाग्रत् के इस वैधम्य को स्वीकार किया है। परमार्थ दृष्टि से दोनों के मिथ्या होने के कारण दोनों में मिथ्यात्व रूप साधन्य है।^४ और स्वप्न एवं जाग्रत् के पृथक् दृष्टिकोण से दोनों में वैधम्य है। अतः शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् के सम्बन्ध में जिस साधन्य एवं वैधम्य का प्रतिपादन किया है, उसे विरोधी समझना सभीचीन नहीं प्रतीत होता।

गोडपादाचार्य का अजातवाद का सिद्धान्त

अद्वैतवाद के समर्थन में अजातवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए गोडपादाचार्य का कथन है कि परमार्थतः न किसी जीव की उत्पत्ति होती है और न कोई जीव की उत्पत्ति का कारण है। वस्तुतः एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जिसमें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता।^५ अतः परमार्थ दृष्टि से जीव अजात ही है। एक अन्य स्थल पर वास्तविक अद्वैत एवं परमार्थ तत्व का प्रतिपादन करते हुए बाचार्य ने कहा है कि वास्तविक परमार्थ वह है जिसका न प्रलय है और न उत्पत्ति। जो न वद है और न साधक। इसके अतिरिक्त जो न कभी मुक्ति की इच्छा करता है और न कभी मुक्त होता है। यही अस्पष्ट बातम तत्व परमार्थ सत्य है। निम्नलिखित श्लोक के अन्तर्गत गोडपादाचार्य का उक्त भाव ही अभिव्यञ्जित हुआ है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्वद्धो न च साधकः।

न मुमुक्षुर्त वैमुक्त इत्येपा परमार्थता ॥ (गौ० का० २।३२)

आत्मा की अजातता को सिद्ध करते हुए गोडपादाचार्य ने कहा है कि द्वैतवादी लोग

१. गौ० का० २।४।

२. अन्तःस्थानात् संवृत्तत्वेन च स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद्दृश्यम्यो भेदः (शा० भा० गौ० का० २।४)।

३. आनन्दगिरि ने स्वप्न काल के विषयों को 'कल्पनाकाल भाविनो भावाः, और जाग्रत् काल के विषयों को 'प्रत्यभिज्ञायमानत्वेन पूर्वायरकालभाविनः' कहा है। (देखिए, आनन्दगिरि की टीका) गौ० का० २।१४)

४. देखिए F.H. Bradley : Essays on Truth and Reality, Ch. XVI.

५. नकश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।

एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ (गौ० का० ३।४८)

जन्महीन आत्मा के भी जन्म के अभिलाषी प्रतीत होते हैं। जो पदार्थ (आत्मा) निश्चित ही वजन्मा और मरणहीन है वह मरणशील किस प्रकार हो सकता है। इसलिए जो अमृत पदार्थ (आत्मा) है वह मर्त्य नहीं हो सकता और इसी प्रकार जो मर्त्य पदार्थ है वह अमृततत्व नहीं प्राप्त कर सकता। इसका कारण यह है कि स्त्रभाव का परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अज एवं अमर आत्मा ही एक मात्र परमार्थ सत्य है। परमार्थत जीव की उत्तरति न मानने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम अजातवाद पड़ा है।

गोडपादाचार्य और माया सम्बन्धी सिद्धान्त

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन मायावाद उप-
सिद्धान्त को स्वीकार किए विभा थमभिव है। यही कारण है कि शूद्रवेद से लेकर मायावाद वे
प्रस्थापित शक्तिराचार्य के बात तक के जद्वितात्म के प्रतिपादक दार्शनिक साहित्य में तिसी न
किसी रूप से माया की चर्चा विलती है। अज्ञानवाद मिद्दान्त के मन्त्रकंग गोडापादाचार्य ने भी
ब्रह्मनो माण्डुक्य कारिका म साया सम्बन्धी मिद्दान्त का विवेचन किया है।

गोटपादाचार्य के दर्शन के अनुमार परमार्थ तत्त्व अद्वैत तत्त्व है अतः अद्वैत तत्त्व से द्वैत शृंगि की उत्पत्ति की शका स्ता भावित ही है। इसी शका का समाधान करते हुए आचार्य गोडपाद का कथन है कि माया के कालण परमार्थ मन्य अद्वैत तत्त्व भी द्वैत स्पृष्टि में प्रतीत होता है।^१ भृत्यकार शशराचार्य ने एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि त्रिम प्रकार तिमिर रोधी के लिए एक चन्द्र के अनेक चन्द्र दिखाई पड़ते हैं एवं अज्ञान के कालण रज्जु में मर्प घारा आदि वा भेद दिखायी पड़ता है, उभी प्रकार अद्वैत मनु तत्त्व भी माया वे द्वारा अपने स्वभाव के प्रियरीत भद्रमय दिखायी पड़ता है। परन्तु यह भेद साहित्य कदाचित् नहीं होता। अतः परमार्थ मनु वो द्वैत रूप समझना ही भूल है।^२

उपनिषदों के कुछ वाचन एवं व्रतावादी व्याख्यानाश्रों के मन की ओर सर्वेत करते हुए गौडपादाचार्य का कथन है कि जो वादी भजान वात्मनत्व की स्वाभावित उत्पत्ति स्तीकार बरने हैं उनका मत पूर्णतया अमर्गत है क्योंकि जो भाव वजान एवं अमृत स्पृह है वह मत्यंता दो कमें प्राप्त हो मिलता है^५ और जो मत्यं नहीं है उसका जन्म असम्भव है। इस प्रकार अहंता नन्द अनन्तनन्द एवं अमर है।

प्रजान तत्व की जनना की प्रतीक्षा का वारण बनवाने हुए गौड़पादाचार्य ने कहा है कि प्रजाप्रमाण वास्तव ही माया के द्वारा जायमान प्रतीक होता है। अन्यायमानों वहां मायना

अन्तर्मुखी भावम् जानिमिट्टन्तवादिन ।

पञ्चानो हृष्मनोभावो मन्येता वथमेष्यति । (गी० का० ३।७०)

न भवत्यमन मत्ते न भवत्यममन तया ।

प्रह्लादेरन्मयाभावो नस्यचिद् भविष्यति ॥ (मौ० का० ३।२।)

२ मायदा गिद्यने ह्येन्नान्यदाइज वयचन । गी० सा० ३१६ ।

३ नमान्त दरभावे भद्र द्वितम् । शा० भा० गौ०, का० ३१७६।

८. येतु युद्ध के चिन्हानि प्रथम भाग में विवरित हैं कि दक्षवादिनों वाले दूका जगत् सर्वस्य वा मनुष्यस्य मनस्य स्वभावतां त्रिविस्तुतिभिरुच्छिन्नि—ये च त्रीती शब्दों भाव स्वभावत सन्तानम्

जायते तुसः (गौ० का० ६।२४) यहां माया शब्द का प्रयोग गोडपादाचार्य ने अविद्या के अर्थ में किया है। गोडपादाचार्य ने माया को स्वप्नोगम भी कहा है।^३

अधिष्ठान और माया—अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का अथवन्त प्रमुख सिद्धान्त है। मायिक जगत् का आरोप अधिष्ठान के स्वीकार किये विना असंगत है।^४ इसी लिये अद्वैत दर्शन के मण्डनकर्ता आचार्यगोडपाद ने निम्नलिखित कारिका के अन्तर्गत परमार्थ सत् स्वरूप आत्मा से माया के द्वारा मिथ्या जगत् की उत्पत्ति वत्तलाई है, जो अपारभार्थिक है—

सतो हि मायथा जन्म युज्यते न तु तत्वतः (गौ० का० ३।२७)

उपर्युक्त कारिका के अन्तर्गत प्रयुक्त 'सत्' की व्याख्या शंकराचार्य ने पञ्चम्यन्त एवं पञ्च्यन्त दोनों मानकर की है। 'सत्' को पञ्चम्यन्त मानने पर अर्थ होगा—सत् (विद्यमान) कारण से ही माया निर्मित जगत् का जन्मयुक्त है, परन्तु जगत् की यह उत्पत्तितात्त्विक नहीं है।^५ इसके विपरीत 'सत्' को पञ्च्यन्त मानकर किया गया उपर्युक्त कारिकांश का अर्थ होगा—सत् अर्थात् विद्यमान वस्तु का माया के द्वारा जन्म कहना युक्त है। परन्तु आत्मा का यह जन्म पारमार्थिक नहीं है।^६ प्र०० विद्युदेवर भट्टाचार्य ने 'सत्' को पञ्च्यन्त मानकर ही अर्थ किया है।^७ दोनों मत आचार्य गोडपाद के अजातवाद सिद्धान्त के समर्थक हैं।

गोडपादाचार्य के दर्शन के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने शंकराचार्य के पूर्ववर्ती दार्शनिक साहित्य में सर्वप्रथम अद्वैतवाद सिद्धान्त का संदान्तिक अव्ययन प्रस्तुत किया था। उनके इन अद्वैतसिद्धान्त का आधारसिद्धान्त अजातवाद था, जिसका विवेचन अभी हम कर चुके हैं। अतः आचार्य शंकर को गोडपादाचार्य के दर्शन से अद्वैतवाद मिद्धान्त की बालोचना एवं स्थापना में एक महत्ती प्रेरणा एवं आधार भूमि प्राप्त करना स्वाभाविक ही था। परन्तु इसके साथ-साथ यह कहना भी असंगत न होगा कि गोडपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों में शांकर दर्शन की सबल पृष्ठभूमि होते हुए भी दोनों आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में अनेक समानताएँ होते हुए भी कुछ विपरमताएँ भिलती हैं। इन समानताओं एवं विपरमताओं का उल्लेख सप्तम अध्याय में किया जायेगा। अब इन स्थल पर शंकराचार्य के गुह गोविन्दपाद एवं उनकी देन के सम्बन्ध में विचार किया जायेगा।

गोविन्दपाद एवं उनकी दार्शनिक देन—गोडपादाचार्य के शिष्य एवं शंकराचार्य के गुह गोविन्दपाद नर्मदा तट पर निवास करते थे तथा एक महान् योगी थे। कहने हैं, इस महायोगी का

१. गौ० का० २।३।१।

२. अधिष्ठानसत्तातिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अंतर्गी कारात। वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद।

३. सतोहिविद्यमानात् कारणात् मायानिर्मितस्य हस्त्यादिकार्यस्यैव जगजन्मयुज्यते। शा० भा०, गौ० का० ३।२७।

४. सतोविद्यमानस्य वस्तुनो रज्जवादेः सर्पदिव मायथा जन्मयुज्यते।—शा० भा०, गौ० का० ३।२७।

५. The birth of that which exists can be reasonable only through illusion, but not in reality. Agamsastra, p. 66.

स्थूल शरीर एक सहम वर्ष तक इस सासार में रहते हुए भी दिव्य था। गोविन्दपाद के सम्बन्ध में विद्यारथ्य वा मत है कि गोविन्दपाद भाष्यकार पत्रजनि के हप्तान्तर हैं।^१ राजवाडे वचा के अनुमार जिनसेन गुणभद्र तथा शशराचार्य के गुह गोविन्दपाद समसामयिक थे। राजवाडे वचा के अनुमार जिनसेन गोविन्दपाद के परम गुरु थे, क्योंकि जैसा कि इस ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है, गुणभद्र जिनसेन का शिष्य था और गोविन्दपाद गुणभद्र के शिष्य थे। भट्टराम गोविन्द पुत्र हस्तिमल्ल ने भी स्वरचित विक्रान्तशौरव नामक नाटक के अन्त में कवि प्रशस्ति में निखा है कि गुणभद्र जिनसेन का शिष्य था और गोविन्द गुणभद्र की शिष्य परम्परा में अन्य-तम था। यह मत अवधिरथ है कि जिनसेन ने ७०५ शकाब्द में अर्यान् ७८३ सन् में हरिवश की रचना की थी। इस ग्रन्थ में यह उल्लेख मिलता है कि जिनसेन, गुणभद्र एवं गोविन्द—ये तीनों आचार्य धाराविषय भोज के सभा पण्डित थे। परन्तु उक्त ग्रन्थ का यह कथन कथमपि प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि धाराविषय राजा भोज का काल ११वीं शताब्दी है। ११ वीं शताब्दी में होने वाले राजा भोज की चर्चा ७८३ सन् के ग्रन्थ में मर्वया अप्रामाणिक ही कही जायेगी। अत हरिवश का मत तर्कप्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता। किसी-किसी विद्वान् का यह मत भी है कि हरिवश में उल्लिखित भोज धाराविषय भोज न होकर कोई कान्यकुञ्ज के गुप्तवर्तीय राजा है।^२

प्रभावक चरित के अनुसार वाणभट्टि एवं गोविन्द समकालीन थे। ८३६ ई० में वाणभट्टि के मरण के पश्चात गोविन्द वो राजा भोज ने अपनी सभा में बुलाया था। वाणभट्टि का जन्म काल ७४४ ई० सन् है।^३

गोविन्दपाद रचित वोई भी वेदान्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। रमहृदय नामक एक ग्रन्थ गोविन्दभगवत्पाद रचित अवश्य मिलता है परन्तु इस ग्रन्थ का विषय रसायन शास्त्र है। माघवाचार्य वृत्त सर्वदर्शन संग्रह के रसेश्वरदर्शन प्रकरण में उक्त ग्रन्थ का प्रामाण्य भी स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार गोविन्दभगवत्पाद वा ऐतिहासिक विवरण प्राप्त वरना अत्यन्त दर्जित है। परन्तु इतना तो निश्चिन ही है कि गोविन्दभगवत्पाद शशराचार्य के गुरु थे।

इस अध्याय के अन्तर्गत अभी तक किये गये विवेचन से यह सिद्ध होना है कि अद्वैत सहिता में लेकर शशराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों के काल तक के समय में अद्वैतवाद के अस्पष्ट एवं स्पष्ट वीज वर्तमान थे। परन्तु इसके साथ साथ यह कहना भी अनुयुक्त न होगा कि शशराचार्य के पूर्ववर्ती काल में अद्वैतवाद वा सिद्धान्तिक एवं वालोचनात्मक अध्ययन निष्ठन नहीं हुआ था जैसानि यांगे स्पष्ट हिया जायेगा। उक्त वार्य शशराचार्य के द्वारा ही मम्मन हुआ था। अब यहा शशराचार्य के दर्शन के अनुमार अद्वैतवाद सिद्धान्त के भव्यग्रंथ में विचार किया जायेगा। शशर अद्वैतवाद की स्थापना में प्राचीन अद्वैतवाद की नूनताये स्वतं स्पष्ट हो जायेगी।

१ शशर दिव्यिज्य—५।६४।

२ विदेश देखिए

Proceedings of Third Oriental Conference, p. 224

३ देखिए, अच्युत, पृष्ठ २० परिप्पणी।

शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) द्वारा अद्वैतवाद का प्रतिपादन

शंकराचार्य के आविभावि काल की धार्मिक एवं दार्शनिक स्थिति अत्यन्त गोचरीय थी। एक और बोध धर्म का हाज़ार होते हुए भी उसका पूर्ण उच्छेद नहीं हुआ था और दूसरी ओर मीमांसक विद्वान् वैदिक कर्मकाण्ड के आध्यात्मिक महत्व को समझाने में असफल सिद्ध हो रहे थे। ऐसी स्थिति में एक ऐसे धर्म एवं दर्शन के प्रचारक की आवश्यकता थी जो समाज की धार्मिक एवं दार्शनिक एकता के स्तम्भ की स्वापना कर सकता। यही कार्य शंकर ने अद्वैतवाद सिद्धान्त की स्वापना के द्वारा किया था।

शंकराचार्य-पूर्ववर्ती काल में अद्वैतवाद मिद्धान्त ब्राह्मिकृत था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। स्वयं शंकराचार्य ने ही अपने भाषणन्यों में अपने पूर्ववर्ती वेदान्त के आचार्यों का उल्लेख किया है।^१ अन. जैसा कि ऊपर अद्वैतवेदान्त के ऐतिह्य से भी सिद्ध हो चुका है, यह निश्चित है कि शंकराचार्य को अपने पूर्ववर्ती धार्मिक एवं दार्शनिक माहित्य से अद्वैत सम्बन्धिनी विचारधारा की एक सबल पृष्ठभूमि उपलब्ध हुई थी। परन्तु शांख अद्वैतवाद का प्रमुख लाशार वादरायण का ब्रह्मसूत्र दर्शन एवं उपनिषद् दर्शन था। यह स्वाभाविक है कि वद्यात्म त्रिद्या के अनेकों बनुशीलनकर्तार्यों—उपनिषद्वर्ती तत्त्ववेत्ताओं एवं उपनिषद्वर्ती सिद्धान्तों के सूत्रहृषि में प्रस्तुतकर्ता वादरायण के विचारों में, अनेकता एवं सूत्रहृषिता के कारण कुछ वसामंजस्य एवं नन्दिग्रहना बनी रहे। उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र दर्शन की उक्त न्यूनताओं की पूर्ति शंकराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थों में प्रस्तुत समन्वयात्मक सिद्धान्त के आधार पर की है। अतएव शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत उपनिषदों की व्याख्या को थीवो,^२ गफ़^३ एवं जैकोव^४ प्रभृति विद्वानों ने सर्वाधिक सत्तोषजनक कहा है। जहां तर ब्रह्मभूत भाष्य का प्रश्न है, शंकराचार्य ने मूरकाद द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद सिद्धान्त वा ही प्रतिपादन किया है। डा० थीवो अद्वैत-वादसम्मत शांख भाष्य की अपेक्षा विशिष्टाद्वैतसम्मत रामानुज भाष्य को ब्रह्मसूत्र का

१. 'इति मन्त्रन्तेऽन्मदीयाश्च केचित्'—त्रा० सू०, शा० भा० ११३।१६।

तथा च सम्प्रदायविदो वदन्ति—त्र० सू०, शा० भा० १४।१४।

वत्रोक्तं वेदान्त सम्प्रदायविद्भिराचार्यः—त्र० सू०, शा० भा० २।१६।

वैरिमे गुह्यभिः पूर्व पदवाक्य प्रमाणतः।

व्याख्याताः सर्व वेदान्तास्तानित्यं प्रणतोऽस्म्यहम्।—तै० उ०, शा० भा०, मंगलाचरण।

२. The task of reducing the teaching of the whole of the Upanishads to a system consistent and free from contradiction is an intrinsically impossible one. But the task once given we are quite ready to admit that Sankar's system is most probably the best that can be devised.
Thibaut: Introduction, S. B. E. Vol. XXXIV.

३. Gough : Philosophy of Upanishads, p. VIII.

४. It may be admitted that if the impossible task of reconciling the contradiction of the Upanishads and reducing them to a harmonious and consistent whole is to be attempted at all, Sankar's system is about the only one that could do it. Col. Jacob : Introduction to Vedantasar.

अधिक सगल भाष्य मानते हैं। अपने मन के समर्थन में ढाँ धीवो ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे निरावार हैं।^१ भरे विचार से शशराचार्य का भाष्य ब्रह्मसूत्र की सर्वाधिक सात व्याख्या है।

शशराचार्य द्वारा अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन

हम यह कह चुके हैं कि शशराचार्य के दर्शन का मूर्त आधार उपनिषद् साहित्य था। दिशेपत, उपनिषद् व जागर पर ही शशराचार्य ने ब्रह्म विद्या का निरूपण किया था। शशराचार्य न ब्रह्म को अद्वैत तत् य मानकर ही अद्वैतवाद मिद्धान्त का प्रतिपादन किया पा। शास्त्र अद्वैतवाद के जनुमार अद्वैततत्त्व नहीं को निरुण स्वीकार किया गया है। जगत् की सत्ता शाकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत भाष्यिक वतनाई गई है। शास्त्र वेदान्त के माध्य सम्बन्धी सिद्धान्त दा विवेचन लाये जिया जायेगा। माया के वारण हीं जीव और ब्रह्म इन भिन्नत्व हैं, वस्तुत जीव और ब्रह्म में मूलतया ऐस्य ही है। यही शास्त्र अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त है। शशराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में अद्वैतवाद की निर्णयित्व परिभाषा दी है—

“अस्य जातोनामहपास्या व्याकृतस्य अनेककर्तुं भोक्तुं सगुवतस्य प्रतिनिष्ठेशास्त्रात् तिमिनिश्चियाकलारथस्य मातारा अपि अचिन्त्य रचनाहपस्य जन्महितिभग यत् सर्वज्ञात् सर्वं ददो धारणाद् भवति, तद् ब्रह्म”। (शा० भा० ध० स० ११२)

अर्थात् नाम स्पष्ट के द्वारा अन्यत, जनन वर्तमा एव भोक्ताभो मे सयुक्त, ऐसे किया और कल के आश्रय तिमहे देता, ताल और निमित्त व्यवस्थित हैं, मन मे भी जिसदी रचना के सम्मत दा विचार नहीं हो सकता ऐसे नान् की उभानि, स्थिति एत नान् त्रिम सर्वं एव सर्वं अभिज्ञानान् वारण मे होते हैं वह व्रज्ञ है। शशराचार्य हन उपरुक्त वक्षण के अनुमार ब्रह्म की विशेषताएँ—सर्वं व्यापकता, अविद्यानता, रावं गता एव रावं शक्तिमत्ता है। उपरुक्त पौरभाषा मे अनुमार ब्रह्म शास्त्र वेदान्त दा सर्वोच्च तत्त्व है।

ब्रह्म के अस्तित्व का निष्पत्ति

जमेन विद्वान् द्वायसन या यह अध्यन सत्य नहीं प्रतीत होता कि भारन के विद्वान् सत्त्र विद्या सम्बन्धी (ontological) प्रमाण के अन्वेन म नहीं करे।^२ द्वायसन दा यह व्यत कम मे कम शशराचार्य के सम्बन्ध मे उपरुक्त प्रतीत नहीं होता। शशराचार्य ने उझ के सम्बन्ध मे जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे निरचय हैं नव विद्या सम्बन्धी प्रमाणो ने युक्त हैं। आचार्य ने त्रिम अद्वैत ब्रह्म दा प्रतिपादन किया है वह तर्क प्रतिपादन न होते के वारण अनुभव मन्न है।

शशराचार्य ने अपने भाष्य ग्रन्थो मे ब्रह्म नामक जो सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की है, उसकी गता व्यावहारिक, देविति कानित एव वैचारिक सत्ताओं मे विवरण है।^३ जैसा कि

१. ढाँ धीवो के नर्तो और उनके निराकरण के तिर देखिये

Dr Radhakrishnan Indian Philosophy, Vol II, p 469-470, (foot note)

२ D S V , page 123

३ श० स०, शा० भा० ४३१। तदा देविति ढाँ गाधारूपान् ‘इण्डियन फिलोसोफी’, भाग

२ ए० ७३६।

वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है, यद्यपि यह ब्रह्मतत्त्व कोई द्रव्य रूप सत्य नहीं है।^१ परन्तु फिर भी यह समस्त जगत् का अधिष्ठान है। समस्त चेतन एवं अचेतन, सामान्य एवं विशेष, समस्त वस्तुओं का एक महासामान्य (ब्रह्म) में ही अन्तर्भव होता है।^२ ब्रह्म का अस्तित्व बड़ा विलक्षण है। यदि देखा जाय तो ब्रह्म का अस्तित्व सर्वत्र व्याप्त है, परन्तु देश कालातीत होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व किसी भी स्थान पर नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वह एक ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है, जिसका निर्देश वाणी एवं मन के द्वारा असम्भव है, परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिए कि वह अभाव रूप है।^३ ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हुए शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है—

ब्रह्मावसानोऽयं प्रतियेधः नाभावावसानः (ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२)

ब्रह्म के अस्तित्व का निरूपण किसी अन्य वस्तु के दृष्टान्त के आधार पर असम्भव है। इसका कारण यह है कि ब्रह्म के न कुछ समान है और न कुछ असमान। ब्रह्म वस्तुतः किसी भी प्रकार के स्वगत भेद से रहित है। शंकराचार्य का कथन है कि एक वृक्ष, जो पत्तियों, पुष्टों एवं फलों के स्वगत भेदों से युक्त है, का सादृश्य अन्य वृक्षों के साथ देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त पापाण आदि वृक्ष से असदृश वस्तुएं भी उपलब्ध होती हैं।^४ परन्तु जैसा कि ऊपर कह चुके हैं ब्रह्म की स्थिति इसके विपरीत है। अतः किसी दृष्टान्त के आधार पर ब्रह्म के अस्तित्व का प्रतिपादन असम्भव ही है।

ब्रह्म सत् चित् एवं आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म की यह आनन्दरूपता नैयायिक की दृष्टि से अनुपयुक्त है। इसीलिए वह मुक्ति को शुक्ल स्वीकार करता है।^५ जर्मन दार्शनिक कान्ट भी परम तत्त्व के बोध से उत्पन्न होने वाले आनन्द का बोध न होने के कारण परम तत्त्व की उपलब्धि के सम्बन्ध में संदिग्ध था। यही कारण है कि दार्शनिक कान्ट शुद्धवस्तु (Thing in itself) का बोध असम्भव मानता था।^६ इसके विपरीत शंकर दर्शन का प्रमुख साध्य ही ब्रह्मज्ञान है। इस साध्य की प्रस्तावना के रूप में ही ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत सर्वप्रथम—अयातो ब्रह्मज्ञासा—(ब्र० सू० १।१।१) सूत्र का निर्माण प्रतीत होता है।

शंकर दर्शन के अनुसार ब्रह्म का अस्तित्व स्वतःसिद्ध है। इसलिए वह स्पिनोजा के स्वतन्त्र सत्त्व (Substantia) के अधिक समीप प्रतीत होता है।^७ वेदान्तिक ब्रह्म का पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

१. वेदान्त परिभाषा १।

२. शा० भा०, व०० उ० २।४।६।

३. वाइमनसातीतत्त्वमपि ब्रह्मणोनाभावाभिप्रायेणामिधीयते ।—ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।

४. गीता, शा० भा० १३।१२।

५. दक्षिए न्यायसूत्र १।२।२२ पर वात्स्यायन का भाष्य एवं उद्योतकर का वार्तिक।

६. दक्षिए H. J. Paten : Kant's Metaphysics of Experience, Vol. I.

p. 64. London. Allen & Unwin.

७. Maxmuller : Three Lectures on the Vedanta Philosophy, Page 123, Longman's Green, London, 1894.

ब्रह्म को असत् पदार्थ कहने की आशाका शक्तराचार्य को पहले से विदित थी। आचार्य ने अपने द्यान्देश्योग्योपनिषद् मात्र्य में उन मन्द बुद्धियों की चर्चाका स्पष्ट उल्लेख रिया है जिनके लिए दिग्, देश, गुण, गति, फल और भेद में शून्य परमार्थ सत् एव अद्वय तत्त्व असत् पदार्थ के समान दिव्यार्थ पढ़ता है।^१ इसीलिए शक्तराचार्य ने शून्यवाद मिदान्त को मर्यादा अनुपयन कहा है।^२

नेति नेति द्वारा वर्णित ब्रह्म के सम्बन्ध में उमड़े असत् होने की शक्ता वरना तार्किक दृष्टि से किये गये अध्ययन वा फल है। पुस्तिमी विद्वान् आगमनाइन भी ईश्वर की वज्रेत्यता में विश्वास रखना था।^३ न्यायशास्त्र का भारतीय विद्वान् विश्वनाथ भी निर्दिष्ट वस्तु के ज्ञान को प्रामाणिक नहीं मानता था।^४ पुस्तिमी विद्वान् हेगल भी शुद्ध सत् तत्त्व को असत् कहने लगा था।^५ परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, यदि मिथ्या जगत् के मूल में किसी सत् तत्त्व की स्थिति न हुई होती तो जगत् की स्थिति असम्भव ही होती। जगत् की तो वात ही क्या, मृगतृष्णिका आदि जो नितान्त असत् हैं, विना आधार के मिथ्या तभी हो सकते।^६ अत ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान मानने से मनोच नहीं किया जा सकता। अधिष्ठानवाद वे इस सिद्धान्त का विस्तृत निष्पत्त आगामी अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा।

शाकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ब्रह्मकी जगत् कारणता के सम्बन्ध में विचार

परमार्थ दृष्टि से तो शाकर अद्वैतवाद के अनुमार ब्रह्म एव जगत् में अनन्यत्व होने के कारण कार्यकारणता वा प्रसन् नहीं उपस्थित होता। इसीलिए शाकर दर्शन के अनुमार जगत् को ब्रह्म का विवरन् कहा गया है, परिणाम नहीं।^७ परन्तु माया शक्ति से शब्दित होने के कारण ब्रह्म जगत् का कारण है और जगत् कार्य है। स्वयं आचार्य शक्ति ने आकाशादि प्रपञ्चमय जगत् को कार्य तथा परब्रह्म को कारण कहा है।^८ परन्तु ब्रह्मके जगत् के कारण होने वा तात्पर्य यह कदाचित् नहीं प्रहृण करना चाहिए कि ब्रह्म अथवा उसके घर्म अथवा घर्मों में किसी प्रकार वा परिवर्तन होता है क्योंकि उन्नति रक्षा तथा प्रलय वाल में ब्रह्म अविहृत

१ दिग्-देशगुणगतिकर भेद शून्य हि परमार्थसद् अद्वय ब्रह्म मन्दबुद्धीनाममद् इवप्रतिमाति । शा० भा०, द्या० उ० दा११।

२ ब्र० सू०, दा० भा० २१२।३२।

३ We can know what God is not, but not what He is (Trinity, VIII, 2)

४ निर्विद्यम्य ज्ञानत्वे मानाभवात्,—न्यायमिदान्त मुक्ताकली, पृ० ४६।

५. Hegel has declared that pure being devoid of all, predicates is not different from nor being Dr Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, Page 538

६ नहि मृगनृष्णिकाद्येऽपि निरास्पदाभवति (शा० भा०, गीता १३।१४)।

७. परिणाम और विवरन् के सम्बन्ध में देखिए—वेदान्त परिमापा, प्रयम परिच्छेद।

८ कार्यमाकाशादिक बहुप्रथम जगत्, कारण पर ब्रह्म। —ब्र० सू०, दा० भा० २।।१२।

ही रहता है।^३ अतः जगत् की उत्पत्ति आदि की इच्छा भी माया विद्यिष्ट ब्रह्म में ही है। इसी माया विद्यिष्ट ब्रह्म को ईश्वर संज्ञा दी गई है। ईश्वर सम्बन्धी विवेचन लागे किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्ठ होता है कि माया शक्ति से विद्यिष्ट ब्रह्म जगत् का कारण है। संक्षेपमारी रक्कार ने माया की विद्यिष्टना के कारण ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कहा है। केवल माया व्यापार^४ माय द्वारा के कारण जगत् का उपादान कारण नहीं कही जा सकती। अतः ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण कहा जा सकता है। शांकर दर्शन के अनुसार माया शक्ति से विद्यिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान कारण ही नहीं, नित्य कारण भी है।^५

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत ईश्वर का स्वरूप

शांकर अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर का विवेचन करने से पूर्व यह कहना आवश्यक होगा कि शांकर दर्शन में ब्रह्म और ईश्वर नाम की दो पृथक् भौतायें नहीं स्वीकार की गई हैं। ब्रह्म की ही एक स्थिति है। शंकराचार्य ने ब्रह्म के पर एवं अपर यह दो भेद भी किये हैं। आचार्य का कथन है कि जहाँ अविद्या प्रयुक्त नाम और ह्य आदि विशेष के प्रतिरोध से अस्त्वलादि शब्दों से ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, वह परब्रह्म है। इसके अतिरिक्त जब वह नाम और ह्यादि किमी विशेष से विद्यिष्ट होता हुआ उपासना के लिए वर्णित होता है तब वहों अपर ब्रह्म ही शांकर दर्शन का ईश्वर है। शंकराचार्य-परवर्ती दार्शनिकों ने ईश्वर की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। इस स्वतन्त्र पर शंकराचार्य के परवर्ती कतिपय आचार्यों के मतों का निष्पत्ति किया जायेगा।

नृसिंहाश्रम का मत—नृसिंहाश्रम और उनके अनुयायियों का कथन है कि जब शुद्ध चित् का प्रतित्रिम्ब माया में पड़ता है तो वह ईश्वर कहलाता है और जब उस चित् का प्रतित्रिम्ब अविद्या में पड़ता है तो वह जीव कहलाता है।^६

सर्वज्ञात्मा का मत—सर्वज्ञात्मा माया एवं अविद्या के मध्य किसी प्रकार का भेद नहीं देखते। सर्वज्ञात्मा के विचार में जब चित् का प्रतित्रिम्ब पूर्ण कारण के हृष में अविद्या में पड़ता है तो हम उसे ईश्वर कहते हैं और इसके विपरीत जब चित् का प्रतित्रिम्ब अविद्योत्पन्न बनता-

१. P. M. Modi's article—Relation of Brahma & Jagat. Indian Culture, Vol. VIII, p. 149.
२. तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः।
३. In Sankar's system, Brahman being the efficient ('निमित्तकारणम्') as well as the material cause (उपादान कारणम्) of the world & there being no manipulator of an extraneous material co-eternal with Him. (S. B. Fellowship lectures 1929, Page 281.)
४. किषुनः परं ब्रह्म किमपरमिति, उच्यते यद्याविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिपेदादस्त्यूलादि शब्दद्वयोपदिश्यते तत् परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोगदिश्यते, 'मनोमयः प्राणशरीरो भास्यः (छा० ३।१४।२) इत्यादिशब्दस्तदपरम्। ब्र० सू०, धा० भा० ४। ३।१४।
५. Dr. S.N. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 476.

करण मे पड़ता है तो उसे जीव या जीवात्मा कहते हैं।^१

विद्यारण्य का मत—पशदगी के लेखक विद्यारण्य ने जीव और ईश्वर को माया नामक कामधेनु के वस्त्र रूप कहा है।^२

अद्वैतचन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत—अद्वैत चन्द्रिका के लेखक सुदर्शनाचार्य का विचार है कि एक ही परमेश्वर मायानिष्ठ सत्त्व रज और तमोगुण के भेद से ब्रह्मा, विष्णु और महेश सग्नाओं को प्राप्त होता है।^३

इस प्रकार उपर्युक्त मतों के विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईश्वर की सत्ता माया पर आधारित है। शाकर दर्शन के अनुसार माया के विना परमेश्वर का स्वप्न भी सिद्ध नहीं होता।^४

ईश्वर का अन्तर्यामित्व एवं शासकत्व—विषय एवं विषयी दोनों के अन्तर्गत ईश्वर की सत्ता होने के कारण ईश्वर अन्तर्यामी है। इसके अतिरिक्त ईश्वर ही जगत् का स्थान, शासक एवं महारक्ती है।^५ श्रीमदभगवदगीता की उस उक्ति में ईश्वर के अन्तर्यामित्व की बड़ी स्पष्ट भलक मिलती है जिसमें यह कहा गया है कि ईश्वर ही यन्त्राहृष्ट के समान समस्त प्राणियों को अपनी माया से भ्रमित करता हुआ समस्त प्राणियों के हृदय में वर्तमान रहता है।^६ परन्तु यहाँ यह विचार में ही कि भाग्योऽधिक ईश्वर स्वयं अपनी माया से स्पृष्ट नहीं होता। इस सम्बन्ध में शक्तराचार्य का कथन है कि जिस प्रकार भायाओं (एन्द्रिजातिक) स्वयं प्रसारित माया से त्रिकाल में भी स्पृष्ट नहीं होता उभी प्रकार परमात्मा भी समार माया से अस्पृष्ट है।^७

ईश्वर की सीता और सृष्टि—जैसा कि ऊपर भी कहा गया है शाकर दर्शन में ईश्वर को जगत् का स्थान कहा गया है। श्रुति में भी एकोऽहं वहुस्या प्रजायेय' आदि वाचयों में परमेश्वर के अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा का उल्लेख हुआ है। यहाँ यह विचारणीय है कि जो परमेश्वर आप्तकाम है, उसमें सृष्टि-उत्पत्ति की इच्छा किस प्रकार उत्पन्न होती है। उक्त शब्द का समाधान शक्तराचार्य के सिद्धान्त के अन्तर्गत समुचित रूप से उपलब्ध होता है। शक्तराचार्य ने सृष्टि वो ईश्वर की लीला का फल कहा है। शक्तराचार्य ने इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार सोने में किसी राजा या राजा के मन्त्री की, जिसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो गई हैं, त्रीदाक्षेत्र में प्रवृत्तिया किसी दूसरे प्रयोजन की अभिलाप्या न करके वेघल लीला रूप ही होती है और जिस प्रकार कि उच्छ्वास, प्रवास आदि किसी वाह्य प्रयोजन की अभिसन्धि के दिना स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार किसी अन्य प्रयोजन की अपेक्षा के विना स्वभाव से ही ईश्वर की भी केवल लीलारूप प्रवृत्ति कही जायेगी।^८ यदि वहाँ जाय तो लोक में लीलाओं में भी किसी प्रकार का सूक्ष्म प्रयोजन

१ Dr S N Das Gupta Indian Philosophy, Vol I, p 476

२ मायाम्बाया वामयेगोर्वत्सी जीवेश्वराकुमारी।—पचदशी, चित्रदीप प्रवरण, इलोक २३६।

३ अद्वैतचन्द्रिका, पृष्ठ ४० (बनारस मस्तकण १६०१)।

४ नहितयाविना परमेश्वरस्य व्यप्त्रत्व सिद्ध्यनि (ब० सू०, शा० भा० १४१३)।

५ ब० सू०, शा० भा० १११८ २०, २२, १३३६, ४१, ३२३६।

६ शा० भा० शीता १८६१

७ ब० सू० शा० भा० २११६।

८ ब० सू०, शा० भा० ११३३।

देखा जा सकता है तो भी ईश्वर लीला के सम्बन्ध में किसी सूक्ष्म प्रयोजन की उत्प्रेक्षा करना सम्भव न होगा। क्योंकि जो ईश्वर पूर्ण काम है उसकी लीला में किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं देखा जा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि सृष्टि लीलाविद्यायी ईश्वर के स्वभाव का फल है।

शांकर दर्शन में सृष्टि वैषम्य और ईश्वर—यदि आप्तकाम एवं निष्पृह ईश्वर जगत् का स्पष्टा है तो उसकी सृष्टि में वैषम्य किस प्रकार मिलता है; यह विचारणीय है। वस्तुतः सृष्टि वैषम्य स्पष्ट है, क्योंकि संसार में कोई अत्यन्त ऊँचा है, कोई मध्यम है और कोई नीच। सृष्टि की उक्त विषमता का कारण शंकराचार्य ने विस्तार से समझाया है। शंकराचार्य का कथन है कि ईश्वर निरपेक्ष होकर सृष्टि का निर्माण नहीं करता, वरन् वह धर्म और अधर्म की अपेक्षा करके सृष्टि निर्माण करता है।^१ सृज्यमान प्राणियों के धर्म और अधर्म की अपेक्षा से सृष्टि विषम होती है। अतः ईश्वर का कोई अपराध नहीं है। ईश्वर को तो पर्जन्य के समान समझना चाहिए। जिस प्रकार कि ब्रीहि, यव आदि की सृष्टि में पर्जन्य साधारण कारण है और ब्रीहि, यव आदि की विषमता में उस बीज में रहने वाली सामर्थ्य असाधारण कारण है, उसी प्रकार देव मनुष्य आदि की सृष्टि का ईश्वर साधारण कारण है। देव मनुष्यादि की विषमता में तो तत् तत् जीवों में रहने वाले कर्म असाधारण कारण होते हैं। इस प्रकार ईश्वर कर्म की अपेक्षा रखने से वैषम्य और नैदृष्ट्य रूप दोषों का भाजन नहीं है।

यह विचारणीय है कि सापेक्ष ईश्वर नीच, मध्यम और उत्तम संसार का निर्माण किस प्रकार करता है। इस सम्बन्ध में कौपीतकि ब्राह्मण के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से कहा है कि ईश्वर जिसको इस लोक से ऊँचा ले जाना चाहता है, उससे साधु कर्म कराता है और जिसको नीचे ले जाना चाहता है, उससे असाधु कार्य कराता है।^२ परन्तु श्रुति के उक्त विचार के अनुसार तो ईश्वर की वैषम्य सृष्टि अधिक पक्षपात् पूर्ण प्रतीत होती है क्योंकि किसी से साधु एवं किसी से असाधु कर्म कराने में ईश्वर का उद्देश्य पक्षपात् पूर्ण ही कहा जायेगा। ईश्वर के सम्बन्ध में उक्त गंका का करना उचित नहीं है। अनादिकान से पूर्व संचित साधु या असाधु वासनाओं के कारण पुरुष स्वभाव से ही तत्-तत् कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतः ईश्वर इस में साधारण हेतु है। इसलिए ईश्वर को पक्षपात् पूर्ण ऋषा नहीं कहा जा सकता।^३

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जीव का स्वरूप

एक अद्वैत तत्त्व ब्रह्म के ही माया शक्ति के कारण ईश्वर एवं अविद्योपाधि के कारण जीव, ये दो भेद हैं। शंकराचार्य ने जीव की जीवता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब तक बुद्धि रूप उपाधि के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है तभी तक जीव का जीवत्व एवं संसारित्व है।^४ जीव के स्वरूप विवेचन के सम्बन्ध में शांकर वे दान्त के अनुयायी विद्वानों के विभिन्न

१. धर्माधिर्मायेभत् इतिवदामः।—द्र० सू०, शा० भा० २।१।३४।

२. ऐप ही वसाधुकर्मकारयति तं यमेभ्यः तोकेभ्यः उन्निनीपत् एपउएवासाधु कर्मकारयति तं यमधो निनीपते। (कौ० ब्रा० ३।८)

३. अनादिपूर्वार्जितसाध्वसाधुवासनया स्वभावेन जनस्य तत् तत् कर्मसु प्रवृत्तौ ईश्वरस्य साधारणहेतुत्वात्, अतोऽनवद्य ईश्वरः—रत्नप्रभा, ब्र० सू० २।१।३४।

४. यावदेव चायं बुद्धयुपाधिसम्बन्धस्तावजीवस्य जीवत्वे संसारित्वं च—द्र० सू०, शा० भा० २।३।३०।

मन मिलते हैं। इस स्थल पर इन विद्वानों के प्रमुख मनों का उल्लेख करना ममीचीन होगा।

वाचस्पति मिथ का मत—वाचस्पति मिथ का मत है कि अविद्या जीव का अधिकरण है परन्तु जीव म रहने वाली अविद्या किमिता और विपथना के कारण ईश्वराधित होने से ईश्वरारथया कही जानी है।^१

प्रकटार्थविवरणकार का मत—प्रकटार्थविवरणकार का मत है कि सर्वभूतप्रहृति, चिन्मात्र सम्बन्धिनी अनादि एव अनिर्वचनीय माया में चंतन्य का प्रतिविम्ब ईश्वर है और उसी माया के अविद्या नाम वाले आवरण और विक्षेप शक्ति युक्त परिच्छिद्धन अतन्त प्रदेश में चंतन्य का प्रतिविम्ब जीव है। (सिद्धान्त लेख मग्नह, २६)

विद्यारथ्य का मत—विद्यारथ्य का मत है कि त्रिगुणात्मिका प्रहृति के भाया और अविद्या यह दो स्वयं हैं। रज और तम में निरम्भृत न होकर जो भूम्य स्वयं में शुद्ध सत्त्व प्रधान है, वह माया है। इसके अतिरिक्त जो रज और तम से अभिभूत होकर मलिन सत्त्व प्रधान है वह अविद्या है। सर्वोपमे माया में प्रतिविम्बित चंतन्य जीव है।^२

सर्वज्ञात्म मुनि का मत—सर्वोप शारीरक के रचयिता सर्वज्ञात्म मुनि ने अविद्या भेद चंतन्य के प्रतिविम्बित को ईश्वर तथा अन्त वर्णनप्रतिविम्बित चंतन्य के प्रतिविम्बित को जीव मता दी है।^३

दृग्दृष्टि विवेक के अनुसार जीव के तीन भेद—दृग्दृष्टि विवेक के अन्तर्गत विद्यारथ्य मुनि ने जीव के तीन भेद निये हैं—(१) अन्त करणावच्छिद्धन कूटस्थ चंतन्य पारमार्थिक जीव। (२) मायादृत कूटस्थ में चित् का आभास स्वयं व्यवहारित जीव। (३) निदा से आवृत व्यवहारिक जीव में कल्पन प्रानिभासिक जीव।^४ इस प्रकार विद्यारथ्य ने जीव ने उन भेदों का उल्लेख करके वैज्ञानिक अव्ययन का परिचय दिया है।

अप्य दीक्षित द्वारा उद्भूत कुछ अन्य मत

विवरण मत के अनुसार अविद्या में चंतन्य का आभास जीव और विम्बस्थानान्त चंतन्य ईश्वर है। कुछ वर्ण विद्वानों के अनुगार जीव, अन्त करण से अवच्छिद्धन है। एक अन्य मत का उल्लेख करते हुए अप्य दीक्षित ने कहा है कि कुछ विद्वानों के मतानुगार जीव न प्रतिविम्ब है योर न अवच्छिद्धन। जिस प्रकार कुभीयुक्त वर्ण में राष्ट्रेत्व (राष्ट्रायुक्त) का व्यवहार होता है उसी प्रकार अविद्या से अधिकृत द्रष्टु में ही जीवत्वका व्यवहार होता है। इसमें अतिरिक्त कुछ विद्वानों वे मतानुगार जीव की विद्वति योगी के समान हैं। जिस प्रकार कि एक ही योगी विभिन्न शरीरों के मध्य भगवाना आधिपत्य रखता है, उसी प्रकार हिरञ्जनमें अन्य एक मुस्त्य जीव है। यही जीव सब शरीरों पर अधिकार रखता है।^५

१ मामती, व० स०, ११४३।

२ पचदसी तत्त्वविवेद प्रकरण—१६ १७।

३ मिद्धान्त लेख मग्नह, ३२ (प्रथम परिच्छेद)।

४ देविए, मिद्धान्त लेख मग्नह, ३८, ३९ (गवम परिच्छेद)।

५ देविए, मिद्धान्त लेख मग्नह ४०, ४२, ४४ (प्रथम परिच्छेद)।

इस लेखक का दृष्टिकोण

जैसा कि जीव सम्बन्धी विवेचन के आरम्भ में ही कहा जा चुका है, मूल तत्व एक मात्र ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीवत्व को प्राप्त होता है। वस्तुतः जीवों का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म ही है—जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म (भास्त्री, ब्र० सू० १४१३)। यहां यह और उल्लेखनीय है कि अविद्या निवृत्ति होने पर जीव ईश्वरत्व को प्राप्त होता है। इन ईश्वर से ब्रह्म की सत्ता पृथक् नहीं समझनी चाहिए। जगत् के समस्त सुख दुःखादि का भोक्ता एवं विभिन्न कार्यों का कर्ता यही जीव है।^१ इस प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म के ही अविद्योत्पन्न जीवादि भेद हो जाते हैं।

कर्ता एवं भोक्ता जीव की ही विश्व, तैजस और प्राज्ञ संज्ञाएँ हैं। जीव की उवत अवस्थायें जाग्रत्, स्वप्न एवं सुपुण्डि, द्वन तीन अवस्थाओं, स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण, इन तीन शरीरों तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पंच कोशों पर आधारित हैं। जाग्रत् अवस्था में स्थित अन्नमय कोशरूप स्थूल शरीर के अभिमानी जीव की विश्व कहते हैं। स्वप्नावस्था में स्थित मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय कोशरूप सूक्ष्म शरीर के अभिमानी जीव को तैजस कहते हैं। उवत तीन कोश ही जीव की ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति के कारण है। विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से प्रकृत होने के कारण कर्तृत्वमय है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति से युक्त होने के कारण विवेक का माधक है एवं प्राणमय कोश गमनादि क्रिया से युक्त होने के कारण कार्य रूप है। सुपुण्डिअवस्थावर्ती आनन्दमय कोश रूप कारण शरीर के अभिमानी जीव को प्राज्ञ कहते हैं। उपर्युक्त जाग्रदादि अवस्थाओं, स्थूलादि शरीरों एवं अन्नमयादि कोशों के अनुरूप ही समटि रूप ईश्वर को वैश्वानर या विराट्, सूत्रतमा या हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर कहते हैं।

जीव और ईश्वर

ईश्वर माया शक्ति सम्पन्न है और जीव अविद्योपाधि ते उपहित। जहां ईश्वर में सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व एवं सर्वव्यापकत्व है वहां जीव अल्पज्ञ, तुच्छ एवं अत्यंत लघु है।^२ शंकराचार्य का कथन है कि निरतिशय उपाधि से सम्पन्न ईश्वर अत्यन्त हीन उपाधि से सम्पन्न जीवों पर शासन करता है।^३ जैसा कि कहा जा चुका है, ईश्वर और जीव मूलतः एक ही है। चैतन्य तत्व जीव एवं ईश्वर का एक ही है। जीव ईश्वर के अंश के समान ही है, परन्तु वह मुख्य अंश नहीं है। इसका कारण यही है कि निरवयव ईश्वर का अंश नहीं हो सकता।^४

जीव और ईश्वर में एक विशेष अन्तर यह है कि जीव सांसारिक दुःख सुखादि का

१. ब्र० सू०, शा० भा०, २१३।२६, २।३।३३।

२. बालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च।

—भागोजीवः सविज्ञेयः स चाऽनन्तराय लक्ष्यते ॥—श्वे० उ० ५।६।

तथा देखिए, ब्र० सू०, शा० भा० २।३।२६।

३. निरतिशयोपाधिसम्पन्नस्त्वेश्वरो विहीनोपाधि सम्पन्नाङ्गजीवान् प्रगास्तीति न किञ्चिद् विप्रतिपिव्यते। ब्र० सू०, शा० भा०, २।३।४५।

४. अंशहवांशो नहि निरवयवस्य मुख्योऽयः सम्भवति।—ब्र० सू०, शा० भा० २।३।४३।

अनुभव करता है परन्तु ईश्वर दुखादि का अनुभवनी नहीं है। इसका बारण यह है कि जीव अविद्या के आवेदा के वश देहादि के आत्मभाव को प्राप्त कर तस्कृत दुख से 'अहंतुमी' में दुखी हूँ, इत्यादि अविद्याकृत दुख के उपयोग का अभिमानी होता है। इसके विरुद्ध परमेश्वर का देहादि में आत्मभाव पाया दुखादि का अभिमान नहीं है। वैसे तो, यदि विचार वर देखा जाए तो जीव का दुखादि का अभिमान भी पारमार्थिक नहीं है। वयोऽनि जीव का अविद्या से कल्पित नामरूप से निवृत्त देह, इन्द्रिय एव उपाधियों के अविवेक भ्रम से उत्पन्न हुआ ही दुखादि का अभिमान है पारमार्थिक दुखाभिमान बदापि नहीं है। एक उदाहरण में यह कथन और सम्पूर्ण हो जाएगा। जिस प्रकार की पुरुष अपवैदेह को प्राप्त हुए दाह, छेदन आदि से उत्पन्न दुख वा उस देह के अभिमान की आनन्दिता से अनुभव करता है, उसी प्रकार स्नेह वश पुत्र मित्र आदि में अभिनिवेदा करता हुआ 'मैं ही पुत्र हूँ' और 'मैं ही मित्र हूँ' इत्यादि रूप से अनुभव करता है। अब इस विवेचनमें यह निष्पत्ति निकलता है कि मित्राभिमान का भ्रम ही दुखानुभव का निमित्त है।^१ अद्वित वेदान्त दर्शन के अनुसार पारमार्थिक द्रुष्टि से तो जीव ब्रह्म रूप ही है।^२ अत उसके (जीव के) दुखमुखादि भी पारमार्थिक नहीं हैं।

जीव और साक्षी का अन्तर—ब्रह्म, ईश्वर, जीव और साक्षी शब्दों में पारमार्थिक द्रुष्टि से एक तत्त्व की ही स्थिति होने हुए भी सूक्ष्म अन्तर उपलब्ध होता है। उपाधि रूप्य चेतन तत्त्व का नाम है ब्रह्म एव मायाविदिष्ट ब्रह्म की ईश्वर सज्जा है। जैसा कि ऊपर कहा गया है जगत् के भोक्तापन का अभिमानी जीव है। साक्षी इन तीनों से भिन्न है। वह न कर्ता है न भोक्ता और न स्पष्टा। जीव और साक्षी के भेद का स्पष्टीकरण मुण्डकोपनिषद् के अन्तर्गत एक उपमान के आधार पर बड़े मुन्दर ढग से किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि एक वृक्ष पर सदा साथ रहने वाले दो पक्षी रहते हैं। उनमें से एक पिपल (मधुर फन) वा स्वादूर्वंक भक्षण करता है और दूसरा पिपल को न खाकर उस दूसरे पक्षी को देखता मान रहता है।^३ यह द्रष्टा ही साक्षी है। उक्त स्थल पर भाष्य करते हुए शशरात्रार्थ ने शरीर को सेत्र, एव अविद्याकामकमंवाना के आश्रय लियोपाधि से उपहित आत्मा और ईश्वर को पक्षी कहा है।^४ आत्मार्थ शशर का कथन है कि उनमें से एक क्षेत्रत लियोपाधि रूप वृक्ष के आश्रित हुआ कर्मानुमार निष्पन्न सुखदुख रूप फन का अविवेक से उपयोग करता है। दूसरा अर्थात् ईश्वर जो नित्य शुद्ध-चुद्ध-मुक्ति स्वभाव वाला, सर्वज्ञ तथा सर्वसत्त्वोपाधियों से युक्त है, वह कर्म फलों का भोक्ता नहीं है। यदि ईश्वर साक्षी है तो भोक्ता जीव एव भोग्य का प्रेरक है। राजा के समान ईश्वर का दर्शन ही प्रेरणा है।^५ इस प्रकार भोक्ता जीवात्मा एव साक्षी ईश्वर के दीव अन्तर द्रष्टव्य है।

जीव और आत्मा—प्रत्येक जीव का मूल स्वरूप आत्मा है और यह आत्मा प्रत्येक जीव

१. द० म०, शा० भा० २।३।४६।

२ उपाधाविद्या निमित्त जीवभाव-युक्तमेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ता तत्त्वमसि इन्द्रेवमादय ।—द० म०, शा० भा०, २।३।४६।

३ मुण्डकोपनिषद् ३।१।१।

४ शा० भा०, म०० उप०, ३।१।१।

५ तयो परिष्वक्योरन्य एक क्षेत्रज्ञौ दर्शनमात्र हितस्य प्रेरयितृत्व रजन्—शा० भा०, मुण्ड० उप० ३।१।१।

में ब्रह्मरूप है। आत्मा की अजरता, अमरता एवं कूटस्थता शांकर वेदान्त में स्थान स्थान पर व्याख्यात है।^१ जीव भी आत्मा से भिन्न नहीं है। वस्तुतः न वह आत्मा से भिन्न है, न उसका अंश है और न उसका रूपान्तर है। इसके विपरीत जीव स्वभावतः आत्मा ही है। यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि जो आत्मा कूटस्थ है वह जीव में सक्रियता एवं प्रवृत्ति किस प्रकार ला देता है। शंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण देते हुए समझाया है कि जैसे लौह-चम्पक स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी लौह का प्रवर्तक होना है अथवा जैसे रूप आदि विषय स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी नेत्रादि के प्रवर्तक होते हैं, इसी प्रकार प्रवृत्ति रहित होता हुआ भी ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होने से सबको प्रवृत्त करे, यह उचित ही है।^२

जीव और आत्मा के एक होते हुए भी जीवकी आत्मरूपता के बोध के न होने का कारण यह है कि वह अविद्याजन्य विभिन्न उपाधियों से आवृत है। अविद्या निवृत्ति होने पर जीव-आत्मरूपता को ही प्राप्त होता है। आत्मरूपता को यही स्थिति ब्रह्मात्मता की स्थिति है।

जीव की एकता एवं अनन्तता का विचार

जीव एक रूप है अथवा अनन्त रूप है, इस विषय में अनेक मत उपलब्ध होते हैं। कुछ विद्वान् एक जीववाद का समर्थन करते हैं एवं कतिंपय अन्य विद्वान् अनेक जीववाद के अनुयायी हैं। एक जीववाद एवं अनेक जीववाद के भी अनेक रूप मिलते हैं। इस स्थल पर एक जीववाद एवं अनेक जीववाद के अनेक रूपों की आलोचनात्मक विवेचना की जायेगी।

एक जीववाद के अनेक रूप—एक जीववाद के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में जो एकाधिक मत मिलते हैं, उनका पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायेगा।

प्रथम मत—एक जीववाद के कुछ अनुसरारियों का कथन है कि वस्तुतः जीव एक ही है। एक ही जीव अंतिमा से समस्त जगत् की कल्पना करने वाला है। इन एक जीववादियों का कथन है कि जिस प्रकार स्वप्न में देखे गये पदार्थों की निद्रा निवृत्ति होने पर, निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार अविद्या निवृत्ति के पश्चात् अनन्त जीवयुक्त जगत् की कल्पना भी नष्ट हो जाती है। इस मत के अनुसार मुक्ति की सत्ता भी काल्पनिक ही कही गयी है।

आलोचना—उक्त मत का एक बड़ा दोष यह है कि इस मत के अनुसार जीव ही समस्त काल्पनिक जगत् का स्थान है। वस्तुतः जीव की जगत् का स्थान नहीं कहा जा सकता। जगत् का स्थान तो ईश्वर ही है जो विना किसी प्रयोजन के जगत् की सृष्टि करता है।^३ अतः एक जीववादियों का उक्त मत संगत नहीं कहा जा सकता।

द्वितीय मत—एक जीववादियों के दूसरे मत के अनुसार ब्रह्म के प्रतिविम्बभूत हिरण्यगर्भं को ही मुख्य जीव माना गया है। इस मत के अनुयायी विद्वान् जीव के सत्पृत्व का विरोध करते हैं।

उक्त मत का दोष—प्रत्येक कल्प में हिरण्यगर्भ का भेद होने के कारण किसी एक हिरण्यगर्भ में मुख्य रूप से जीवत्व की स्थापना नहीं की जा सकती। अतः एक जीववादियों का

१. देविण, शांकर भाष्य, गीता, २१२०, २१२४।

२. ग्रह्य सूत्र, शांकर भाष्य २१२२।

३. ग्र ० मू०, गा० भा० ३।१।३

उन्नत मन भी दूषित है ।

तृतीय मन—तृतीय मन के अनुमार एक जीववादियों का कथन है कि एक ही ज मस्त्यामूल्य विभाग के बिना ही सब शरीरों में स्वभोग के लिए अधिष्ठित है ।^१ अतः इस म के अनुमार अविद्या के एक होने के कारण तत्‌प्रतिविम्बित चंतन्य—जीव एक ही है । यही जीव सबल शरीरों में स्वभोग के लिए अधिष्ठित है । एक जीववादियों का उन्नत सिद्धान्त 'अविद्योपानेऽसारीरेत् जीववाद के नाम से प्रचलित है ।

अनेक जीववाद का मिद्दान्त

अनेक जीववाद के मिद्दान्त के अनुसार ब्रह्म ही अविद्या जन्य अन्त करणोपाधि के द्वारा अनेक जीवभावत्व को प्राप्त करने समारी बन जाता है । इस मम्बन्ध में शब्दराचार्य का कथन है कि अन्तन समारी जीव थपने स्वस्पदोध से वचित होकर अज्ञान की निद्रा में शयन किए बरते हैं ।^२ अविद्या निवृत्ति होने पर ही जीव मुक्ति लाभ करते हैं । जिन जीवों की अविद्या निवृत्ति नहीं होती वे मुक्ति लाभ नहीं बरते । इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव एक न होकर थनन्त है । अनेक जीववाद के सम्बन्ध में आत्मोचना बरते हुए कुछ विद्वानों का कथन है कि सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा जीवों की मस्त्या ज्ञात होने पर जीवों को अनन्त नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त यदि यह कहा जायेगा कि ईश्वर के लिए भी जीवों की मस्त्या अनन्त है, तो ईश्वर के सबज्ञत्व में वाधा उत्पन्न होगी । उबल पक्ष दे विपरीत हमारा निवेदन है कि अविद्या के अनादि होने के कारण अविद्या जन्य जीवों की निस्त्रित सख्ता के वभाव में जीवों की एवं काल में गाना न होने के कारण ही जीवों को अनन्त कहा गया है । रामाद्वयाचार्य ने भी जीवों की सम्याज्ञात न होने के कारण ही जीवों को अनन्त कहा है ।^३

अनेक जीववाद के अनेक स्पन्दन

एक जीववाद की ही तरह अनेक जीववाद के भी अनेक स्पन्दन होते हैं । यहाँ अनेक जीववाद के मम्बन्ध में उल्लेख विभिन्न भौति का उल्लेख करना समीचीत होगा ।

प्रथम मन—विनिय प्रतेरजीववादी आत्मोचन विद्वान् अन्त करण थादि वे जीव की उपाधि मानकर बद्ध तथा मुक्त की पृथक् व्यवस्था करके अनेक जीववाद का प्रतिपादन करते हैं ।

द्वितीय मन—प्रतेरजीववादियों के द्वितीय मन के अनुमार यद्यपि शुद्ध ब्रह्म का द्यायण एवं विषय थनान एवं ही है एवं इस अज्ञान की निवृत्ति होने पर ही मोक्ष होता है तथापि यह ज्ञान साता है । इसका कारण यह है कि दीवन्मुक्ति में अज्ञान के विषेषाश वी अनुवृत्ति होती है । अतः जिम उपाधि भी ब्रह्म ज्ञान की उत्पत्ति होगी उसी स्थन में अज्ञान की वासिक निवृत्ति होती । इसके विपरीत अन्य उपाधियों में धूर्ववृत् अथवे वसों में अज्ञान वी

१. देविए—आयदीपित, मिद्दान्त लेख मध्य १।१२३ ।

२. अविद्यात्मिका ति गीजाविनरव्वरक्षोगदनिदेश्या परमेत्वाधया मादामयी महामुपुप्ति अन्या स्वस्प्रतिवीवरहिता शेषवे समारिणो जीवा । व० स०, शा० भा० १।४।३ ।

३. अनन्ताद्वच जीवा अज्ञानमस्यान्यान । वेदान्त चौमुदी, पृष्ठ २७८ ।

अनुवृत्ति होगी।^१

तृतीय मत—अनेक जीववाद के इस तृतीय मत का स्थापक नैयायिक है। अनेक जीववादी नैयायिक का कथन है कि जिस प्रकार भूतल में घटात्यन्ताभाव की वृत्ति में घटसंयोगभाव के नियामक होने के कारण, घटसंयोगभाव वाले प्रदेशों में घटात्यन्ताभाव सम्बन्ध करके स्थित रहता है, इसके अतिरिक्त प्रदेशान्तर में जहाँ घट संयोग की उत्पत्ति से घटसंयोगभाव की निवृत्ति हो गई है, सम्बद्ध नहीं होता, इसी प्रकार चैतन्य में अज्ञान की वृत्तिर्ता का नियामक मत होने के कारण अज्ञान मनस्य उपाधि से युक्त प्रदेश में तो व्याप्त करके रहने वाली जाति के समान, अन्तःकरण में प्रतिविम्ब रूप समस्त जीवों में रहता है। जिस प्रकार कि जातिरूपधर्म नष्ट व्यक्ति का त्याग कर देता है उसी प्रकार अज्ञान भी उस जीव का त्याग कर देता है, जिसमें विद्या उत्पन्न हो जाती है। यही त्याग मुक्ति का कारण है। परन्तु जिस पुरुष में ज्ञानोत्पत्ति नहीं हुई है अज्ञान उसमें आश्रित रहता है। अतः जिस जीव में अज्ञान का आश्रय है, वही बद्ध है। इस प्रकार नैयायिक अनेक जीववादी की वन्धन और मोक्ष की कल्पना भी शांकर वेदान्त से भिन्न है।

चतुर्थ मत—अनेक जीववादियों के चतुर्थ मत के अनुसार प्रत्येक जीव में अविद्या भिन्न रूप से वर्तमान रहती है। यही कारण है कि प्रत्येक जीव की मुक्ति उसकी अविद्या निवृत्ति पर आधारित है।

आलोचना—ऊपर हमने एक जीववाद एवं अनेक जीववाद के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। यहाँ हमें इतना ही कहना है कि एक जीववाद की अपेक्षा अनेक जीववाद ही युक्ति-संगत है। जैना कि कहा जा चुका है, शंकराचार्य भी अनेक जीववाद के ही समर्थक हैं। एक जीववाद के विरोध में हमारा तर्क है कि यदि एक जीव को ही सकल शरीरों का अधिष्ठान माना जायेगा तो उस जीव को भिन्न-भिन्न शरीरों की सुख-नु-खादि की अनुभूति भी होगी, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अतः एक जीववाद की अपेक्षा अनेक जीववाद का सिद्धान्त ही युक्ति-संगत कहा जायेगा।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद और उनका मायावाद का सिद्धान्त

अद्वैतवाद के क्षेत्र में मायावाद का महत्व अत्यन्त प्रमुख है। मायावाद सिद्धान्त के स्वीकार किये विना अद्वैतवाद का प्रतिपादन ही असम्भव है, यही मायावाद की उपयोगिता है। बनेकों आलोचकों की वुद्धि में भ्रम होने के कारण, यहाँ यह कह देना और संगत होगा कि मायावाद सिद्धान्तवाद नहीं है। सिद्धान्तवाद तो अद्वैतवाद ही है। मायावाद अद्वैतवाद का उपांगभूत सिद्धान्त है। मायावाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पश्चिमी एवं भारतीय विद्वानों के अनेक मत प्रचलित हैं। यहाँ इन मतों का संकेत एवं आलोचन उपर्युक्त होगा।

धीरो का मत—वेदान्त दर्शन के पश्चिमी अध्येताओं में जार्ज धीरो का त्यान प्रमुख है। ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य के अनुवाद ग्रन्थ की भूमिका के अन्तर्गत धीरो मंहोदय ने अतिविस्तृत तो नहीं, परन्तु इस विषय पर कुछ विचार किया है कि उपनिषदों में मायावाद का सिद्धान्त उपलब्ध है अथवा नहीं। इस विषय पर विवेचन करते हुए धीरो मंहोदय इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि उपनिषदों में माया की जिस असारता एवं तुच्छता की चर्चा है, उनमें से कोई भी माया

१. सिद्धान्तलेश संग्रह, पृष्ठ १२६, (अच्युतग्रन्थमानाकार्यालय, काशी) सं २०११ मद्रपुरी।

दे उस अर्थ में मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं करती, जिस अर्थ में कि शक्तराचार्य द्वारा प्रतिपादित भाया मिथ्या है।^१ इग प्रकार जाजं थीबो औपनिषद माया सम्बन्धी दृष्टिकोण को शक्तराचार्य के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण ने पृथक् मानते हैं। थीबो महोदय का विचार है कि शक्तराचार्य ने जिस प्रकार जगत् को रज्जु में सर्प के समान मिथ्या कहा है, उस प्रकार उपनिषदों में जगत् को मिथ्या नहीं कहा गया है। थीबो का विचार है कि उपनिषद् हमें वह दृष्टिकोण नहीं देता है और जिस मिथ्यात्व की निवृत्ति जान के द्वारा होती है।^२

कोलद्रुक का मत—कोलद्रुक महोदय का विचार है कि जगत् के मायात्व, मिथ्यात्व, स्वप्नात्व एव अर्कचनन्त्व का विचार उपनिषदों एव मूल वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होता।^३

मंक्समूलर का मत—मंक्समूलर महोदय भी माया सम्बन्धी सिद्धान्त को उपनिषदों की देन न मानकर उपनिषदों के उत्तर वाल की देन स्वीकार करते हैं।^४ इग सम्बन्ध में मंक्स-मूलर महोदय का कथन है कि उपनिषदों में जगत् को माया या मिथ्या सिद्ध करते वाला विचार नहीं मिलता।

रेगनाड का मत—जमंत विद्वान् रेगनाड वहते हैं कि यह पूर्णतया विदित है कि प्रमुख उपनिषदों में श्वेताश्वनर और मैत्रायणीय को द्योडवर कही भी माया शब्द का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता; नि मन्देह वृहदारण्यक उपनिषद् ने अन्तर्गत केवल एक बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु जिस अग में वह माया शब्द का प्रयोग हुआ है वह अश ऋग्वेद सहिता से उदृत है, जहाँ माया शब्द का अर्थ सृष्टिकर्ता शक्ति है।^५ रेगनाड महोदय का विचार या कि उपनिषदों की शिक्षा में मायावाद मिद्दान्त उपलक्षित तो होता है, परन्तु यह मिद्दान्त वहा अस्पष्ट ही है।^६

गफ का मत—गफ महोदय ने अपने 'किनामभी आफ उपनिषद्' प्रन्थ के नवम अध्याय के अन्तर्गत वस्त्रूकं कहा है कि मायावाद का सिद्धान्त उपनिषदों का मूल मिद्दान्त है।

दाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री का मत—वेदान्त दर्शन के अन्यता एव मायावाद के आनोखन डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री ने अन्ती 'दि डापिट्रन आक नाया' नामक लघु पुस्तक के अन्तर्गत मायावाद वा उदय और दिखाने की चैप्टर की है। इस ग्रन्थ में शास्त्री जी इस निक्षय पर पहुँचे हैं कि मायावाद वा विचार ऋग्वेद महिता एव उपनिषदों में प्राप्त है।^७

ऊपर जिन पारचात्य एव भारतीय विद्वानों के मतों की चर्चा की गई है उनमें मत

१. G Thibaut S B E XXXIV, p CXIX.

२. वही।

३. MaxMuller : Three Lectures on The Vedanta Philosophy, p 130

४. वही, पृ० १२८।

५. It is well known... .in which Maya means creative power. (Regnau : LaMaya, in the revue de l' Histoire des Religious, tome XII No 3 (1885) —S B E Vol XXXIV से उदृत।

६. S.B E—Introduction, CXVII.

७. The Doctrine of Maya, p 36 (Luzac & Co , London 1911).
Hinduism Discord Server <https://dsc.ggg/dharma> | MADE WI

निम्नलिखित चार मतों में अन्तर्भूत हैं।

- (१) मायावाद का उदय एवं विकास ऋग्वेद संहिता एवं उपनिषदों में उपलब्ध होता है। इस मत के अनुयायी डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री हैं।
- (२) मायावाद का सिद्धान्त उपनिषदों का मूल सिद्धान्त है। इस मत के समर्थक हैं—प्रो॰ गफ़।
- (३) मायावाद सिद्धान्त का स्वरूप उपनिषदों में उस अर्थ में नहीं उपलब्ध होता जिस अर्थ में कि उसका विकास शांकर वेदान्त के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। इस मत के समर्थकों में कोलब्रुक, मैक्समूलर तथा थीबो प्रमुख हैं।
- (४) उपनिषदों में मायावाद सिद्धान्त का अस्पष्ट रूप उपलब्ध होता है। इस मत के अनुसर्ता रेगनाड प्रभृति विद्वान् हैं।

समालोचना

प्रथम मत के अनुसार डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री आदि विद्वान् मायावाद का उदय और विकास ऋग्वेद एवं उपनिषदों में मानते हैं। डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री ने माया शब्द के प्रयोग के आधार पर ऋग्वेद में मायावाद सिद्धान्त का उदय देखने की चेष्टा की है। परन्तु यदि विचार कर देखा जाए तो वहां माया शब्द का प्रयोग शंकराचार्य द्वारा प्रयुक्त अविद्या एवं मिथ्यात्व के अर्थ का सूचक नहीं है। ऋग्वेद के प्रामाणिक भाष्यकार सायण ने अधिकतर माया शब्द का अर्थ प्रकाश ही किया है।^१ ऋग्वेद के जिस मन्त्रांश 'इन्द्रो मायाभिः पुरुषं ईयते' (ऋ० सं० ६।४७।१८) के आधार पर प्रायः आलोचकों ने मायावाद सिद्धान्त की पृष्ठभूमि खोजने की चेष्टा की है, वहां भी मायाशब्द का प्रयोग इन्द्र की अनेक रूप धारण करने वाली शक्ति के अर्थ में किया गया है,^२ अविद्या अथवा मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं। अतः केवल माया शब्द के प्रयोग के आधार पर ऋग्वेद संहिता में मायावाद सिद्धान्त का उदय देखना उचित नहीं कहा जा सकता। जहां तक उपनिषदों में मायावाद के स्वरूप निरूपण का प्रश्न है, वैसे तो वेदान्तों नाम उपनिषद्प्रमाण^३ के अनुसार शंकराचार्य का समस्त वेदान्त दर्शन उपनिषद् दर्शन से ही विकसित हुआ है। इसीलिए ब्लूमफील्ड,^४ मैक्समूलर,^५ डायसन,^६ एवं मेकेन्जी^७ आदि पश्चिमी एवं डॉ० दास गुप्त^८ आदि भारतीय आलोचक विद्वानों ने भी निःसंकोच वदान्त दर्शन को उपनिषदों का फल स्वीकार किया : है, परन्तु यहां यह निवेदन करना उपयुक्त होगा कि उपनिषदों में मायावाद ही नहीं, अपितु अद्वैत- वाददर्शन का भी संघान्तिक रूप उपलब्ध नहीं होता। यदि विचार कर देखें तो उपनिषदा^९

१. देखिए, सायणभाष्य ऋग्वेद संहिता, ५।८।५४, ५।८।६, ६।८।३।३।

२. Dr. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 565 (Footnote).

३. The religion of the Veda, page 5.

४. Vedanta Philosophy, page 135.

५. The Philosophy of the Upanishads, page 27.

६. E. R. E. Vol. VIII p. 597.

७. Indian Philosophy Vol. I, P. 42.

हमें अनेक स्थलों पर मंडान्तिक विरोध मिलता है।^१ जहाँ तक उपनिषदों में मायावाद सिद्धान्त के उदय का प्रश्न है, वहाँ यह स्वीकार करने में हमें तनिक भी गतिच नहीं है कि प्राचीन उपनिषदों में आत्मा की परमायंता और अद्वैतता एवं जगत् की अस यता का विचार अनेक स्थलों पर मिलता है। वृद्धारण्यक उपनिषद् में एक स्थल पर याज्ञवल्क्य मंत्रेयी में इन्हें है—कि ह मंत्रेयि—आत्मा के दर्शन शब्द एवं चिन्तन ग मम प्रजगत् का ज्ञान ही जाता है।^२ इस प्रसार आत्मा एवं जगत् की अद्वैतता का चित्रण उपनिषदों में अनेक स्थलों पर मिलता है।^३ इसमें अतिरिक्त वृद्धारण्यक उपनिषद् में आत्मा स्व सत्य को जगत् स्पष्ट व्यावहारित सत्य से आवृत बहा गया है।^४ इसमें अतिरिक्त वृद्धारण्यक में ही एक स्थान पर द्वैत जगत् का निरा करण करने हुए अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन भी किया गया है। इस प्रसार प्राचीन उपनिषदों में जगत् की अमारता एवं वास्तविकता का वर्णन अनेक स्थलों पर उपलब्ध है। परस्तु जगत् की अमारता का यह वर्णन बहा संदान्तिक स्पष्ट में उपराज्य नहीं है। जहाँ तक उपनिषदों में माया सम्बन्धी विचार का प्रश्न है ग्राहीन उपनिषदों में माया शब्द का प्रयोग केवल दो बार ही हुआ है। एक बार वृद्धारण्यक में और एक बार प्रश्नोपनिषद् में। वृद्धारण्यक में माया शब्द का प्रयोग रहस्यमयी शक्ति के अर्थ में और प्रश्नोपनिषद् में आचार वी कुटिलता के अर्थ में किया गया है। निच्छय ही उक्त दोनों स्थलों पर माया शब्द का प्रयोग मायावादी शक्तिराचार्यं द्वारा प्रयुक्त जगन्मित्यात्म के अर्थ में नहीं हुआ है। अत यह कथन पश्चपात्पूर्ण नहीं बहा जा सकता कि उपनिषदों में मायावाद का यह संदान्तिक स्पष्ट अनुप्रस्थ नहीं है जिसका प्रतिपादन शक्तिराचार्यं के भाष्य ग्रन्थों में हुआ है। अत गप एक डाकटर प्रभुरत्त पास्त्री आदि अलोचक विद्वानों का उपनिषदों में मायावाद का स्पष्ट देखना उचित नहीं प्रतीत होना। जैसा कि परिचयी विद्वान् रेग्नाड ने कहा है, उपनिषदों में मायावाद का संदान्तिक स्पष्ट न होइर अस्पष्ट स्पष्ट ही कहा जा सकता है। अत यीडों, कोलमुक्त एक मैक्समूलर के उपर्युक्त मर्तों के अन्तर्गत अभिय्यक्त यह विचार सत्य ही प्रतीत होता है कि मायावाद का विकास वेदान्त के मूलमाहित्य में ही उत्तर दाता की देन है वस्तुतः जिय अविद्या शक्ति एवं जगन्मित्यात्म के आधार पर शक्तिराचार्यं नेमायावाद का प्रतिपादन किया है, उसका मंडान्तिक स्पष्ट उपनिषदों में अनुप्रस्थ ही बहा जायेगा। इस तत्त्व का और अधिक स्पष्टीयरण अभी नीके शक्तिराचार्यं के मायावाद मिदान्त के विवेचन से स्वतः ही जायेगा।

शक्तिराचार्यं का स्वरूप

शक्तिराचार्यं के समस्त प्रन्थों में माया सम्बन्धी विवेचन अनेक स्थलों पर हुआ है परस्तु मायावाद सम्बन्धी विवेचन वी दृष्टि से शक्तिराचार्यं के भाष्य ग्रन्थ ही अधिक प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण हैं। प्राचीन उपनिषदों में, ईशोपनिषद् भाष्य के अन्तर्गत माया शब्द की चर्चा एक

१. मिलार्द-द्या० उ० ६।११३, वठ० ३।१५, मुण्डक० ३० १।१६, व० ३० ४।४।६,
द्वे० ३० ६।८, नैतितीय भूगुवलीय कठ० ३० ६।१२, वैन० ३० १।५, व० ३० ४।४।
१६, तं० ३० २।१।१, कठ० ३० ३।१, द्वे० ३० ४।५।
२. मंत्रेयात्मनो वाप्रेरदर्शनेन श्वर्णोन मत्या विजातेनेद सर्वं निहितम्।—व० ३० २।४।५।
३. व० ३० २।४।३, ६, ३।८।११, ४।४।१७ मुण्डक० ३० १।१३, द्या० ३० ६।१।१
- ४ अमृतम् मयेन द्यनम्।—वृद्धारण्यक उपनिषद्—१।६।३।

वार भी नहीं हुई है। केनोपनिषद् भाष्य में लगभग तीन बार, कठोपनिषद् भाष्य में चार बार मुण्डकोपनिषद् भाष्य में चार बार, प्रश्नोपनिषद् भाष्य में चार बार ऐतरेयोपनिषद् भाष्य में तीन बार, तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य में दो बार, छान्दोयोपनिषद् भाष्य में दो बार तथा बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य के अन्तर्गत तीन बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार कुल मिलाकर उपनिषद् भाष्य में लगभग पच्चीम बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। गीडपादाचार्य की भाष्डूव्यकारिका में भी लगभग पच्चीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत लगभग चालीम बार माया सम्बन्धी विवेचन मिलता है। ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत लगभग तीस बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है।^१ ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत केवल एक बार ही (ब० सू० ३।२।३) माया की चर्चा की गई है। इन स्थलों पर माया की चर्चा परमेश्वर की शक्ति, अविद्या, इन्द्रजाल और मिथ्यात्व के अर्थ में की गई है।

शंकराचार्य ने जगत् और ब्रह्म की हैत बुद्धि का हेतु अविद्या को बतलाया है। शंकराचार्य का मायावाद के प्रतिपादन के सम्बन्ध में कथन है कि लोगों की अनेक प्रकार की तृणाओं एवं जन्म-मरण आदि दुखों का कारण अविद्या ही है।^२ इस अविद्या का विषय जीव है। अविद्या के कारण ही जीव को परमार्थ सत्य आत्म स्वरूप का बोध न होने पर नामहृष्टात्मक जगत् ही परमार्थ रूप से सत्य भासता है। अविद्या निवृत्ति होने पर जीव को आत्म स्वरूप का बोध होता है। जीव की यही स्वरूपस्थिति उसकी ब्रह्मरूपता है। इस अविद्या को आचार्य ने जगत् की उत्पन्नकर्त्ता वीजशक्ति का रूप दिया है।^३ यह वीज शक्ति परमात्मा की शक्ति है। इस अविद्या रूप वीज शक्ति का विनाश आत्मविद्या के द्वारा ही सम्भव है—विद्यया तस्या वीजशक्तेर्द्वाहात् (ब० सू०, शा० भा०, १।४।३)।

अविद्या का ही अपर नामधेय माया है। ऊपर हमने जिस अविद्या की चर्चा की है उसका सम्बन्ध जीव से है। माया का प्रयोग शंकराचार्य ने प्रायः मिथ्यात्व के प्रतिपादक इन्द्रजाल के अर्थ में किया है। शंकराचार्य ने परमेश्वर को मायावी तथा जगत् को माया ब्रह्म है।^४ इन्द्रजाल के अर्थ में माया शब्द का प्रयोग करके शंकराचार्य ने यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार इन्द्रजाल की सत्यता केवल द्रष्टाओं के लिए ही है, उसी प्रकार नामहृष्टात्मक जगत् की सत्यता भी परमात्मा के लिए न होकर केवल अज्ञानी के लिए ही है, आत्मस्थिति के लिए नहीं। इस माया को अतिनम्भीर, दुरवगाहा एवं विनिव्रित्ति सिद्ध करते हुए शङ्कराचार्य का कथन है कि यह समस्त संसार, यह बतलाने पर भी कि प्रत्येक जीव परमात्मा रूप है, 'मैं परमात्मा रूप हूँ' ऐसा नहीं समझता। इसके विपरीत देहेन्द्रियादि रूप अनात्म तत्व को ही ग्रहण करता है।^५ इस

१. माया शब्द के प्रयोग के लिए देखिये, डा० रामानन्द तिवारी—शंकराचार्य का आचार दर्शन, पृष्ठ—५८।
२. कठ० उपनिषद् भाष्य—२।५।
३. अविद्यात्मिका हि वीज शक्तिः—ब० सू०, शा० भा० १।४।३।
४. ब० सू०, शा० भा० २।१।६।
५. अहो अति गम्भीरा दुरवगाहा विचित्रा चेयं प्रायुः यदयस्वर्वो जन्मुः परमार्थतः परमार्थ सतत्वोप्येवं बोधयमानोऽहं परमात्मेति न गृहणाति। अनात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुप्यपुत्र इत्यनुच्यमानोऽपिगृहणाति। —कठोपनिषद्, जा० भा०, १।३।१२।

प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया ही जगत् के परमार्थ रूप से सत्य मानने का कारण है। अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक परमार्थ सत्य तो अद्वैत बहु ही है और जगत् माया है। परन्तु जगत् मायिक होने पर भी शशशृग के समान पूर्णतया असत् नहीं है। इसीलिए शाकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की घावहारिक सत्ता स्वीकार की गई है।

माया की विषयिता एवं विषयता

माया का जीव से सम्बन्ध निश्चित करना माया की विषयिता एवं जगत् को माया एवं अविद्या वा कार्यं कहना माया की विषयता कहलाती है। जब हम कहते हैं कि अविद्या वा माया के बारें जीव को नामरूपात्मक जगत् सत्य प्रतीत होता है तो माया से हमारा तात्पर्य उसकी विषयिता से होता है। इसके विपरीत जब हम जगत् को माया मात्र कहते हैं तो इससे हमारा अभिप्राय माया की विषयता से होता है। अब यहाँ यह देखना है कि शाकर वेदान्त वे अन्तर्गत माया के विषयित्व एवं विषयत्व दोनों रूपों में ही वर्णन मिलता है।

शाकर वेदान्त में माया का विषयित्व

शाकर वेदान्त वे अन्तर्गत माया का विषयी एवं विषय दोनों रूपों में ही वर्णन मिलता है। माया के विषयित्व के अनुसार शकराचार्यं का कथन है कि अविद्या के द्वारा ही नामरूपात्मक जगत् बहु में आधारित होता है एवं इस अविद्या जन्य अध्यास के कारण ही जीव नामरूपात्मक जगत् को बहु के अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ता के रूप में देखता है।^१ इसीलिए आचार्यं ने अविद्या को प्रपञ्चजन्य समस्त अनर्थं का बीज कहा है।^२ शकराचार्यं ने एक दृष्टान्त के द्वारा माया एवं अविद्या के विषयित्व का स्पष्टीकरण करते हुए बहु है कि जिस प्रकार भस्मच्छन्न अग्नि के दहन एवं प्रकाशन निरोहित रहते हैं, उसी प्रकार अविद्या से प्रत्युपस्थापित नाम और रूप से सम्पादित देह आदि उपाधियों के योग से अविवेक रूप भ्रम के कारण जीव के ज्ञान और ऐश्वर्यं का तिरोभाव हो जाता है।^३ यहाँ यह और उल्लेखनीय है कि माया एवं अविद्या के विषयी रूप की स्थिति में उसका सम्बन्ध जीव ही से होता है, क्योंकि अज्ञान (अविद्या) वे कारण ही जीव को नाम एवं रूप की सत्यता की भान्ति होती है।

विषयत्व की दृष्टि से अविद्या एवं माया का निरूपण

शाकर वेदान्त के समालोचक विद्वानों ने प्राय शकराचार्यं प्रतिपादित माया वे विषयित्व एवं विषयत्व की आलोचना करते हुए माया वो विषयत्व एवं अविद्या की विषयि रूप स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में नलिनी मोहन शास्त्री का कथन है—

What is maya from the objective side is Avidya from the subjective side.⁴

१. नामरूपोपाधिदृष्टिरेव भवति स्वामाविकी ।—ब० उ०, शा० भा० ३।५।१ ।

२. सा चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रमवीजम् । वही०, ३।५।१ ।

३. ब० सू०, शा० भा०, ३।२।६ ।

४. N. Shastri, A Study of Sankara, p. 142 (Calcutta 1942).

अर्थात् विषयत्व की दृष्टि से जो माया है वही विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है। इस प्रवार उक्त लेखक ने अविद्या एवं माया को एक मानते हुए भी उपर्युक्त दृष्टि से भेद स्वीकार किया है। यहां इस लेखक का निवेदन है कि विषयित्व एवं विषयत्व के बाधार पर शांकर दर्शन में अविद्या एवं माया का भेद निष्पण शांकर दर्शन के सिद्धान्त के विपरीत है। इस सम्बन्ध में ये तक दिए जा सकते हैं—

(१) शंकराचार्य ने अविद्या एवं माया को पर्यायवाची माना है।^१

(२) नलिनी मोहन गास्त्री के उपर्युक्त कथन के विपरीत शांकर वेदान्त में केवल विषयी रूप से ही अविद्या का वर्णन नहीं मिलता, अपितु विषयहृप से भी अविद्या का वर्णन मिलता है।^२ उदाहरण के लिए शंकराचार्य ने जहां नामरूपात्मक जगत् की उत्पन्न-कर्त्री अविद्यात्मिका वीज शक्ति की चर्चा की है वहां अविद्या का वर्णन विषयहृप में न होकर विषयहृप में ही है। शांकर भाष्य के अभी उद्भृत दोनों स्थलों (वृ० उ०, शा० भा०, २।१।१४, वृ० सू०, शा० भा०, १।५।३) में अविद्या से जीव सम्बन्धित विषयहृप अविद्या का अर्थ कदापि नहीं ग्रहण किया जा सकता। क्योंकि जीवगत अनादि अविद्या देहन्दियादि संवातमय नामरूपात्मक भौतिक जगत् की उत्पादिका कदापि नहीं स्वीकार की जा सकती। अतः उबत स्थल में जहां अविद्या का उल्लेख नामरूपात्मक जगत् की वीजशक्ति के रूप में किया गया है, वहां अविद्या एवं माया से उस विषयहृप अविद्या एवं माया का तात्पर्य ग्रहण करना ही उचित होगा जो भौतिक जगत् का वीज है। अतः नलिनी मोहन गास्त्री का ऊपर निर्दिष्ट किया गया यह मत संगत नहीं प्रतीत होता कि विषयत्व की दृष्टि से जो माया है वही विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है। जैसा कि अभी कहा गया है शांकर भाष्य ग्रन्थों में अविद्या—माया का विषय रूप में वर्णन भी मिलता है।

भाष्यकार आनन्दगिरि ने भी माया एवं अविद्या के भेद का निराकरण करते हुए अविद्या एवं माया को एक ही कहा है।^३ अतः यह कथन उपयुक्त नहीं है कि जो विषयित्व की दृष्टि से अविद्या है वही विषयत्व की दृष्टि से माया है। ऊपर हमने इस प्रकार के उद्भवण भी उद्भृत किए हैं जहां शंकराचार्य ने अविद्या का प्रयोग विषयत्व की दृष्टि से किया है। अतः यह स्वीकार करते में हमें संकोच नहीं करना चाहिए कि शांकर वेदान्त में अविद्या का वर्णन विषयित्व एवं विषयत्व दोनों दृष्टियों से मिलता है।

शांकर वेदान्त में उपलब्ध अविद्या के उपर्युक्त द्विविध दृष्टिकोण से हमें एक कथ्य तत्व भी उपलब्ध होता है और वह यह है कि विषयमूलक अविद्या द्वारा उत्पन्न जगत् की सत्ता केवल विषयित्व की दृष्टि से ही नहीं है, अपितु विषयित्व की दृष्टि से भी है। इस तथ्य का समर्थन इस तरफ से भी हो जाता है कि विद्या के द्वारा वहां में अव्यस्त नामरूपात्मक प्रपञ्च का तो लय हो ही जाता है, परन्तु भौतिक जगत् का विनाश नहीं होता। इस सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के त्रिपालोचक कोकिलेश्वर गास्त्री का यह कथन उपयुक्त ही है कि जिस कथ्य

१. वृ० सू०, शा० भा०, १।५।३।

२. वृ० उ०, शा० भा०, २।१।१४।

३. आनन्दगिरि के मन के लिए देखिए—

जीव मुक्त होता है उस क्षण जगत् का अभावरूपात्मक विज्ञान नहीं हो जाता है ।^१

रामतीर्थ का मत

अज्ञान की विषयमूलकता का प्रतिपादन करते हुए शाकर वेदान्त के समालोचक रामतीर्थ ने अज्ञान को मिथ्याज्ञानजन्य स्स्कार एवं असत् सिद्ध करने वाले मतोंका निराकरण किया है ।^२ रामतीर्थ ने अज्ञान को मिथ्या ज्ञान न मानकर त्रिगुणात्मक माना है । इसके अतिरिक्त रामतीर्थ ने अज्ञान को ज्ञान का अभाव सिद्ध करने वाले मत का निराकरण तो किया ही है ।^३ उन्होंने अज्ञान की भावरूप सत्ता स्वीकार की है । अत माया एवं अविद्या के भाव रूप होने के कारण उसे केवल विषयमूलक कहना उचित नहीं है ।

प्राणरूप से अविद्या के विषयत्व का निरूपण

अपनी अव्यक्ति में प्राण, शक्तराचार्य द्वारा अध्यक्षन नाम से व्याख्यात^४ माया का ही पर्यायवाची है ।^५ इसी प्राण को आचार्य शक्तर ने जगत् के समस्त विद्यों का बीजात्मा कहा है ।^६ यह प्राण अथवा माया बीज अव्यक्ति में जहाँ रूप में अधिष्ठित होता हुआ स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण रूप से व्यक्त हुआ है व्यक्तरात्मस्था के प्राण अथवा माया के शक्तराचार्य ने निम्नलिखित तीन रूप बताये हैं—

(१) प्रथम रूप के अनुसार प्राण एवं माया वा प्रथम रूप विकार रहित आत्मा का रूप है ।

(२) द्वितीय रूप के अनुसार एक वात्मा का ही माया के कारण अनेक रूप में दर्शन होता है ।

(३) तृतीय रूप के अनुसार सूर्य के प्रतिविम्ब के रूपान आत्मा का अनेक रूप में दर्शन होता है ।^७

१. The world does not vanish into nothingness, the moment the individual soul attains *Mukti*

देखिए, कोकिलेश्वर शाश्वी का लेख—Objectivity of Maya (Jha Commemoration Vol. 1937, page 336)

२. मिथ्याज्ञान जन्यस्स्कार अज्ञानम्, असन्प्रकाशन शक्तिवेन असद्वा—इनिमतद्वय निरस्यनि । देखिए, रामतीर्थ-वेदान्तसार ।

३. सत्त्वरजस्समोलश्लास्त्रयो गुणा कारणपदाहृतात्मकम् । अज्ञान त्रिहेतुत्रिगुणात्मकम् । तथा च गुणस्थगुणवत्तानुष्पन्नेन मिथ्याज्ञानम् 'अज्ञानम्' ।—Jha Commemoration, Vol 1937, Page 338 से उद्धृत रामतीर्थ वा मत ।

४. ब्र० मू०, शा० मा०, १४१३ ।

५. अव्याहृत एव प्राण *** (शा० भा०, मा० का० ११२)

६. इतरान् सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनपति । (शा० भा०, मा० का० ११६)

७. उपदेश साहस्री १७।२३ ।

प्राण रूप से जिस माया बीज की चर्चा हमें शांकर दर्शन में मिलती है वह भी माया एवं अविद्या की विषयमूलकता की पोषक है। उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि शांकर वेदान्त की अविद्या एवं माया को केवल विषयमूलक ही न मानकर विषयमूलक भी मानना चाहिए।

शंकराचार्योत्तर काल में अविद्या एवं माया का भेद निरूपण

जैसा कि अभी कहा जा चुका है शंकराचार्य ने अविद्या एवं माया का प्रयोग भिन्न-भिन्न वर्णों में किया था। शंकराचार्य के उत्तर काल के अद्वैत वादियों ने ही अविद्या एवं माया के भेद का निरूपण किया था।^१ शंकराचार्य परवर्ती वेदान्त में प्रायः अविद्या को विषयमूलक एवं माया को विषयमूलक कहा गया है। शंकराचार्य के उत्तरवर्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने माया एवं अविद्या का भेद निरूपण भिन्न-भिन्न मतों के आधार पर किया है। यहां कतिपय मतों का उल्लेख करना समीचीन होगा।

विवरणकार का मत

प्रकाशात्मयति ने अपने पंचपादिका विवरण के अन्तर्गत व्यवहार भेद से माया एवं अविद्या के अन्तर्गत भेद स्थापित करते हुए कहा है कि विक्षेप-प्राधान्य से जो माया है वही आवरण की प्रधानता से अविद्या है।^२ इस प्रकार विवरणकार ने आवरण शक्ति सम्पन्न को अविद्या एवं विक्षेप शक्ति सम्पन्न को माया कहा है।

विद्यारण्य का मत

विवरण प्रमेयसंग्रह के रचयिता विद्यारण्य ने जगत् के अनेक कार्यों की उत्पन्नकर्त्ता शक्ति को माया एवं जीव की शुद्धि पर आवरण डालने वाली शक्ति को अविद्या कहा है।^३

पंचदण्डी के अन्तर्गत विद्यारण्य ने माया एवं अविद्या का जो भेद दिखाया है उसके अनुसार सत्त्व की शुद्धि से माया और सत्त्व की अशुद्धि से अविद्या की उत्पत्ति होती है।^४ इस प्रकार पंचदण्डी के अनुसार विशुद्धसत्त्वप्रधान प्रकृति को माया तथा प्रलिनसत्त्वप्रधान प्रकृति को अविद्या कहते हैं।

अद्वैतचन्द्रिकाकार सुदर्शनाचार्य का मत

अद्वैत चन्द्रिका के लेखक सुदर्शनाचार्य ने परमेश्वर की शक्ति ‘‘माया के दो भेद किए हैं। एक विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया और दूसरी अविशुद्धसत्त्वप्रधाना माया। विशुद्ध

१. While Sankara uses Avidya & Maya indiscriminately, later Advaitins draw a distinction between the two.

—Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 589.

२. एकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेपप्राधान्येन माया आच्छादनप्राधान्येन विद्येतिव्यवहारभेदः (पंचपादिका विवरण, पृष्ठ ३२) (विजयनगरम् सिरोज)।

३. विवरण प्रमेय संग्रह ११, Indian Thought, Vol. I, p. 289.

४. सत्त्वशुद्धयविशुद्धम्यां मायानिये च तेमते (पंचदण्डी ११६)।

सत्त्वप्रधाना माया सत्त्वगुण प्रधान है और अविशुद्ध सत्त्व प्रधाना माया तमोगुण प्रधान है। विशुद्ध सत्त्व प्रधाना माया परमेश्वर की दासी है एवं अविशुद्ध सत्त्व प्रधाना माया जीव की स्वामिनी है। यही अविशुद्ध सत्त्वप्रधाना माया अविद्या का रूप है।

जैसा कि उपर्युक्त भर्तों में स्पष्ट हुआ है, शक्तराचार्य के परवर्ती दार्शनिकों ने माया एवं अविद्या के अन्तर्गत भेद का निरूपण किया है। माया के वैज्ञानिक अध्ययन के दृष्टिकोण से यह भेद निरूपण उपर्युक्त हो रहे हैं। माया एवं अविद्या की इस भेद व्यवस्था की अव्यक्त सूचना हमें वेदान्त सार के अन्तर्गत सदानन्द द्वारा व्याख्यात आवरण एवं विक्षेप शक्तियों में भी मिलती है। यहा सदानन्द द्वारा व्याख्यात माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के सम्बन्ध में विचार करना उपयुक्त होगा।

माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तिया

सदानन्द ने वेदान्त सार के अन्तर्गत माया की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों की चर्चा की है।^१ माया की आवरण शक्ति जीव पर अज्ञान का आवरण डाल देती है, जिसका फल यह होता है कि जीव अपने स्वरूप—परमार्थ सत्य रूप ब्रह्म—का ज्ञान नहीं कर पाता। माया की दूसरी शक्ति विक्षेप शक्ति है। यह विक्षेप शक्ति ही समस्त ब्रह्माण्ड की सृष्टिकर्ता है।^२ शक्तराचार्य के उत्तरकाल में माया का व्यवहार दृष्टि से विषयमूलक अविद्या एवं विषयमूलक माया के रूप में जो भेद मिलता है वह माया की उपर्युक्त आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के समान ही है। जिस प्रकार कि विषयमूलक अविद्या जीव को वस्तुज्ञान से बचात करती है उसी प्रकार आवरण शक्ति भी जीव के स्वरूप ज्ञान से बाधक है। ऐसे ही, जिस तरह कि विषयमूलक माया जगत् की द्वीज शक्ति है उसी प्रकार विक्षेप शक्ति भी जगत् को रचयित्री है।^३

उत्तर हमने शाकर वेदान्त सम्मत जिस माया की चर्चा की है वह अनादि, भावरूप अनिवर्चनीय एवं सान्त है।

इस प्रकार शाकर वेदान्त में ब्रह्म, ईश्वर, जीव एवं माया आदि के सम्बन्ध में उपर्युक्त सिद्धान्तों की स्थापना करके अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। उत्तर हमने शाकर अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का विवेचन करते समय शक्तराचार्य परवर्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने भर्तों का भी उल्लेख किया है। यावर सिद्धान्त के प्रतिपादन के सम्बन्ध में शक्तराचार्य के परवर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख करना इस लिए अनुचित नहीं है कि शक्तराचार्य के परवर्ती वाचस्पति मिथ्य आदि आचार्य बहुत कुछ शाकर सिद्धान्त के ही अनुयायी थे। इन आचार्यों की मोलिकता के कारण भर्तभेद अवश्य हो गया है। इसलिये स्थान स्थान पर इन आचार्यों के मतभेद का निर्देश कर दिया गया है।

शक्तराचार्य पञ्चाद्वृतों अद्वैतवादी आचार्य और अद्वैतवाद का विश्लेषण

शक्तराचार्य ने महितावी, उपनिषदा, आरण्यका, ब्राह्मणो, ब्रह्म मूत्र एवं श्रीमद्भगवद्

^१ अद्वैत चन्द्रिका, पृष्ठ ४१ (वनाम्ब १६०१)।

^२ वेदान्तसार-४।

^३ विद्योगाक्षिलिपादि ब्रह्माण्डान्त जगतमृजेत। —वेदान्तसार-१० से उदृत।

^४ विषय देविए, मन्त्रप शारीरक ११२०।

गीता आदि के आधार पर जिस अद्वैतवाद सिद्धान्त की व्यवस्थित एवं संदर्भात्तिक स्थापना की थी, उसकी विस्तृत एवं आलोचनात्मक व्याख्या शंकराचार्य के पद्मपादाचार्य आदि शिष्यों एवं वाचस्पति मिथ्र तथा मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने की थी। शांकर वेदान्त की व्याख्या होते हुए भी शंकराचार्य के शिष्यों एवं उनके पश्चादवर्ती अद्वैतवादी आचार्यों के द्वारा की गयी व्याख्या को उसी प्रकार पिष्टपैदण कहना समीक्षीय न होगा जिस प्रकार कि स्वयं शंकराचार्य का अद्वैतवाद सिद्धान्त उपनिषद् दर्शन पर आधारित होते हुए भी उपनिषद् दर्शन का पिष्टपैदण मात्र नहीं है। जिस प्रकार कि शंकराचार्य ने नवीन एवं मौजिक उद्भावना शक्ति के द्वारा उपनिषद् दर्शन का मंथन करके अद्भुत अद्वैत रत्न की खोज की थी, उसी प्रकार शंकराचार्य के शिष्यों एवं अन्य परवर्ती आचार्यों ने अपनी प्रतिभासम्पन्न एवं सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि के द्वारा शंकराचार्य के अद्वैत रत्न का समीक्षात्मक निरूपण किया था। इस स्थल पर पहले शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त प्रमुख आचार्यों एवं विद्वानों तथा उनके प्रमुख मत मताल्लरों का विवेचन किया जायेगा और फिर अद्वैत वेदान्त के ही कतिपय अन्य आचार्यों का उल्लेख किया जाएगा।

सुरेश्वराचार्य (८०० ई०)

सुरेश्वराचार्य मण्डन मिश्र का ही सन्ध्यास आश्रम का नाम है। सन्ध्यास ग्रहण करने के पूर्व मण्डन मिश्र ने आपस्तम्भीय मण्डन कारिका, भावना विवेक और काशीमोक्षनिर्णय नामक ग्रन्थों की रचना की थी। सन्ध्यास ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने तैतिरीय श्रुति वार्तिक, नैकन्यं सिद्धि, इष्टसिद्धि या स्वाराज्य सिद्धि, पंचीकरण वार्तिक, वृहदारण्यकोपनिषद्वार्तिक, प्रह्लादिति, व्रह्म सूत्र भाष्य वार्तिक, विधिविवेक, मानसोल्लास, लघुवार्तिक, वार्तिक सार और वार्तिक सार संग्रह आदि ग्रन्थ लिखे थे।

सुरेश्वराचार्य का प्रमुख दार्शनिक मत—मूलतः तो सुरेश्वराचार्य अपने गुरु शंकराचार्य के समर्थक थे। परन्तु कहीं-कहीं उन्होंने अपनी प्रतिभा शक्ति के द्वारा नवीन उद्भावनायों की थीं। आभासवाद का सिद्धान्त सुरेश्वराचार्य का प्रमुख सिद्धान्त है। इस स्थल पर आभासवाद का संस्कृत निरूपण किया जायेगा।

सुरेश्वराचार्य का आभासवाद का सिद्धान्त—शंकराचार्य ने जिस अद्वैतवाद सिद्धान्त की संदर्भात्तिक स्थापना एवं समालोचना की थी, उसकी व्याख्या सुरेश्वराचार्य ने सम्पन्न की थी। सुरेश्वराचार्य की प्रमुख दार्शनिक देन आभासवाद का सिद्धान्त है। सुरेश्वराचार्य जगत् को न प्रतिविम्ब स्वीकार करने के पक्ष में हैं और न अवच्छेद स्वीकार करने के पक्ष में। प्रतिविम्बवाद एवं अवच्छेदवाद के विपरीत वे जगत् को आभासमात्र मानते हैं।^१ सुरेश्वराचार्य के मतानुसार व्यावहारिक सत्यों से पूर्ण जगत् की सत्ता उसी प्रकार आभासमात्र होने के कारण मिथ्या है जिस प्रकार कि मायिक (ऐन्द्रजालिक) विषय आभासमात्र होने के कारण मिथ्या होते हैं। दोनों में इतना ही अन्तर है कि व्यावहारिक जगत् के सत्य, जगत् में अविद्या के कारण सत्य दिखाई पड़ते हैं और मायिक (ऐन्द्रजालिक) विषयों का मिथ्यात्व व्यावहारिक जगत् में ही होता है। परन्तु व्यावहारिक जगत् की सत्यता भी तभी तक कहीं जा सकती है जब तक वि

१. वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक, पृ० १२४५।

सिद्ध अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार कि मूर्च्छित अवस्था में किसी व्यक्ति को ऐसी वस्तुओं की सत्यता प्रतीत होती है जो उप व्यक्ति के सम्मुख नहीं उपस्थित होती और मूर्च्छा हटने पर उस व्यक्ति के मूर्च्छिकान की वस्तुएँ मिथ्या प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार अज्ञान के कारण जिस व्यक्ति को जगत् के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं उसी को परमार्थ बोध होने पर अविद्या निवृत्ति के कारण —अविद्या कालिक जगत् के समस्त व्यवहार मिथ्या प्रतीत होते हैं। इस प्रकार आचार्यं सुरेश्वर के मतानुसार जगत् की सत्यता आभासमात्र है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार परमार्थ सत्य ब्रह्म के अनेक जागतिक रूपों में आभासन का कारण अविद्या है।

आचार्यं सुरेश्वर का आभासवाद का सिद्धान्त प्रतिविम्बवाद एवं अवच्छेदवाद से अनेक रूपों में भिन्न है। जहां तक प्रतिविम्बवाद का प्रश्न है, विम्ब (मूलतत्व) एवं प्रतिविम्ब में अभिन्नत्व है, परन्तु इसके विपरीत आभासवाद मिद्धान्त के अनुसार मूलतत्व (ब्रह्म) एवं आभासमात्र द्वैतस्पृष्ट जगत् में अभिन्नत्व नहीं है।^१ प्रतिविम्बवाद के अनुसार अविद्या में परमार्थ सत्य रूप ब्रह्म का जो प्रतिविम्ब दिखाई पड़ता है वह ब्रह्म से पृथक् न होने के कारण सत्य है, परन्तु सुरेश्वराचार्यं के आभासवाद के अनुसृप्त अविद्या के कारण मूलसत्य ब्रह्म में जिस व्यावहारिक जगत् की प्रतीति होती है वह आभासमात्र होने के कारण सत्य नहीं है। प्रतिविम्बवाद की दृष्टि से प्रतिविम्ब सर्वदा सत्य होता है। अज्ञान द्वे कारण प्रतिविम्ब असत्य दिखाई पड़ता है। प्रतिविम्बवादी की दृष्टि में यह अज्ञान विम्ब एवं प्रतिविम्ब की भेद दृष्टि है। विम्ब एवं प्रतिविम्ब के भेद दर्शन के कारण ही द्रष्टा को प्रतिविम्ब मिथ्या प्रतीत होता है अभेद दर्शन के द्वारा नहीं।^२ इसके विपरीत व्यावहारिक जगत् की जो सत्यता आभासित होती है वह किसी काल में भी पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नहीं होती। यह हम अभी वह चुके हैं कि व्यावहारिक जगत् के सत्य दिखाई पड़ने का कारण अविद्या है। आचार्यं सुरेश्वर के आभासवाद एवं अवच्छेदवाद में भी भेद द्रष्टव्य है। अवच्छेदवादी की दृष्टि से सर्वव्यापी एवं असीम ब्रह्म ही जीव की अविद्या की अनन्त उपायियों के कारण अवच्छिन्न एवं समीम हृषि को प्राप्त होता है। इस प्रकार अवच्छेदवाद के अनुमार अवच्छेद (ब्रह्म का अवच्छिन्न रूप में दर्शन) तो मानविक धारणा मात्र होने के कारण मिथ्या है परन्तु जी (ब्रह्म) अवच्छिन्न दिखाई पड़ता है वह तो सर्वथा अवच्छिन्न एवं सत्य ही है। इसके विपरीत आभासवाद के अनुसार जगत् की सत्यता का आभास किसी प्रकार भी सत्य नहीं है।

सुरेश्वराचार्यं ने उपर्युक्त आभासवाद सिद्धान्त के आधार पर ही अपने सन्यास गुरु शकुराचार्य के अद्वैतवाद का संग्रह किया था। आभासवाद के आधार पर सुरेश्वराचार्यं ने व्यावहारिक जगत् को आभासमात्र क्षहकर जगत् की व्यावहारिक सत्यता का निरावरण करके अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। परन्तु सुरेश्वराचार्यं के अनुयायियों ने उनके आभासवाद में व्यावहारिक सत्यता का मिश्रण करके सुरेश्वराचार्यं को प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ताओं का समर्थक मिट दिया था।

१. वहदारण्यक भाष्य बानिः, पृ० ६६६, विधि विवेक २९, २२।

२. Dr. Virmani Prasad, Upadhyaa Lights on Vedanta, p. 43

पद्मपादाचार्य (८२० ई०)

आचार्य पद्मपाद शंकराचार्य के प्रधान एवं सर्वप्रथम गिष्ठ थे। इनका जन्म दक्षिण में चोल प्रदेश के अन्तर्गत हुआ था। प्रायः ये शंकराचार्य के साथ ही रहते थे और उनसे वेदान्त के उपदेशों का ध्वन किया करते थे। आचार्य पद्मपाद की प्रमुख रचना पंचपादिका है। पंचपादिका के सम्बन्ध में अद्भुत कहानी सुनने को मिलती है। कहा जाता है कि पद्मपाद पंचपादिका की रचना करके उसे अपने प्रभाकर मतानुयायी मामा के घर रखकर रामेश्वर चले गये थे। जब वे रामेश्वर से लौटे तो उन्हें पता चला कि उनके मामा ने पंचपादिका को जला दिया है। यह जानकर पद्मपाद को अत्यन्त दुःख हुआ और उन्होंने पंचपादिका को पुनः लिखने का प्रयत्न किया। परन्तु प्रभाकर मतानुयायी मामा ने आचार्य पद्मपाद को विप दे दिया जिससे वे विकृष्ट हो गए। अब पद्मपादाचार्य ने गुरु (शंकराचार्य) से सुनकर पंचपादिका की रचना की। पंचपादिका के अन्तर्गत ब्रह्म सूत्र के चार सूत्रों के शांकर भाष्य की व्याख्या-मिलती है। पंचपादिका पर प्रकाशात्म मुनि की विवरण और विवरण परं अखण्डानन्द की तत्त्वदीपन नामक टीका उपलब्ध है।

पंचपादिका के अतिरिक्त पद्मपादाचार्य रचित—आत्मानात्म विवेक, प्रपञ्च सार तथा सुरेश्वराचार्य कृत लघुवातिक की टीका, ये तीन ग्रन्थ और उपलब्ध होते हैं। जहां तक पद्मपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रश्न है, अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में उन्होंने एक नई दृष्टि दी थी। पंचपादिकाकार पद्मपादाचार्य एवं विवरणकार प्रकाशात्म यति के नाम से जो दार्शनिक विवेचन मिलता है वह विवरण सम्प्रदाय के नाम से मिलता है। पद्मपादाचार्य ने ब्रह्म एवं अविद्या का सम्बन्ध निश्चित करते हुए इन दोनों में बात्रयात्रयिभाव एवं विषय-विषयिभाव, सम्बन्ध स्थापित किया है^१। इसी को अविष्टान एवं अव्यास का सम्बन्ध कहा जा सकता है। वाचस्पतिमिश्र उक्त मत के विपरीत अवच्छेद सम्प्रदाय के समर्थक हैं। अवच्छेद सम्प्रदाय का विवेचन वाचस्पति मिश्रके दार्शनिक विवेचन के अवसर पर किया जाएगा।

जगन्मियूयात्व के सम्बन्ध में पद्मपादाचार्य का विचार

पद्मपादाचार्य ने मियूयात्व को सत्त्व एवं असत्त्व के अत्यन्ताभाव का अनधिकरण कहा है^२। इस मत के अनुसार मियूया एवं अनिर्वचनीय जगत् को न पूर्णतया सत्य कहा जा सकता है और न पूर्णतया असत्य। पद्मपादाचार्य का कथन है कि एक स्वान पर मियूया पदार्थ का विलक्षणत्व त्रिकाल में अवावित नहीं है। यही कारण है कि एक स्वान पर मियूया पदार्थ का वोध होने पर भी दूसरे स्वान पर उसकी सत्य हप्त से प्रतीति होती है^३।

मियूया ज्ञान की निवृत्ति के सम्बन्ध में पद्मपादाचार्य का विचार है कि जीव एवं ब्रह्म

१. Lights on Vedanta, Page 105.

२. सत्त्वासत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वम् । —पंचपादिका, पृ० १० ।

३. पंचपादिका १० ।

के एक-द के द्वारा ही मिथ्या ज्ञात की निवृत्ति होती है।

वाचस्पति मिश्र (८८० ई०)^३ और उनकी दार्शनिक देन—

ब्रह्मनावाक्य के देवीपूजान नक्षत्रों में भासनीकार वाचस्पतिमिथु का नाम अव्यय आदर के साथ लिया जाता है। भासनी ब्रह्मूत्र के शाकर भाष्य की अद्भुत व्याख्या है। भासनी के अनिरिक्त वाचम्यानि मिथु के अन्य कई ग्रन्थ हैं। इन्होंने सुरेश्वर की ब्रह्मगिदि पर ब्रह्म तत्त्व समीक्षा साम्बन्धिका पर तत्त्वकीमुदी, पातजल दर्शन पर तत्त्व वैशारदी, न्याय दर्शन पर न्यायवानिक तात्पर्य, पूर्व भीमामा दर्शन पर न्यायमूर्त्री निवन्ध, भाट्टमत पर तत्त्वविदु तथा मण्डन मिथु के विविधवेद पर न्यायकारिका नामक टीका वीर रचना की थी। इसके अनिरिक्त वाचम्यानि मिथु के नाम से दो और ग्रन्थ मिलते हैं—एक मण्डन कुठार तथा दूसरा स्मृति सप्रह। परन्तु इन ग्रन्थों के रचयिता के मध्यमें अभी सदैह बना हुआ है।

वाचस्पति मिश्र द्वारा अद्वैत वेदान्त की व्याख्या—वाचस्पति मिश्र ने अद्वैतवाद का प्रतिमादन अवच्छेदवाद के बाधार पर किया है, यह हम सुरेश्वराचार्य के आभासवाद का विवेचन करते समय पीछे कह चुके हैं। प्रतिमिश्रवाद एव आभासवाद के विपरीत वाचस्पति मिश्र वा क्यन है फि जीव की अविद्योपाधि के कारण अनवच्छिद्यन एव असीम ब्रह्म अवच्छिद्य नन्ता एव/ममीमता को प्राप्त होता है। अवच्छेदवाद के समर्यांकों ने इस सिद्धान्त का सम्पीड़ण प्राय आकृष्ण के उदाहरण द्वारा किया है। जिस प्रकार कि एक ही आकृष्ण को सामारिक लोग घट एव मठ के सम्बाध से घटाकान एव मठाकान कहकर पुकारते हैं, उसी प्रकार एक ही असीम ब्रह्म जीव की अविद्योपाधि के कारण सम्मीमता एव अवच्छिद्यनन्ता को प्राप्त होता है। अविद्या प्रत्येक जीव मठ में आधित रहती है। जैसे कि घट एव मठ आ उपाधिया के नप्ट होन पर घटाकान एव मठाकान आदि भेद नप्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार अविद्योपाधि के नप्ट हो जाने पर भी जगत् के समस्त भेद नप्ट हो जाते हैं और तत्कलस्वरूप एक ब्रह्मात्मा ही सेप रह जाता है।

जहा तक जीव और अविद्या के पारस्परिक सम्बन्ध की बात है वाचस्पति मिथ इन दोनों में वाक्यात्मकाव मानते हैं और इसके विपरीत ईश्वर और अविद्या में वे विषय विषयि भाव नो स्वीकार करते हैं।

बहु साक्षात्कार के वारण के सम्बन्ध में भी अद्वैत दर्शन के व्याख्याताओं की भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ हैं। द्रहुदत्त एवं मण्डन मिथ्र आदि प्राचीन अद्वैती वाचाये प्रसङ्गान (गण्डीरचिन्तन) वो ब्रह्मसाक्षात्कार का वारण स्वीकार करते हैं। वाचस्पति मिथ्र ने भी उक्त मन का ही समर्थन एवं स्पष्टीकरण किया है। वाचस्पति मिथ्र के मन वो उद्भूत करने हुए अमला नन्द का वयन है कि वाचस्पति मिथ्र श्रुतिसाक्षात्कार से वही वर्ण सेते हैं जो भण्डन मिथ्र प्रसङ्गान से प्राप्त बहु साक्षात्कार में प्राप्त करते हैं।³

१ भिद्याज्ञानापायरन् ब्रह्मात्मेऽव विज्ञानादमवति न क्षियान ।

—पञ्चादिका, पृष्ठ ६०, ई० जे० लज्जारस एण्ड कम्पनी, सवन् १९४२।

२. वाचमर्ति मिथ के बाल के सम्बन्ध में देखिए, आशुतोषपाशस्त्री—वेदान्त दर्शन, अद्वैत-वाद (दाला संस्कारण)।

३. वेदान्त कलान्तर पृष्ठ ५६

अद्वैत वेदान्त शास्त्र की उपयोगिता बतलाते हुए कल्पतरुकार का कथन है कि वेदान्त दर्शन जीव एवं ब्रह्म के ऐवय का वोध कराने में समर्थ है।^१

सर्वज्ञात्ममुनि (१०० ई०)^२

सर्वज्ञात्ममुनि का दूसरा नाम नित्यवोधाचार्य था। ये शृंगेरी मठ की गढ़ी पर विराजित थे। सर्वज्ञात्ममुनि की प्रव्यात रचना संक्षेप शारीरक है। सर्वज्ञात्ममुनि ने अपने गुरु का नाम देवेशवराचार्य लिखा है।^३ रामतीर्थ ने देवेशवराचार्य से सुरेशवराचार्य का ही अर्थ लिया है।^४

जगत् कारणता के सम्बन्ध में शंकराचार्य-परवर्ती अद्वैतवादियों के जो तीन भूत प्रसिद्ध हैं उनमें सर्वज्ञात्ममुनि का भूत प्रसुख है। दो अन्य भूत प्रकाशात्मयति और वाचस्पति मिश्र के हैं। विवरणकार प्रकाशात्मयति ईश्वर एवं जीव को अविद्या में विम्ब एवं प्रतिविम्ब के रूप में ग्रहण करते हैं। प्रकाशात्मयति का भूत है कि शुद्ध चित् तत्त्व ही जो ईश्वर एवं जीव रूप में दिखाई पड़ता है और जो साक्षी के रूप में कार्य करता है, वही जगत् का उपादान कारण है। सर्वज्ञात्ममुनि का जगत् कारणता सम्बन्धी भूत विवरणकार के उक्त भूत से भिन्न है। संक्षेप शारीरकार सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि अविद्या में शुद्ध चित् का प्रतिविम्ब ईश्वर है और अन्तःकरण में शुद्ध चित् का प्रतिविम्ब जीव है। सर्वज्ञात्ममुनि के मतानुसार शुद्ध-चित् ही जो अविद्यागत प्रतिविम्ब का मूल है, साक्षी एवं जगत् का उपादान कारण है। वाचस्पति मिश्र का यह भूत उक्त दोनों भूतों से भिन्न है। वाचस्पति मिश्र के दृष्टिकोण के अनुसार शुद्ध चित् ही जो अविद्या का आधार या अधिष्ठान प्रतीत होता है, जीव है और वही शुद्ध चित् जब अविद्या के विषय रूप में दिखाई पड़ता है तो ईश्वर कहलाता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने जीव को ही जगत् का उपादान कारण माना है, क्योंकि अविद्या के कारण जीव ही ब्रह्म साक्षात्कार न करके प्रपञ्चरूप जगत् की सृष्टि करता है।^५

अप्यय दीक्षित के अनुसार उक्त भूतों का विवेचन

सिद्धान्त लेश संश्लेष के रचयिता अप्यय दीक्षित के अनुसार सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है कि माया के कारण ब्रह्म जगत् का कारण है। जगत् की सृष्टि के कार्य में माया का साहाय्य द्वारत्वेन ग्राह्य है। विवरणकार के मतानुसार माया विशिष्ट ब्रह्म जो कि सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी होकर ईश्वर संज्ञा को प्राप्त होता है वही, ईश्वर जगत् का कारण है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार ब्रह्म जब अविद्या का विषय बनता है तो वह ईश्वरता को प्राप्त होता है और वही

१. ब्रह्मात्मैकत्ववोधित्वाद्वेदान्तिनाम्। —वेदान्तकल्पतरु, पृ० २५ (प्रथम भाग), ई० जे० लजारसे ई०४ काम्पनी, संवद् १६५२।

२. सर्वज्ञात्ममुनि का यह कान डा० दास गुप्त के 'ऐ हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलासफी', भाग २, पृ० ११२ के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

३. जयन्तिदेवेशवरपादरेणवः। संक्षेपशारीरकम् १।

४. सं० शा० १। पर देखिये रामतीर्थ की टीका।

५. विद्येष देविए, अद्वैत सिद्धि पर ब्रह्मानन्दी टीका, पृ० ४८३ (वर्मई प्रकाशन) तथा सिद्धान्त विन्दु, पृ० २२५-२२७।

ब्रह्म अविद्या के मिलन मिलन होने के अनुस्पष्ट जीव को जब अनेक होने में दृष्टिगोचर होता है तो जगत् का कारण बन जाता है।^१

सर्वज्ञातममुनि और अधिष्ठानवाद

अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त अद्वैतवाद के प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यत प्रभुत्व मिदान है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सर्वज्ञातममुनि एव ब्रह्मानन्द आदि वक्त्राचार्य के पर्वतीं विद्वानों के मिलन मिलन मत हैं। यहाँ सर्वज्ञातममुनि के ही अधिष्ठान मम्बन्धी दृष्टिकोण का विवेचन किया जायेगा।

सर्वज्ञातममुनि ने एक विलक्षण मत की स्थापना करते हुए आधार एव अधिष्ठान के बीच भेद की व्यवस्था की है। सर्वज्ञातममुनि का कथन है कि साक्षी या शुद्ध चिद् स्ता ब्रह्म, जिसकी अविद्या जगत् की स्थिति एव उसके दृश्यत्व के लिए उत्तरदायिनी है, अधिष्ठान है। इसके अतिरिक्त जब ब्रह्म उस अविद्या में विशिष्ट प्रतीत होता है जो ब्रह्म की उपस्थिति मात्र से ही अविच्छिन्न स्ता से व्यावहारिक जगत् के रूप में परिणत होती है और इस परिस्थिति में जब वह (ब्रह्म) अविद्या के बाश्रयदाना वे रूप में स्थित होता है तो वह अधिष्ठान न होकर आधार होता है। उद्धरण के लिए 'इद रजनम्' (यह रजन है) इस वाक्य में 'इद' रूप से बन्मान चिन् का वह स्ता जो अविद्या का आधार प्रतीत होता है अधिष्ठान न होकर आधार है। शुक्लिएव रजत और ब्रह्म एव अविद्योत्पन्न जगत् के सम्बन्ध में शुक्लिएव ब्रह्म का आधार स्ता मिथ्या है। ब्रह्म और जगत् के बीच जिस आपार-आपेय भाव की कल्पना की जाती है वह मिथ्या है, क्योंकि जिस जगत् की उत्पत्ति अविद्या से हुई है उसे ब्रह्म का आपेय और ब्रह्म को उपका आधार नहीं कहा जा सकता। जहा तरु ब्रह्म की अधिष्ठानमयता का प्रदर्श है उसके अज्ञान के कारण ही शुक्लिएव में रजत एव ब्रह्म में जगत् की शुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु अधिष्ठान स्ता शुक्लिएव ब्रह्म रजत एव जगत् में असम्बद्ध है। दोस्रे म सम्बन्ध ही भी कैसे सकता है, क्योंकि एक मन् है और दूसरा अम् और म् एव जगत् का मध्यन्दर अनिश्चित है।^२ अत जैसा कि सर्वज्ञातममुनि मानते हैं ब्रह्म का अधिष्ठान स्ता ही सत्य है आधार स्ता नहीं।^३

अद्वैतानन्दवोद्येन्द्र (११४९ ई०)

अद्वैतानन्दवोद्येन्द्र का काल धारहर्वी शनाव्दी के पूर्वाद्वा का अन्त है। यह काली के शास्त्रामठ (कामरोटीपीठ) के पीठाधीश थे और भूमानन्द सरस्वती या चन्द्रोदीपरेण्ड्र सरस्वती के शिष्य थे। विद्वान् विद्या का अध्ययन इन्होने रामानन्द सरस्वती से किया था। यह चिद्-विनाम एव जानन्द वोद्य के नाम में भी प्रच्यान थे। इन्होने ब्रह्मविद्यामरण, गान्तिविवरण और गुप्तदीप नामक ग्रन्थों की रचना भी थी।^४

१. मिदान्तलेशमप्रह, पृ० ५६, ७५-८६, पञ्चादिता विवरण २२३, २२४, २३१ (बनारस स्तस्करण)।

२. ब० ८०, शा० ८०, २१११।

३. Lights on Vedanta, p. 163.

४. देवितु, *Tripalītu's Introduction to Anandajnana's Tarṣasāṅgraha*.

आनन्दवोध भट्टारकाचार्य (१२वीं शताब्दी)

अद्वैत वेदान्त के समीक्षक आचार्य आनन्दवोध भट्टारक १२वीं शताब्दी में वर्तमान थे। अद्वैत वेदान्त पर इनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं—न्यायमकरंद, प्रमाण माला और न्याय दीपावली। न्याय मकरंद इनका संग्रहात्मक ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ के आधार पर इन्होंने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

जगत् के मिथ्यात्व का विवेचन अद्वैतवाद के प्रतिपादन का प्रमुख अंग है। जगत् के मिथ्यात्व एवं अनिर्वचनीयत्व के सम्बन्ध में शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण अपनाये हैं। न्यायमकरंदकार आनन्दवोधाचार्य का मत पद्मपादाचार्य और प्रकाशत्मा के मतों से भिन्न है। मिथ्यात्व एवं अनिर्वच्यत्व का प्रतिपादन करते हुए आनन्द वोधाचार्य का कथन है कि अविद्या के कार्यों एवं परिणामों सहित अविद्या की निवृत्ति को वाद कहते हैं और उस वाद का ज्ञान होना ही अनिर्वच्यता है।^३

आनन्द वोधाचार्य सदसद्विलक्षण अविद्या को ही जगत् का कारण मानते हैं।^४ अपने मत के समर्थन में इनका कथन है कि असत् जगत् की उत्पत्ति किसी सत् पदार्थ से तो हो नहीं सकती और सर्वथा असत् पदार्थ से भी जगत् की उत्पत्ति पूर्णतया असंगत है। अतः जब सत् या असत् वस्तु जगत् का कारण नहीं हो सकती तो सत् एवं असत् विलक्षण वस्तु ही जगत् का कारण हो सकती है। आनन्द वोधाचार्य का कथन है कि सत् एवं असत् से विलक्षण अविद्या ही है।

प्रकाशात्मयति (१२वीं शताब्दी)

प्रकाशात्मा रचित पंचपादिका की टीका विवरण का स्थान अद्वैत वेदान्त में अतिशय महत्वशाली है। प्रकाशात्मा के गुरु का नाम श्रीमत् अनन्यानुभव या।^५ प्रकाशात्मा ही प्रकाशनुभव के नाम से भी प्रचलित थे।

अद्वैत वेदान्त के थेट्र में प्रकाशात्मा का महत्व इसी से स्पष्ट है कि उनकी विवरण टीका के नाम से विवरण सम्प्रदाय नामक एक पृथक् सम्प्रदाय का ही प्रचलन हो गया है।

प्रकाशात्मा ने अद्वैत दर्शन का विश्लेषण करते हुए ब्रह्म एवं अविद्या के बीच आश्रयाश्रयिभाव एवं विषय-विषयि भाव सम्बन्ध माना है। पद्मपादाचार्य भी इसी मत के पक्षपाती थे। जैसा कि कहा जा चुका है, वाचस्पति मिश्र का मत उनके मत से भिन्न है।

मिथ्यात्व के सम्बन्ध में प्रकाशात्मा का मत पद्मपादाचार्य के मत से भिन्न है। पद्म-

१. सविनासाविद्यानिवृत्तिरेव वाऽस्तदगोचरतैवानिर्वच्यता।

—न्यायमकरंद, पृ० १२५, चौखम्बा संस्करण, बनारस १६०७।

२. न्याय मकरंद, पृ० १२२, १२३।

३. डा० दासगुप्त ने विवरणकार प्रकाशात्मा का स्थितिकाल १२वीं शताब्दी का उत्तरद्वंद्व माना है (डा० दास गुप्त के गत के लिए देखिए—इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० १६६-६७)।

४. वेदान्त अंक (कल्याण), पृ० ६४६।

पादाचार्य शुक्ल आदि मेर रजतादि के सार्वनिक एवं वैकालिक मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं करते। इसके विपरीत प्रकाशात्मा शुक्ल आदि मेर रजतादिके सार्वनिक एवं वैकालिक मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं।^१ विवरणकार ने मिथ्यात्व को अनिवृच्छनीयता का ही समर्थक माना है।^२

ब्रह्मसाक्षात्कार के कारण के सम्बन्ध मेर प्रकाशात्मा का मत ब्रह्मदत्त आदि के मत मेर भिन्न है। प्रशाशात्मा ब्रह्मदत्त आदि की तरह मनन द्वारा साक्षात्कार का प्रधान कारण न मानकर थ्रवण को ब्रह्म साक्षात्कार का प्रधान कारण मानते हैं।^३ विवरणकार का मत है कि यद्यपि मनन और निदिध्यासन थ्रवण की अपेक्षा आगमी हैं, परन्तु किर भी वे ब्रह्म साक्षात्कार के प्रधान कारण नहीं हैं। अपने मत की पुष्टि मेर प्रकाशात्मा का तर्क है कि थ्रवण का ब्रह्म साक्षात्कार से साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण थ्रवण ब्रह्म साक्षात्कार मेर प्रधान कारण है। इसके विपरीत मनन एवं निदिध्यासन ब्रह्म साक्षात्कार के परम्परया कारण हैं।

विमुक्तनात्मा (१२०० ई०)

विमुक्तनात्मा ने अपने इष्टसिद्धि नामक प्रत्यय मेर अद्वैत मिदान्त की अज्ञान आदि प्रमुख विचार ग्रन्थिया का आलोचनात्मक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है।

विमुक्तनात्मा ने आत्मा एवं जगत् के विषयों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न का समाधान खोजने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि दृक् (आत्मा) एवं दृश्य (जगत् रूप विषय) न एक दूसरे मेर भिन्न कहे जा सकते हैं न अभिन्न जीर न भिन्नभिन्न। भिन्न हम लिए नहीं हैं कि 'दृक्' (आत्मा) दृश्य नहीं है। दृश्य का अदृश्य या अदृश्य का दृश्य से भेद सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी ने अरण नामक व्यक्ति को नहीं देखा है तो वह उसे इसाम नामक व्यक्ति के भिन्न नहीं बता सकता। इसी प्रकार जब दृक् (आत्मा) दृश्य नहीं है तो उसे दृश्य से भिन्न कैसे कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि विज्ञानवादी बोढ़ कहता है दृक् (आत्मा) एवं दृश्य (जगत्) के बीच अभेद सम्बन्ध भी नहीं स्थापित किया जा सकता। अभेदवादी का कथन है कि दृक् एवं दृश्य का साथ-साथ बोध होता है। दृक् एवं दृश्य का समकालिक बोध ही उनके अभेद का सूचक है, क्योंकि दोनों के अभिन्न होने पर उनके पूर्यक बोध का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। विमुक्तनात्मा का कथन है कि अभेद सम्बन्ध के अतिरिक्त दृक् एवं दृश्य के बीच अभेद सम्बन्ध भी नहीं भाना जा सकता। अभेद सम्बन्ध के समर्थक का कथन है कि यद्यपि दृक् एवं दृश्य मेर भेद है, परन्तु ब्रह्मात्मना वी दृष्टि मेर दोनों अभिन्न हैं, इसलिए दृक् एवं दृश्य मेर भेदाभेद मानना चाहिए। उक्त तर्क का अनीचित्य स्पष्ट करते हुए विमुक्तनात्मा का कथन है कि यदि दृक् एवं दृश्य ब्रह्म से अभिन्न होते तो दोनों के भेद का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अत भेदाभेद सम्बन्ध की स्थापना

^१ प्रतिपल्लोराधो वैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम् ।स्वनिष्ठनिरविद्यनत्रवात् निरपित निरोप्यता समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वम् । Lights on Vedanta, page 181 मेर उद्दून प्रकाशात्मा का मत।

^२ पचादिका विवरण, पृ० १५६।

(Govt Oriental Manuscripts Library, Madras, 1958)

^३ पचादिका विवरण, पृ० १०४, १०५।

भी अनुचित है। अतः दृढ़ एवं ब्रह्म में तो अभेद है, परन्तु दृढ़ एवं मायोत्पन्न जगत् का सम्बन्ध अनिर्वच्य है। मायिक जगत् का अधिष्ठान विमुक्तात्मा ने आत्मानुभूति को माना है। इसीलिए विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि के आरम्भ में अज, अमेय, अनन्त एवं आनन्द स्वरूप आत्मानुभूति को महदादि जगत् के माया चित्र की भित्ति कहा है।^१

अज्ञान के सम्बन्ध में विमुक्तात्मा ने एक विलक्षण मत को जन्म दिया है। वे अज्ञान की अनेकरूपता स्वीकार करते हैं। विमुक्तात्मा का विचार है कि प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में उत्तरे ही अज्ञान हो सकते हैं जितने रूपों में उस विषय का प्रत्यक्ष सम्भव है। इस सम्बन्ध में विमुक्तात्मा का कथन है कि यदि किसी वस्तु के विषय में उत्पन्न हुआ किसी व्यक्ति का अज्ञान नप्त हो जाता है तो इससे मूल अविद्या का उच्छेद नहीं होता, अपितु उसके अंश का ही उच्छेद होता है। यही कारण है कि एक वस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, रसी के सम्बन्ध में उत्पन्न किसी व्यक्ति का सर्प रूप अज्ञान नप्त होने पर भी किसी दूसरे व्यक्ति को उसी रसी में दण्ड, धारा आदि रूप अज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। इस प्रकार विमुक्तात्मा अज्ञान की अनेकरूपता के पक्षपाती हैं।

इस प्रकार विमुक्तात्मा ने अद्वैत वेदान्त की अनेक दुरुहताओं का स्पष्टीकरण बड़े वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण ढंग से किया है।

आचार्य चित्सुख (१२२० ई०)

आचार्य चित्सुख दर्शन के क्षेत्र में उस समय अवतरित हुए थे, जिस समय दर्शन के क्षेत्र में दो प्रबल धाराएँ प्रवर्तित हो रही थीं। एक ओर तो गणेश आदि नैशायिक न्याय मत के प्रचार में लीन थे और दूसरी ओर वैष्णव आचार्य अद्वैत मत का खण्डन कर रहे थे। इस काल में अद्वैतमतावलम्बी चित्सुखाचार्य ने न्याय दर्शन का खण्डन करते हुए, अद्वैत दर्शन का समर्थन किया था। चित्सुखाचार्य ने अद्वैत मत का विश्लेषण अपने तीन ग्रन्थों—तत्त्व प्रदीपिका, न्याय मकरस्त टीका और खण्डनखण्डखाद्य की टीका के अन्तर्गत किया है। तत्त्वप्रदीपिका का ही दूसरा नाम चित्सुखी है।

साक्षी के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के शंकराचार्य परवर्ती विद्वानों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण मिलते हैं। आचार्य चित्सुख साक्षी एवं प्रमाता में भेद की स्थापना के समर्थक हैं। वे साक्षी को स्वतन्त्र एवं द्रष्टा मात्र मानते हैं। इसके विपरीत प्रमाता आचार्य चित्सुख के अनुसार ज्ञाता है तथा जान के साधनों के कार्य के अधीन है।^२

आचार्य चित्सुख दुःख को सुख का विरोधी मानते हैं। इसलिए उनके भतानुसार दुःख का विनाश स्वतः पुरुषार्थ न होकर केवल सुख ही स्वतः पुरुषार्थ है। चित्सुखाचार्य ने उत्तर मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि दुःखाभाव स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ नहीं है, प्रत्युत सुखाभिव्यक्ति का अंग मात्र है। आचार्य चित्सुख पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए कहते हैं कि सुख ही

१. T. M. P. Mahadevan : The Philosophy of Advaita, p. 151-152.

२. यानुभूतिरजमेयानन्तात्मानन्दविग्रह।

महदादि ज्ञग्नमायाचित्रभित्तिम् नमामिताम् ॥ — इष्टसिद्धि, पृ० १।

३. तत्त्वप्रदीपिका (चतुर्थ परिच्छेद), पृ० ३८१-३८२ एवं इस पर देखिए नयनप्रसादिनी टीका (निर्णय सागर, वस्त्रई १६३१)।

दुखाभाव का अग है, इसप्रकार विपरीत प्रसग नहीं उपस्थित हो सकता। वयोऽनि, सुख को दुखाभाव का अग मानने पर न उमे दुखाभाव का उत्पादक माना जा सकता है और न उसका अभिव्यजक।^१

अमलानन्द (१३ वी शताब्दी)

अमलानन्द के गुरु का नाम अनुभवानन्द था। आचार्य अमलानन्द अद्वैत मत के पूर्ण समर्थक थे। अमलानन्द ने वेदान्त कल्पतरु, (वाचस्पति मिथ्र वी भाषती वी टीका) शास्त्र दर्पण, और पचासदिवा दर्पण इन तीन प्रधानों की रचना की थी। तीनों ही ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में प्रामाणिकता की दृष्टि से सम्मान्य हैं।

अमलानन्द दृष्टिसृष्टिवाद सिद्धान्त के समर्थक हैं। दृष्टिसृष्टिवाद वा सैदान्तिक विवेचन आगामी प्रश्नण के अन्तर्गत किया जाएगा। दृष्टि सृष्टिवाद के अनुमार ममत्व प्राप्त दून्य वहा की अवगति के उपाय के रूप में ही श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय वा विवेचन स्वीकार किया गया है। वस्तुत श्रुतियों में सृष्टि का प्रतिरादन पारमाधिक रूप से नहीं किया गया है। जहा आरोप न्याय के द्वारा सृष्टि वा प्रतिपादन किया गया है वहा अपवाद न्याय के द्वारा उसका निराकरण भी कर दिया गया है। उक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हुए अमलानन्द ने त्पष्ट रूप से कहा है कि सृष्टि-प्रतिपादक श्रुतियों (महामाल्लोकानमृजत आदि) का तात्पर्य वस्तुत व्रह्मात्मेव मे होने से सृष्टि के प्रतिपादन मे उनका अभिप्राय वदायि नहीं है।^२ इस-तिए दृष्टिसृष्टिवादी के अनुमार सृष्टि तात्त्विक न होकर दृष्टि कालिक ही है—दृष्टि सम समया विश्वसृष्टिरिति दृष्टिसृष्टिवाद।

अमलानन्द का एक और विचार उनके अद्वैत वेदान्त के मूढ़म पर्यंवेक्षी होने वा परिचायक है। जैसा कि वाचस्पति मिथ्र के दार्शनिक मत का विवेचन वरने समय वहा जा सुका है, ब्रह्मदत्त एव मण्डन मिथ्र प्रभृति प्रस्त्यान को ब्रह्म साक्षात्त्वार वा वारण मानते हैं। प्रस्त्यान को ब्रह्म साक्षात्त्वार वा वारण स्वीकार करने पर यह आपत्ति स्वाभाविक है कि प्रस्त्यान सत्या के अन्तर्गत प्रस्त्यान वा परिणन न होने के वारण उसमे उत्पन्न होने वाले ब्रह्म साक्षात्त्वार को प्रमा नहीं वहा जा सकता। इस आपत्ति वा समाधान हमे अमलानन्द वे इस कथन वे अन्तर्गत मिलता है कि वेदान्त वाचयों से जन्य ज्ञान के अभ्यास मे होने वाली अपरोक्ष बुद्धि वेदान्त वाचय जयवा उससे होने वाली प्रमा की दृढ़ता से (अविप्रतिपन्न प्रागार्थ्यहोने के कारण) भ्रम नहीं होती है। इसीलिए परत प्रामाण्यापति भी प्रश्नक नहीं होती, क्योंकि अपवाद वे

१ नात्र दुखाभाव र्वनन्ततया पुण्यार्थं, गुणाभिव्यवितु ज्ञेयत्वात्। न च विपरीतवृत्ति-प्रमाणा, विश्वरागसहत्यात्। कि सुपदुष्टानावस्योत्तादस्त्वनुताभिव्यजन्त्, नोपयमाणि।—तत्त्व प्रदीपिका, चतुर्थ परिच्छेद।

२ थुनीना सृष्टि तात्पर्य स्वीकृत्येदमिहेत्यतम्।

ब्रह्मात्मेवपरत्वात् तामा तन्नेव विद्यते॥ —शास्त्र दर्पण—१४४ पृ० ८३

(वाणी विलास प्रेम, श्रीरामम् १६१३)।

३ सिद्धान्त लेग सप्रह, पृ० ३६१।

निरास के निए मूल प्रमाण की शुद्धि की अपेक्षा की गई है।^१ इस प्रकार अमलानन्द परिसंस्थान जन्य बहु साक्षात्कार को प्रभा रूप स्वीकार करते थे।

अद्वैत वेदान्त का विवेचन करते समय कहीं-कहीं अमलानन्द का दृष्टिकोण अपने पूर्व-वर्ती शंकराचार्य एवं वाचस्पतिमिश्र आदि के मत से भिन्न हो गया है। उदाहरण के लिए ब्रह्मसूत्र भाष्यकार शंकराचार्य एवं भाष्मतीकार वाचस्पतिमिश्र ने जीव की ईश्वरभावापत्ति को स्पष्ट सिद्ध किया है।^२ इस सम्बन्ध में अमलानन्द का दृष्टिकोण भिन्न है। वे माया प्रतिविम्बित ईश्वर की मुक्तों द्वारा प्राप्यता नहीं स्वीकार करते।^३

इस प्रकार अमलानन्द ने अद्वैत वेदान्त के अनेक सिद्धान्तों का सूक्ष्म पर्यालोचन किया है।

विद्यारण्य (१३५० ई०)

विद्यारण्य का पूर्वाश्रम का नाम माधवाचार्य था। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् इनका द्वासरा नाम भारती तीर्थी भी मानते हैं।^४ डाक्टर वीरमणि प्रसाद उपाध्याय ने भारती तीर्थी को पंचदशी का लेखक कहा है।^५ इस विषय का विवेचन यहां आवस्रिक न होने के कारण, इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि स्वयं माधवाचार्य (विद्यारण्य) ने अपने ग्रन्थ 'जैमिनीय न्याय माला' की टीका विस्तर में भारती तीर्थी को अपना गुरु लिखा है। अतः भारती तीर्थी और विद्यारण्य को पृथक्-पृथक् मानना ही समुक्ति होगा।^६ विद्यारण्य द्वारा रचित १६ ग्रन्थ हैं, जिनमें पंचदशी सर्वाधिक प्रख्यात है।

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य का आभास-वाद, पद्मपादाचार्य एवं प्रकाशात्मा का प्रतिविम्बवाद एवं वाचस्पति मिश्र का अवच्छेदवाद सिद्धान्त प्रचलित हैं। विद्यारण्य उक्त सिद्धान्तों में से प्रतिविम्बवाद के अनुयायी प्रतीत होते हैं।^७ विद्यारण्य के अनुसार माया में प्रतिविम्बित चेतन को ईश्वर एवं अविद्या में प्रतिविम्बित चेतन को जीव कहते हैं। विद्यारण्य के अनुसार माया एवं अविद्या में यही भेद है कि माया शुद्ध सत्त्वमयी है एवं अविद्या मलिन सत्त्वमयी।^८

१. वेदान्त वाक्यज्ञानभावनाजा परोक्षधीः।

मूलप्रमाण दाह्येन न भ्रमत्वं प्रपृथते॥

न च प्रामाण्यपरतस्त्वापत्तिरस्तु प्रस्तुयते।

अपवाद निरासाय मूलशुद्धयनुरोधात्॥

—सिद्धान्त लेख संग्रह, पृ० ४७० से उद्धृत कल्पतरुकार का मत।

२. ब्र० सू०, शा० भा०, एवं भासती ४।४।३, ४।४।६, ४।४।७ तथा देखिए—सिं० ल० स०, पृ० ५५३।

३. देखिए—सिद्धान्त लेख संग्रह, पृ० ५५३।

४. कल्याण—वेदान्तांक, पृ० ६५२।

५. Lights of Vedanta, p. 111, 116.

६. वेदान्तांक (कल्याण), पृ० ६५२।

७. T.M.P. Mahadevan : The Philosophy of Advaita, p. 219.

(Ganesh & Co., Madras, 1957).

८. पंचदशी १।१६।

विद्यारण्य द्वारा किया गया साक्षी का विवेचन

विद्यारण्य ने पचदशी के कूटस्थदीप, नाटकदीप एवं चित्रदीप प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी का भिन्न भिन्न प्रकार में विवेचन किया है। कूटस्थदीप के अन्तर्गत विद्यारण्य ने साक्षी की व्याख्या करने हुए कहा है कि स्थूल और मूँहम् शरीर का अधिष्ठान भूत कूटस्थ चेतन्य अपने अवच्छेइक उन्न दोनों शरीरों का साक्षात् द्रष्टा एवं बनृत्वादि विकारों से शून्य होने के कारण साक्षी है।^१

नाटकदीप प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी का विवेचन नृत्यशाला में स्थित दीपक के दृष्टान्त के आधार पर किया गया है। जिस प्रकार कि नृत्यशाला में रखा हुआ दीपक नृत्य-शाला के स्वामी, सम्प्ति (दर्शकों) तथा नर्तकी को समान रूप से प्रवाहित करता है एवं हथाम्यादि के अभाव में भी दीप्त रहता है, उसी प्रकार साक्षी भी अहकार, बुद्धि तथा विषयों को प्रकाहित किया करता है और अहकारादि के अभाव में भी सुपुष्टि अवस्था में पूर्ववर्त साक्षी को दीप्त बरता रहता है।^२

पचदशी के चित्रदीप प्रकरण के अन्तर्गत विद्यारण्य ने बहु, कूटस्थ, ईश्वर एवं जीव का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। उन्न तत्त्वों का निष्पत्ति पंचदशीकार ने आकाश के दृष्टान्त के आधार पर दिया है। विद्यारण्य का वर्णन है कि व्यापक आकाश का नाम महाकाश है। घटावच्छिन्न आकाश को घटाकाश, घटवर्ती जल में प्रतिविम्बित आकाश को जलाकाश उपर मेघ के जल में प्रतिविम्बित आकाश को मेघाकाश कहते हैं। इसी प्रकार अत्याप्त एवं व्यापन मुद्द चेतन को बहु और देहस्तु उपाधि से परिच्छिन्न चेतन को कूटस्थ कहते हैं। देहान्तर्गत अविद्या में प्रतिविम्बित चेतन जीव तथा माया प्रतिविम्बित चेतन वो ईश्वर कहते हैं।^३ विद्यारण्य निष्पत्ति अविद्या एवं माया के भेद की दिशा का उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

विद्यारण्य ने ध्वण भनन एवं निदित्याभन के अतिरिक्त चित्त शुद्धि कर्त्ता उपासना को भी मोक्ष-साधन के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु उपासना को भी ये बागे चतकर भ्रम ही मानते हैं। अन्तर इन्ता ही है कि निर्गुणोपासना सवादी भ्रम है तथा सगुणोपासना विस्मवादी भ्रम है। जो भ्रम, भ्रम होते हुए भी परिणाम में इष्ट वस्तु की उपलब्धि बराता है उसे सम्वादी भ्रम कहते हैं। अन्य सगुणोपासनाएँ विस्मवादी भ्रम के अन्तर्गत आनी हैं। निर्गुण बहु की उपासना सवादी भ्रम होने पर भी बहु साक्षात्कार में महायक्ष है। उन्न त्रय मध्यम बीटि के अधिकारियों के लिए ही है। उत्तम बीटि के अधिकारियों वे निए तो श्रवणादि की ही व्यवस्था है।^४

प्रकाशानन्द (१५५०-१६०० ई०)

प्रकाशानन्द रचित (वेदान्त मिदान्त मुक्तावली) अद्वैत वेदान्त का एक प्रामाणिक एवं प्रस्त्यात् ग्रन्थ है। प्रकाशानन्द ने अपनी मुक्तावली में अद्वैत वेदान्त का विवेचन बरके अपनी

१. सिद्धान्त लेख संग्रह, पृ० १८०।

२. पचदशी १०। ११, १२।

३. वही, ६। १८, २२।

४. वेदान्ताव (व्याग), पृ० ६५४।

प्रांजल एवं पाण्डित्यपूर्ण शैली का परिचय दिया है।

प्रकाशानन्द ने वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त के अज्ञान आदि सिद्धान्तों का वैज्ञानिक एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

अज्ञान के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए प्रकाशानन्द ने उसे वेदसिद्ध एवं लौकिक प्रत्यक्षादि से सिद्ध न मानकर कल्प्य माना है। अपने मत की पुष्टि करते हुए प्रकाशानन्द का कथन है कि अज्ञान को वेदसिद्ध इसलिए नहीं माना जा सकता कि वेद के पूर्व काण्ड (पूर्व भीमांसा) का विषय कर्म मात्र है एवं वेदान्त (उत्तर भीमांसा) का विषय एवं फल पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म है। किन्तु अज्ञान के सम्बन्ध में उक्त स्थिति का अभाव होने के कारण अज्ञान को वेद सिद्ध नहीं माना जा सकता।^१ अज्ञान के लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होने का निराकरण करते हुए प्रकाशानन्द का तर्क है कि यदि अज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हुआ होता तो इस प्रकार के विवाद का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अज्ञान को कल्प्य मानने के लिए प्रकाशानन्द का तर्क है, कि जो ईश्वर, वसंग, उदासीन एवं स्वानन्दतृप्त है, उसके द्वारा असत्य एवं अनेकविधि सुखदुःखादिमय प्रपञ्च रूप जगत् की सृष्टि अनुपपन्न है। अतः विना अज्ञान के प्रपञ्च मय जगत् की रचना अनुपपन्न होने के कारण अज्ञान की कल्पना करना अपेक्षित ही है।^२ इसीलिए अज्ञान वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलीकार की दृष्टि से कल्प्य है।

प्रकाशानन्द ने अविद्या को जीवाश्रया एवं ब्रह्मविषयिणी कहा है।^३ शुद्ध मुक्त स्वभाव वाला भी ईश्वर अज्ञान के आश्रित होकर जीवभाव को प्राप्त करके तथा देव, तिर्यक् एवं मनुष्यादि की देह का निर्माण करके उन्हीं के उपरकरण ब्रह्माण्डादि चतुर्दश भुवनों की सृष्टि करता है।^४ अतः ईश्वर का स्वप्नतृप्त अज्ञान के कारण ही सिद्ध होता है। दृष्टि-सृष्टिवाद सिद्धान्त के समर्थक होने के कारण प्रकाशानन्द जगत् की सत्ता को दृष्टि मात्र ही मानते हैं, तात्त्विक नहीं।^५

अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रकाशानन्द ने अविष्टानवाद सिद्धान्त के आधार पर किया है। ये आचार्य अविष्टान एवं अधीयास में अद्वैता के पक्षपाती हैं।^६ अविष्टान रूप आत्मा के अतिरिक्त द्वैत जगत् की सत्ता का समर्थन निराधार है। समस्त प्रपञ्चात्मक जगत् आत्मा में ही अध्यस्त है। आत्म साक्षात्कार होने पर आत्माध्यस्त समस्त द्वैत जगत् का भी साक्षात्कार उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार रज्जु का ज्ञान होने पर उसमें अध्यस्त सर्प,

१. अज्ञानं किं वेदसिद्धम्...“तत्रनाद्यः, पूर्वकाण्डस्य कर्ममात्रविषयत्वात्, वेदान्तानां च परिपूर्ण सच्चदानन्दब्रह्मात्रविषयत्वात् तत्रैव फलसम्बन्धात् अज्ञानादी तदभावात् तदप्रतिपादकत्वात्। वे० सि० मुक्तावली, पृष्ठ २६ (कलिकाता-१६३५)।
२. अत एवं विवस्यप्रपञ्चरचनाविना अज्ञानं न सम्भवति इति अज्ञानं कल्प्यते इति भावः। जीवानन्द की टीका, वे० सि० मु०, पृ० २६, २७, २८।
३. जीवाश्रया ब्रह्मपदात्यविद्यातत्त्वविन्भाता। वे० सि० मु० ३ तथा देखिए विद्यासागरी।
४. वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, ६; जीवानन्द विद्यासागर संपादित १६३५ ई०।
५. तदेवं दृष्टिमात्रात्मकं जगत्। — वे० सि० मु० ६१।
६. अविष्टान भेदेन अध्यस्तस्य पृथक् स्वरूपाभावात्, पृष्ठ २५६।

दण्डादि के स्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है।^१

इस प्रकार वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलीकार ने अद्वैत वेदान्त के अनेक तथ्यों वा विवेचन तक प्रतिष्ठित शैली द्वारा प्रस्तुत किया है।

मधुसूदन सरस्वती (१६०० ई०)

मधुसूदन सरस्वती दशरथाचार्योत्तर काल के अद्वैत सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यों में से हैं। इन्होंने सिद्धान्तविन्दु सदोग शारीरक की व्याख्या अद्वैत सिद्धि, अद्वैत रत्न रक्षण, वेदान्त वल्प लतिका, गुडायं दीपिका, प्रस्थान भेद आदि ग्रन्थों में अद्वैत वेदान्त वा सूक्ष्म एवं व्यवस्थित विशेषण किया है।

सुपुत्रिकाल में होने वाले—‘सुखमहमस्वाप्सद’ (मैं सुखपूर्वक सोया) अनुभव के सम्बन्ध में दशरथाचार्य के परवर्ती विद्वानों ने भिन्न भिन्न मतों की प्रतिष्ठा बी है। सुरेश्वराचार्य सुपुत्रिके उत्तरवर्ती ज्ञान को ‘विकल्प’ कहते हैं।^२ इसके विपरीत विवरण सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन प्रकाशात्मा आदि विद्वान् उक्त अनुभव को परामर्श कहते हैं और परामर्श से स्मृति का अर्थ ग्रहण करते हैं।^३ मधुसूदन सरस्वती ने इस सम्बन्ध में एक नवीन मत की उद्घावना की है। अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि ‘सुपुत्रिअवस्था में तामसी वृत्ति की निवृत्ति होने वाले विवृति हो जाती है। जाग्रत् अवस्था में विशेषणाद तामसी वृत्ति की निवृत्ति होने पर तामसी वृत्ति विशिष्ट अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती इस नियमं पर पढ़ते हैं कि जहाँ तक सुपुत्रिवाचिक तामसीवृत्ति विशिष्ट अज्ञान का सम्बन्ध है, परामर्श को ‘स्मृति’ कहा जा सकता है। इसके विपरीत सुपुत्रिअवस्था को यदि हम मात्र अज्ञानानुभव मानेंगे तो हम परामर्श को ‘स्मृति’ नहीं कह सकते। इसका कारण यह है कि जाग्रत् अवस्था में भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। अज्ञान की निवृत्ति न होने पर ‘ये सुख पूर्वक सोया’ इस भूतकालिक अनुभव वा स्मरण नहीं हो सकता।

वृत्ति के सम्बन्ध में भी मधुसूदन सरस्वती ने विस्तार से विवेचन किया है। वृत्ति जीव के समस्त परिमित विषयों के ज्ञान के लिए एक आवश्यक दर्शा है। मधुसूदन सरस्वती वृत्ति के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए उम्मी नीचे लिखे प्रधान छ भारण बताते हैं।^४

(१) वृत्ति माया की आवरण शक्ति का उन्नेश्वर करती है।

(२) वृत्ति ही आवरण और विशेष शक्ति से युक्त तूलाज्ञान का विनाश करती है।

(३) वृत्ति अविद्या की एक विशेष स्थिति का निवारण करती है। यह विशेष स्थिति अज्ञान और जीव के तादात्म्य की स्थिति है।^५

(४) वृत्ति अविद्या के एक देशीयविनाश की वर्ती है। यह एक देशीय विनाश,

१. आत्मसत्त्व द्वैतस्य सत्तानात्म्या यन्तरन्

आत्मन्येव जगन् सर्व द्वैतेदृष्ट शुते श्रुतम् ॥

—वेदात् सिद्धान्त मुक्तावली, ४६।

२. व० भा० वा०, प० ४६० (आनन्दाध्रम मधुन ग्रन्थावली, १६६३)।

३. Lights on Vedanta, p. 133

४. अद्वैत सिद्धि, प० ४६३।

५. लघु चन्द्रिका, अद्वैत सिद्धि, प० ४६३।

अविद्या में कार्य की अक्षमता उत्पन्न करता या अविद्या की निवृत्ति है।

(५) वृत्ति के कार्य के सम्बन्ध में एक उपर्युक्त दृष्टान्त देते हुए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि जिस प्रकार दूर्मरे वीर योद्धा को देखकर भीर भट भाग जाता है, उसी प्रकार वृत्ति की उत्पत्ति के क्षण ही अविद्या का आवरण नष्ट हो जाता है।

(६) मधुसूदन सरस्वती का विचार है कि वृत्ति की उत्पत्ति होने पर अविद्या का आवरण उसी प्रकार हट जाता है, जिस प्रकार कि हाथ का संयोग होने पर चटाई हटती चली जाती है।

वृत्ति के उपर्युक्त पंचम एवं पाठ कार्यों में वह अन्तर है कि पंचम कार्य के अनुसार वृत्ति की उत्पत्ति होने पर ही^१ अविद्या भीर भट के समान क्षणमात्र में ही निवृत्त हो जाती है, और पाठ कार्य के अनुमार वृत्युत्पत्तिक्षण के उत्तरवर्ती काल में आवरण की निवृत्ति होती है।^२ वृत्ति के उक्त दोनों कार्यों की भिन्नता की दृष्टि से ही मधुसूदन सरस्वती ने उपर्युक्त दृष्टान्तों की योजना की है। दोनों दृष्टान्तों में यह भेद है कि भीर भट वीर योद्धा के बाने पर ही भाग जाता है, परन्तु चटाई किसी व्यवित के बाने पर ही नहीं सिमट जाती, चटाई को लपेटने के लिए हस्तसंयोग की आवश्यकता पड़ती है।

एकजीववाद—अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत जीव की एकता एवं अनेकता के सम्बन्ध में मतभेद है। इस सम्बन्ध में इसी अव्याय में पीछे विचार किया जा चुका है। मधुसूदन सरस्वती एक जीववाद के समर्थक हैं।^३ एक जीववाद के सम्बन्ध में यह शंका स्वाभाविक है कि जब “मैं सुखी हूँ”, “मैं दुःखी हूँ”, “मैं संसारी हूँ” और “मैंं सीधा” आदि भिन्न-भिन्न अनुभव होते देखे जाते हैं तो एकजीवता का समर्थन किस प्रकार किया जा सकता है। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि अविद्या के कारण एक श्रद्धा ही जीवहृपता को प्राप्त करता है, उस जीव की ही प्रत्येक शरीर में ‘अहं दुष्टि’ होती है। इस प्रकार जीव अनन्त न होकर एक ही है।

मिथ्यात्व—मिथ्यात्व के सम्बन्ध में भी मधुसूदन सरस्वती ने विशेष एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए जितनी आवश्यकता जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने की है उतनी ही आवश्यकता उस मिथ्यात्व के मिथ्या प्रतिपादन की भी है।^४ इसका कारण यह है कि यदि जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादन करके छोड़ दिया जायेगा, तो प्रकाशन्तर से जगन् सत्य सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि किसी वस्तु की सत्ता होने पर भी उस का निषेध होता है। इसीलिए मिथ्या जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन को मिथ्या सिद्ध करना भी अद्वैत सिद्धि के लिए अनिवार्य है।

मिथ्यात्व के उपर्युक्त दृष्टिकोण के सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती ने पूर्वपक्षी के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि मिथ्यात्व का मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैत सिद्धि में साधक न होकर वाधक है। पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रपञ्च रूप जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन को मिथ्या कहना प्रपञ्च के सत्यत्व को सिद्ध करेगा। अर्थे मत के समर्थन में पूर्वपक्षी का विचार है कि एक

१. वृत्युत्पत्तिक्षण एवावरणाभिभवः। लघुचन्द्रिका, अद्वैत सिद्धि, पृ० ४८०।
२. वृत्युत्पत्तिक्षणोत्तरवृत्तिकाले आवरणाभिभवः।—लघु चन्द्रिका, अद्वैत सिद्धि, पृ० ४८०।
३. स च दृष्टेन एव तन्मानात्मे मानाऽभावात्।—अद्वैत सिद्धि, पृ० ५३६।
४. Dr. S. N. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 444.

धर्मी मे प्रसवत—दो विरोधी धर्मो मे से एक की मिथ्यात्व सिद्धि दूसरे विरोधी धर्म की सत्यता को सिद्ध करती है। अत प्रपञ्च रूप धर्मी मे मिथ्यात्व प्रतिपादन के प्रपञ्च की सत्यता मिद्द होती है। पूर्वपक्षी के उपर्युक्त मत का निराकरण मधुसूदन सरस्वती ने बड़ी कुशलता से विद्या है। इनका बहना है कि पूर्वपक्षी का यह कथन कि एक धर्म मे प्रसवत दो धर्मो मे से एक के मिथ्या सिद्ध होने पर ही दूसरे की सत्यता सिद्ध होती है, निराधार है। एक गोह्य धर्मी मे अश्वत्त्व एवं गोत्व रूप दो विरोधी धर्मो मे से एकधर्म—अश्वत्त्व का अत्यन्ताभाव होने पर दूसरे गोत्व धर्म की सत्यता नहीं सिद्ध होती। गजधर्मी मे गोत्व एवं अश्वत्त्व दोनों ही धर्मो का अन्यन्ताभाव है। अत दो विरोधी धर्मो मे से एक का मिथ्या सिद्ध होना दूसरे की सत्यता नहीं सिद्ध करता। अत जगत् के मिथ्यात्व का मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैतसिद्धि मे बाधक न होकर साधक ही है।^१

इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत वेदान्त के अनेकों सिद्धान्तों का गृह विवेचन किया है।

ब्रह्मानन्द सरस्वती (१७वीं शताब्दी)

अद्वैत सिद्धि पर ब्रह्मानन्द की लघुचन्द्रिका दीक्षा जो ब्रह्मानन्दी के नाम से प्रसिद्ध है, अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह कहा जाता है कि जब इंतमतावलम्बी व्यासराज के शिष्य रामाचार्य ने मधुसूदन जी से अद्वैत सिद्धान्त का उपदेश प्रदृश करके उन्हीं के मत के निराकरण वे तिए तराणिणी की रचना की थी तो इसमे कुछ ही ब्रह्मानन्द ने लघुचन्द्रिका की रचना की थी। लघुचन्द्रिका के अतिरिक्त ब्रह्मानन्द ने मधुसूदन जी के सिद्धान्तविन्दु पर न्यापरत्नावली और सूत्ररत्नावली दो निवन्ध रूप दृश्यों की रचना और की है।

ब्रह्मानन्द द्वारा विश्लेषित अद्वैत सिद्धान्त मे कारणवाद, अभिष्ठानवाद एवं मुक्ति आदि के सम्बन्ध में नवीन तथा मौतिक विचार मिलते हैं। जगत् के उपादान कारण के सम्बन्ध मे ब्रह्मानन्द का मत अण्यदीक्षित से मिलता है। अप्य दीक्षित जीव को जगत् का उपादान कारण कहते हैं, परन्तु इसके विपरीत ब्रह्मानन्द के मतानुसार ईश्वर जगत् का उपादान वारण है। ब्रह्मानन्द का मत है कि ईश्वर इसलिए जगत् का उपादान वारण है कि जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब होने के कारण ईश्वर से सम्बद्ध है और यह जीव ही अविद्या का आश्रय है।^२

एकराचार्य के उत्तरवर्ती वाल के अद्वैती विदानों ने अधिष्ठानवाद पर विचार करते हुए अविष्टान मे अध्यस्त अविद्या जन्य विषयों को मिथ्या नहीं बहा है, अपितु अधिष्ठान एवं अव्यास सम्बन्ध को भी मिथ्या कहा है। इम सम्बन्ध मे ब्रह्मानन्द का मत है कि जहाँ तक अभिष्ठान एवं अध्यस्त विषयों के सम्बन्ध की बात है, यह सम्बन्ध गत्य नहीं है। अत अविष्टान और अव्यास के सम्बन्ध की दृष्टि से अधिष्ठान मिथ्या है, परन्तु मूलन अविष्टान पारमापित् सत्य स्पृह है।^३

ब्रह्मानन्द ने न्याय रत्नावली के अन्तर्गत^४ श्रवण मनन एवं निदिष्यामन को तर्क हा मे

१. अद्वैतसिद्धि, पृ० ४०७-१३।

२. देखिए—अद्वैतसिद्धि पर ब्रह्मानन्दी, पृ० ४८३, न्याय रत्नावलि, पृ० २३१।

३. देखिए—ब्रह्मानन्दी अद्वैतसिद्धि, पृ० ३८-४७।

४. न्याय रत्नावली, पृ० ४२८।

ग्रहण किया है। यदि 'तत्त्वमसि' के रूप में ब्रह्म एवं जीव में सम्बन्ध न हुआ होता तो तत्त्वमसि आदि के द्वारा ब्रह्मज्ञान का होना असम्भव था, इस प्रकार के तर्कों को ब्रह्मानन्द श्रवण के अन्तर्गत मानते हैं। इसी प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान को दृढ़ करने के लिए प्रवृत्त होना, मनन के अन्तर्गत आता है। ब्रह्मानन्द के मतानुसार यह भी तर्क का ही रूप है। निदिध्यासन को ब्रह्मानन्द अन्तिम तर्कों में मानते हैं। ब्रह्मानन्द का विचार है कि श्रवण एवं मनन से उत्पन्न ज्ञान को निदिध्यासन ब्रह्म साक्षात्कार के मूल एवं आनन्द रूप में परिणत कर देता है।

इस प्रकार ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अद्वैत वेदान्त के विभिन्न विषयों पर मौलिक दृष्टि से विचार किया है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र (१७वीं शताब्दी)

वेदान्त परिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र अद्वैत वेदान्त के प्रमुख विवेचकों में हैं। जैसा कि वेदान्त परिभाषा के आरम्भ में संकेतित है, इनके गुरु भेदधिकार के लेखक नृसिंहाश्रम थे।^१

वेदान्त परिभाषाकार ने शुद्ध चेतन के ही उपाधि के कारण—प्रमातृ चेतन्य, प्रमाण चेतन्य एवं विषय चेतन्य रूप से तीन भेद किए हैं। घटादि से-अधिकच्छन्न अर्थात् जितने स्थल में वट स्थित है, उतने स्थल में वर्तित होने वाले चेतन्य का नाम विषय चेतन्य है। अन्तःकरण वृत्यवच्छन्न अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति जितने प्रदेश में रहती है, उतने प्रदेश में वर्तित होने वाले चेतन्य का नाम प्रमाण चेतन्य है। इसी प्रकार अन्तःकरणवच्छन्न अर्थात् जितने प्रदेश में अन्तःकरण रहता है तत्प्रदेशवर्ती वृत्तिचेतन्य को प्रमातृ चेतन्य कहते हैं।^२

वृत्ति के सम्बन्ध में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विशेष रूप से विचार किया है। वृत्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार तडाग का जल तडाग के किसी एक छिद्र द्वारा निकलकर एवं कुल्या (नहर) रूप को प्राप्त होकर क्षेत्र में केदारों (क्यारियों) में प्रविष्ट हुआ उन केदारों के अनुरूप ही त्रिकोण, चतुर्भुज आदि आकारों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार तैजस होने से अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा निकलकर घटपटादि विषय देश को प्राप्त हुआ घटपटादि विषय रूप से परिणाम को प्राप्त होता है। यही परिणाम 'वृत्ति' है।^३ आगे चलकर वृत्ति के भी धर्मराजाध्वरीन्द्र ने संशय, निश्चय, गवं एवं स्मरण—ये चार भेद किए हैं। इस वृत्ति भेद के कारण ही एक ही अन्तःकरण मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त इन चार संज्ञाओं को प्राप्त करता है।^४ उक्त कथन के अनुसार संशय मन का, निश्चय बुद्धि का; गवं अहंकार

१. यदन्तेवासिपंचास्पैनिरस्तमेदिवारणाः।

तं प्रणीमि नृसिंहाख्यंयतीन्द्रं परमं गुरुम् ॥ —वेदान्त परिभाषा, द्वितीय श्लोक।

२. वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृ० ८, वर्माई सं० १६८६।

३. तत्रयथा तडागोदकं छिद्रानिर्गत्यकुल्यात्मना केदारान् प्रविष्य तद्वदेव चतुःकोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादि विषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्युते।

—वै० प०, प्रथम परिच्छेद।

४. वही, पृ० १२।

का तथा स्मरण चित्त का विषय है।

ब्रह्म साक्षात्कार के सम्बन्ध में वेदान्त परिभाषाकार वा मत है कि ब्रह्मज्ञानी का लोकान्तर में गमन नहीं होता, अपितु वह अपने प्रारम्भ कर्मों के क्षण पर्यन्त सुखदुःख वा भोग करके अन्त में विद्वेष कैवल्य को प्राप्त करता है।^१

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त धर्मराजाध्वरीन्द्र ने साथों, अनिदंदनोपस्थाप्ति, मिथ्यात्व आदि विषयों का मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

शक्राचार्य के परवर्ती काल के अद्वैत वेदान्त के उपर्युक्त प्रमुख आचार्यों एवं विद्वानों के अतिरिक्त अन्यान्य आचार्यों ने भी अद्वैत वेदान्त का विश्लेषण किया है। इन आचार्यों में, गगापुरो भट्टारकाचार्य, श्रीकृष्णमिथ्यार्थी, श्रीहर्षमिथ्य, श्रीरामाद्याचार्य, शक्रानन्द, आनन्द मिति, अवधानन्द, मन्लग्नाराध्य नृसिंहाश्रम नारायणाश्रम, उग्रराजाध्वरी, अप्यदीक्षित, भट्टोजिदीपित, सदाशिव ब्रह्मेन्द्र, नीतकाळमृति, सदानन्दयोगीन्द्र सरस्वती, आनन्दपूर्ण विद्यासागर, नृसिंह सरस्वती, रामतीर्थ, आपदेव, गोविन्दानन्द, रामानन्द सरस्वती, काश्मीर क सदानन्द यति, रागायथ, अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ, महादेव सरस्वती, सदाशिवेन्द्र सरस्वती एवं आयन दीक्षित के ताम विशेष स्वप्न से उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों की दार्शनिक देन के सम्बन्ध में यहां संक्षेप में विचार किया जाएगा।

गगापुरो भट्टारकाचार्य (दशम-एकादश शताब्दी)

गगापुरो भट्टारकाचार्य ने पदार्थतत्त्वनिर्णय नामक प्रन्थ की रचना की थी। भट्टारकाचार्य जी ब्रह्म एवं माया को जगत् का कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त यह ब्रह्म को विवरणकारण एवं माया को परिणामी कारण स्वीकार करते हैं।

श्रीकृष्णमिथ्यार्थी (११वीं शताब्दी)

विद्वान् आचार्य ने प्रवोध चन्द्रोदय नाटक लिखकर नाटकीय दौली के द्वारा अद्वैत मत का प्रचार किया था। इस दिशा में इनका प्रयत्न अद्वैतीय होने के कारण शलाघ्य है।

श्रीहर्षमिथ्य (१२वीं शताब्दी)

श्रीहर्षमिथ्य दार्शनिक और विद्वि दोनों ही थे। इन्होंने खण्डन खण्ड साद्य की रचना करके अपने समय के अनेक अद्वैत विगेधी मत यतान्तरों का निरावरण वरके अद्वैतवाद वा प्रतिपादन किया था। आज भी श्रीहर्ष का उक्त प्रन्थ अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में अपना पृथक् स्थान रखता है।

श्रीरामाद्याचार्य (१३वीं शताब्दी)

रामाद्याचार्य ने वेदान्त कीमुदी नामक प्रन्थ की रचना की है। इस प्रन्थ का प्रकाशन भ्रद्म वार ११५५ में मद्रास विद्वविद्यालय ने किया है। इस प्रन्थ में विभिन्न मतों की आलोचना करते हुए अद्वैत मत का प्रतिशादन किया गया है। इन्होंने मायी को ईश्वर रूप भी कहा है।

^१ वेदान्त परिभाषा, पृ० १३६।

शंकरानन्द (१४ वीं शताब्दी)

शंकरानन्द विद्यारथ्य के शिक्षा गुरु थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्र की टीका प्रह्लादीपिका एवं १०८ उपनिषदों की टीका लिखकर अद्वैत वेदान्त का विश्लेषण किया था। उन्होंने आत्म पुराण नामक एक और ग्रन्थ की रचना भी की थी, जिसमें श्रुतिरहस्य, योगसाधनरहस्य आदि का विवेचन वड़ी सरल एवं मर्मस्थिती भाषा में प्रस्तुत किया था।

आनन्दगिरि (१५ वीं शताब्दी)

आनन्दगिरि का ही दूसरा नाम आनन्द ज्ञान भी है। आनन्दगिरि ने शंकराचार्य के भाष्यग्रन्थों पर टीकायें लिखकर अद्वैत वेदान्त के अनेक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए शांकर मत का ही समर्थन किया है।^१ वेदान्त सूत्र भाष्य पर इनके द्वारा लिखी गई टीका—न्याय निर्णय अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने शंकर दिग्विजय नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी की है, जिसमें शंकराचार्य के जीवन एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन मिलता है।

अखण्डानन्द (१५ वीं शताब्दी)

अखण्डानन्द अखण्डानुभूति के शिष्य थे। इन्होंने पंचपादिका विवरण के ऊपर तत्त्व दीपन नामक एक प्रामाणिक टीका ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में अद्वैत सिद्धान्त का सूक्ष्मतात्मक विवेचन किया गया है। इन्होंने भाष्मती पर कृजु प्रकाशिका नामक टीका भी लिखी है।

मल्लनाराध्य (१६ वीं शताब्दी)

इन्होंने अद्वैत रत्न और अभेद रत्न नामक दो प्रकरण ग्रन्थों की रचना करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया था। इसके अतिरिक्त इन्होंने अद्वैत रत्न के ऊपर तत्त्वदीपन नामक टीका की रचना के द्वारा द्वैत मत का निराकरण करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

नृसिंहाश्रम (१६ वीं शताब्दी^२)

नृसिंहाश्रम उद्भट दार्शनिक एवं प्रौढ़ पण्डित थे। इन्होंने भाव प्रकाशिका (विवरण की टीका), तत्त्व विवेक, भेद धिवकार, अद्वैत दीपिका, वैदिक सिद्धान्त संग्रह एवं तत्त्ववेधिनी की रचना की थी। इन ग्रन्थों की रचना करके नृसिंहाश्रम ने निश्चय ही दर्शन शास्त्र के लिए एक विलक्षण देन प्रदान की है।

नारायणाश्रम (१६ वीं शताब्दी)

नारायणाश्रम नृसिंहाश्रम के शिष्य थे। अपने गुरु के भेद धिवकार एवं अद्वैत दीपिका

१. प्रशाननन्द, शेषदार्ज्जधर, वादीनन्द, रामानन्द सरस्वती, सदानन्द काशीरक, कृष्णानन्द—एवं महेश्वरतीर्थ आदि आचार्यों की उकितियों से भी आनन्द गिरि का शांकर वेदान्त का अनुयायी होना सिद्ध होता है।
२. नृसिंहाश्रम का यह समग्र (वेदान्तां कक्षयाण) के आधार पर किया गया है।

नामक ग्रन्थों के ऊपर नारायणाश्रम ने टीका ग्रन्थ लिखे हैं। भेद धिक्कार पर इनका टीका ग्रन्थ—भेद धिक्कार सत्किया अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन ग्रन्थ पर भेद धिक्कार सत्कियोऽग्नवा नामक एक और टीका भी मिलती है। इन्होंने आठने ग्रन्थों में द्वृत का निराकरण करके अद्वैत वा प्रामाणिक विवेचन किया है।

रगराजाध्वरी (१६ वीं शताब्दी)

रगराजाध्वरी वेदान्त के प्रमिद विद्वान् अप्यदीक्षित के पिता थे। इनकी महत्वपूर्ण कृतिया अद्वैत विद्या मुकुर एवं विवरण दर्पण हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने न्याय वैशेषिक एवं साक्ष आदि मतों का स्पष्टन करके अद्वैत मत की स्थापना की है।

अप्यदीक्षित (१५५० ई० १६२२ ई०)

अप्यदीक्षित ने व्याकरण, शास्त्र भीमासा, अद्वैतवेदान्त मध्ववेदान्त, रामानुजवेदान्त, श्रीकण्ठमत एवं शैव मत आदि पर १०४ ग्रन्थों वीर रचना की है, वेदान्त के ग्रन्थों में परिमल, न्याय रक्षामणि, सिद्धान्त लेश, मनमाराप्सग्रह एवं न्याय मञ्चरी इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। इनका सिद्धान्त सेश तो अद्वैत वेदान्त के आचार्यों के मत मतान्तरों के अध्ययन वीर दृष्टि से अनुपम ग्रन्थ है।

भट्टोजिदीक्षित (१६ वीं शताब्दी)

भट्टोजिदीक्षित एक सुप्रसिद्ध वैयाकरण थे, परन्तु इन्होंने तत्त्वबोस्तुभ एवं वेदान्त तत्त्व विवेक वीर रचना के द्वारा द्वैत मत का निराकरण करके अद्वैत मत का समर्थन किया गा। इस प्रकार भट्टोजिदीक्षित एक प्रशस्त वैयाकरण वीर ही तरह प्रशस्त वेदान्ती भी थे।

सदाचिद ब्रह्मेन्द्र (१६ वीं शताब्दी)

सदाचिद ब्रह्मेन्द्र की इतिया अद्वैत विद्या विसास, वौधार्यात्मनिवेद, गुरुरत्तमालिङ्ग और ब्रह्म कीर्तन तरिगणी आदि हैं। इन ग्रन्थों का प्रतिगाय विषय भी अद्वैत वेदान्त ही है।

नीलकण्ठसूरि (१६ वीं शताब्दी)

नीलकण्ठसूरि ने महाभारत पर मारतभावदीप नामक टीका ग्रन्थ की रचना की है। गोता वीर व्यास्या करते हुए इन्होंने, यद्यपि कहीं-नहीं शास्त्र विद्वान्त का विरोध भी किया है, परन्तु इनका प्रमुख विद्वान्त शास्त्र अद्वैत ही है।

सदानन्दयोगीन्द्र सरस्वती (१६वीं शताब्दी)

सदानन्द जी ने अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रनिद ग्रन्थ वेदान्त सार वीर रचना की है। इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने अज्ञान, अध्यारोग, भोक्ता एवं पचोकरण आदि के सम्बन्ध में व्यालोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में शास्त्र अद्वैत वा ही मध्ये भी प्रामाणिक विवेचन प्रमुख किया गया है। वेदान्तमार के अनिरिक्त इनकी रचना शक्त-दिव्यद्रव्य वा भी उल्लेख मिलता है।

आनन्दपूर्ण विद्यासागर (१६वीं शताब्दी)

आनन्दपूर्ण विद्यासागर ने श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखार्य पर न्यायचन्द्रिका नामक टीका की रचना की थी। इस टीका के अन्तर्गत लेखक ने अद्वैत वेदान्त के गृह सिद्धान्तों का निरूपण किया है।

नृसिंह सरस्वती (१६वीं शताब्दी का अन्तिम भाग)

‘नृसिंह रारस्वती’ वेदान्तसार की प्रसिद्ध टीका सुवोधिनी के प्रणेता हैं। इस टीका में लेखक ने अद्वैत मत का ही समर्थन किया है।

रामतीर्थ (१७वीं शताब्दी का पूर्व भाग)

रामतीर्थ ने संक्षेप शारीरक पर अन्वयार्थ प्रकाशिका, शंकराचार्य की उपदेश साहस्री पर पदयोजनिका और वेदान्तसार पर विद्वन्मनोरंजनी नामक टीका ग्रन्थों में रामतीर्थ ने विशेषतया अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है।

आपदेव (१७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध)

आपदेव वैसे तो एक प्रसिद्ध मीमांसक थे, परन्तु इन्होंने वेदान्तसार पर बालवोधिनी नाम टीका की रचना करके अद्वैत मत का भी समर्थन किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मीमांसा के प्रौढ़ पण्डित होते हुए भी अद्वैत मत के समर्थक थे।

गोविन्दानन्द (१७वीं शताब्दी)

गोविन्दानन्द रचित, ब्रह्मसूत्र भाष्य की टीका—रत्नप्रभा शांकर भाष्य की सरलतम टीका है। इस टीका के अन्तर्गत गोविन्दानन्द ने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का बड़ा सरल एवं व्यवस्थित निरूपण किया है।

रामानन्द सरस्वती (१७वीं शताब्दी)

रामानन्द सरस्वती गोविन्दानन्द के शिष्य थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शांकर भाष्य सम्मत ब्रह्मामृतवर्षिणी नामक टीका की रचना की है। इस टीका की सरलता एवं स्पष्टता अनुकरणीय है। इसके अतिरिक्त इनका दूसरा ग्रन्थ विवरणोपन्यास है। यह ग्रन्थ पंचपादिका की विवरण टीका का व्याख्या रूप है। रामानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैत मत का ही समर्थन किया है।

काश्मीरक सदानन्द यति (१७वीं शताब्दी)

अद्वैत वेदान्त के इस प्रतिपिठित विद्वान् ने अद्वैतब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ की रचना की है। अद्वैतब्रह्मसिद्धि अद्वैत मत का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में एक जीववाद का समर्थन किया गया है।

रगनाथ (१७वीं शताब्दी)

रगनाथ ने ब्रह्मसूत्र की आकर भाष्यानुभागिणी दृति निकी है। इसके अतिरिक्त इस सूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के अन्तर्गत तेऽस्मै मूढ़ के पश्चात् 'प्रवरणत्वात्' नामक एक नवीन मूढ़ की कल्पना भी है। भास्मनीकार ने इसे भाष्य के अन्तर्गत भाना है, जिन्होंने वैयाकिक न्याय मात्राकार भारनीर्णय ने इसे पृथक् गूढ़ भाना है। रगनाथ जो ने शास्त्र अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है।

अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ (१७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ ने आप दीक्षित के सिद्धान्त सेवा पर दीक्षा निकी है। सिद्धान्त लेख की यह टीका कृष्णानन्द अन्यन्त सरल एवं सुदोष है। कृष्णानन्दकार के अतिरिक्त इन्होंने तीतिरीणोपनिषद् शास्त्रभाष्य के ऊपर वस्त्रात्मा नामक दीक्षा लिखी है। इन दीक्षाओं के अन्तर्गत इन्होंने विवेचन का विषय प्राप्तनाया अद्वैत वेदान्त ही है। अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ निर्गुण के प्रतिपादक होने के साथ कृष्ण के भवतु भी थे।

महादेव सरस्वती (१८वीं शताब्दी)

महादेव सरस्वती ने तत्त्वानुपात्तान नामक एक प्रकारण प्रश्न की रचना की है। इस प्रश्न के ऊपर इन्होंने अद्वैत विचार कौन्तुम नाम की एक दीक्षा भी लिखी है। इन्होंने अद्वैत वेदान्त को महत् एव सुदोष बताने वा प्रयाम दिला है और इस प्रयाम में यह सुपत्न भी हुए हैं।

सदाशिवेन्द्र सरस्वती (१८वीं शताब्दी)

इनका दूसरा नाम सदाशिवेन्द्र शास्त्रिय था। इन्होंने अद्यूत पर ब्रह्मानन्द प्रकाशिता नामक दीक्षा लिखी है। यह टीका शास्त्र सिद्धान्तों के अनुसार ही लिखी गई है। इसके अतिरिक्त इन्होंने तीन प्रश्न और प्रकाशित हुए हैं। यह प्रश्न आत्म विचार विलाप, द्वितीयकल्प-बल्ली और अद्वैतरस मत्री हैं। इन्हें प्रश्न सरल एवं सुदोष जैनी में लिखे गये होने के बारण अन्यन्त मन्त्रवर्गों हैं। इन्होंने द्वादश उपनिषदों की टीका भी लिखी है।

आपन दीक्षित (१८वीं शताब्दी)

आपन दीक्षित रचित व्याम तात्पर्य निशंख नामक एक प्रश्न ही मिलता है। इस प्रश्न में इन्होंने मात्स्य, भीमाया, पातञ्जलि, न्याय वैशेषिक, भाष्यानुत एवं वैष्णव मतों का निराकरण करके अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

१९वीं-२०वीं शताब्दी के अद्वैतवादी दार्शनिक

प्राय अद्वैत वेदान्त के इनिशियास लेखोंने ऋष्टादश शताब्दी में ही अद्वैत विचार की भीनिकता का हाथ माना है। ऐसे विचार से प्रदूष विचार की भीनिकता का हाथ अप्रमद

१. वायुगोप शास्त्री, वेदान्त दर्शन—अद्वैतवाद, प्रथम वर्ष, पृ० ३८७, (बोका सम्प्रदाय)।

है। हाँ, यह अवश्य सम्भव है कि देश एवं काल की स्थिति के अनुसार अद्वैत विचारधारा भी नया प्रवाह ग्रहण कर ले। यही हुआ भी है। उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी के प्रस्थात रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोप एवं आचार्य विनोबाभावे आदि तत्त्व वित्तार्थों एवं दार्शनिकों ने परम्परागत अद्वैत दर्शन को ठीक उसी रूप में न ग्रहण करके उसे एक व्यावहारिक एवं नवीन रूप प्रदान किया है। इन दार्शनिकों की अद्वैतपरक दार्शनिक दृष्टि के सम्बन्ध में जभी आगे विचार किया जायेगा। वैसे, बीसवीं शताब्दी के पंचानन तर्करत्न एवं अनन्त कृष्ण शास्त्री आदि विद्वानों ने अद्वैत परम्परा के शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना भी की है।

२०वीं शताब्दी के शास्त्रीय अद्वैत दर्शन के लेखक

अभी हमने बीसवीं शताब्दी के शास्त्रीय अद्वैत दर्शन के लेखकों में, महामहोपाध्याय पंचानन तर्करत्न एवं अनन्तकृष्ण शास्त्री का नामोलेख किया है। इनमें से पंचानन तर्करत्न शांकर अद्वैतवाद के पूर्णतया समर्थक न होकर शब्द द्वैतवाद के समर्थक हैं। शब्दत्यद्वैतवाद का प्रतिपादन तर्करत्न जी ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत किया है। शक्तिसिद्धान्तपरक ब्रह्मसूत्र भाष्य की रचना करके तर्करत्न जी ने अपनी विलक्षण मौलिकता का परिचय दिया है। तर्करत्न जी के अनुसार शक्ति ही अद्वैत तत्त्व है एवं चित् तथा अचित् जगत् में शक्ति ही व्याप्त है। इस प्रकार शक्ति ब्रह्म का स्वरूप है। तर्करत्न जी द्वारा प्रतिपादित शब्दत्यद्वैतवाद का सिद्धान्त ही स्वरूपाद्वैतवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है।

जहाँ तक अनन्त कृष्ण शास्त्री की मीलिक अद्वैत दर्शन सम्बन्धी देन का प्रश्न है, शास्त्री जी पूर्णतया शांकर अद्वैत के ही समर्थक एवं व्याख्याता हैं। अनन्त कृष्ण शास्त्री जी ने अद्वैत वेदान्त के समर्थन एवं प्रतिपादन के लिए शतभूपणी की रचना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अद्वैत तत्त्व शुद्धि और अद्वैत तत्त्वसुधा की रचना करके अद्वैत वेदान्त का जो विश्लेषण किया है, वह वेजोड़ है। इसके अतिरिक्त श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती (ज्योतिमठ) श्री भारती कृष्ण तीर्थ (गोवर्धनमठ) श्री अभिनवसच्चिदानन्द तीर्थ (शारदामठ) एवं श्री कृष्णबोधाश्रम जी (ज्योतिमठ) आदि शांकराचार्यों एवं श्री कारणात्री जी आदि दण्डी स्वामियों द्वारा भी परम्परागत शास्त्रीय अद्वैत वेदान्तका प्रतिपादन एवं प्रचार-प्रसार किया गया है और किया जा रहा है।

१९वीं २०वीं शताब्दी के नवीन परम्परा के कतिपय अद्वैती दार्शनिक एवं तत्त्ववेत्ता :

१६वीं एवं २०वीं शताब्दी बीद्वित तर्कनार्थों एवं जीवन दर्शन का युग है। इसीलिए इस काल में सामान्यतया उत्तरोत्तर अध्यात्म दर्शन को महत्व न देकर जीवन दर्शन का ही अधिक महत्व स्वीकार किया गया है। अतः इस युग में ऐसे दार्शनिकों की अपेक्षा होना स्वाभाविक ही है जो अध्यात्म दर्शन एवं जीवन दर्शन का समन्वयात्मक निरूपण कर सकें। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में यही कार्य स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द घोप एवं आचार्य विनोबा भावे द्वारा सम्पन्न हुआ है और हो रहा है। यद्यपि इन दार्शनिकों की विचारदृष्टियों के पृष्ठाधाररूप अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी जीवन दर्शन एवं व्यावहारिक दर्शन के तत्त्व निश्चित रूप से मिलते हैं, परन्तु उपर्युक्त दार्शनिकों ने अद्वैत वेदान्त के आत्म दर्शन एवं जीवन दर्शन का समन्वय तथा विकास नवीन प्रकार एवं नवीन तर्कों के आधार पर किया है। अतः इन दार्शनिकों के अद्वैतवादी होने पर भी इनके अद्वैतवाद का स्वरूप शांकर अद्वैतवाद से कुछ

भिन्न हो गया है। यहा इन दार्शनिकों के सिद्धान्तों का सक्षिप्त निष्पाण प्रस्तुत किया जाएगा।

स्वामी रामकृष्ण परमहम (१९वीं शताब्दी) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

स्वामी रामकृष्ण परमहम सर्वधर्मसमन्वय कर्ता थे। इसीलिए उनके हृदय में ज्ञानी, भक्त, निर्गुणोपासन, सर्गुणोपासन ग्राहीत ब्रह्मवेत्ताओं एवं दाज के नवीन ज्ञाताओं के लिए समान आदर भाव था।^१ काती के भवत होते हुए भी स्वामी जी अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन करते थे। उनका विचार था कि मात्राली की कृपा से जीव वसीम आत्मा एवं ब्रह्मस्पति को प्राप्त होना है।^२ अद्वैतवाद का समर्यन बरते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहम भाषा को ईश्वर वी शक्ति दे रूप में स्वीकार करते थे। जिस प्रकार वि शाकर वेदान्त के अनुमार ईश्वर भाषा से असृष्ट एवं अप्रभावित रहता है उसी प्रकार स्वामी जी वे मतानुसार भी ईश्वर कभी माया बढ़ नहीं होता। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि जैसे सप जिमको काटता है वह मर जाता है, साप के मुँह में सर्वथा विष रहता है, साप उसी मुँह से सदा खाता तथा निगलता रहता है किन्तु वह स्वयं परता नहीं है, इसी प्रकार माया भी दूसरों के लिए है न कि ईश्वर के लिए।^३

रामकृष्ण परमहम के अनुमार अद्वैत भाव में सुप्रतिष्ठित होना ही समस्त साधनों का अप्यलक्ष्य है। यही भुक्ति का स्वरूप है। इसके अनिवित लोक सेवा के तत्व वी भी स्वामी जी अद्वैत भाव का ही रूप मानते थे।

स्वामी विवेकानन्द (१९-२०वीं शताब्दी) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

स्वामी विवेकानन्द थी रामकृष्ण परमहम के ही शिष्य थे। इन्हने स्वामी रामकृष्ण के ही विचारों का विशेष रूप से प्रचार प्रमार किया था। विवेकानन्द ने वेदान्त दर्शन को एक लोकोपयोगी एवं व्यावहारिक दर्शन का स्वरूप दिया था। व्यावहारिक वेदान्त दर्शन के अतर्गत विवेकानन्द का विचार था कि शान्त एवं निश्चल विन्दन की अपेक्षा मानव सेवा प्रशस्त है।^४ यहां तक विवेकानन्द के अद्वैतवाद दर्शन की समस्या है, वे स्वयं यह जानते थे कि वे कोई नई

^१ Greeting to the feet of the Jnanin ! Greeting to the feet of the Bhakta ! Greeting to the devout who believe in the formless God ! Greeting to those who believe in God with form ! Greeting to the men of old who knew Brahman ! Greeting to the modern knowers of truth (Ramkrishna, October 28, Romain Rolland The Life of Ramkrishna, p 1 से उद्धृत) :

^२ By her grace the finite ego loses itself in the illimitable Ego—Atman — Brahman, (Romain Rolland The Life of Ramkrishna, p 32)

^३ स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण लोका प्रगाम, द्वितीय खण्ड, पृ० ३८०, ३८१।
(श्रीरामकृष्ण बाश्रम पत्रोली, नामपुर)

^४ D M Dutta Contemporary Philosophy, p 526

(The University of Calcutta 1950)

वात नहीं कह रहे हैं।^१ इसके अतिरिक्त वे स्वयं को शंकर (शंकराचार्य) भी कहते थे।^२ इससे यह निश्चय करना अत्यंत सरल है कि वे शंकर दर्शन के कितने समीप थे।

शंकर अद्वैतवादी की ही तरह विवेकानन्द भी एक अद्वैत तत्त्व की सत्यता में विश्वास करते थे। इसीलिए विवेकानन्द के अद्वैतवाद दर्शन के अनुहृष्ट मनुष्य एवं पशु में भेद नहीं है। इसी आधार पर वे मनुष्यों द्वारा पशुओं के भोजन का भी निराकरण करते थे।^३ शंकरवेदान्त के ही समान विवेकानन्द द्वारा स्वीकृत अद्वैत तत्त्व भी ब्रह्म ही है। विवेकानन्द के विचारानुसार एक ब्रह्म ही अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है।^४ जगत् की अनेकरूपता के विषय में विवेकानन्द का विचार है कि नाम एवं रूप की सहायता से अज्ञान द्वारा सृष्ट जगत् में ही पत्ती, बालक, शरीर एवं मन के भेद दिखाई पड़ते हैं। जब नामरूपात्मक उक्त अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तो अनन्त एवं असीम ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार होता है।^५ जगत् की भ्रान्ति एवं परम सत्य के बोध के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने प्रसिद्ध रज्जु एवं सर्प का दृष्टान्त भी दिया है।^६ इस प्रकार स्वामी जी जगत् को अव्यारोप भी मानते हैं।^७ माया को स्वामी विवेकानन्द सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय स्वीकार करते हैं। परन्तु माया को विवेकानन्द जगत् की व्याख्या के लिए उपयुक्त नहीं मानते।^८ स्वामी विवेकानन्द के

१. And Vivekanand, though more intellectual and therefore more conscious of his doctrine, knew and maintained that there was nothing new in it. *Romain Rolland: The Life of Vivekanand and The Universal Gospel*, p. 189. (Advaita Ashram Mayavati, Almora)

२. *The Life of Vivekanand and The Universal Gospel*, p. 189.

३. That the one central ideal of Vedanta is oneness. There are no two in any thing, no two lives, nor even two different kinds of life for the two worlds... The Vedanta entirely denies such ideas as that animals are separate from man, and that they were made and created by God to be used for our food. (*The Complete Works of Swami Vivekanand*, Vol. II, p. 295)-Advaita Ashram, Calcutta.

४. Brahman is one, but is at the same time appearing to us as may, on the relative plane. (*Vivekanand's conversation with a disciple at Belur Math, 1898*)—*The Complete works of Swami Vivekanand Vol. VII—Advita Ashram, Almora, 1947*.

५. As soon as this nescience is removed, the realisation of Brahman which eternally exists is the result. —वही, पृ० २६१।

६. *Complete works of Swami Vivekanand*, Vol. VII, p. 32.

७. वही, भाग-५, पृ० १६४।

८. "It is not" said Vivekanand, a theory for the explanation of the world. *Romain Rolland: The life of Vivekanand & the Universal Gospel*. p. 197.

मनुमार माया कोई सिद्धान्त विशेष न होकर जगत् की स्थिति मात्र की बोधक है। इसके अतिरिक्त विवेकानन्द माया का मिथ्या अर्थ भी नहीं गहण करते।^१ जगत् को स्वामी विवेकानन्द परमार्थ सत्य के रूप में नहीं स्वीकार करते। परन्तु वे जगत् को पूर्णतया असत् भी नहीं कहते। इस प्रकार जाकर अद्वैतवाद एवं विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद प्रायः समान ही है। परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त के व्यावहारिक पथ पर विशेष बल दिया है। अद्वैत वेदान्त को व्यावहारिक दर्शन का रूप देकर स्वामी विवेकानन्द ने मानवसेवा एवं विश्व वन्धुत्व के माव को उन्नत किया है। दर्शन की व्यावहारिकता पर प्रकाश ढालते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—

If it is absolutely impracticable, no theory is of any value whatever, except as intellectual gymnastics.^२

अर्थात् व्यावहारिकता के अभाव में किसी सिद्धान्त का कुछ महत्व नहीं है। विवेकानन्द का कठन है कि व्यावहारिकता के आभाव में तो कोई भी सिद्धान्त के बल बोल्डिक व्यायाम मात्र ही है।^३

स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक दर्शन का यह प्रबल पथ या कि वे साध्य की ही तरह साधन को भी विशेष महत्व देते थे। उनका विचार या कि साधन का महत्व रामफन पर ही साध्य की प्राप्ति होती है।^४

अरविन्द (१९वीं २०वीं शताब्दी) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

भारतवर्ष के अधुनिक वाल के दार्शनिकों में अरविन्द घोष एक योगी एवं दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध हैं। हम यहा उनकी चर्चा एक अद्वैताश्री के रूप में दर रखें हैं। अद्वैतवादी तो वे थे, परन्तु उनका अद्वैतवाद ब्रह्माद्वैतवाद से भिन्न है। अरविन्द के दार्शनिक सिद्धान्त को शिवाद्वैतवाद का रूप देना समुचित होगा। अरवि द वे शिवाद्वैत दर्शन के अनुरूप शिव तत्व इह रूप है और उसकी चित् शक्ति अपृथक् भूता है। जगत् शिव की चित् शक्ति का ही परिणाम है। इसीलिए अरविन्द दर्शन में भी जगत् भी शिव रूप है। यहा यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अरविन्द दर्शन के अनुमार जगत् अद्वैत वेदान्त की तरह मिथ्या न होकर सत्य है। अरविन्द घोष ने जगत् के मिथ्यात्व का निराकरण करते हुए साध्य रूप से कहा है—

I do not agree with the view that the world is an illusion mithya.^५

१ Complete works of Swami Vivekanand, Vol II, p 105

२ वही, पृ० २८६।

३ विशेष देखिए, स्वामी विवेकानन्द का Los Angeles, California, January 4, 1900 का भाषण।

४ देखिए, स्वामी विवेकानन्द का Los Angles, California, January 4, 1900 का भाषण।

५ Letters of Sri Aurobindo (Second series), p 3, Sri Aurobindo Circle, Bombay

अरविन्द घोष जगत् को चित् शक्ति का कार्य मानने के कारण, चेतन रूप भी मानते थे।^१ यही सिद्धान्त अरविन्द घोष का जड-चेतनवाद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन वस्तुओं को हम जड़ कहते हैं वे भी स्वरूपतः चेतन ही हैं। इस प्रकार जगत् के भौतिक पदार्थों को भी अरविन्द चेतनता का ही गुण मानते थे।^२ अरविन्द दर्शन के अन्तर्गत जगत् की इस चित्-रूपता का दर्शन जीव को अज्ञान के कारण नहीं होता। अरविन्द घोष का विचार है कि अज्ञान ही जगत् के ब्रह्म रूप से दर्शन करने में वाधक है।^३ वस्तुतः ब्रह्म की सत्ता सर्वंत्र वर्तमान है। अतः जगत् के मिथ्यात्व का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अरविन्द घोष, शांकर अद्वैतवादियों के समान जगत् को मायिक एवं मिथ्या नहीं स्वीकार करते थे। जगत् को वे मिथ्या माया न कहकर, अज्ञानस्वरूपिणी माया को जगत् के वास्तविक स्वरूप ज्ञान में वाधक मानते थे।^४ जगत् की समस्या को सुलझाने के लिए अरविन्द घोष 'माया' शब्द के स्थान पर 'लीला' शब्द को अधिक उपयोगी मानते थे। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सृष्टि परमात्मा की लीलामात्र है। परमात्मा की लीलारूप सृष्टि को कदापि मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

ऊपर किये गये विवेचन के आधार पर अरविन्द दर्शन पर शाक्त दर्शन का साक्षात् प्रभाव कहना अनुचित न होगा। अरविन्द दर्शन के समान ही शक्त्यद्वैतवाद मत में भी जगत् चित् शक्ति का परिणाम होने के कारण, चित् रूप एवं सत्य है। इसके अतिरिक्त शक्ति एवं शक्ति-मान् का अविनाभाव भी शाक्त दर्शन एवं अरविन्द दर्शन में समान ही है। इस प्रकार शक्ति साधना के दार्शनिक पक्ष एवं अरविन्द घोष के दार्शनिक सिद्धान्त में पर्याप्त समानता है। अरविन्द घोष के ही निम्नलिखित कथन से, उन पर पड़े शाक्त दर्शन के प्रभाव का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है —

I am a Tantrik. I regard the world as born of Ananda (bliss) and living by Ananda, wheeling from Ananda to Ananda. Ananda and Shakti, these are the two real terms of existence.^५

अरविन्द घोष के उपर्युक्त कथन से उनका तान्त्रिक होना तो स्पष्ट ही है। इसके साथ-साथ उपर्युक्त कथन से यह भी सिद्ध होता है कि जगत् पूर्णतया आनन्द रूप है। जगत्, आनन्द से ही उत्पन्न, आनन्द से ही जीवित एवं आनन्द के ही क्षेत्र में घूमता रहता है। इस प्रकार अरविन्द घोष के मतानुसार जगत् की सत्ता आनन्द एवं शक्ति रूप है।

आचार्य विनोदा भावे (१८९५ ई०—) और उनका दर्शन

विनोदाजी का दार्शनिक सिद्धान्त सर्वोदय दर्शन है। सर्वोदय शब्द के ही अन्तर्गत विनोदाजी की अद्वैतनिष्ठा का परिचय मिल जाता है। विनोदाजी पर औपनिषद वेदान्त का भी पूर्ण प्रभाव है। विनोदाजी पर पड़े, गीता एवं उपनिषदों के प्रभाव का परिज्ञान, उनके

१. P. T. Raju : Idealistic Thought of India, p. 301. London, Allen & Unwin, 1952.

२. The Yoga & its object, p. 57.

३. Letters of Sri Aurobindo (Second series), p. 3.

४. The Yoga & its Object, p. 57.

५. Yogic Sadhan, p. 83.

तिमोदृत वयन से पूर्णतया ही जाता है।

'मेरे जीवन में गीता ने माँ का स्पान लिया है। वह स्पान तो उसी का है। लेकिन मैं जानता हूँ कि उपनिषद् मेरी माँ ही माँ है।'^१

उपर्युक्त कथन के अनुरूप विनोदाजी पर वेदान्त विद्या के आधारग्रन्थ—गीता एवं उपनिषदों का प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु इसके साथ-साथ यह कह देना और न्याय संगत होगा कि उपनिषदों के ब्रह्म एवं मुक्ति आदि मिदान्तों का प्रतिपादन विनोदाजी ने अपने स्वतन्त्र एवं नवीन दृष्टिकोण के आधार पर किया है।

कहना न होगा, कि विनोदाजी ने अद्वैत दर्शन को पूर्ण रूप से व्यावहारिक दर्शन का रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। शाकर अद्वैतवादी की तरह विनोदाजी भी ब्रह्म को सर्वोच्च वृत्त मानते हैं। विनोदाजी ने ब्रह्म शब्द का अर्थ—विजान एवं व्यापक किया है।^२

अद्वैत वेदान्त की इहरूत्पत्ता को स्पष्ट करते हुए विनोदाजी का वक्तन है कि सकुचित गीतन को स्वीकृत ब्रह्म एवं ब्रह्म हीना ही मनुष्य का ध्येय है। इस प्रकार विनोदाजी के अनुसार व्यापकतम स्थिति प्राप्त होने का नाम ही ब्रह्म निवांग है।^३ गीतादर्शन के आधार पर विनोदाजी का मत है कि वस्तुत जीव ब्रह्म है, परन्तु देह वे पदे के कारण वह अपने ब्रह्म स्वरूप का अनुभव नहीं करता। विनोदाजी के मतानुसार देह साधन तो है, परन्तु साध्य नहीं।^४ विनोदाजी जीवस्मुकिति के वक्तापानी हैं। उन्होंने जीवस्मुकिति के विचार को स्पष्ट करते हुए कहा है 'मेरा ही ध्यान है कि मनुष्य इसी जीवन में ब्रह्माशान या आत्म साक्षात्कार कर सकता है।'^५ परन्तु एक दूसरे स्थल पर विनोदाजी ने यह भी कहा है कि इस जीवन में जीवस्मुकिति की अवस्था प्राप्त करना सम्भव तो है, विन्तु सारीर रहते हुए उभयों पूर्णता होना कठिन है। विनोदाजी का विचार है कि आहुरी स्थिति प्राप्त होने ही सरीर छूट जाना चाहिए।^६

इत्य लोक से विनोदाजी का आशय साम्यावस्था में है। समत्व की स्थिति प्राप्त होना ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। इस साम्य दर्शन को विनोदाजी ने अपने साम्यमूल के अन्तर्गत विशद रूप से स्पष्ट किया है।^७ साम्ययोग सिद्धान्त के अन्तर्गत विनोदाजी का विचार है कि सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा स्थित है। बन मनुष्य—मनुष्य में भेद नहीं है। यहीं तक नहीं, विनोदाजी का वक्तन है कि मनुष्य और दूसरे पशुओं में भी आत्मिक दृष्टि से भेद नहीं है।^८

१० विनोदा : उपनिषदों का अध्ययन, प्रस्तावना (पस्ता साहित्य मण्डल, तई दिल्ली, १९६१)।

२- विनोदा स्थितप्रत्यक्ष दर्शन, पृष्ठ १६५, (पस्ता साहित्य मण्डल, १९५६)।

३ वहो, पृष्ठ १६५।

४ विनोदा, गीता प्रवचन, पृष्ठ १७३, (हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनूदित, सर्व सेवा संघ, राजधानी, वाराणसी)।

५ विनोदा सवाद : घोहार राजेन्द्र मिह, पृष्ठ १५,

(अधिन भारत सर्व-सेवा संघ, राजधानी, १९५७)।

६ घोहार राजेन्द्र मिह विनोदा-सवाद, पृष्ठ ३२।

७ साम्य मूल (विनोदा लिखित)।

८ Samya Yoga holds that therein dwells in every man the same Spirit. It, therefore makes no distinction between man and man. It even goes further & recognizes no ultimate difference in spirit of man.

विनोबाजी का उक्त विचार ही उनका अद्वैतवादी विचार कहा जा सकता है। साम्ययोग के अन्तर्गत विनोबाजी ने आधिक, राजनीतिक एवं सामाजिक सभी क्षेत्रों में साम्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। इसी साम्ययोग के आधार पर विनोबाजी ने समस्त संसार को अद्वैत रूप बनाने का संकल्प किया है।^१

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर विनोबाजी की अद्वैतवादिता पूर्ण रूप से परिलक्षित हो जाती है। विनोबाजी का सर्वोदय दर्शन भी उनकी अद्वैतनिष्ठा का ही परिणाम है। सर्वोदय दर्शन का मूलाधार 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु' का भाव है। दादा धर्माधिकारी ने सर्वोदय के आशय को प्रकट करते हुए कहा है —

'एक साथ समान रूप से सबका उदय हो, यही सर्वोदय का उद्देश्य है'^२

स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्दघोष एवं आचार्य विनोबा भावे के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ टैगोर (१८६१-१९४१) एवं महात्मा गांधी (१८६६-१९४८) आदि विचारकों पर भी औपनिषद वेदान्त एवं अद्वैतवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव तो मिलता ही है, साथ ही इन विचारकों के सिद्धान्तों में अद्वैत विचारधारा की व्यवस्था भी मिलती है। आज भी महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आदि विद्वान् अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में जो कार्य कर रहे हैं, वह स्तुत्य है।

आधुनिक युग समालोचना का युग है। इसीलिए इस युग में अद्वैत वेदान्त से सम्बंधित मौलिक ग्रन्थों के स्थान पर समालोचनात्मक ग्रन्थ ही अधिक लिखे जा रहे हैं। हिन्दी, संस्कृत, बंगला, भराठी, गुजराती आदि विभिन्न भाषाओं में आज अद्वैत वेदान्त से सम्बंधित समालोचना का सर्जन हो रहा है। अद्वैत वेदान्त के मौलिक प्रतिपादन की दृष्टि से बंगला भाषा में उपलब्ध अद्वैत वेदान्त के साहित्य की देन अत्यन्त श्लाघ्य है।

जहां तक, पाश्चात्य विद्वानों द्वारा की गई अद्वैत वेदान्त की समालोचना की बात है, १९८३^३ शताब्दी के कोलवुक, विल्सन, चार्ल्स विल्किन्स, रोअर, कावेल, बोथ लिक, मैक्स-मूलर, डायरेन, वेवर, थीवो, जैकब, गफ, वेनिस एवं विलियम जोन्स द्वारा अद्वैत वेदान्त की महत्वपूर्ण समालोचनायें प्रस्तुत की गई हैं।

यदि हम निष्पक्ष भाव से कहें तो यह कथन उचित ही होगा कि अद्वैत वेदान्त पर उपलब्ध भारतीय आलोचनात्मक देन की अपेक्षा उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानों की देन किसी प्रकार कम नहीं है। हमें, यह स्वीकार करने में भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि अद्वैत वेदान्त ही नहीं, बपितु समग्र संस्कृत साहित्य के भारतीय समालोचकों ने पाश्चात्य समालोचकों की समालोचना प्रणाली से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

and other animals." (Post-Prayer Speech of Vinobaji in Bihar)
—quoted from Vinoba and his mission, Suresh Ram Bhai, p. 208.

१. देखिए—विनोबा जी का लेख—हमारा मिशन कुल दुनिया को अद्वैत बनाना है। 'भूदान यज्ञ' (साप्ताहिक) १६ मार्च, १९६५।
२. दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय दर्शन, पृष्ठ २३।

(अखिल भारत सर्व सेवा संघ, राजधानी—१९५७ ई०)

तथा देखिए—Dr. V. N. Tandon : The Social & Political Philosophy of Sarvodaya after Gandhiji, Introduction.

३. पाश्चात्य विद्वानों का यह समय आशुतोष शास्त्री के वेदान्त दर्शन अद्वैतवाद नामक ग्रन्थ के आधार पर दिया गया है

चतुर्थ अध्याय

अद्वैतवाद का स्वरूप विवेचन (पूर्वांक)

ब्रह्म का सगुण एवं निर्गुण रूप

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का वर्णन विस्तार से मिलता है। मूल सत्य के निर्गुण एवं सगुण रूप का वर्णन तो सहिताओं से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। उपनिषदों में आकर तो निर्गुण एवं सगुण का विस्तृत उल्लेख मिलता है। उपनिषदभव-तीकाल के प्रविद्व अद्वैती आचार्य गौडपादाचार्य ने भी ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप की विचार दृष्टि अपनी कारिकाशों में स्पष्ट की है। अद्वैत वेदान्त के सम्भाद शकराचार्य ने तो अपने भाष्य ग्रन्थों में ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का प्रतिपादन विस्तार से किया है। यहा पहले ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का प्रतिपादन किया जाएगा। इसके पश्चात् निर्गुण एवं सगुण के ममन्वय पर विचार किया जाएगा।

इस द्वा निर्गुण रूप—ऋग्वेद की दृष्टवी कृत्त्वा के अन्तर्गत समस्त प्राणियों के चित्त में स्थित एवं उपाधि रहित निर्गुण परमात्म तत्त्व का वर्णन इस के रूप में किया गया है।^१ कठो-पनियद में परब्रह्म को शन्त, रूप, रस तथा गन्ध से रहित एवं अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, परात्म और ध्रुव ब्रह्म है।^२ गौडपादाचार्य ने ब्रह्म का वर्णन अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूप-रहित, स्फूर्ति, विभान्ति तथा सर्वज्ञ ब्रह्मवर किया है।^३ यहा शकराचार्य ने सर्वज्ञ का अर्थ सब दुष्ट जानने वाला न करके 'वह ब्रह्म पूर्णतया जान रूप है' ऐसा विद्या है—सब च तत्त्वस्वरूप चेति सर्वज्ञम्।^४ शकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म को अद्वैत वेदान्त वा सर्वोच्च सत्य माना है। शकराचार्य की दृष्टि में ब्रह्म की सत्यता का यही तात्पर्य है नि वह देशकालादि के बन्धन से मुक्त है।^५ शकराचार्य ने ब्रह्म को वादमनसारीत कहा है, परन्तु फिर भी वह अभाव रूप नहीं है।^६ सत् तत्त्व होने के कारण ही ब्रह्म बौद्धों के शून्य से भी मिलता है। साय ही निर्गुण ब्रह्म कारण रूप भी नहीं ब्रह्म जा सकता।^७ ब्रह्म की कारणता स्वीकार करने पर उसका देश कालादि से सम्बन्ध भी स्थापित करना पड़ेगा, जो अनुचित है। ब्रह्म त्रिगुणात्मिका प्रकृति अथवा माया

१. ऋग्वेद ४।४०।५।

२. कठ० च० १।३।१५।

३. गौ० का० ३।३६।

४. शा० मा०, गौ० का० ३।३६।

५. ग्र० सू०, शा० मा० ४।३।१४।

६. वटी, ३।२।२२।

७. वटी, ३।३।३६।

से अविशिष्ट होने के कारण ही निर्गुण है। शांकर वेदान्त के अनुसार यही निर्गुण ब्रह्म का मूल स्वरूप है।

ब्रह्म का सगुण रूप — क्रुग्रवेद के पुरुष सूक्त के अन्तर्गत सहस्र शिर वाले, अनन्त चक्षुधारी तथा अनन्त चरणों वाले जिस विराट् पुरुष का वर्णन मिलता है, वह परमात्मा के सगुण रूप का ही वर्णन है। इसी स्थल पर पुरुष का वर्णन लक्ष्य के रूप में भी मिलता है।^१ मुण्डकोपनिषद् के अन्तर्गत परब्रह्म परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्ववित् एवं ज्ञानमय तपवाला वत्सलाते हुए, जगत् के नाम, त्वं और अन्नादि का लक्ष्य कहा है।^२ यह ब्रह्म के सगुण रूप का ही संकेत है। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर ब्रह्म को लक्ष्य,^३ लोकरक्षक,^४ और नियन्ता^५ कहकर उसके सगुण रूप की ही वर्णना की गई है। आचार्य गौडपाद ने जहाँ पुरुष को समस्त लोक का जनक कहा है,^६ वहाँ उनका तात्पर्य स्पष्ट रूप से परमात्मा की सगुणता का ही है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप का स्पष्टीकरण सौविद्य दृष्टि से ब्रह्म के पर एवं अपर रूप के भेदनिरूपण द्वारा किया है। शंकराचार्य का विचार है कि जहाँ अविद्या प्रयुक्त नाम और रूप आदि विशेष के प्रतिपेद से अस्थूल आदि शब्दों से ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, वह परब्रह्म है। इसके अतिरिक्त उपासना के लिए ज्व नाम-हा आदि किसी विशेष से विशिष्ट ब्रह्म का वर्णन किया जाता है तो वही अपरब्रह्म कहलाता है।^७ उदाहरण के लिए, आनन्दोर्घोषनिषद् में ब्रह्म को मनो-मय, प्रौण शरीर वाला तथा प्रकाश रूप कहना ब्रह्म के सगुण रूप का वर्णन है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण दोनों ही रूपों का वर्णन मिलता है। निर्गुण एवं सगुण के समन्वय के बिना, इन दोनों सिद्धान्तों की पारस्परिक विरोधप्रतीति के कारण अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन असम्भव है। अतः यहाँ निर्गुण एवं सगुण का समन्वय करना अत्यन्त बपेक्षित है।

निर्गुण एवं सगुण का समन्वय

साधारण दृष्टि से विचार करने पर ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूप की विवेचना ब्रह्म की अद्वैत सत्यता में वाधक-सी प्रतीत होती है। ब्रह्म के समन्वय में इस प्रकार की शक्ति पश्चिमी विद्वान् डायसन को भी हुई थी।^८ इसीलिए शंकराचार्य ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म के विरोध के समाधान के लिए समन्वयमूलक दर्शन की स्थापना की थी। शंकराचार्य ने सगुण ब्रह्म की स्थापना का प्रयोजन उपासना को बतलाया है।^९ वस्तुतः ब्रह्म का ऊर्त्तत्व एवं स्वप्नत्व आदि

१. क्रुग्रवेद संहिता १०।६।०।१, ३, ५।

२. मुण्डकोपनिषद् १।१।६।

३. तै० उ० ३।१।

४. वृ० उ० ४।४।२२।

५. वही, ३।७।३।

६. गौ० का० १।६।

७. ब्र० सू०, शा० भा० ४।३।१४।

८. D.S.V., pp. 102-3.

९. शा० भा०, छा० उ० ८।१।१, ब्र० सू०, शा० भा० १।१।२०, २४, ३१, १।२।१।१, १४, ३।२।१।२, ३।३।

से सम्बन्ध सगुण रूप अविद्या पर आधारित है। इस सम्बन्ध में रत्नप्रभाकार ने स्पष्ट कहा है कि निर्गुण ब्रह्म विद्या का विषय है एवं सगुण ब्रह्म अविद्या का विषय है।^१ अविद्या के आधार पर ब्रह्म के जो स्पष्टा, नियन्ता आदि विशेषण देखे जाते हैं, वे कल्पित ही हैं, क्योंकि जब साधक को आत्म स्वरूप का बोध हो जाता है तो उसे जगत् के स्पष्टा एवं नियन्ता का बोध पृथक् रूप से नहीं होता। तत्क्षणान होने पर समस्त द्वैत की निवृत्ति हो जाती है। अत जब ज्ञानी की द्वैत बुद्धि की निवृत्ति हो जाती है तो सासार की सृष्टि आदि के कर्ता सगुण परमात्मा वे स्वरूप विवेचन का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार सगुण ब्रह्म का स्वरूप पारमार्थिक न होकर अविद्याकालिक ही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सगुण ब्रह्म पारमार्थिक न होते हुए भी शक्ताचार्य के मतानुसार उपासना दृष्टि से उपादेय है। सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वरोपासना के द्वारा जीव का अन्त करण शुद्ध होता है और तब यह परब्रह्म का साक्षात्कार करता है।^२ शक्ताचार्य ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि उपासनाओं का एक भाग फल उपास्य परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही है। आचार्य का कथन है कि एक ही उपासना से उपास्य का साक्षात्कार होने पर अन्य उपासनाएँ निरर्थक ही कही जाएगी।^३ जहा तक क्तुत्व, स्पष्टत्व आदि विशेषताओं से सम्बन्धित गुण ब्रह्म की उपासना से निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की बात है, एकहाँ,^४ प्लोटिनस^५ और ब्रेडले^६ आदि पश्चिमी दार्शनिक विद्वानों ने भी सगुण परमात्मा के ज्ञान से ही निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार की उपलब्धि भानी है।

इस प्रकार शाकर वेदान्त के अनुसार निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म में मूलतया भेद न होते हुए भी उपासना की दृष्टि से सगुण ब्रह्म का पृथक् उल्लेख किया गया है। उपासना के अतिरिक्त सगुण ब्रह्म की स्थापना का उद्देश्य ब्रह्मसम्बन्धी विचारों को इसरो तक पहुँचाना भी ही सकता है।

जगत् का मिथ्यात्व और उसकी व्यावहारिकता

जिस जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, उसका मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त की एक अद्भुत प्रहेलिका है। अद्वैत वेदान्त द्वारा किए गए जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन का यह वैशिष्ट्य है कि वह कालानुसार जगत् के लोकिक व्यवहारों एवं परमार्थमत्तागत ब्रह्मानुभूति, इन दोनों का ही समर्थन करता है। पश्चिमी विद्वान् वक्ते भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता के पूर्णतया समर्थक हैं।^७ अत यदि देखा जाए तो अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जगत् का सत्यत्व एवं मिथ्यात्व काल की दृष्टि से ही विवाद्य है। जगत् की सत्ता इतनी असत् कही जाती है कि

- विद्याविषयो ज्ञेयम् निर्गुण सत्यम्, अविद्याविषय उपास्यम् सगुणकल्पितम्।

—रत्नप्रभा, छ० स० १।।१२।

२ D S V. p 103

३ छ० स०, शा० भा० ३।३।५६।

४. Hunt's essay on Pantheism, p 179

५. Enneads Mckenna's English Translation, Vol II, p 135

६. Appearance & Reality, p 159

७. Principles of Human Knowledge, p 34

वह त्रिकाल में नहीं रहती। वस्तुतः ब्रह्मात्मा का ज्ञान होने के पहले ही जगत् के व्यवहारों की सत्यता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि जाग्रन् अवस्था से पूर्व स्वप्न दशा के समस्त व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं।^३ परमार्थविस्था में तो जगत् के सारे व्यवहार लुप्त हो जाते हैं।^४ इसके अतिरिक्त सृष्टि के पूर्व काल में भी एक भूल सत्य—ब्रह्म की ही सत्ता थी। इस प्रकार यह निश्चित है कि जगत् की सत्ता त्रैकालिक नहीं है। इस दृष्टिकोण के अनुसार जगत् को असत् कहा जाता है। अब हम इस विषय के दूसरे पक्ष पर विचार करते हैं। इस दूसरे पक्ष के अनुसार जगत् 'सत्' है। सत् इसलिए है कि प्रत्यक्ष रूप से दृश्यमान जगत् को शशश्रुग अथवा आकाश कुमुख के समान असत् नहीं कहा जा सकता। उक्त तकों के आधार पर अद्वैत वेदान्त का अध्येता इस परिणाम पर पहुंचता है कि नामरूपात्मक जगत् न पूर्णतया सत् है और न पूर्णतया असत्। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जगत् एक दृष्टि से तो सत् है और दूसरी दृष्टि से असत्। इस प्रकार जगत् की सत्ता न पूर्णतया असत् है और न सत्। सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण ही जगत् की सत्ता को वेदान्तियों ने अनिवार्यनीय कहा है। शांकर वेदान्त के अनुसार जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन का यही दृष्टिकोण है।

जगत् की अभावरूपता का निराकरण

अपरहमने शंकराचार्य को उद्धृत करते हुए कहा है कि परमार्थविस्था में जगत् के समस्त व्यवहार लुप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा चुका है कि परमार्थ दृष्टि से जगत् असत् है। यही यहाँ विवेच्य है कि परमार्थ दृष्टि से जगत् के असत् सिद्ध होने पर भी यह कदाचित् नहीं समझना चाहिए कि परमार्थ सत्ता—ब्रह्म वोध की स्थिति में जगत् का भी लोप हो जाता है। यदि ब्रह्मात्मता की स्थिति में जगत् का लोप हो जाया करता तो एक व्यक्ति के जीवन्मुक्त होने पर जगत् की सत्ता ही समाप्त हो जाती।^५ परन्तु ऐसा नहीं होता। ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिए जगत् का लोप न होकर द्वैतमूलक नामरूपात्मक प्रपञ्च एवं उससे उत्पन्न होने वाले समस्त व्यवहारों का ही लोप होता है, प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का नहीं। अतः शांकर वेदान्त के अनुसार जगत् के असत् होने का यही तात्पर्य है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है।^६ भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म और जगत् के अनन्यत्व से हम केवल दोनों के अभेद का प्रतिपादन नहीं करते अपितु भेद का निराकरण करते हैं।^७ भामतीकार के मत के समर्थन में ही रत्नप्रभाकार का भी कथन है कि ब्रह्म एवं जगत् का अनन्यत्व कारण से पृथक् कार्य की सत्ता की शून्यता सिद्ध करता है न कि ऐक्य।^८ इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के आचार्यों ने जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन के द्वारा ब्रह्मवित्तिरिक्त जगत् की सत्ता का ही निराकरण किया है। अतः जगन्मिथ्यात्व

१. सर्वव्यवहाराणामेवप्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः ।

स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात् ।—ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

२. एवं परमार्थविस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे ।—वही० २।१।१४॥

३. ब्र० सू०, शा० भा० ३।२।२। ।

४. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४ ।

५. नखलत्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधाम—भामती २।१।१४।

६. कारणात् पृथक् सत्त्वशून्यत्वं कार्यस्य साध्यते न ऐक्यम् ।—रत्नप्रभा, व० सू० २।१।१४।

का उद्देश्य भौतिक जगत् का अभाव सिद्ध करना भारी भूल कही जाएगी ।

जहा तक अद्वैततत्त्ववेत्ता जीवन्मुक्त प्राणी के व्यवहार का प्रश्न है, उसके लिए कियाकारक और तन॑कनस्वरूप समस्त व्यवहार नष्ट हो जाते हैं ।^१ जीवन्मुक्त प्राणी तो इस सौक में जडवन् विचरण करता है और प्रारब्ध कर्मों का भोग पूरा होने पर विदेहमुक्ति लाभ करता है । इस विषय का विशेष प्रतिपादन पात्रवं अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा ।

अध्यास के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन

अध्यास अविद्या का ही दूसरा नाम है । अवराचार्य ने अध्यास की परिभाषा 'अद्यासो नाम अतस्मिस्तन्द बुद्धि' कह कर ही दी है ।^२ इस परिभाषा के अनुसार जिस वस्तु में जो वस्तु नहीं है उस वस्तु में उस अवराचार्य वस्तु की सत्ता स्वीकार करना अध्यास है । शुक्लिं में रजत, रस्सी में सर्प और नामरूप से रहित आत्मा में प्रपञ्चस्य जगत् की सत्यता का मान होना अध्यास ही है । इस अध्यास का भूल जीव का अज्ञान है । अज्ञान के कारण ही शुक्लिं में रजत, रस्सी में सर्प आत्मा में अनेकत्वमय जगत् की सत्ता का अनुभव होता है ।

यह हम पहिले ही वह चुक्ते हैं कि अद्वैत वेदान्त का उद्देश्य भौतिक जगत् का निराकरण न होकर जगत् के सम्बन्ध में उत्तरन्त हृदै द्वैन्द्रुद्धि का निराकरण है । अध्यास ही द्वैन्द्रुद्धि का जनक है । अध्यास के ही कारण आत्मा में वाद्य धर्मों का वारोप होना है । उदाहरण के लिए, पुत्र एवं श्रिया आदि के अपूर्ण रथा पूर्ण होने पर 'मैं ही अपूर्ण तथा पूर्ण हूँ' इस प्रकार का अनुभव अध्यास के कारण ही होता है । इसी प्रकार आत्मा में उत्तरन्त हृदै देहाध्यास के कारण पुरुष द्वो शप्तने में स्थूलत्व, कृश्वर्त्व, गौरव आदि का अनुभव होता है ।^३ वस्तुन् कूटस्य, अचन एवं सनातन आत्मा स्थूलत्व, गौरवादि विशेषणाओं से विशिष्ट नहीं है । इसी प्रकार आत्मा में द्वैतभूलक जगत् की जो नामरूपात्मक सत्यता प्रतीत होती है, वह अध्यास मात्र होने के कारण मिथ्या है ।

अध्यासवाद के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व का निष्पाण अधिष्ठान के विना अगम्भीर है । क्योंकि मृग तट्टिया का जैसी अमत् वस्तुएँ भी किसी आधार पर ही कल्पित की जाती हैं ।^४ इसीलिए शाकार वेदान्त के अनुसार ब्रह्मस्य में ही जगत् की अध्यन्त कहा गया है । इस सम्बन्ध में शक्ताचार्य वा स्पष्ट कथन है कि बन्धा सभी को सत्य अथवा मिथ्या पुत्र की जननी नहीं कहा जा सकता ।^५ अत अध्यास की वल्पना अधिष्ठान के विना नहीं की जा सकती । अधिष्ठानवाद का विस्तृत विवेचन पचम अध्याय के अन्तर्गत किया जायेगा ।

शक्ताचार्य वे पत्रवर्ती अद्वैती आचार्यों ने जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर किया है । वाचस्पति मिथ्य अज्ञान का आश्रय जीव एवं विषय

१. ब्र० सू०, शा० भा० २। १। १४।

२. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात ।

३. तद्यथा पुत्रमार्यादिपु विक्षेपु सक्लेषु वा अहमेव विक्ल सक्लोवेति वाहृधर्मनात्मन्य-
धर्मस्यति । तदा देहर्मनि—स्थूलोऽहं, कृश्वर्त्वं, गौरोऽहं, निष्ठामि, गच्छामि, लक्ष्मामि
चेति । ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात ।

४. शा० भा०, गीता १३। १४।

५. गी० भा०, शा० भा० ३। २८, १। ६।

श्रह्य मानते हैं। भामतीकार का विचार है कि अज्ञान के कारण ही ब्रह्म में अनेक प्रकार के अनात्म विषयों का आरोप होता है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के मतानुसार प्रपञ्चरूप जगत् की सत्यता का मूल कारण जीवाश्रया अविद्या ही है। अविद्या की निवृत्ति होने पर जगत् भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

अनिर्वचनीयस्यातिवाद

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में स्यातिवाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्याति शब्द की निपत्ति स्या (प्रकथने) धातु से वित्तन् प्रत्यय होने पर होती है, जिसका थर्थ दर्शन की परिधि में ज्ञान होता है। शुक्ति में रजत एवं रज्जु में सर्प का ज्ञान स्याति ही है। उक्त शुक्ति आदि में हुए रजतादि ज्ञान का समीक्षण विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बोद्धों, भीमांसकों तथा नैयायिकों ने पृथक्-पृथक् रीति से किया है। स्याति के सम्बन्ध में प्राप्त नीचे उद्दृत श्लोक में पांच स्याति सम्बन्धी सिद्धान्तों का संकेत मिलता है—

आत्मस्यातिरस्तस्यातिरस्याति स्यातिरस्यथा ।

तथानिर्वचनीयस्यातिरित्येतत् स्यातिपंचकम् ॥

उपर्युक्त श्लोक में निर्दिष्ट आत्मस्याति, असत् स्याति, अस्याति, अन्यथास्याति और अनिर्वचनीय स्याति—इन पांच स्यातियों के अतिरिक्त सत् स्यातिं का विवेचन भी वेदान्त के मूल^१ एवं समालोचनात्मक^२ ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इस प्रकार स्याति के सम्बन्ध में निम्नलिखित छः सिद्धान्त प्रियते हैं—(१) आत्मस्यातिवाद (२) असत्स्यातिवाद (३) अन्यथा स्यातिवाद (४) अस्यातिवाद (५) सत्स्यातिवाद, तथा (६) अनिर्वचनीय स्यातिवाद।

यहां उपर्युक्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण करना अनिर्वचनीयस्यातिवाद के सही मूल्यांकन के लिए उपयुक्त होगा।

आत्मस्यातिवाद का सिद्धान्त

आत्मस्यातिवाद के प्रवर्तक विज्ञानवादी बोद्ध शुक्ति में हुए रजत ज्ञान को असत् न मानकर बुद्धिगत, मानता है। इस प्रकार आत्मस्यातिवादी के अनुसार शुक्ति आदि में हुए रजतादि के भ्रम का आधार कोई वाह्य विषय न होकर चित्त ही है।^३ इस प्रकार आत्मस्यातिवादी की दृष्टि में रजतादि असत् न होकर चित्तगत हैं।

असत्स्यातिवाद का सिद्धान्त

असत्स्यातिवाद का प्रतिपादन शून्यवादी बोद्ध ने किया है। शून्यवादी बोद्ध शुक्ति आदि में रजत आदि के अव्याप्ति को असत् स्वीकार करता है। उनके अनुसार अधिष्ठान रूप शुक्ति में रजत के असत् होने के कारण, रजत शुक्ति में विपरीत घर्म की कल्पना मात्र है।^४

१. श्री भाष्य, श्रुति प्रकाशिका १।१।१।

२. शंकर चतुर्न्य भारती श्यातिवादः (सरस्वती भवन टैक्स्ट्स)।

तथा देविए—The Doctrine of Maya, p. 11.

३. विवरण प्रमेय संग्रह, Hiriyanā : Introduction to Istaśiddhi.

४. ब्र० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

अन्यथास्थातिवाद का सिद्धान्त

अन्यथास्थातिवाद सिद्धान्त का प्रतिपादनकर्ता नेमायिक है। अन्यथास्थातिवाद के अनुसार किसी वस्तु के घमों वा अन्य वस्तु में आरोप ही अन्यथास्थाति है। शुक्ति एवं रजत के सदाहरण में रजत के घमों का शुक्ति में आरोप होता है। इस आरोप के ही कारण शुक्ति का रजत रूप से अन्यथा ज्ञान होता है। इसीलिए यह सिद्धान्त अन्यथास्थातिवाद के सिद्धान्त के नाम से प्रचलित हुआ है। अन्यथास्थातिवादी वे भट्टानुसार पूर्व दृष्ट रजत का स्मरण ही नेत्रों एवं दूरस्थ रजत में सम्बन्ध की स्थापना करता है। इस प्रकार भ्रम से दूरस्थ रजत का सम्बन्ध पुरोवर्ती 'इदम्' से होने वे कारण ही शुक्ति में रजत का अन्यथा ज्ञान होता है।

अस्थातिवाद का सिद्धान्त

अस्थातिवाद का समर्थक प्रभाकर भीमासक शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को भ्रम नहीं स्वीकार करता। अस्थातिवादी का विचार है कि द्रष्टा को शुक्ति को देखकर, जब यह ज्ञान होता है कि 'इदम् रजतम्' (यह रजत है) तो इस द्विविध ज्ञान में 'इदम्' (यह) का यथार्थ ज्ञान होता है और रजत का स्मरण। 'इदम्' सम्बन्धी ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसने अतिरिक्त सक्षार अन्य सादृश्य के आधार पर ज्ञात 'रजतम्' (रजत सम्बन्धी ज्ञान) स्मृति भाव है। अस्थातिवादी का तर्क है कि पुरोवर्ती—'इदम्' (यह) हृषि यथार्थ ज्ञान और रजत रूप स्मृति, इन दोनों भिन्न-भिन्न ज्ञानों के भिन्न रूप से न ग्रहण होने के कारण ही शुक्ति का रजत रूप से ज्ञान होता है। इसी सिद्धान्त को भेंदाग्रह भी कहते हैं।^१

सत्-स्थातिवाद का सिद्धान्त

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के प्रस्थापक रामानुजाचार्य सत्-स्थातिवाद के अनुगामी हैं। सत्-स्थातिवादी शुक्ति में हुए रजतादि ज्ञान को मिथ्या न भानकर सत् ही भानते हैं। सत्-स्थातिवाद सिद्धान्त का आधार 'सर्वं सर्वतिथकम्' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक वस्तु का सात्त्विक अंश वर्तमान रहता है। इसीलिए रज्जु आदि में सर्वादि का ज्ञान सत् ही कहा जायेगा। सत्-स्थातिवादी का विचार है कि भ्रान्तिस्थल का रजत भले ही मिथ्या हो, परन्तु द्रष्टा द्वारा किया गया पूर्वदृष्ट रजत का ज्ञान सत् ही है। अत रजत ज्ञान को मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त भत्तों की समालोचना

स्थाति सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्तों में अनेक न्यूनताएँ देखने में आती हैं। असत्-स्थातिवादी का रजतादि को असत् कहना सगत नहीं प्रतीत होता। यदि रजतादि असत् हुए होते तो उनका व्यावहारिक ज्ञान सम्भव न होता। इसीलिए शक्तराचार्य ने इस सिद्धान्त को सर्वं प्रमाण विशद् कहा है।^२ आत्मस्थातिवादी का रजतादि को चित्तगत भानना अनोचत्यपूर्ण ही है। भ्रमकालिक रजत का ज्ञान ही रजत की बाहु सत्ता को सिद्ध करता है।

१. विशेष देखिये—डा० हरदत्त शर्मा· ब्रह्मसूत्र खनु सूत्री, पृ० १३।

२. व० स०, शा० भा० २।१।३।

शंकराचार्य ने आत्मस्थातिवादी बोध के मत का निराकरण करते हुए लिखा है कि अर्थ से अतिरिक्त भी विज्ञान स्वयं ही अनुभव में आता है, यह कथन अनुचित है।^१ क्योंकि आत्मा में किया का विरोध है। अतः विज्ञानवाद के अनुसर्ता आत्मस्थातिवादी बोध का रजतादि की वाह्य सत्ता को असत् कहना तर्कप्रतिष्ठित नहीं प्रतीत होता।

अन्यथा स्थातिवादी का मत भी दोपूर्ण है। अन्यथा स्थातिवादी का तर्क है कि पूर्वकाल में दृष्ट रजत का स्मरण ही नेत्रों एवं दूरवर्ती रजत में सम्बन्ध की स्थापना करता है। इस प्रकार अन्यथास्थातिवादी के मतानुसार भ्रमवश दूरवर्ती रजत का सम्बन्ध पुरोवर्ती इदम् (विषय) से हो जाता है। अन्यथास्थातिवादी का यह तर्क समुचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि भ्रमकालिक रजत-ज्ञान रजत का दूरवर्ती होना सिद्ध नहीं करता। भ्रमकाल में तो इदम् (पुरोवर्ती) विषय ही रजत रूप में भासता है। यही कारण है कि द्रष्टा को शुक्ति का इदम् रूप से ज्ञान होता है और 'इदम्' से सम्बन्धित ही रजत का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त भ्रम दूर होने पर किसी दूरवर्ती रजत का निषेध न होकर भ्रमकाल में अनुभूयमान रजत का ही निषेध होता है। इसलिए अन्यथास्थातिवादी की दूरवर्ती रजत की कल्पना का तर्क असंगत ही कहा जाएगा।

अस्थातिवादी का कथन है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय—इदम् एवं, स्मरण ज्ञान के विषय-रजतम् के भेदाग्रह के कारण ही शुक्ति का रजत रूप में ज्ञान होता है। परन्तु अस्थातिवादी का यह तर्क युक्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होता। अस्थातिवादी ने जिस 'भेदाग्रह' का प्रतिपादन किया है, वह असंगत है। किसी वस्तु का स्वरूप ज्ञान ही उस वस्तु का भेदक ज्ञान है। यह अनुचित है कि दो भिन्न वस्तुओं का ज्ञान होने पर भी 'भेदाग्रह' बना रहे। अस्थातिवादी भी मांसक के मत में पुरोवर्ती 'इदम्' और स्मृति पर आधारित रजत दोनों ही भिन्न ज्ञान हैं। इस प्रकार दोनों ज्ञानों के भिन्न होने पर भेदाग्रह स्पष्ट ही है। अतः भेदाग्रह का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

सत्त्वस्थातिवादी ने 'सर्वं सर्वात्मकम्' के आधार पर जिस सिद्धान्त की स्थापना की है, वह भी तर्क सिद्ध नहीं कहा जा सकता। सत्त्वस्थातिवाद का सिद्धान्त पंचीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। नृसिंहाश्रम ने उक्त विषय का विवेचन करते हुए कहा है कि पंचीकरण विभिन्न भूतों (क्षित्यादि) का ही होता है, न कि उन भूतों से निर्मित विभिन्न भौतिक पदार्थों का। यदि ऐसा हुआ होता तो सत्त्व आदि में भी रजत आदि की प्रतीति हुई होती। इसलिए यद्यपि मूल तत्व एक-दूसरे पदार्थों में विश्रित होते हैं, परन्तु इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उन तत्वों से निर्मित पदार्थों में पार्थेक्य न हो। अतः सत्त्वस्थातिवादी का मत भी न्याय संगत नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आत्मस्थातिवाद असत्त्वस्थातिवाद, अन्यथास्थातिवाद, अस्थातिवाद एवं सत्त्वस्थातिवाद के सिद्धान्तों में कुछ न कुछ न्यूनताएं—अवश्य मिलती हैं। अब यहाँ अनिर्वचनीयस्थातिवाद सिद्धान्त का निष्फलण किया जाएगा।

अनिर्वचनीयस्थातिवाद का सिद्धान्त

अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने उपर्युक्त पंच स्थातियों को महत्व न देकर अनिर्वचनीय

स्थानिकीय स्थानिकीय स्थानिकीय की परिभाषा करते हुए आनन्दबोधचार्य ने न्यायमकरद के अन्तर्गत लिखा है—

सविलासाविद्यानिवृत्तिरेव वाघस्तद्गोचरतंवानिर्वाच्यता ।^१

उच्च लक्षण के अन्तर्गत सेखक का तात्पर्य है कि कार्यादि विलास सहित अविद्या की गोचरता अनिवाच्यता है और उसी कार्यादिविलास सहित अविद्या की निवृत्ति बाध है। अनिवाच्यता की उत्तर परिभाषा के अनुसार शुक्तिएव रज्जु आदि में अध्यस्त रजत एव सर्पादि की सना अनिवाच्य विषयों के अन्तर्गत आती है। जब रजत एव सर्पादि की जननी अविद्या^२ एव अध्यास ही अनिवंचनीय हैं तो उनसे उत्पन्न शुक्तिमादि का अनिवंचनीय होना माना ही है। अनिवंचनीयस्थातिवादी के अनुसार शुक्तिमें अध्यस्त रजत की सत्ता न आत्म स्थातिवादी के अनुमार चित्तगत है और न असत्स्थातिवादी माध्यमिक बोद्ध के अनुसार असत्। अनिवंचनीयस्थातिवादी शुक्ति में अध्यस्त रजत को सत् एव असत् से विलक्षण मानते हुए, उसकी प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार करता है।

सत् एव असत् से विलक्षण होने के कारण ही रजत अनिवंचनीय है। अनिवंचनीय रजत के सदमद्विलक्षणत्व के समर्थन में अनिवंचनीयस्थातिवादी का कथन है कि यदि रजत पूर्णतया सत् हुआ होना तो अविद्यानिवृत्ति होने पर उसका बाध न होता। अन रजत को शिकालावाधित सत् नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत अध्यस्त रजत की नितान्त असत् भी नहीं कह सकते। रजत शशानुग के समान नितान्त असत् नहीं है। यदि रजत नितान्त असत् हुआ होना तो भ्रमकाल में भी उम्रकी प्रतीति सम्भव न होती। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के अनुभायियों न शुक्ति आदि में अध्यस्त रजतादि की प्रातिभासिक सत्ता को स्वीकार किया है।^३

उपर्युक्त विवेचनदृष्टि के अनुरूप सत् एव असत् में विलक्षण होने के कारण, अनिवंचनीयस्थातिवाद के समर्थन अद्वैतवेदान्ती का रजत प्रातिभासिक रूप से सत् होने के कारण शून्यवाद के अनुयायी असत्स्थातिवादी बोद्ध के असत् रजत एव विज्ञानवाद के समर्थक आत्म स्थातिवादी बोद्ध के चित्तगत रजत से भिन्न है। इसके साथ ही साथ अद्वैतवेदान्त के अनुसार शुक्ति में अध्यस्त रजत पूर्णतया भूत् न होने के कारण सत्स्थातिवादी रामानुजाचार्य के सत् रजत से भी भिन्न है। प्रातिभासिक रूप से सत् होने के कारण ही अनिवंचनीयस्थातिवादी का रजत अस्थातिवादी भीमासक के स्मृत रजत एव अन्यथास्थातिवादी के देशान्तर एव कालान्तर-रवर्ती रजत से भी भिन्न है।

अनिवंचनीयस्थातिवादी ने शुक्ति एव रजत के दृष्टान्त के आधार पर अविद्या जन्म जगत् की अनिवंचनीयता सिद्ध की है। अनिवंचनीय होने के कारण जगत् को न दशनुग के समान अलीक (असत्) कहा जा सकता है और न पारमार्थिक धृत्यु के समान सत् ही कहा जा सकता है। इस प्रकार जगत् की सदमद्विलक्षणता वे द्वारा जगत् की प्रातीतिक सत्ता का समर्थन करके अनिवंचनीयस्थातिवादी ने एवं और अद्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और दूसरी ओर जगत् की व्यावहारिकता का समर्थन करके अद्वैत दर्शन को प्रत्यक्षतादी होने ले बचाया है।

^१ न्याय महारद, पृष्ठ १२५, चौलम्बा सम्प्रकाश, १६०७।

^२ विवक्त चूडामणि, इनोक्त ११०, १११।

^३ तथाचनोकेनुमध्य शुक्तिरहितजनवद्वभासने।—प्र० मू०, शा० भा०, उग्रोद्धार।

क्या अद्वैत वेदान्त में कार्यकारण सम्बन्धी विचार सम्भव है ?

ब्रह्म एवं जगत् का अनन्यत्व-प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त का आधारभूत सिद्धान्त है। इस अनन्यत्व का प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त में विवर्तवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया गया है, जिसके अनुसार ब्रह्म एवं जगत् की अद्वैतता का समर्थन किया गया है। विवर्तवाद का समुचित स्पष्टीकारण इसी अवसर पर आने किया जाएगा। अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य गोडपाद ने भी समस्त वस्तुओं की अजातता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सत्, असत् और सदसत् वस्तु की उत्पत्ति न स्वतः होती है और न परतः।^१ इस प्रकार गोडपादाचार्य ने अजातवाद के आधार पर प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का निराकरण किया है। उक्त कथन के अनुसार जब जगत् की उत्पत्ति का ही निराकरण हो जाता है, तो ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना किस प्रकार हो सकती है। ब्रह्म और जगत् की कार्य-कारणता इसलिए भी असंगत प्रतीत होती है कि यदि अमृत ब्रह्म से विनाशशील जगत् की उत्पत्ति होने लगेगी तो अमृत भी मत्यंता को प्राप्त होने लगेगा।^२ इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव नहीं है कि किसी वस्तु से तद् विरुद्ध वस्तु की उत्पत्ति हो जाए। अतः जब अमृत ब्रह्म से तद् विरुद्ध वर्षम् वाले मर्त्य जगत् की उत्पत्ति ही असम्भव है, तो ब्रह्म को कारण एवं जगत् को कार्य कहना कहाँ तक सम्भव हो सकता है।^३

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध का विचार असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु यह सुवित्त्य है कि जहाँ अद्वैत वेदान्त में कार्य-कारणवाद की असम्भवता सिद्ध होती है वहाँ अद्वैत वेदान्त के आचार्यों द्वारा ब्रह्म को जगत् का भूल कारण एवं जगत् को कार्य कहकर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति भी स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है। 'यतो वाइमानिभूतानि जायते'— (तै०३०३।१।१) (जिस परमात्मा से सारे भूत उत्पन्न होते हैं) श्रुतिवाक्य पर आधारित वादरायण के जन्माद्यस्य यतः (ब्र०३०१।१।२) पर भाष्य करते हुए, शंकराचार्य ने लिखा है कि नामरूप से प्रकट होने वाले, अनेक कर्ता एवं भौवताओं से संयुक्त, जिस क्रिया और फल के देश, काल और तिमित व्यवस्थित हैं—उसके आश्रय तथा मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता, ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश जिस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है।^४ स्पष्ट ही उक्त कथन के अन्तर्गत शंकराचार्य ने ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति को स्वीकार करके ब्रह्म एवं जगत् के बीच 'कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना की है।

झपर दिए गए विवेचन के आधार पर यह पूर्णतया विदित हो जाता है कि जहाँ एक और अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म एवं जगत् के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध को स्थापना असम्भव प्रतीत होती है वहाँ दूसरी और कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना का विचार भी पूर्ण रूप से देखने को मिलता है। कार्य-कारणवाद के विवेचन के सम्बन्ध में इन दोनों विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय

१. गौ० का० ४।२२—स्वतोवापरतोवामिनकिंचिद्वस्तुजायते ।

सदसत्-सदसद्वापि न किंचिद्वस्तु जायते ॥

२. वही ३।१६।

३. शा० भा०, गौ० का० ३।२।

४. ब्र०३०, शा० भा० १।१।२।

अत्यन्त अपेक्षित है। उक्त सिद्धान्तों के समन्वय के अर्थ मेरा विचार है कि जहा [अद्वैतवेदान्त] के अन्तर्गत परमार्थ सत् रूप ब्रह्म की अद्वैत मत्ता की स्वीकार किया गया है, वहा जगत् की व्यावहारिक सत्ता का भी प्रतिपादन किया गया है। नामरूपात्मक व्यावहारिक जगत् की सत्ता अद्वैत वेदान्त में मायिक कही गई है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि जब मृगतृणिका आदि की ही कल्पना विना किसी अधिष्ठान के असम्भव है तो व्यावहारिक जगत् की सत्ता विना किसी अधिष्ठान के बैंसे सम्भव हो सकती है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने ब्रह्म को जगत् का अधिष्ठान एवं माया जन्म जगत् को 'अध्यास' कहा है। इस प्रकार अधिष्ठानवाद के आधार पर ही ब्रह्म से मायिक जगत् की उत्पत्ति सम्भव होती है। योकि जगत् की यह उत्पत्ति मायिक होने के कारण मिथ्या है एवं अवास्तविक है। इसलिए ब्रह्म और जगत् के बीच कार्य-वारण सिद्धान्त की योजना भी पारमार्थिक न होकर मिथ्या ही है। उक्त व्यष्टि का स्पष्टीकरण गोडपादाचार्य के तिम्नलितित सिद्धान्त में पूर्णतया मिल जाता है—

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वत (गौ० का० ३२७)

अर्थात् सत् रूप अधिष्ठान ब्रह्म से माया के द्वारा जगत् का जन्म होता है। परन्तु जगत् की यह उत्पत्ति मायिक होने के कारण तात्त्विक नहीं है। गोडपादाचार्य की उपर्युक्त पक्षित का एक दूसरा अर्थ यह यह है कि सत् अर्थात् विद्यमान वस्तु का जन्म माया के द्वारा ही होता है, परन्तु यह तात्त्विक नहीं है। इन दोनों अर्थों के अनुमार रञ्जु-आदि में सर्पादि वे समान जगत् का जन्म पारमार्थिक न बतलाकर मायिक बतलाया गया है।

उपर्युक्त तर्क से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म और जगत् के बीच कार्य-कारणसम्बन्ध पारमार्थिक नहीं है। अतः नामरूपात्मक व्यावहारिक जगत् एवं ब्रह्म के बीच सम्बन्ध दृष्टि के निमित्त ही कार्य-कारणवाद सिद्धान्त की उपयोगिता का औचित्य है।

बादरायण^१, गोडपादाचार्य^२ एवं शक्तराचार्य^३ प्रभृति अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने कार्य-वारण सम्बन्ध की उपयोगिता की ओर सकेत बरते हुए यही कहा है कि श्रूति वाचों के द्वारा जगत् की सृष्टि का जो निर्देश किया गया है, वह मानव की बोलिक जिजासा की सन्तुष्टि मात्र के लिए ही है।

लाल बिए गए विवेचन के अनुमार यह कहना उपयुक्त होगा कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म एवं जगत् के कार्य-वारण सम्बन्ध की कल्पना की सम्भावना पारमार्थिक न होकर ब्रह्म एवं जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध के रूप में मनुष्य की बोलिक भूख की सृष्टि के प्रयोगन में ही संगत है।

बब यहा वैदिक एवं अद्वैत वेदान्तवर्ती कार्य-कारणसम्बन्ध के विषय में विवेचन किया जायेगा।

वैदिक कार्यकारणवाद

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत यद्यपि कार्य-वारण सिद्धान्त के सम्बन्ध में संदातिक स्वरस्था नहीं मिलती, परन्तु किर भी अनेक स्थलों पर कार्य-वारण सम्बन्धी विचार उपनब्ध

१. ब० स० २११५०।

२. गौ० का० ११८।

३. ब० स० ४० भा० ४३१४।

होते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ कृतिपय स्थलों के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

ऋग्वेद संहिता के दशम मण्डल के १२६ वें मूक्त के तृतीय एवं चतुर्थ मन्त्र में कहा है कि आरम्भिक मूल तत्त्व एक ही है। यह तत्त्व अप्रकट सलिल के रूप में वर्तमान है। इस मूल तत्त्व से सर्वप्रथम तप द्वारा काम अथवा मन की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद (१०।१२।११) में प्रजापति रूप हिरण्यगर्भ को जगत् का पति कहा है। ऋग्वेद (१०।८।२१) में सृष्टि समस्या की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि शरीर के उत्पादयिता और अनुपम धीर विद्यकर्मणे प्रथम जल को उत्पन्न किया और फिर इधर-उधर चलने वाले द्यावापृथिवी को बनाया। ऋग्वेद (१०।७।२२) के अन्तर्गत कहा है कि ब्रह्माणस्पति (ब्रह्मिति) ने देवताओं को उत्पन्न किया एवं असत् (अविद्या मान) से सत् (विद्यमान) की उत्पत्ति हुई।

ऋग्वेद (१०।१२।५।७,८) में वाक् का मूल तत्त्व के रूप में वर्णन करते हुए लिखा है कि आरम्भ में वाक् तत्त्व ही जगत् के स्पष्टा के रूप में वर्तमान था। यह मूल तत्त्व ही किर समुद्र के जल में उत्पन्न हुआ। इसके जल में उत्पन्न होने का उद्देश्य जीवों में अपने स्वरूप का प्रचार करना था। ऋग्वेद (१०।१६।०।५) में पुरुष का मूल स्पष्टा के रूप में वर्णन करते हुए कहा है कि आदि पुरुष से विराट् (ब्रह्माण्ड देह) उत्पन्न हुआ और ब्रह्माण्ड देह का आश्रय करके जीव रूप से पुरुष उत्पन्न हुए। वे देव भनुष्यादि रूप हुए। उन्होंने भूमि और फिर जीवों के शरीरों का निर्माण किया।

अथर्ववेद संहिता (१०।१।७,८) के अन्तर्गत स्कम्भ का वर्णन करते हुए कहा है कि स्कम्भ ने जिसमें कि प्रजापति ने समस्त जगत् को आश्रय एवं पोषण दिया, अपने अंशसंहित जगत् में प्रवेश किया। अथर्ववेद संहिता में ही एक स्थल पर यह भी कहा है कि प्राण जगत् का निर्माण करता है।^१ शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत कहा है कि पुरुष-प्रजापति जलों को उत्पन्न करता है और फिर उन जलों में अण्ड रूप में प्रवेश करके उनसे ब्रह्म को उत्पन्न करता है।^२ तैत्तिरीय आरण्यक में प्रजापति का स्पष्टा रूप में वर्णन करते हुए कहा है कि प्रजापति ने लोकों का निर्माण करते हुए सृष्टि के आदि तत्त्व के रूप में आत्म स्वरूप में प्रवेश किया।^३

उपर्युक्त स्थलों के स्पष्टीकरण से यह निप्कर्ष निकलता है कि सृष्टि का मूलतत्त्व एक ही था और यह मूल तत्त्व जगत् का निर्माण करने के पश्चात् उसी में प्रवेश कर लेता था। यह मूल तत्त्व आत्मा एवं हिरण्य गर्भ का ही रूप था।

उपर्युक्त विचार का विश्लेषण उपनिषदों में भी पूर्ण रूप से स्थिता है। इस स्थल पर उपनिषदुपलब्ध कार्य-कारण सम्बन्धी विचार के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा।

वृहदारण्यक में मूल तत्त्व की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जगत् उत्पत्ति से पूर्व अव्याकृत था, फिर यह नाम रूप के द्वारा व्यक्तावस्था को प्राप्त हुआ। इसी स्थल पर यह भी कहा है कि आत्मा इस शरीर में नखाग्र पर्यन्त उसी प्रकार प्रवेश करता है जिस प्रकार कि छुरा अपने घर में प्रवेश करता है और अग्नि, अग्नि के आश्रय काष्ठादि में गुप्त रहता है।^४ धार्मो-र्घोषनिषद् में सत् रूप परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि आरम्भ

१. अथर्ववेद संहिता १।१।४।

२. शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।

३. तैत्तिरीय आरण्यक १।२।३।

४. वृ० ७० १।४।७।

में सत् तत्त्व ही बर्तमान था, उसी आदि तत्त्व ने अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा की और सर्वप्रथम तेज की उत्पत्ति की। इसके अनन्तर तेज ने अनेक रूपों में उत्पन्न होने की इच्छा करके जल की रचना की और फिर इसी प्रकार जल ने अन्न को उत्पन्न बिया। इसके पश्चात् उस सर्वोच्च सत्ता ने यह इच्छा की कि मैं तेज, जल और अन्न से जीवात्मा के साथ प्रवेश करूँ तथा नाम और स्वप्न को व्याहृत करूँ — (छा० उ० ६।२।२—६।३।२)।

तेत्रिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत परमात्मा के सृष्टिरूप की ओर सरेत बरते हुए वहा गया है कि रागारम्भ में परमात्मा ने यह विचार किया कि मैं अनेक रूपों में उत्पन्न होकर बहुत-से स्वप्न धारण करूँ। उक्त सकल के बाद परमेश्वर ने जडन्वेन यत् समस्त जगत् की रचना की और उसके पश्चात् स्वयं भी उसी में प्रविष्ट हो गए।^१

ऐतरेयोपनिषद् में आत्मा को सृष्टि का मूल तत्त्व स्वीकार करते हुए कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व केवल एक आत्मतत्त्व की ही सत्ता थी, उसी परमात्मा ने लोकों के मर्जन वीं इच्छा की और तदनुसार अम्भ, (द्युलोक तथा उसके ऊपर दे लोक) मरीचि, (अन्तरिक्ष) मर (मर्यंतोव) और जल लोक की रचना की।^२ ऐतरेयोपनिषद् में ही आगे चलकर कहा गया है कि उस परमात्मा ने विचार किया कि मेरे बिना यह मनुष्यस्पृष्ट पुरुष कीसे रह सकेगा? इस कामना से परमात्मा ने मनुष्य शरीर में प्रवेश करने की इच्छा की और वह ब्रह्मरूप को चीर कर मनुष्य शरीर में प्रवेश कर गया।^३

ऋग् किए गए विवेचन के आधार पर वेदिक साहित्य के अन्तर्गत कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त के सकेत स्पष्ट हैं। इन सकेतों में परमात्मा वे कारणत्व एवं जगत् की व्यजना बहुत स्पष्ट है। परन्तु यहा यह कह देना भी समीक्षीन ही होगा कि ऋग् निर्दिष्ट किए गए वेदिक स्थलों में वायं कारणवाद सिद्धान्त के बीज मात्र ही उपलब्ध हैं, उसका संदर्भित रूप नहीं। उसका न्यूनता वेदिक साहित्य की न्यूनता इसलिए नहीं कही जा सकती कि उसका उपलब्ध किसी सिद्धान्त विशेष वा प्रतिपादन नहीं था। कार्य-कारणवादसिद्धान्त का समुचित प्रतिपादन तो अद्वैत वेदान्त के आचार्यों द्वारा ही किया गया है। अत यहा अद्वैत वेदान्त के आचार्यों के अनुसार कार्य-कारणवाद सिद्धान्त की समीक्षात्मक वर्णना की जाएगी।

अद्वैत वेदान्त और कार्यं कारणवाद का सिद्धान्त

कार्यं कारण सम्बन्धी सिद्धान्त वा उल्लेख करते हुए शब्दरचार्य ने आकाशादि प्रपञ्च-मय जगत् को कार्यं एव ज्ञान को कारणस्त्र में स्वीकार बिया है, परन्तु जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, शब्दरचार्यं ने कारण स्वप्न ब्रह्म और कार्यं स्वप्न जगत् के द्वीच अनन्दरूप की स्थापना की है।^४ परन्तु वनित्य एव मिथ्या जगत् वीं कार्यंता के सम्बन्ध में बूटस्थ एव नित्य ब्रह्म वीं कारणता समत नहीं कही जा सकती। इसीलिए अद्वैत वेदान्त में मायाशक्तविशिष्ट पूर्णमात्मा से प्रपञ्च मय जगत् की सृष्टि सिद्ध की गई है। इस सम्बन्ध में दक्षरचार्यं ने मायावी परमेश्वर को जगत् का सष्टा स्वीकार करते हुए कहा है कि एक ही परमेश्वर जो बूटस्थ, नित्य

१. तै० उ० २।१।

२. ऐतरेयोपनिषद् १।१।१,२।

३. वही, १।३।१।१,२।

४. कार्यंसाकाशादिव ब्रह्मस्य जगत्, कारण पर ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्धत्व व्यनिरेवणाभाव कार्यस्यावगम्यत। — त्र० भू०, शा० भा० २।१।४।

एवं विज्ञान स्वरूप है, माया के द्वारा अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। यहाँ यह कहना वप्रातंगिक न होगा कि 'सोऽक्षमयत वहुस्यां प्रजायेय' आदि स्थलों में जहाँ-जहाँ परमेश्वर में जग-दुत्पत्ति आदि की कामना का वर्णन आया है, वहाँ माया विशिष्ट ब्रह्म का ही वर्ण ग्रहण करना चाहिए। यही मायाविशिष्ट ब्रह्म अद्वैत वेदान्त में ईश्वर संज्ञा के द्वारा वर्णित हुआ है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार अद्वैत वेदान्त में कार्यरूप जगत् की सत्ता का कारण मायावी परमेश्वर है। माया के द्वारा ही परमेश्वर में जगत्-सृष्टि की योग्यता है। इसीलिए शांकर वेदान्त में माया को वीजशक्ति कहा गया है^१। अपनी माया शक्ति के द्वारा परमेश्वर उसी प्रकार जगत् की रचना करता है जिस प्रकार कि ऐन्द्रजालिक अपने इन्द्रजाल के द्वारा वहुविद्य अवास्तविक विषयों की रचना करता है। जिस प्रकार कि ऐन्द्रजालिक स्वरचित इन्द्र-जाल से प्रभावित नहीं होता उसी प्रकार मायावी परमेश्वर भी जगत् के समस्त पाप-पुण्यादि कृत्यों से अस्फृष्ट है^२।

अद्वैत वेदान्त में, माया को दो ज्ञानियां बतलाई गई हैं—एक आवरण और दूसरी विक्षेप। आवरण शक्ति सत्य—ब्रह्म की तिरोधानकर्त्ता एवं ब्रह्मसाक्षात्कार की वाधक है^३ और विक्षेप शक्ति नामस्पात्मक मिथ्या जगत् की निर्मात्री^४। जगत् की कार्य-कारणता का स्पष्टी-करण अद्वैत वेदान्त में अनेक स्थलों पर रज्जु-सर्प के दृष्टान्त के आधार पर किया गया है। इस दृष्टान्त के आधार पर शंकराचार्य का कथन है कि जिस प्रकार अविद्यावश रस्ती में सर्प का मिथ्या अनुभव होने लगता है, उसी प्रकार अविद्या के कारण परमात्मा में जगत् के नानात्म का अनुभव होता है।^५ यहाँ यह कहना और उपयुक्त होगा कि जिस प्रकार ऋण्टिकालिक सर्प रस्ती का विकार नहीं होता उसी प्रकार जगत् को भी ब्रह्म का विकार नहीं तमस्ता चाहिए। शंकराचार्य ने इस विषय का विवेचन करते हुए कहा है कि गाढ़ान्धकार में पड़ी हुई रस्ती को सर्प मानता हुआ द्रष्टा भय से कम्पित होकर भागने लगता है। किन्तु, किसी से यह नुतकर कि 'डरो मत, यह सर्प नहीं है, वरन् रज्जु है' सर्प ज्ञानजन्य भय से मुक्त हो जाता है और कांपना तया भागना छोड़ देता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार सर्पज्ञानजन्य भय और उसकी निवृत्ति, इन दोनों अवस्थाओं में सर्प वस्तु में किसी प्रकार का विकार सम्भव नहीं है।^६ अतएव अद्वैत वेदान्त में विकारवाद का समर्यन न करके विवर्तवाद का ही अनुसरण किया गया है। इस स्वल पर विवर्तवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

विवर्तवाद का स्वरूप

वेदान्त परिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विवर्त की परिभाषा करते हुए कहा है—

१. ब्र० सू०, शा० भा० १।३।१६।

२. वही, १।४।३।

३. गीता, शा० भा० ५।१४, १५।

४. गी० का० १।१६।

५. वेदान्तसार—४।

६. ब्र० सू०, शा० भा० २।१२।१६।

७. वही, १।४।६।

विवर्तने नाम उपादानविषयमसत्ताकार्यांपत्तिः

अर्थात् उपादान कारण से विषयम कार्य की सत्ता को विवर्तन कहते हैं।^१ इस परिभाषा के अनुसार परमार्थ सत्य ब्रह्म से मिथ्या जगत् की सत्ता विषयम होने के कारण जगत् ब्रह्म का विवर्तन है। यह नि सदेह सत्य है कि मिथ्या जगत् को उत्पत्ति का कारण अधिष्ठान ब्रह्म ही है, परन्तु इसका यह वर्थ कदापि नहीं है कि जगत् ब्रह्म के तात्त्विक परिवर्तन का स्वरूप है। जगत् के ब्रह्म का तात्त्विक परिवर्तन न होने के कारण ही, ब्रह्म और जगत् में विवर्तनभाव है।^२

विवर्तनवाद एव साख्य का सत्कार्यवाद या परिणामवाद

कार्यकारणवाद सिद्धान्त के विवेचन के सम्बन्ध में साख्यवादी सत्कार्यवाद अध्ययन परिणामवाद का समर्थन है। सत्कार्यवाद के अनुसार वारण में कार्य की सत्ता वर्तमान रहती है। साख्यवादी के अनुसार घट एव पट मृत्तिका एव तन्तुओं के परिणाम मात्र हैं, इसीलिए इन मिद्दान्त को परिणामवाद का नाम भी दिया जाता है। सत्कार्यवाद का निष्पृष्ठ प्रथम अध्ययन के अन्तर्गत किया जा चुका है।

परिणामवाद एव विवर्तनवाद का तुलनात्मक अध्ययन करने पर, इन दोनों में पर्याप्त अन्तर मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जहा विवर्तन उपादान से विषयम कार्य की सत्ता का नाम है, वहा इसके विपरीत परिणाम उपादान के समान कार्य की सत्ता को कहते हैं।^३ रत्नप्रभाकार ने एक उदाहरण के द्वारा इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि परिणाम, यथातुग्रस्त दधिभाव, 'विवर्तन यथा शुक्ने रजतभाव'।^४ अर्थात् दुर्ग का दधि भाव परिणाम और शुक्नि का रजत भाव विवर्तन है। इस प्रकार विवर्तनवाद एव परिणामवाद सिद्धान्तों का मौलिक अन्तर पूर्णतया प्रदर्श्य है।

विवर्तनवाद और असत्कार्यवाद का सिद्धान्त

न्याय वैशेषिक दार्शनिकों ने असत्कार्यवाद के सिद्धान्त के आधार पर कार्यकारणवाद की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। साख्य वे सन्त्कार्यवाद एव न्याय वैशेषिक के असत्कार्यवाद में पर्याप्त अन्तर है। सन्त्कार्यवाद के अनुयायी कार्य की सत्ता को कारण में सन् मानते हैं। इसके विपरीत असत्कार्यवादी कार्य को कारण में असन् मानते हैं। असन् कार्यवादी कारण में कार्य की सत्ता को सन् न मानकर कार्य का नवीन आरम्भ मानता है। इसीलिए अमन्त्रकार्यवाद का मिद्दान्त आरम्भवाद के नाम से भी प्रचलित है। असत्कार्यवाद का अपेक्षित स्पष्टीकरण प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। विवर्तनवादी के अनुसार जहा कार्य की सत्ता कारण से पृथक् नहीं है, वहा असत्कार्यवादी कार्य की सत्ता को कारण से पृथक् मानता है, यही दोनों सिद्धान्तों का मूल भेद है।

ऊपर इए गये विवेचन के अनुसार कार्यकारणवाद के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त

१. वेदान्त परिभाषा—१।

२ अतत्वतोऽन्यथाप्रयाविवर्तनं इन्द्रुदीरित —वेदान्तसार २१।

३ वही, २१।

४ परिणामोत्तम उपादान समसत्तावकार्यांपत्ति —वेदान्त परिभाषा १।

५ रत्नप्रभा—द० म०, शा० भा० २।।१२८।

सत्कार्यवाद एवं वस्तुकार्यवाद का विरोधी होकर सत्कारणवाद का प्रोपक है। सत्कारणवाद के अनुसार कारण सत् एवं कार्य मिथ्या है। डा० दासगुप्त ने अद्वैत वेदान्त के कार्य-कारण सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम भी दिया है।^१ परन्तु मेरे विचार से अद्वैत वेदान्त में कार्य की सत्ता मिथ्या होने के कारण, अद्वैतवेदान्त के कार्य-कारण सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम देना बोचित्यपूर्ण नहीं लगता। स्वयं डा० दास गुप्त ने अद्वैत दर्शन के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम देने से पूर्व कार्य-कारण सिद्धान्त की विवेचना करते हुए निम्नलिखित शब्द कहे हैं—

The one truth is clay. So in all world phenomena the one truth is being, the Brahman & all the phenomena that are being imposed on it are but illusory forms and names.²

डा० दासगुप्त के उपर्युक्त कथन के अनुसार मृत्तिका ही सत्य है। जतः जगत् की व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत केवल ब्रह्म ही सत्य है और ब्रह्म में आरोपित जगत् की समस्त सत्ता मिथ्या नामरूप मात्र है। उक्त विचार के अन्तर्गत नामरूपात्मक कार्य रूप जगत् का मिथ्यात्व स्पष्ट होने पर भी डा० दासगुप्त ने उक्त विचार को सत्कार्यवाद के अन्तर्गत माना है। कदाचित् अपनी मान्यता में अनौचित्य का भास होने के कारण ही डा० दासगुप्त ने सत्कार्यवाद की अपेक्षा सत्कारणवाद को अधिक समुचित मानते हुए यह वाक्य लिखा है—

This is what is called Satkaryavada or more properly the Satkaranaavada of the Vedanta.³

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इस लेखक के मतानुसार अद्वैत वेदान्त के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त को सत्कार्यवाद का नाम न देकर सत्कारणवाद का नाम देना ही उपयुक्त है।

अद्वैत वेदान्त के शंकराचार्यपरवर्ती आचार्यों द्वारा कार्यकारणवाद की समालोचना अद्वैत वेदान्त के परवर्ती आचार्यों ने कार्य-कारण समस्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है।

संक्षेप शारीरककार का मत—संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है कि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के प्रति उपादान और निमित्तभूत जो कारण है, वह शुद्ध परब्रह्म ही है।⁴ सिद्धान्तलेशकार अप्यदीक्षित ने सर्वज्ञात्ममुनि के उक्त मत का ही उल्लेख किया है।⁵ परन्तु अद्वैत सिद्धि के दीक्षाकार के अनुसार संक्षेपशारीरककार का मत है कि

१. Dr. S. N. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 468.

२. वही, p. 468.

३. वही, p. 468.

४. निमित्तं च योनिश्चयत् कारणं सत्

परब्रह्मसर्वस्य जन्मादिभाजः

इतिस्पष्टमाचष्ट एषा श्रुतिर्नः

कर्यसिद्धवल्लक्षणं सिद्धिवाद्यम् ॥—संक्षेप शारीरकम् ११५३२ ।

५. अत्र संक्षेप शारीरकानुसारिणः केनिदाहुः—शुद्धमेवोदानम्,

जन्मादिसूचनतद्भाव्ययोद्योद्यादानत्वस्य ज्ञेयब्रह्मलक्षणत्वोक्ते ।

—सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथम परिच्छेद।

अविद्योपहित चित् जगत् का कारण है।^१

विवरणकार का मत—विवरण मतानुयायियों का कार्य कारणवाद के सम्बन्ध में कथन है कि जो 'सर्वेत्', सर्वविन् है तथा जिसका तपोज्ञानमय स्वरूप ज्ञान का विवार है, उस सर्वेत् ब्रह्म में हिरण्यगम्भीर, नाम, स्वभा॒व और अन्त उत्पन्न होते हैं इस श्रुतिनालय के अनुष्ठ पर्वतवादि धर्मों से युक्त माया में शब्दनित ईश्वर एवं ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है।^२ ब्रह्मानन्द ने विवरणवाद के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि ईश्वर और जीव अविद्या में अमज्ज शुद्ध चित् के विष्व एवं प्रतिविष्व के स्पर्श हैं। यह शुद्धचित् तत्त्व ही जो ईश्वर एवं जीव सत्ता को प्राप्त होता है, एवं सर्वात्मक माक्षी है, जगत् का उपादानकारण है।^३

वाचस्पति मिथ्र का मत—अद्वैत वेदान्त के गम्भीर समालोचक अप्यय दीक्षित ने वाचस्पति मिथ्र के कार्य कारण सम्बन्धी मिद्दान्त का विप्रेचन करते हुए कहा है कि वाचस्पति मिथ्र के मतानुसार माया से विषयीकृत ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है और माया सह-कारी कारण है।^४ यहाँ जीवाश्चित्तत्व से जीवत्व विभिन्न चेतन्याश्चित्तत्व विवक्षित न होमर चेतन्याश्चित्तत्व ही विवक्षित है।

अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती का मत—मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार अज्ञान ही इस द्वैतान्तर्मय जगत् का उपादान कारण है। अद्वैत वेदान्त के इस प्रकाण्ड विद्वान् का कथन है कि अज्ञान के ही कारण ब्रह्म जगत् का कारण बहलाता है।^५

प्रकाशानन्द का मत—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली वे लेखक प्रकाशानन्द ने जगत् को अज्ञानहृत माना है।^६ प्रकाशानन्द के मतानुसार अज्ञान ही जगत् का निमित्त कारण है और वही उपादान कारण है।

क्षतिपय अन्य मत—माया एवं अविद्या के भेद के आधार पर भी कुछ विद्वानों ने जगत् के कार्य-कारण सम्बन्धी मत का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है। माया एवं अविद्या में भेद को स्वीकार करते वाने कुछ विद्वान् कहते हैं कि आकाशादि 'महाभूत प्रपञ्च' ईश्वर में रहने वाली माया का परिणाम है। अत आकाशादि महाभूत प्रपञ्च का उपादान ईश्वर है। इसके अतिरिक्त अन्त वर्ण आदि प्रपञ्च, ईश्वराश्रित माया ने परिणाम भूत आकाशादि महाभूतों से संसृष्ट जीव की अविद्या से उत्पन्न हुए सूक्ष्म भूतों का कार्य है, इसलिए ईश्वर और जीव दोनों अन्त वर्ण आदि के उपादान कारण हैं।

१. ब्रह्मानन्दी, अद्वैत मिदि, पृ० ४३८।

२. सिद्धान्तलेग संश्लेष्य—१।

३. ब्रह्मानन्दी, अद्वैत मिदि, पृ० ४८३। (नियंत्रणागर, १६१७)

४. वाचस्पतिमिथास्तु—जीवाश्चित्तमायाविषयीकृत ब्रह्मस्वत एव जात्याश्रयप्रत्यक्षाकारेण विवर्तमानतयोपादानमिति मायामहाकारित्वम्।

—सिद्धान्तलेगमन्त्रह, प्रथम परिच्छेद।

५. अस्यदेव्यन्दजानम्य युपादानकारणम्।

अद्वैत तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते॥—अद्वैत मिदि, पृ० २३८।

Radhakrishnan Indian Philosophy, Vol II, p 580 से उद्धृत।

६. देविए—वेदान्त मिद्दान्त मुक्तावली, द्वितीय २६ की व्याख्या।

(जीवानन्द विद्यामागर द्वारा सम्पादित सम्पर्श, दत्तकना १६३५।)

माया एवं अविद्या सम्बन्धी भेद के आधार पर कुछ समालोचक विद्वानों का विचार है कि जिस प्रकार आकाशादि महाभूत प्रपञ्च ईश्वराश्रित माया का परिणाम है और इसलिए आकाशादि महाभूत प्रपञ्च में ईश्वर उपादान है, उसी प्रकार अन्तःकरण आदि जीवाश्रित अविद्या के ही परिणाम हैं, और उनमें जीव ही उपादान है, ईश्वर नहीं।

उपर्युक्त मतों के विपरीत अद्वैत वेदान्त के एकाधिक विद्वानों ने माया एवं अविद्या को अभिन्न मानकर भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना की है। माया एवं अविद्या की अभिन्नता के अनुसर्ता कतिपय विद्वानों का विचार है कि यद्यपि आकाशादि महाभूत प्रपञ्च का ईश्वर ही उपादान है, परन्तु अन्तःकरण आदि में जीव के तादात्म्य की प्रतीति होने से अन्तःकरण आदि का उपादान जीव ही है।

उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों के मतानुसार सम्पूर्ण व्यावहारिक पदार्थों का उपादान ईश्वर है और प्रातिभासिक पदार्थों का उपादान जीव है।

उपर्युक्त मत के विपरीत कुछ विद्वानों का विचार है कि केवल एक जीव ही अज्ञान से स्वाप्निक पदार्थों के समान ईश्वर सहित इस समस्त प्रपञ्च का कारण है।

विद्वानों के एक वर्ग का विचार है कि ब्रह्म और माया दोनों ही जगत् के प्रति उपादान हैं। केवल अन्तर इतना है कि ब्रह्म विवर्त दृष्टि से उपादान है और माया परिणाम रूप से।^१

आलोचना

कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में ऊपर हमने जिन मत-मतान्तरों का उल्लेख किया है उन सभी ने ब्रह्म, ईश्वर और जीव में से किसी एक को जगत् का कारण स्वीकार किया है। यहां पर यह कह देना और उम्युक्त होगा कि उक्त तीनों कारणों की जगत्कारणता विना माया के असिद्ध है। माया के द्वारा ही ब्रह्म, ईश्वर एवं जीव जगत् के कारण कहलाते हैं। माया की सहकारिता के विना तो सर्वोच्च सत्य पारमार्थिक ब्रह्म में भी जगत्कारणता नहीं सिद्ध होती। परन्तु माया शक्ति से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण भी सिद्ध होता है और उपादान कारण भी। अपनी चेतन्य प्रधानता के कारण मायाविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर प्रपञ्चमय जगत् का निमित्त कारण है और अज्ञानप्रधानता के कारण उपादान कारण। जिस प्रकार कि एक ही मकड़ी अपने तन्तु रूप कार्य के प्रति, चेतन्य प्रधानता के कारण निमित्त कारण है और अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादान कारण है, उसी प्रकार माया विशिष्ट ब्रह्म चेतन्य प्रधानता के कारण निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों ही है।

जगत् के कार्य-कारण सम्बन्धी सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह कहना और उचित होगा कि वेदान्तिक विषयवाद एवं अज्ञानवाद का प्रभाव पश्चिमी दाशनिकों पर भी अक्षुण्ण रूप से पड़ा है। जिस प्रकार कि विषयवाद एवं विषयवाद के अन्तर्गत अज्ञान के द्वारा विषयी आत्मा में समस्त विषयों की उत्पत्ति सिद्ध की गई है, उसी प्रकार वर्कले,^२ एडवर्ड केंडे,^३ हीगल^४ एवं

१. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृष्ठ ६७-७४ (अच्युत प्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण)।

२. Prof. J. C. Chatterji's article, Empiricism—History of Philosophy, Eastern and Western, Edited by Radhakrishnan.

३. Edward Caird : Evolution of Religion, Vol. I., p. 263.

४. Lectures on the Philosophy of Religion, Vol. I., p. 828.

हन्डेन^१ प्रमुकि परिचयी विद्वानों ने भी जगत् की सत्ता की आत्मगत ही माना है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्तिक एव पाद्यात्य विद्वानों वे कार्यकारणसम्बन्धी सिद्धान्तों से पर्याप्त साम्य मिलता है।^२

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जगत् की उत्तरति सम्बन्धी सिद्धान्त को प्रतिशिष्टवाद, अपच्छेदवाद, आभासवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद—सृष्टि-दृष्टिवाद एव अध्यारोपवाद—आदि सिद्धान्तों के आधार पर स्पष्ट किया गया है। उक्त सिद्धान्तों में से प्रतिशिष्टवाद, अपच्छेदवाद और आभासवाद का विवेचन तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। यहाँ दृष्टि-सृष्टिवादादि दोष सिद्धान्तों का सभीषात्मक निष्पत्ति किया जाएगा।

दृष्टि-सृष्टिवाद

दृष्टि सृष्टिवाद के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के आचार्यों में मर्त्यव्य नहीं है। यही वारण है कि इस सिद्धान्त का निष्पत्ति अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत दो मतों के आधार पर किया गया है। यहाँ दोनों मतों के अनुसार इस सिद्धान्त का पृथक् पृथक् निष्पत्ति किया जाएगा।

प्रथम मत के अनुसार दृष्टि-सृष्टिवाद का स्वरूप

दृष्टि सृष्टिवाद के अनुसार बुद्ध विद्वानों का बहना है कि जाग्रन्-कालिक घटादि के भानों की गति भी स्वप्नकालीन पदार्थों की गति के समान ही है। वयोर्गति अर्थं सृष्टि के पूर्व अर्थों में इन्द्रियों का सन्ति-रूप नहीं है। दृष्टि-सृष्टिवादी जगत् को कल्पित सिद्ध बताते हुए समस्त प्रपञ्च रूप जगत् की सृष्टि, दृष्टिसमकालीन ही मानते हैं, इसलिए इस सिद्धान्त का नाम दृष्टि-सृष्टिवाद पड़ा है। दृष्टि सृष्टिवाद के समर्थकों का बहना है कि जो पदार्थ कल्पित है, उसकी अज्ञानसत्ता हो ही नहीं सकती। अत समस्त जाग्रत् प्रपञ्च की दृष्टिसमकालिक सृष्टि मानकर घटादि दृष्टि में चक्षु दे मन्त्रिकर्य का अनुविधान प्रस्तुत, दृष्टि के पूर्व में घटादि का अमोब होने से नहीं हो सकता। इसलिए स्वप्न के समान जाग्रत्-कालीन घटादि जागतिक पदार्थों का अनुभव भी चालूप नहीं है।^३

प्रथम मत की आलोचना

दृष्टि-सृष्टिवाद के उपर्युक्त विवार के सम्बन्ध में इस शब्द का होना स्वामानिक है कि परि दृष्टि-सृष्टिवाद के आधार पर समस्त जगत् को कल्पित माना जाएगा तो उसकी कल्पना करने वाला कौन कहा जाएगा? अविद्योपाधि से रहित आत्मा अवश्य अविद्योपाधि से उपहित आत्मा। अविद्योपाधि से रहित आत्मा को तो इसलिए प्रपञ्च की कल्पना करने वाले नहीं बहु जा सकता कि मोक्ष में भी अन्य साधनों की वपेक्षा न करने वाले निष्पाधिक कल्पक आत्मा भी अवस्थिति होने के बारण प्रपञ्च की अनुबूति होने लगेगी और इस प्रकार मोक्ष एव प्रपञ्च-मय सम्पादकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। इसके विपरीत यदि कहा जाय कि अविद्योपरित आत्मा प्रपञ्च मय सम्पादकी कल्पना है, तो भी यह पक्ष अयुक्त ही है, क्योंकि

१. Haldane Pathway to Reality, Vol 2, p 111

२. विशेष देवनिए J Kirtikar Studies in Vedanta, Ch II.

३. सिद्धान्तलेखसम्प्राप्ति, तृतीय पृष्ठिलेख।

अविद्या स्वतः कल्पित है। अविद्या के कल्पित होने के कारण अविद्या की कल्पना से पहले ही कल्पक अविद्योपहित आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना होगा, जो असंगत है। क्योंकि जब अविद्या की कल्पना ही नहीं है तो अविद्योपहित आत्मा की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है। अतः अविद्या की ही सृष्टि असम्भव है। वस्तुतः सिद्धान्त मतानुसार अविद्योपहित आत्मा को ही प्रयंच का कल्पक माना गया है। उक्त शंका का समाधान करते हुए यह कहा जा सकता है कि पूर्व-पूर्व कल्पित अविद्या से उपहित आत्मा ही उत्तरोत्तर अविद्या का कल्पक है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि अविद्यादि द्वयः पदार्थ अनादि है, अतः उनमें दृष्टि-सृष्टि नहीं माननी चाहिए। किन्तु अविद्या से भिन्न सम्पूर्ण कार्य प्रपञ्च में दृष्टि-सृष्टि संगत है।^१ सिद्धान्ती के पूर्वोक्त मत के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि अविद्या से उपहित आत्मा पूर्वोक्त उक्ति से प्रत्यक्ष वस्तु का कल्पक भले ही हो, परन्तु केवल श्रुतिमात्र से प्रतीत आकाशादि प्रपञ्च और उनके क्रम आदि का कल्पक किसी को नहीं कहा जा सकता। पूर्वपक्षी के उक्त तर्क की अयुक्तता सिद्ध करते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि श्रुति भाव से प्रतीत आकाशादि प्रपञ्च का कोई कल्पक नहीं है। सिद्धान्ती के उक्त मत के सम्बन्ध में पूर्व पक्षी फिर शंका करता है कि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः, इत्यादि श्रुति सिद्धान्ती के मतानुसार निरालम्ब सिद्ध होगी।'

सिद्धान्ती पूर्व पक्षी की उर्युक्त शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहता है कि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' आदि श्रुतियों का आलमन्वन प्रपञ्चशून्य ब्रह्म और जीव का ऐक्य है। अध्यारोप और अपवाद के आधार पर प्रपञ्चशून्य ब्रह्म की प्रतिपत्ति होती है, इसलिए समस्त प्रपञ्च शून्य ब्रह्म की अवगति के उपाय व्यप से श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का कथन किया गया है। परन्तु वस्तुतः, सृष्टि आदि का प्रतिपादन श्रुति का तात्पर्यभूत अर्थ कदापि नहीं है।^२

द्वितीय मत के अनुरूप दृष्टि-सृष्टिवाद का निरूपण

ऊपर हमने दृष्टि-सृष्टिवाद के जिस सिद्धान्त की चर्चा की है उसके अनुसार विश्व की सृष्टि दृष्टिसमान्यिक है। उक्त मत के अतिरिक्त दृष्टि-सृष्टिवाद का एक अन्य रूप भी मिलता है। दृष्टि-सृष्टिवाद के इस द्वितीय मत के समर्थक वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द आदि विद्वान् हैं। प्रकाशानन्द प्रभृति का कथन है कि दृष्टि ही विश्वसृष्टि है।^३ इस मत के अनुसार स्वप्रकाशज्ञानस्वरूपा दृष्टि ही प्रपञ्च सृष्टि है, जैसा कि ऊपर कहा गया है, विश्व की सृष्टि दृष्टिसमानिक कदापि नहीं है। इस मत के अनुयायियों का कथन है कि दृश्य जगत् स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप आत्मा से पृथक् नहीं माना जा सकता। अपने मत की पुष्टि में इन विद्वानों ने स्मृति का प्रमाण देते हुए कहा है —

ज्ञानस्वरूपमेवाद्युर्जगदेतद्विचक्षणः।

अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः॥४॥

अर्थात् विवेकी पुरुष इस जगत् को ज्ञानात्मक ही कहते हैं, परन्तु कुछ भ्रान्त पुरुष इसी ज्ञानरूप

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, द्वितीय परिच्छेद।

२. अमलानन्द—शास्त्र दर्पण १४४, पृष्ठ द७ (वाणी विलास प्रेस, श्रीरंगम्)।

३. तदेव दृष्टिमात्रात्मकं जगत्—वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, श्लो० २६ पर प्रकाशानन्द की व्याख्या।

४. अप्यदीक्षित द्वारा लिखित सिद्धान्त लेश संग्रह, द्वितीय परिं० से उद्धृत।

जगत् को ज्ञान सत्ता से पृथक़ देखने हैं। इस प्रकार दृष्टि सृष्टिवाद सम्बन्धी उक्त मत के अनु-
सार जगत् की सत्ता दृष्टिसमकालिक न होकर दृष्टि मात्र ही है।

भीक्षा

दृष्टि-सृष्टिवाद और अद्वैत वेदान्त के मामान्य सिद्धान्त में इनना थलर है कि जहाँ
दृष्टि-सृष्टिवाद के अनुमार जगत् वी व्यावहारिक सत्ता का निराकरण किया गया है वहाँ
शावरवेदान्त के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है। दृष्टि सृष्टि
वादी का सिद्धान्त विज्ञानवादी बोद्ध के अधिक समीप प्रतीत होता है। दोनों भ वेवल यही एक
विशेष अराध्य है कि दृष्टिसृष्टिवादी आत्मात्प परमार्थ सत्य को स्वीकार करता है, जबकि
विज्ञानवादी बोद्ध वेदान्त के आत्मवाद का विरोधी है। इसी प्रकार दृष्टि सृष्टिवाद का सिद्धान्त
सुरेश्वराचार्य के आभासवाद में भी इस अर्थ में मिन्न है कि दृष्टि सृष्टिवादी के अनुमार जाग-
तिक विषयों की सत्ता दृष्टिसमकालिक ही स्वीकार की गई है, जबकि आभासवादी के मतानुसार जागतिक पदार्थों की सत्ता तब तक सत्य ही वही जाएगी, जब तक कि परमार्थ सत्य वा
बोध नहीं हो जाता।¹

सृष्टि-दृष्टिवाद का सिद्धान्त

जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के अतिशय विद्वान् दृष्टि मृष्टिवाद के
विरोधी हैं। ये विद्वान् सृष्टि-दृष्टिवाद के समर्थक हैं। दृष्टि-सृष्टिवाद के विरोध में इनका
कहना है कि दृष्टि-सृष्टिवादीयों द्वारा प्रतिपादित जाग्रत् प्रपञ्च की प्रातिभासिकता, आवाशादि
सृष्टि का अपलाप एवं स्वर्गादि वा अपलाप अप्रामाणिक है। ये विद्वान् दृष्टि-सृष्टिवाद वा
समर्थन न करके सृष्टि-दृष्टिवाद के पक्षपाती हैं। सृष्टि-दृष्टिवादीयों का विचार है कि श्रुति
में बदलाये हुए क्रम के अनुमार परमेश्वर द्वारा मृष्ट जगत् असात् सत्ता से युक्त है। इस मत
के अनुमाणियों का तर्क है कि तत् तत् विषयों में तत्-तत् प्रमाणों की प्रवृत्ति होने के अनन्तर
आवरण भगद्वारा तत्-तत् विषयों का अपरोक्षावभास होता है।² अत दृष्टि ही सृष्टि नहीं है,
प्रत्युत सृष्टि ही दृष्टि की जननी है।

बध्यारोपवाद एवं अपवाद की योजना

इहावेत्ता युद्ध के निए त्रिकासु शिष्य को नगन् के मिथ्यात्व एवं परमात्मा की सत्यता
का उपदेश देने के लिए बध्यारोपवाद एवं अपवाद सिद्धान्त की योजना अद्वैत वेदान्त की एक
अनुमान देन है। अध्यारोपवाद योजना के अभाव में तत्त्ववेत्ता युद्ध द्वारा विवित्सु के निए
उपदेश देना ही असम्भव होता। अत यह स्थत अनुचित न होगा कि अध्यारोपवाद सिद्धान्त के
द्वारा ही निष्पत्त ब्रह्म का उपदेश सम्भव है।

अध्यारोप वा अर्थ है—किसी वस्तु का आरोप और अपवाद वा अर्थ है—आरोपित वस्तु
का निराकरण। अद्वैत वेदान्त में सन्दर्भ में ब्रह्म में जगत् के विषयों का आरोप अध्यारोप है एवं
जगत् में समस्त विषयों का निराकरण अपवाद है। अद्वैत वेदान्त में परवर्ती आचार्य सदानन्द

¹ Lights on Vedanta, p. 46

² सिद्धान्तलेशमप्रह द्वितीय परिच्छेद।

ने एक उदाहरण के आधार पर अध्यारोप की जो परिभाषा की है, वह इस प्रकार है—

असर्पभूतायां रज्जीसर्परोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽव्यारोपः (वेदान्तसार ६) अर्यात् किसी वस्तु में अवस्तु के आरोप को अव्यारोप कहते हैं, जैसे रसी में सर्प का आरोप अव्यारोप है। अव्यारोप के द्वारा गुरु पहिले आत्मा में, अवस्तु रूप बनात्म शरीर का आरोप करता है और फिर आत्मा को अपवाद पद्धति के द्वारा शरीर के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशों से अतिरिक्त सिद्ध करता है।

अपवाद के तीन भेद

आरोप के निराकरण के लिए ऊपर हमने जिस अपवाद की चर्चा की है वह (१) श्रौत (२) यौक्तिक और (३) प्रत्यक्ष भेद से तीन प्रकार का है^१। यहाँ इन तीनों भेदों का पूर्यक्-पृथक् स्पष्टीकरण उपयुक्त होगा।

श्रौत अपवाद—‘नेह नानास्ति किञ्चन’ इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा नानात्ममय प्रपञ्च का निराकरण श्रौत अपवाद कहलाता है।

यौक्तिक अपवाद—कट्टक एवं कुण्डलादि की सत्ता अपने उपादानकारणभूत सुवर्णादि से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार घटादि दृश्य पदार्थों की सत्ता घटादि के उपादान मृत्तिका आदि से भिन्न नहीं है। उक्त युक्ति के आधार पर जब यह कहा जाता है कि जिस प्रकार कट्टक कुण्डलादि अपने सुवर्ण रूप उपादान से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार प्रपञ्चरूप जगत् भी अपने कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है, तो प्रपञ्च का यह निराकरण यौक्तिक अपवाद कहलाता है।

प्रत्यक्ष अपवाद—रसी एवं सर्प के उदाहरण में रसी का प्रत्यक्ष हीने पर यह रसी है सर्प नहीं, इस प्रकार सर्प का अपवाद—प्रत्यक्ष अपवाद है। इसी प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्यों के अनुसार तत्त्ववेत्ता को जब ‘मैं सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म हूँ’ इस प्रकार का अनुभव होता है और अनात्मवृद्धि का निराकरण हो जाता है तो यह प्रत्यक्ष अपवाद कहलाता है।

लोक में भी जिस प्रकार कि आकाश के स्वरूप का परिज्ञान कराने के लिए प्रवृत्त पुरुष पहिले नीलिमा और विशालता आदि का ज्ञान कराकर फिर यह आकाश बस्तुतः नीलिमायुक्त नहीं है, इस प्रकार अपवाद करके रूपरहित एवं व्यापक आकाश का दोष कराता है, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त में भी पहिले आकाशादि का कारण ब्रह्म को बतलाया जाता है और फिर नियेष वाक्यों से आरोपित संसार कारणत्व के अपवाद से यून्य ब्रह्म की अद्वैतता का प्रतिपादन किया जाता है।

ऊपर किए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि अद्वैतवाद वेदान्त के अन्तर्गत अध्यारोप एवं अपवाद की व्यवस्था ब्रह्म एवं जगत् की समस्या को सुलझाने का एक सरल एवं वैज्ञानिक उपाय है।

१. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृष्ठ ३५६, ६० पर देखिए— पाद टिप्पणी (अच्युत ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण)।

पचम अध्याय

अद्वैतवाद का स्वरूप विवेचन (उत्तराद्धि)

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अधिष्ठान का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अधिष्ठानवाद के मिद्दान्त के स्वीकार किए दिना कूटस्थ एवं अचल ब्रह्म में जगत् की कारणता अनिष्टम है, यही अधिष्ठानवाद का सर्वाधिक महत्व है। इस मिद्दान्त का यन्त्रिक्ति उन्नेस नृतीय अध्याय में गोडापादाचार्य एवं सर्वज्ञात्ममुनि के दार्शनिक मिद्दान्तों की विवेचना करते समय किया जा चुका है। यहाँ इस मिद्दान्त का संदर्भान्तिक विवेचन अभीष्ट है।

अद्वैत वेदान्त दर्शन के मायावाद मिद्दान्त के अनुमार अक्रिया एवं माया को जगत् का कारण कहा गया है। परन्तु अविद्या एवं माया विना आधार के नाम हपात्मक प्रपञ्च मय जगत् वी उत्तरति में असमर्थ है। इसलिए वेदान्त परिमापाकार का यह कथन युक्तियुक्त ही है कि अधिष्ठान सत्ता के स्वीकार किए दिना जगत् की आरोपित सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।^१ व्यावहारिक जगत् की बात तो दूर रही असत् मृगनृशिका आदि भी विना आधार के नहीं रह सकते।^२ अधिष्ठान के उपयोगित्व पर विचार करते हुए शक्तराचार्य ने स्पष्ट कहा है कि इन्द्रियों के व्यवहार भी विना अधिष्ठान के स्वीकार किए नहीं सिद्ध हो सकते।^३

सत् ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है और जगत् अध्यस्त है। जिस प्रकार कि विवेक न होने के कारण लोग अप्रत्यक्ष आकाश में श्यामता, शुक्रता और नीलता का आरोप कर लेते हैं उसी प्रकार सत् ब्रह्म में भी अज्ञानी जगत् का आरोप कर लेते हैं। वस्तुतः अध्यस्त जगत् की सत्ता अधिष्ठान स्वयं ब्रह्म से पृथक् नहीं है। परन्तु अध्यस्त जगत् के अधिष्ठान ब्रह्म से अपृथक् होने पर भी अधिष्ठान ब्रह्म की अवधिता एवं शुद्धता अवाधित है। इस सम्बन्ध में वेदान्त-मिद्दान्त मुक्तावलीकार प्रकाशनन्द ने कहा है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिक्रिया रहता है, उसी प्रकार आपादि एवं दोषों से रटित पूर्णनिर्दस्वरूप शुद्ध ब्रह्म में समस्त प्रपञ्च अध्यस्त है।^४ अधिष्ठानवाद के अनुमार ब्रह्म से पृथक् जगत् की कल्पना करना ही भ्रान्ति है। शक्तराचार्य ने उपन विषय को और म्याप्त करते हुए कहा है कि जिस प्रकार उज्जू में सर्वादि की कल्पना करना भ्रान्ति है उगी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म से पृथक् जगत् की कल्पना करना भी भ्रान्ति मात्र है।^५

१. वेदान्त परिमापा, प्रथम परिच्छेद।

२. गौता, शा० भा० १३।१८।

३. नवाधिष्ठानमन्तरेण द्वियागा व्यवहार मम्मवनि। — द० मू० शा० भा० १।१।

४. वेदान्त मिद्दान्त मुक्तावली २४।

५. विवेक चूडामणि ८०६।

अधिष्ठानवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार नामल्पात्मक प्रपञ्च मय जगत् अध्यस्त है एवं वहाँ अधिष्ठान है।

शून्यवादी वीद्व का अधिष्ठानवाद पर आरोप और उसका परिहार

अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत जिस सत् तत्त्व को अध्यास स्प जगत् का अधिष्ठान कहा है, उसका शून्यवादी ने निराकरण किया है। शून्यवादी का कहना है कि शून्य में ही सावृत्तिक सत्ता से रजतादि का भ्रम उत्पन्न होता है। शून्यवादी का अपने पक्ष का समर्थन करते हुए कहना है कि वेदान्ती का यह कथन असंगत है कि विना सद् रूप अधिष्ठान के भ्रम सम्भव नहीं है। शून्यवादी कहता है कि वेदान्ती के मत में भी तो केशोण्डक या गन्धर्व नगर आदि भ्रम विना अधिष्ठान के ही उत्पन्न होते हैं। साथ ही वेदान्ती का यह कथन भी अनुचित है कि शुक्ति ज्ञान होने के अनन्तर रजत के 'नेदं रजतम्' वाद से शुक्ति सत्य वनी रहती है, उसका वाध नहीं होता और इस प्रकार उसके वाधित न होने से ही वह वाध की अवधि कहलाती है। अतः वाध अवधि के सहित ही होता है, वेदान्ती का यह कथन दोषपूर्ण है। वेदान्ती के उबत तक का खण्डन करते हुए शून्यवादी का कहना है कि रज्जु और सर्प के दृप्तान्त में 'न सर्पः' सर्प नहीं है, यह आप्तवावप्यस्वरूप वाद निरवधिक होता है। शून्यवादी का आक्षेप है कि जिस भ्रम का वाध आपके अभिमत अधिष्ठान (शुक्ति, रज्जु आदि) के ज्ञान से नहीं हुआ अपितु 'सर्प नहीं है या रजत नहीं है' इस आप्त वावध से हुआ, उसमें कुछ भी अवधि नहीं है। अतः अधिष्ठान की सत्ता ही नहीं स्वीकार की जा सकती।^१

शून्यवादी के आक्षेप का परिहार करते हुए यह कहा जायेगा कि शून्यवादी का यह कथन यथार्थ नहीं है कि वेदान्ती के मत में केशोण्डक का भ्रम विना अधिष्ठान के ही सम्भव है। केशोण्डक के सम्बन्ध में वेदान्ती का मत है कि बंगुलि से अपांग भाग में नेत्र दबाकर मलने से एकवित हुई नेत्र की किरणें ही केशोण्डक के अधिष्ठान हैं। गन्धर्व नगर का अधिष्ठान वेदान्त के मतानुसार आकाश है। यदि पूर्व पक्षी के अनुसार विना अधिष्ठान के ही भ्रम सम्भव होने लगेगा तो शून्य ज्ञान भी शुक्ति-रजत ज्ञान के समान निरधिष्ठानक होने से भ्रम ही कहलाएगा।

यदि कहा जाए कि रजत का अधिष्ठान भ्रम है और भ्रम का अधिष्ठान रजत और इस प्रकार जैय रजतादि और भ्रम ज्ञान दोनों परस्पर एक दूसरे के अधिष्ठान हैं, तो यह अनुचित है, वर्णोंकि ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोप था जाएगा, कारण कि अधिष्ठान का अध्यस्यमान से पूर्वकाल में रहना आवश्यक है। भ्रम और रजत को एक-दूसरे का अधिष्ठान मानकर भ्रम की साधिष्ठानता सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए भ्रम और रजत के अतिरिक्त किसी तीसरे सत्य को अधिष्ठान मानना ही युक्ति-संगत होगा।

वीजांकुर न्याय द्वारा अधिष्ठान का समर्थन

वीजांकुर न्याय से भ्रमज्ञान और ज्ञेय (रजतादि) व्यक्तियों की परम्परा मानने पर भी वीजांकुर प्रवाह में अनुगत मृत्तिका की तरंग ज्ञान और ज्ञेय की परम्परा में अनुगत रूप से प्रतीत होने वाली किसी स्थायी वस्तु को अवश्य स्वीकार करना होगा। जिस प्रकार कि घट

और कपाल में परस्पर अन्वित-अनुगत मृत्तिका के अन्वय से कार्य-कारण भाव की उपर्युक्ति होती है, उमी प्रकार परस्पर अन्वित बीजाकुर में अन्वयी-अनुगत तदारम्भक कारण द्रव्य के अन्वय से कार्य-कारण भाव की उपर्युक्ति होती है और बीजाकुर परम्परा में जिस वीज से जो अकुर उत्पन्न हुआ है उसी अकुर से अपने कारण घ्वल्ल वीज की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु दूसरे वीज की उत्पत्ति होती है और यह वीज भी पुन दूसरे अकुर को उत्पन्न करता है, अपने कारण भूत अकुर की नहीं। इस प्रकार एक बीजाकुर में कार्य-कारण का गृहण हो जाते पर उस गृहीत कार्य कारण भाव को लेकर अदृष्ट बीजाकुर परम्परा में भी कार्य-कारण भाव का गृहण हो जाता है। अत बीजाकुर परम्परा में अनवस्था तथा अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता। अत सदृष्ट अधिष्ठान को स्वीकार करना आवश्यक ही है। वेदान्ती का विधान है कि अनुगत स्थायी वारण न मानकर अदृष्ट की कल्पना करने में अन्य परम्परा के प्रसंग की आपत्ति अवश्य द्वा भूलनी है।

बाष्प वाक्य स्वरूप वाध निरपेक्ष है, शून्यवादी के इस तर्क का निराकरण करने हुए वेदान्ती का विधान है कि 'सर्वं नहीं है' इस धारणा वाक्य स्वरूप वाध का भी 'किन्तु रज्जु है' यहा तक नात्य होने से आप्त वाक्य इस वाध भी सावधिक है। 'सर्वं नहीं है' यह मुनने पर 'तो क्या है?' ऐसी अपेक्षा का नित्य उदय होने से पुरोवर्ती वस्तु-मात्र अवधि विद्यमान ही है। इसके अतिरिक्त यहा कुछ भी नहीं है, व्यर्थ ही तुम ढर रहे हों, इस प्रकार वाध में भी 'यहा' पद से उपस्थित पुरोवर्ती देश ही अवधिहेते विद्यमान है। अत शून्यवादी का उक्त तर्क निरर्थक है।

जिन माया रचित हस्तादि स्थलों में पूर्वपक्षी निरधिष्ठान ऋम की शका दरता है, वहा वेदान्ती का मन है कि उन स्थलों में भी भ्रम या वाध का साधक साक्षि-चैतन्य ही अधिष्ठान है एव अवधि है। पूर्वपक्षी का यह तर्क उचित नहीं होगा कि भ्रम विषय के बाधित होने से भ्रम का वाध और भ्रम के बाधित होने से उस बाधित ऋम का अवभास कराने वाले साक्षि-चैतन्य का भी वाध हो जाता है। पूर्वपक्षी के उक्त तर्क द्वारा निराम करते हुए वेदान्ती का कहना है कि साक्षि चैतन्य का वाध नहीं किया जा सकता, क्योंकि साक्षि-चैतन्य के बाध का कोई साधक नहीं है। साक्षि-चैतन्य के अतिरिक्त सब कुछ जड़ स्प ही है। यदि पूर्वपक्षी शून्य को ही अधिष्ठान मानने लगे तो यह अनुचित है, क्योंकि अध्यस्थमान रजतादि में शून्य अनुग्रहमान नहीं है। इसके विपरीत सदृष्ट अधिष्ठान 'सदिद रजतम्' (यह रजत सद है) इस अनुभव बन से सर्वत्र अन्वयी है। यदि शून्य को अन्वयी मान लिया जाए तो भ्रम दशा में 'शून्य रजत है' इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए, 'यह रजत है' ऐसी प्रतीति नहीं। यदि पूर्वपक्षी बहे कि 'इदम्' (यह) इस प्रतीति का विषय होने वाला ही शून्य है, तो ऐसा स्वीकार करने पर तो केवल शून्य एव सद् ब्रह्म में नाम मात्र का ही अन्तर रहा। इसके अतिरिक्त शून्य की अवीधि भी नहीं बहा जा सकता, क्योंकि सर्ववाध के अनन्तर शून्य की प्रतीति नहीं होती। यदि वाध के अनन्तर भी शून्य की प्रतीति मानी जाएगी तब तो शून्य चैतन्य का ही रूप कहनाएगा।

उक्त विवेचन के साधार पर शून्यवादी के उमस्त तर्कों का निराकरण हो जाता है जिनके आधार पर उमने अधिष्ठान के वैश्यर्थ्य को सिद्ध करना चाहता या।

जागरण एवं स्वप्न कालिक अध्यास का अधिष्ठान

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जागरण एवं स्वप्नावस्था में वृत्तिप्रतिविम्बित चैतन्य ही अधिष्ठान है। जिस प्रकार कि जागरण में सप्रयोग से उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्ति में अभिव्यक्त मुक्ति रूप इदमंशावच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली अविद्या रजताकार होकर विवर्त रूप परिणाम को प्राप्त होती है, उसी प्रकार स्वप्न में भी देह के भीतर ही होने वाले निद्रादि द्वौपों से दूषित अन्तःकरण की वृत्ति में अभिव्यक्त वृद्ध्यवच्छिन्न चैतन्य में विद्यमान अविद्या अदृष्ट द्वारा उद्भुद्ध किए गए अनेक विपर्यां के संस्कारों से युक्त होती हुई प्रपञ्च के आकार में विवर्त-हृपता को प्राप्त होती है।

वेदान्ती के उपर्युक्त मत के सम्बन्ध में शंका करते हुए पूर्व पक्षी का कथन है कि यदि उक्त कथन के अनुसार स्वप्नकालिक भ्रम का अधिष्ठान आत्म चैतन्य है तो अच्युत्यमान पदार्थ के साथ आत्मचैतन्य का समानाधिकरण्य होने से 'इदं रजनम्' (यह रजत है) इस प्रकार की प्रतीति के समान ही 'अहं नीलः' (मैं नील हूँ) आदि प्रतीति होनी चाहिए, न कि 'पुरोदेश के सम्बन्ध से' 'यह नील है' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। पूर्व पक्षी का तर्क है कि यदि उस पुरोदेशी देश की भी आत्मा में अच्युत्य मानोगे तो 'मैं देश हूँ' ऐसा भी अन्दर ही प्रतिमासित मानना पड़ेगा। संक्षेप में पूर्व पक्षी के उपर्युक्त मत का तात्पर्य है कि आत्म चैतन्य के साथ तादात्म्य दिक्षाने वाली प्रतीति होनी चाहिए न कि वाह्य देश के साथ। यदि कहा जाए कि आत्म चैतन्य के साथ तादात्म्य प्रतीति का अतिप्रसंगात्मक दोष तो अत्यल्प है, जागरण में भी चैतन्य के अधिष्ठान होने से वहां भी यह दोष है तो पूर्व पक्षी कहता है कि जागरण में भी यह दोष हम भानते ही हैं।

दूर्वं पक्षी के उक्त तर्कों का निराकरण वेदान्ती ने वड़ी कुशलता एवं सूक्ष्मदर्शिता के साथ किया है। उपर्युक्त तर्कों के सम्बन्ध में वेदान्ती का कथन है कि शरीरावच्छिन्न अहंकार के साथ समानाधिकरण्य से अन्तः प्रतीति 'अहं देशः', अहं नीलः—(मैं देश हूँ, मैं नील हूँ) की आपत्ति उत्पन्न कर रहे हो या शुद्ध चैतन्य के साथ सामानाधिकरण्य से उक्त अन्तः प्रतीति 'अहं देशः' 'अहं नीलः' की आपत्ति प्रस्तुत कर रहे हो। वेदान्ती का समाधान है कि प्रथम इष्ट से तो आपत्ति इसनिए नहीं स्वीकार की जा सकती कि हमने अहंकार को अधिष्ठान रूप से स्वीकार नहीं किया है। जहां तक द्वितीय पक्ष की बात है, यह आपत्ति हमें इष्ट ही है, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि वेदान्ती के मतानुसार स्वाप्न पदार्थ अन्तःकरण में ही भासित होता है और उसका तादात्म्य अधिष्ठान भूत आत्मचैतन्य के साथ होता है।

अद्वैत वेदान्त के चिचार से केवल स्वाप्न पदार्थ तथा शुक्तिरजतादि ही विभ्रम नहीं है, वरन् व्यावेहारिक घट-पटादि भी आत्म चैतन्य में ही अच्युत्य है। पूर्व पक्षी का यह तर्क समुचित नहीं होगा कि इन्द्रियादि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उत्पन्न घटादि का ज्ञान आत्म स्वरूप नहीं है, क्योंकि विषयावच्छिन्न चैतन्य अहंकारावच्छिन्न चैतन्य से वस्तुतः भिन्न नहीं है। जिस प्रकार कि घटाकाश और मठाकाश में केवल घटरूप उपाधि का उल्लेख मात्र विशेष है, परन्तु आकाश उभयत्र समान ही है उसी प्रकार विषयावच्छिन्न चैतन्य और अहंकारावच्छिन्न चैतन्य में भी केवल विषय और अहंकार रूप उपाधिमात्र विशेष है, परन्तु चैतन्य सामान्य उभयत्र समान ही है। अतः दोनों प्रकार के चैतन्यों में परमार्थतः कोई भेद नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि घटादि व्यावेहारिक पदार्थों का स्फुरण (ज्ञान) आत्म स्वरूप ही है।

और वह आत्मचेतन्य में ही अध्यस्त है।

अपर किए गए विवेचन के अनुसार 'मैं हूँ और मैं नहीं हूँ' इस प्रकार आरम्भ और अनात्मा का व्यवहार अहकार रूप व्याधि के कारण है। एक ही चेतन्य के सर्व व्यापक होने के कारण उमड़ा 'भीतर' एवं 'वाहू' जगत् में रहना उपर्यन्त है। अत जागरण काल में पारमायिक रूप में माने गए घटणादि महल व्यवहार जब सर्वंगत चेतन्यरूप अधिष्ठान में अध्यस्त हैं तो स्वप्न भी उस आत्मचेतन्य में अध्यस्त है यह कहने की अपेक्षा ही नहीं है।

जैसा कि अधिष्ठान सम्बन्धी विवेचन के जारीमें ही कहा गया है, अधिष्ठानवाद का प्रतिपाद्य मायिक जगत् की कायंता सिद्ध करना है। मायिक जगत् की सिद्धि में जो स्थान अधिष्ठान का है, वही अध्यास का भी है। अत इस स्थल पर अध्यास मिद्दान्त का विवेचन अत्यन्त उपयोगी समझ बर किया जा रहा है।

अध्यासवाद और अद्वैत दर्शन

अद्वैत दर्शन में वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से अध्यासवाद का महत्व भी अधिष्ठानवाद से बहुमणि कम नहीं है। अधिष्ठानवाद के द्वारा यदि जगत्कारणवाद वा स्पष्टीकरण किया गया है तो अध्यासवाद के द्वारा कायंत्ररूप जगत् की सत्ता का समालोचन निष्पत्त हुआ है। दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। वेदान्त विरोधी आवायों के अध्यास वे सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मत हैं। पहा पहिले इन मतों का विव्ययन किया जाएगा। इसके पश्चात् इचार् वेदान्त दृष्टि से अध्यास वा विवेचन अभीष्ट होगा।

अन्यथारूपातिवादी नैयायिक का अध्याससम्बन्धी मत

अन्यथारूपातिवादी नैयायिक का विचार है कि अन्य मे (शुक्ल आदि मे) अन्य वस्तु (देशान्तरवर्ती रजत आदि) के धर्म का अध्यास होता है। इस प्रकार अन्यथारूपातिवादी का मत है कि देशान्तर और कालान्तर रजत का ग्रहण दोषयुक्त इन्द्रिय द्वारा ज्ञान लक्षणा प्रत्यासंति से होता है।

आत्मरूपातिवादी धर्मिक विज्ञानवादी बोद्ध का मत

अध्यास वे सम्बन्ध में आत्मव्यातिवादी बोद्ध का मत है कि अन्य वस्तु (वाहू शुक्ल आदि) मे अन्य वस्तु (बुद्धि ल्पी आत्मा) के धर्म रजत आदि वा अध्यास होता है। दूसरे शब्दों म, इस प्रकार कह सकते हैं कि आत्मरूपातिवादी की दृष्टि से आन्तर रजत का ही बाहु पदार्थ के समान अवभास होता है। आत्मव्यातिवादी बोद्ध के मतानुसार बुद्धि (विज्ञान) के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ की सत्ता नहीं स्वीकार की गई है। अत आत्मव्यातिवादी बोद्ध के मत मे रजतादि का अध्यास बुद्धि रूप ही है। ज्ञाना, ज्ञेय और ज्ञान वा भेद भी इस मत म भ्रम ही माना गया है।^१

शून्यवादी बोद्ध का मत

अमन् शून्यतिवाद वे समर्थक शून्यवादी का मत है कि 'इद रजतम्' (यह रजत है)

१. रत्नप्रभा, द्व० स०' शा० मा० उपोद्घात।

यह ज्ञान स्मृति और अनुभव से भिन्न है। उक्त ज्ञान को शून्यवादी बोढ़ अध्यास रूपी ज्ञान मानता है। शून्यवादी का दृष्टिकोण है कि 'यह रजत है', इस ज्ञान में अध्यास के द्वारा वस्तु रजत का भान होता है।^१

अस्थातिवादी भीमांसक का मत

अस्थातिवादी के मत का आशय है कि जिस (शुक्ति में) जिस (रजत) का अध्यास है, उसका भेद न समझने से होने वाला अग्रम ही अध्यास कहलाता है।^२

उपर्युक्त सभी मतों में इस बंदा में ऐकमत्य है कि अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के धर्म की प्रतीक्ति को अध्यास कहते हैं। इस अंश में अद्वैत वेदान्त और उपर्युक्त मतों में भी साम्य अवलोकनीय है।

अद्वैत वेदान्त में अध्यास का स्वरूप

शंकराचार्य ने अध्यास की परिभाषा 'अध्यासो नाम अतस्मिस्तद्वुद्धिः' कह कर दी है। इस परिभाषा के अनुसार किसी वस्तु में तदभिन्न वस्तु का आरोप करना ही अध्यास है। शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प और आत्मा में जगत् का अनुभव अध्यास का ही रूप है। अध्यास ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का प्रवर्तक एवं लोकप्रत्यक्ष का विषय है। यह अनादि, अनन्त, नैसर्गिक एवं मिथ्या है।^३

अद्वैत वेदान्त के इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास होता है, इस शंका का होना स्वाभाविक है कि जो आत्मा विषय नहीं है उसमें विषय और विषय के धर्म का अध्यास किस प्रकार सम्भव हो सकता है, क्योंकि किसी पुरोवर्ती विषय के ऊपर ही तदितर विषय या उसके धर्मों का आरोप अध्यास कहलाता है। उक्त शंका का उत्तर अद्वैत दर्शन के सम्बाद् शंकराचार्य ने वड़ी कुशलता के साथ दिया है। शंकराचार्य का कथन है कि प्रथम तो आत्मा अत्यन्त अविषय ही नहीं है, क्योंकि जब हम यह अनुभव करते हैं कि मैं सोता हूँ, मैं जागता हूँ, आदि तो उस समय उक्त प्रकार के विभिन्न ज्ञानों का विषय आत्मा ही होता है। अतः आत्मा की विषयता का सर्वकालिक निषेध नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य का कथन है कि इस प्रकार का भी कोई नियम नहीं है जिसके अनुसार पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो। उदाहरण के लिए, अज्ञानी पुरुष अप्रत्यक्ष आकाश में भी तलभलिनता आदि अध्यास का अनुभव करता है।^४ अतः यह कहना तर्क-संगत नहीं है कि आत्मा में अनात्म विषय का अध्यास नहीं हो सकता।

अध्यास के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी एक शंका करते हुए कहता है कि यदि अध्यास—रजत का अधिष्ठान चेतन है तो चेतन निष्ठ रजत का 'इदं रजतम्' यह रजत है इत्याकारक पुरोवर्ती अध्यास किस प्रकार सम्भव है। वेदान्त परिभाषाकार ने उक्त शंका का वड़ा समीचीन उत्तर

१. रत्नप्रभा की टिप्पणी, छ० सू०, शा० भा० उपोद्घात (श्रीकृष्ण पन्त सम्पादित)।

२. छ० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

३. एवमनादिरत्नन्तोनैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्या प्रत्ययरूपः कर्तृत्व भोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्व लोक-प्रत्यक्षः (छ० सू० शा० भा० उपोद्घात)।

४. छ० सू०, शा० भा० उपोद्घात।

दें हुए कहा है कि जिम प्रकार न्याय दर्शन में जात्मनिष्ठ मुखादिकों वा, ज्ञान शरीर के सुखादिकों की अविकरणता का अवच्छेदक होने से उपलब्ध होता है उभी प्रकार चैतन्य पात्र के मन्त्र रजत का अग्रिमान न होने पर भी इदमवच्छिन्नत चैतन्य के उमका (रजत का) अधिग्रान होने से एवं 'इदम' को उम रजत का अवच्छेदक होने से अध्यस्त रजत का पुरोदेशवर्ती समर्पणान सम्भव है। बदान्त परिभाषाकार ने इम विषय का लोर अधिक स्पष्ट बरते हुए कहा है कि विषय चैतन्य (इदमवच्छिन्न) के भन्त इश्वरउपर्हित माध्यम चैतन्य के माथ अभिन्न होने से पुरावर्तीविषय नैतन्य म भी अध्यस्त रजतादि वस्तुत माध्यी में ही अध्यस्त हैं।

अध्यास के विभिन्न रूप

अध्यास के ही कारण जीव, पुरुष मन्त्री वादि की पूर्णता एवं अपूर्णता के होने पर (मैं ही पूर्ण और अपूर्ण हूँ) इस प्रकार अनुभव करके वाह्य पदार्थों के घमों का अपने में अध्यास करता है। इसी प्रकार मैं स्वूल हूँ, मैं कृत हूँ, मैं गीरवर्ण वाला हूँ' इत्यादि अनुभव करके आत्मा में देह के घमों का अध्यास देखा जाता है। इन्द्रियघमों के अध्यास के द्वारा जीव 'मैं सूक्ष्म हूँ, मैं अन्धा हूँ,' ऐसा अनुभव करता है।^१ इसी प्रकार काम, गक्षण सक्षम और निश्चय आदि अन्त-करण के घमों का आत्मा में अध्यास देखा जाता है। इमरे अतिथिकत मैं इम ज्ञान के उत्पादक अन्त करण का, अन्त करण की समस्त वतियों के माध्यी प्रत्यगात्मा में अध्यास होता है और इसके विपरीत उम सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्त करण आदि में अध्यास होता है।

अध्यास का महत्व

यद्यपि अध्यास परमार्थ मन् होने के कारण मिथ्या होते हुए भी यह सासार के समस्त लीकिक एवं वैदिक व्यवहारों का हेतु है। अध्यास के ही कारण विधि निपेद्य-दोधक एवं मोशपरक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार अद्वैत दर्शन में अध्यास की महत्वी उपयोगिता स्वीकार की गई है। यक्षराचार्य ने इम विषय में स्पष्ट रूप से कहा है कि जिम देह में आत्ममाव अव्यस्त नहीं है उम शरीर से कोई व्यापार नहीं किया जा सकता। इम अध्यास के अमाव में अमाव आत्मा, प्रमाता नहीं बन मरना एवं आत्मा के प्रभानृत्व के अमाव में प्रभाश की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती।^२ इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रन्यज्ञ आदि प्रमाण और शास्त्रों का अनुभवकर्ता अध्यासवृष्टि वाला पुरुष ही है। इसके अनिरिक्त गमु आदि के व्यवहार और शरीर, इन्द्रियादि प्रनाम्या से प्रात्मा मिलता है, इस प्रकार का परोक्षज्ञान करने वाले विवेकियों के व्यवहार में कोई भेद नहीं मिलता। इस में भी यही मिल होता है कि प्रमाण एवं शास्त्र व्यवस्था के आथ्रय अविद्वान ही हैं, कर्मित उम प्रतार के विवेची पुरुषों को आत्मा और अनात्मा के भेद का परोक्ष ज्ञान होता है परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में उनके और पात्रों के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं होता।^३ उदाहरण के लिए, त्रिष्टुप्रकार किमी पात्र को यदि प्रतिकूल शम्भु मुनाई पड़ता है तो वह दूर हट जाना है और यदि यन्त्रूप यन्त्र सुनाई पड़ता है तो उम और प्रवृत्त होता है, उभी प्रकार पुरुष भी उपर ही प्रवृत्त होने हैं, जिसके अनुकूल व्यवहार

१. व० म०, श० मा० उपोद्घात।

२. व० म०, श० मा० उपोद्घात।

३. रत्नप्रभा, व० म०, श० मा० उपोद्घात।

दिल्लाई पड़ता है। इसके विपरीत जिभर प्रतिकूलता दीखती है वहाँ पुरुष भी प्रवृत्त नहीं होते। जैसे कि पश्य यदि किमी पुरुष को मारने के निए लाठी उठाए आने हुए देखता है तो पिटने की वाशंका से भासने लगता है और यदि उनके नामने कोई पुरुष हरित तृष्ण लिए हुए थाता दिल्लाई पड़ता है तो उसके नम्मुख प्रवृत्त ही जाना है। यहीं वात पुरुषों के नम्बन्ध में भी है व्युत्पन्नचित्त पुरुष भी यदि किनी को चढ़ान निए पाव चिल्लाने हुए देखते हैं तो उसमें दूर हट जाते हैं और इसमें विपरीत पुरुषों को देखकर उनकी ओर प्रवृत्त होते हैं। पशुओं एवं पुरुषों के उपर्युक्त प्रवृत्ति-निवृत्ति हृष्ट व्यवहार का कारण अध्याम है। इन प्रकार उपर्युक्त उदाहरण से यह पूर्णतया मिद्द हो जाता है कि पुरुषों के नम्बन्ध प्रमाण-प्रमेय व्यवहार अध्याम के कार्य है।

जैसा कि, ऊपर कहा जा चुका है, नम्बन्ध शास्त्रीय व्यवहारों का मूल भी अध्याम ही है। अतः आत्मवोध के पूर्व में प्रवर्तनमान शास्त्र अविद्यावान् पुरुष का ही आश्रय लेता है। उदाहरण के लिए, 'शास्त्र को यज्ञ करना चाहिए' आदि शास्त्र व्यवहार आत्मा में, वर्ण, वाश्वम, वय, आदि का अध्याम करके ही प्रवृत्त होते हैं। इन प्रकार नम्बन्ध प्रमाण-प्रमेय एवं शास्त्रीय व्यवहारों का मूल अध्याम ही है। जब अध्याम की निवृत्ति हो जाती है तो केवल अधिष्ठान तत्त्व—एक ब्रह्म ही की भूमा बन्नमान रहती है।

अद्वैत वेदान्त में ईश्वरोपासना की संगति और उसका महत्त्व

बतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म का समन्वय करते समय यह कहा जा चुका है कि सगुण ब्रह्म की उपासना के द्वारा भी सनुप्य निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ है। अतः उपासना सगुण ब्रह्म की दृष्टि से ही संगत है, निर्गुण ब्रह्म की दृष्टि से नहीं। परन्तु यह सगुणोपासना अविद्या का ही हृष्ट है। अध्यास का विवेचन करते हुए, वहीं यह कहा जा चुका है कि शास्त्रनिर्दिष्ट यजादि कृतों का आद्यार अध्यास ही है। यद्यपि ईश्वर की उपासना वेदान्तिक दृष्टि से अविद्या का ही हृष्ट है, परन्तु अविद्या के द्वारा ही मनुप्य मरणत्व को पार करके अमरत्व लाभ कर सकता है।^१ इसलिए अविद्या हृष्ट उपासना भी निर्विशेष ब्रह्म की उपलब्धि कराने वाली विद्या की साधिका है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपासना विधि की उपादेयता मन्दवृद्धि माध्यकों के लिए ही है, उच्चमाध्यकों के लिए नहीं।

ब्रह्मलोक प्राप्त करने वाले सगुणोपासकों की मुक्ति

उपासना का फल वित्त की एकाग्रता है। सगुण ब्रह्म की उपासना चित्त की एकाग्रता के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार में हेतु है, इन कथन का समर्थन करते हुए कल्पतरु-कार अमलानन्द ने कहा है कि निर्विशेष परद्रव्य के साक्षात्कार करने में जो अलावृद्धि वाले लोग असमर्थ हैं, उन परद्रव्य करते हुए ही आचार्यों ने सगुण ब्रह्म का निरृपण किया है। सगुण ब्रह्म के परिशीलन के द्वारा जब उपासकों का मन वर्धीभूत होता है तो वे सगुण ब्रह्म का ही, कल्पित उपाधि से विनिर्मुक्त निर्गुण ब्रह्म के हृष्ट में साक्षात्कार करते हैं।

उपर्युक्त दृष्टि से उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात्कारण न होकर परम्परया कारण

१. अदान्तरभेदोपादानविविरपि मन्दानुकम्पार्थमपवादत्वेन—रामाद्याचार्य : वेदान्त कीमुदी, पृ० २४१ (मद्रास संस्करण १६५५)।

है। इसीलिए वेदान्तपरिभाषाकारने स्पष्ट रूप से कहा है कि सगुण ब्रह्म के उपासक अचिं^१ आदि मार्ग (या देवघान मार्ग) के द्वारा ब्रह्मोक्तोक को प्राप्त होते हैं और ब्रह्मोक्त पहुँचने पर श्रवण, मनन एवं निदिद्यासन वे द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार तत्त्व-साक्षात्कार करने वालों का शेष में ब्रह्म की आयु शेष होने से ब्रह्मा के साथ ही मोक्ष होता है।^२

वेदान्तपरिभाषाकार के उपर्युक्त कथन से यह गिर्द होता है कि सगुणोपासकों को भी विना अवण मनन एवं निदिद्यासन के ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता।

सुरेश्वराचार्य का मत

सुरेश्वराचार्य का मत है कि उपासना के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार सम्भव नहीं है। सुरेश्वराचार्य का तर्क है कि जो उपासनाविधि कर्म, फल एवं कारक के भेद को लेकर आरम्भ होती है, वह अद्वैततत्त्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण नहीं हो सकती। क्योंकि ब्रह्म के सम्बन्ध में कर्मादि का भेद सम्भव नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कार का तो स्वरूप ही समस्त अविद्या की निवृत्ति है। जिस प्रकार उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण नहीं है।^३ इसके जनि-रिक्त सुरेश्वराचार्य का कथन है कि उपासना की, कर्म वी कलभूत उत्तरति विधि विनियोग विधि, प्रयोगविधि एवं अविकारविधि में से ऐसी भी ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण नहीं कही जा सकती।^४

लेखक का मत

उपासना ब्रह्मसाक्षात्कार में कारण है या नहीं, इस समस्या के सम्बन्ध में इस लेखक का मत है कि उपासना के द्वारा चित्तशुद्धि होती है, इसीलिए वह परमात्मसाक्षात्कार में साक्षात् कारण तो नहीं है, परन्तु परम्परा ब्रह्मसाक्षात्कार की कारणता उम्मेअवश्य सम्भव है। इसका कारण यह है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए चित्त वा नैमंत्य अनिवार्य रूप से पर्याप्ति है। यहां यह और विवारणीय है कि उपासना भी चित्त शुद्धि का अनिवार्य हेतु नहीं है। यही कारण है कि अनेक उपासकों वा भी चित्तनैमंत्य देखने से नहीं आता।

अहग्रह और प्रतीक उपासनाएं

माध्यारंतरथा अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत उपासना के दो भेद किए गए हैं—अहग्रह उपासना और दूसरी प्रतीकोपासना। जब तत्त्वजिज्ञासु 'अहंब्रह्मास्मि' 'अयमात्माब्रह्म' एवं 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के आत्महृप से ब्रह्म का ग्रहण करने हैं तो वह अहग्रह उपासना

१. सगुण उपासक का उत्तरायण मार्ग से गमन का त्रैम यह है कि वह सर्व प्रथम अचिं अभिमानी देवता को प्राप्त होता है और फिर दिन के अभिमानी, शुक्रपत्नाभिमानी पृष्ठासभिमानी उत्तरायणाभिमानी सत्त्वसराभिमानी और देवतोऽन्नभिमानी देवता को प्राप्त होकर बायु लोक सूर्योक्त, चन्द्रतोऽन्न, विद्यतोऽन्न, वश्णतोऽन्न, इन्द्रतोऽन्न और प्रजापतिलोक में होता हुआ ब्रह्मोक्त को प्राप्त होता है।

२. वेदान्त परिभाषा—परिच्छेद, ८।

३. Lights on Vedanta, p. 206-207.

उहलाती है।^१ इसके अनिरिक्त उनात्मदस्तु में देवना दृष्टि से संस्कार द्वारा जो उपासनाएँ होती हैं वे नव प्रतीक उपासनाएँ हैं।

बहुग्रह और प्रतीक उपासनाओं में यह वैलक्षण्य है कि अहंग्रह उपासना के द्वारा जीवीं जीवनदशा में ही भावना के प्रकार से ही परमानन्दाकारकार करके मृत्यु को प्राप्त होने पर परमानन्ददशा को प्राप्त करता है, परन्तु प्रतीक उपासना के द्वारा उक्त परमात्मसाक्षात्कार लक्ष्यन्तर है। वेदान्त मूल के स्वल्प ने इन विषय को स्पष्ट करने हुए कहा है कि बमानव पुरुष ब्रह्म लोक में उन पुरुषों को ही ले जाता है जो प्रतीकोपासन नहीं हैं,^२ प्रतीकोपासन में तो प्रतीक की ही प्रथानना होने के कारण प्रतीकोपासन प्रतीक की ही उपलब्धिकर सकता है, परमात्मा की साक्षात्कारहृषि उपलब्धित नहीं, क्योंकि उम परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है।^३ इस प्रकार अहंग्रह एवं प्रतीक उपासनाओं के फल पूर्य-पूर्यक हैं।

उपर्युक्त दोनों उपासनाओं के फलवैलक्षण्य को निश्चिकरते हुए मंकराचार्य ने कहा है कि नामवासादि प्रतीकोपासनाओं में पूर्व-पूर्व उपासनाओं की लघेजा उत्तरोत्तर उपासनाओं में विदेय फल का दोष होता है। ददाहरण के लिए, नामकी ब्रह्म दृष्टि से उपासना करने वाला नाम के विषय में स्वतंत्र होता है (छा० ढ० ३।१।५) और नामोत्तरखंडी वाक् की उपासना करने वाली वाली के विषय में स्वतन्त्र होता है। (छा० ढ० ३।२।२)। इस प्रकार फल विदेय की उपस्थिति उपासनाओं के प्रतीकाधीन होने से ही सम्भव है। इसके विपरीत उपासनाओं के ब्रह्माधीन मानने पर फल विदेय की उपस्थिति सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म ब्रह्मिष्ठ है। अतः प्रतीकालम्बन-उपासनाओं का फल इतर उपासनाओं के फल के समान नहीं है।^४

अपर किए गए विवेचन से यह पूर्णतया दिवित है कि प्रतीकोपासना के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार कदापि सम्भव नहीं है। प्रतीक उपासना की यही उपयोगिता है कि प्रतीकोपासन इस उपासना के द्वारा चिन्त्यकी एकाग्रता का सम्बान्ध करता है और ब्रह्मसाक्षात्कार के पावन पद पर अग्रसर होता है।

संन्यास की उपयोगिता और योग्यता

ब्रह्मसाक्षात्कार में संन्यास की उपयोगिता के सम्बन्ध में आचार्यों में भत्तेद मिलता है। कुछ आचार्यों का मत है कि ब्रह्मविद्या के प्रादुर्भाव के प्रतिवन्धक लोक पाप यज्ञादि के अनुष्ठान से निवृत्त होते हैं, परन्तु कुछ ऐसे पाप भी हैं, जो संन्यासजनित ल्पूर्व से निवृत्त होते हैं। इत प्रकार कर्म के समान चित्त बुद्धि के द्वारा ही संन्यास की भी उपयोगिता स्वीकार्य है। लद्वैत वेदान्त के कुछ आचार्यों का मत है कि संन्यास के, अवग आदि क्र अंग होने के कारण संन्यास का फल ब्रह्मज्ञान सिद्ध होता है। उक्त मत विवरण सम्प्रदाय के लनुयधियों के द्वारा स्वीकार किया गया है। कुछ भी हो, संन्यास प्रहृण, यज्ञादि में सहायक होने के कारण ब्रह्मसाक्षात्कार का सहायक तो अवश्य है, परन्तु वह अनिवार्य हृत से ब्रह्मसाक्षात्कारहृषि फल का दाता कदापि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि केवल संन्यासग्रहण से ब्रह्मसाक्षात्कार की

१. ब्र० मू० ४।१।३।

२. ब्र० मू० ४।३।१५ तथा देखिए—वेदान्त कीमुद्दी द्वितीय लघ्याय पृ० १६५।

३. न तस्य प्रतिनाःस्ति श्वे० उप० ४।१६।

४. ब्र० मू०, शा० ना० ४।३।१६।

मिदि कदापि सम्भव नहीं है।^१ परमहसोपनिषद् में तो यहा तक बहा है कि सन्यास आश्रम शोधारा वरने वाला पुण्य यदि ज्ञान प्राप्त नहीं करता तो अज्ञानवश महारोरव आदि धोर नरकों को प्राप्त करता है।^२ अन सन्यासग्रहण परमात्मसाक्षात्कार का अनिवार्य कारण नहीं है।

सन्यास प्रयत्न की यात्रा के सम्बन्ध में भी विद्वानों के एकाधिक मत मिलते हैं। स्मृति वाद्य के लाधार पर कुछ विद्वानों वा मत सो यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य, इन तीनों वर्णों के लिए या लक्ष्यवर्गादि चारों आश्रमों की व्यवस्था है।^३ सुरेश्वराचार्य भी द्विजमात्र को सन्यास तब धर्वाणादि द्वा अधिकारी बतलाते हैं।^४ परन्तु एक अन्य सम्मानित मत के अनुयायी ब्राह्मण मात्र को नी सन्यास प्रहण वरने का अधिकार है।^५ आज वे शाकर सम्प्रदाय के अनुयायी सन्यासिया द्वारा उत्तम को ही महत्व दिया गया है। ब्राह्मण को ही सन्यास का अधिकार स्वीकार करने वाले विद्वानों का कथन है कि यद्यपि स्मृति में तीनों वर्णों के सन्यास की चर्चा है परन्तु द्विरोधाधिकरणन्याय से उसी स्मृति के अर्थ का परियहण करना चाहिए जो श्रुति से निष्ठ नहीं है।^६ अन श्रुति में कही भी ब्राह्मणेतर के लिए सन्यास की व्यवस्था न होने के कारण उत्तम के लिए सन्यास की व्यवस्था सिद्ध करते वाला स्मृति वाक्य श्रुति विशद होने के कारण असाध्य समझा जाएगा।

वेदान्त दर्शन में मुक्ति का स्वरूप

वेदान्त दर्शन के सर्वोच्च प्रतिपाद्य मीश का विवेचन उपनिषद् दर्शन से ही पूर्णतया मिरना भारम्भ हो जाता है, यह हम द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत देख चुके हैं। यह बात दूसरी है कि प्राचीन उपनिषदों में जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति आदि विषयों वा पूर्ण एवं स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। उपनिषद्वालिक मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त वा पूर्ण विवास हमें शाकर वेदान्त के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। आये भलकर यक्षराचार्यपरवर्ती सर्वेज्ञात्ममुनि आदि आचार्यों ने मुक्ति के सम्बन्ध में निन्द भिन्न दृष्टियों से विचार किया था। इम स्थल पर यक्षराचार्य और उनके परवर्ती आचार्या द्वारा प्रतिपादित दर्शन के लाधार पर मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का विवेचन किया जाएगा।

मुक्ति की परिभासा और उसका स्वरूप

मुक्ति शब्द की निष्पत्ति भुन् (मोक्षार्थङ्क) धातु से कितन् प्रत्यय होने पर निष्पत्ति होनी है, निमका वर्थं छुट्टागा पाना होता है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर आत्मवोध होने पर अध्यासजन्य मिथ्या वन्धन से छुट्टकारा पाने का नाम मुक्ति है। वस्तुत आत्मा मर्दा

^१ न च सन्दभनादेवमिद्दि समधिगच्छति ।—गीता ३।४।

^२ काप्टरण्डोद्वयोर्येन सर्वाशीज्ञानवज्जित ।

^३ म यानि नरञ्जन् भौरान् भहारोरवसववान् ।—परमहसोपनिषद्, 'ईशादिविशोत्तर शतो-पनिषद्' पृ० १६६ (निष्ठेसागर, बम्बई १९४८)।

^४ ब्राह्मण क्षत्रियोक्तापि वैद्योक्ता प्रव्रजेद् गृहात् ।

^५ वयाणामपिवार्तानामसी चत्वार आश्रमा ॥—मि० ले० स०, द्वितीय परिच्छेद से उदृत ।

^६ दृ० भा० वा०, प० ७५८-७५६ ।

^७ अर्येनु ब्राह्मण्डेद् भयासो वृद्धाश्रुत ।—वेदान्त मिद्दान्त मुक्ति महरी, ३।१२ ।

^८ भि० ल० स०, तृतीय परिच्छेद ।

विकार रहित होने के कारण वन्धन एवं मोक्ष के प्रश्न से अतीत है, परन्तु अविद्यावज्ञ जीवकोटि में आने पर उसमें जगत् के सम्बन्ध में ममत्व-परत्व आदि अनेकानेक बन्धब उत्सन्ध हो जाते हैं, जिनके कारण जीव आत्मबोध करने में असमर्थ होता है। आत्म बोध न होने के कारण ही जीव जगत् की समस्त वस्तुओं से कोई सम्बन्ध न होने पर भी अविद्या के कारण अपना मिथ्या सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यह मिथ्या सम्बन्ध ही मिथ्या वन्धन का मूल है। जब वन्धन की मूलभूता इस अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तभी जीव मुक्त कहलाता है। परन्तु वन्धन एवं मोक्ष की व्यवस्था पारमार्थिक न होकर मार्थिक ही है।^१

शंकराचार्य ने मुक्ति का स्वरूप निर्वारित करते हुए मुक्ति को पारमार्थिक, कूटस्य, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापी, समस्तविक्तियाओं से रहित, नित्य तृप्त, निरवयव, स्वर्यं-ज्योतिस्त्वभाव कहा है। शंकराचार्य का कथन है कि मोक्ष की स्थिति में धर्म और अधर्म अपने कार्य सुख-दुःख के साथ तीनों कालों में भी सम्बन्ध नहीं रखते। इसी शरीररहित स्थिति को शंकराचार्य ने मोक्ष कहा है।^२ वेदान्त दर्शन की मुक्ति आनन्द रूप है। वह न्याय दर्शन की तरह शुष्क नहीं है।

अविद्यानिवृत्ति और आत्मबोध

आत्मबोध का ही नाम मुक्ति है और अविद्या जीव की मुक्ति में वाघक है, यह विचार अभी व्यक्त किया जा चुका है। अविद्यानिवृत्ति के सम्बन्ध में भी वेदान्त के आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत मिलते हैं। जैसा कि अप्य दीक्षित ने ब्रह्मसिद्धिकार के मत को स्पष्ट करते हुए कहा है, ब्रह्मसिद्धिकार के मतानुमार आत्मा ही अविद्यानिवृत्ति है।^३ चित्मुखाचार्य एवं विमुखात्मा भी उक्त मत के ही समर्थक हैं। इन आचार्यों ने अविद्या निवृत्ति को ब्रह्मज्ञान कहा है।^४ ब्रह्मसिद्धिकार के उक्त मत के सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि आलोचकों का अप्य दीक्षित पर यह आक्षेप उचित नहीं है कि ब्रह्मसिद्धि में आत्मसाक्षात्कार को अविद्या निवृत्ति कहा है, आत्मा को नहीं। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार की स्थिति में आत्मा के अतिरिक्त और किसी की सत्ता ही नहीं रहती। आनन्दबोधाचार्य अविद्यानिवृत्ति को सत्, असत्, सदसत् और अनिर्वचनीय से भी विलक्षण मानते हैं। अपने मत की पुष्टि में आनन्दबोधाचार्य का तर्क है कि अविद्यानिवृत्ति को सत्य इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अविद्यानिवृत्ति को सत्य मानने पर अद्वैतमिद्धि नहीं हो सकती। अविद्यानिवृत्ति को असत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि असत् मानने से अविद्यानिवृत्ति में ज्ञानसाध्यत्व नहीं हो सकता। इनके अतिरिक्त अविद्यानिवृत्ति को सदसत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि सत् एवं असत्

१. मानसोल्लास २१५६ अड्यार मद्रास।

२. इदं तु पारमार्थिकं कूटस्यं नित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वविक्तियारहितं नित्यतृप्तं निरवयं स्वर्यं-ज्योतिस्त्वभावम्। यत्र धर्माधर्मो सहकार्येण कालत्रयं च नोपावत्तेऽ। तदेतदशारीरत्वं मोक्षास्यम्। ब्र० सू०, शा० भा० १११४।

३. अयकेयमविद्यानिवृत्तिः? आत्मैवेति ब्रह्मसिद्धिकाराः।

—सिद्धान्त लेश संग्रह, चंतुर्यं परिच्छ्वेद।

४. Lights on Vedanta, p. 259.

५. वही, p. 258-259.

एक दूसरे के विरोधी हैं। आनन्द बोधाचार्य के मतानुसार अविद्यानिवृति की अनिर्वचनीयता भी अस्तीकार्य है। आचार्य का विचार है कि अविद्यानिवृति को अनिर्वचनीय इत्तिए नहीं कहा जा सकता कि सादि-अनिर्वचनीय पदार्थों के प्रति अज्ञान के उपादान कारण होने से, अविद्यानिवृति के अनिर्वचनीय मतने से अविद्या निवृति की फलभूत मुक्ति में भी अपने उपादानवारण—अविद्या की अनुवृत्ति प्रसक्त होगी और इस प्रकार मुक्ति की स्थिति अनिष्टन्त ही रह जाएगी।^१ अतः आनन्दबोधाचार्य के मतानुसार अविद्यानिवृत्ति को रात्, अमन् येर अनिर्वचनीय से विलक्षण किसी पचम प्रकार का ही स्वीकार किया गया है।^२ इटटिंद्विवार विमुक्तात्मा ने भी अविद्यानिवृत्ति को विसी पचम प्रकार का ही माना था। आनन्दबोधाचार्य के न्याय मकरन्द में अविद्यानिवृत्ति को अनिर्वाच्य भी कहा गया है।^३ न्याय मकरन्द के दीकाकार चित्तुसाचार्य के अनुसार उक्त मत का लेखक आनन्द बोधाचार्य को ही मिद्द किया गया है। परन्तु कारण हमने अविद्या निवृत्ति के राष्ट्रवन्ध में सिद्धान्तेशसप्रहक्कार के अनुमार आनन्दबोधाचार्य के जिस मत का उत्तेज दिया है उसके अनुसार अविद्यानिवृत्ति की अनिर्वाच्यता का निराकरण हुआ है। यदि विचार कर देखा जाए तो उपर्युक्त दोनों मतों से बोई संदातिक विरोध नहीं है। दोनों ही मत परमार्थ सत्य के समर्थक हैं। प्रकाशात्मा ने भी दोनों ही मतों का निरूपण एवं समर्थन किया था।^४

मेरे विचार से अविद्यानिवृत्ति को अनिर्वचनीय मानना हो। तर्क सगत होगा, यद्योकि जब अविद्या ही अनिर्वचनीय है तो उम्ही निवृत्ति भी अनिर्वचनीय मानी जाएगी। यदि शक्ता हो कि मुक्ति में भी अविद्यानिवृत्ति को अनुवृत्ति होगी तो उसकी उपादानभूता अविद्या की भी अनुवृत्तिहोने से अनिमोक्ष की प्रसक्ति होगी, तो यह अनुचिन है, कारण कि अज्ञाननिवृत्ति की अनुवृत्ति में कोई प्रमाण नहीं है। यद्योकि जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनमें उत्पत्ति नाम का एक भावस्पष्ट विवार है, जो केवल एक ही क्षण में (उत्पत्त्यवच्छिन्न काल) में ही रहता है। इसी प्रकार निवृत्ति (विनाश) भी पदार्थों का मावस्प धर्म ही है, जो निवृत्त्यवच्छिन्न काल में ही रहता है। उत्पत्ति और निवृत्ति, आद्य और विनाश काल के अतिरिक्त यदि अन्य काल में रहती होती तो चिरकालोत्तन घट में और चिरविनष्ट घट में 'उत्पन्न होता है और नष्ट होता है' ऐसा व्यवहार हुआ होता। अत अत्यन्त क्षणिक अविद्यानिवृत्ति की अनुवृत्ति मोक्ष काल में कदापि नहीं सिद्ध की जा सकती। अत अविद्यानिवृत्ति की अनिर्वाच्यता उचित ही है।

जहा तक अविद्यानिवृत्ति और धात्मबोध का प्रश्न है, अविद्यानिवृत्ति होने पर आत्मबोध स्वतः हो जाता है। जिस प्रकार कि कोई व्यक्ति अपने गले में हार के रहते हुए भी विस्मृति के कारण हार को यत्नतय सोजता फिरता है, परन्तु विस्मृति दूर होने पर उसे अपने गले में ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार नित्यानन्दस्वरूप ब्रह्म जीव को नित्य प्राप्त होते हुए भी जीव के, अनादि अविद्या से आवृत्त होने के कारण अप्राप्त-सा प्रतीत होता है। जब श्रवणादि के द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जानी है तो जीव वो अपने आनन्दस्वरूप का बोध तरददग द्वारा हो जाता है।

^१ सिद्धान्त लेख सद्गुरु, चतुर्थ परिच्छेद।

^२ न्याय मकरन्द, पृष्ठ ३५२ (चौखटा संस्करण)।

^३ न्याय मकरन्द, पृष्ठ ३५७।

^४ Lights on Vedanta p. 257.

मुक्त पुरुष का व्यवहार

मुक्त पुरुष के व्यवहार के सम्बन्ध में विचार करते हुए इस समस्या पर विचार करना परमावश्यक है कि मुक्त पुरुष का प्रपञ्चमय जगत् के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध होता है। इस समस्या का समाधान करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि मुक्त पुरुष के लिए यह प्रपञ्च रूप जगत् उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्नि के द्वारा धूत का काठिन्य नष्ट हो जाता है।^१ यदि मुक्तिप्राप्त होने पर जगत् का ही विनाश हो जाता तब तो एक व्यक्ति के मुक्त होने पर ही समस्त जगत् का विनाश हो गया होता।^२ बतः मुक्तिप्राप्त होने पर समस्त भीतिक जगत् का विनाश न होकर केवल जीव की जगद्बुद्धि का ही विनाश होता है। बद्धवस्था में जो प्रपञ्चमय जगत् जीव को सत्य रूप से भासित होता है, मुक्तावस्था में उसका प्रपञ्च शान्त हो जाता है।^३ प्रपञ्च शान्त होने पर मुक्त जीव की द्वैतबुद्धि का भी विनाश हो जाता है।^४ तत्त्ववोध की स्थिति में ब्रह्मज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जाता है—ग्रह्य हि-भवति य एवं वेद।^५

मुक्त पुरुष एवं वद्ध पुरुष के व्यवहार में यही अन्तर है कि मुक्त पुरुष के लिए अविद्या की निवृत्ति होने पर मिथ्याभिमान एवं ऋमजन्य दुखादि की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि दुखाद्यनुभूति का कारण मिथ्याभिमान ही है। इसके विपरीत अविद्याजन्य मिथ्याभिमान के कारण ही वद्ध संसारी पुरुष को दुखादि की अनुभूति होती है। मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त के विषय में इन दोनों का होना स्वाभाविक है कि जब परमेश्वर रूप रामादि को अनेक अवधारों पर अज्ञान एवं दुखादि का अनुभव करते हुए देखा जाता है तो साधारण मुक्त पुरुषों में अज्ञान एवं दुखादि की अनुभूति का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता। उक्त दोनों के सम्बन्ध में यह निर्देश है कि ईश्वर रूप रामादि द्वारा किया गया अज्ञान एवं दुखादि का अनुभव ईश्वर का नट के समान अभिनय मात्र है। लोक मर्यादा के लिए ही ईश्वर को इस अभिनय की आवश्यकता पड़ती है।^६ मुरेश्वराचार्य ने मुक्त पुरुष के व्यवहार के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि जिस प्रकार निद्राभंग होने पर द्रष्टा स्वप्नदृष्ट पदार्थों को पुनः नहीं देखता है, उसी प्रकार ज्ञानी सम्यक् ज्ञान होने पर विश्व को नहीं देखता है।^७ ज्ञानी के विश्व को न देखने का यही तात्पर्य है कि उसे सर्वत्र आनन्दस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता। नहीं दृष्टिगोचर होती। ऐसे मुक्त पुरुष का लोक में जडवद् व्यवहार देखा जाता है।^८ श्रुति में मुक्त पुरुष को चक्षु रहते हुए भी अचक्षु के समान और कर्ण होते हुए

१. ब्र० सू०, शा० भा०, ११४।

२. ब्र० सू०, शा० भा०, ३।२१।

३. माण्डूक्योपनिषद्, शा० भा०, १३।

४. ज्ञातेद्वैतं न विद्यते, मा० का० ११८।

५. वृद्धारण्यकोपनिषद्, ४।४।२५।

६. सिद्धान्तत्रयसंग्रह, चतुर्थ परिच्छेद।

७. निद्रायादशितानथर्वन्न पश्यति यथोत्थितः।

सम्यक् ज्ञानोदयादूर्ध्वं तथा विश्वं न पश्यति॥—मानसोल्लास १२।

८. नापृष्ठः कस्यचित् द्रुयात् न चाऽन्येन पृच्छतः।

जानन्तपिहि मेवावी जडवलोके आचरेत्॥—देव० सिं० सू० प० २५५ से उद्धृत।

भी अकर्ण^१ के समान कहा गया है। मुक्त के अचक्षु एवं अकर्ण होने का पहला तात्पर्य है कि मुक्त पुरुष नेत्र एवं कर्ण रहते हुए भी किसी विषय को कामना से नहीं देखता और न सुनता है। इसीलिए जगत् के समस्त विषयों में ज्ञानी को अनासनिक देखी जाती है। उपदेश साहस्री के अन्तर्गत शाकराचा यन्में ने आत्मवेता जीवन्मुक्त पुरुष के लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो जाग्रत् अवस्था में भी सुधुर्षयवस्था का अनुभव करते हुए द्वैत जगत् को नहीं देखता और यदि इस द्वैतात्मक जगत् को देखता है तो उसे अद्वैत रूप ही समझता है, तथा कर्मों को करते हुए भी जो निष्क्रिय है, वही आत्मवेता भूक्त पुरुष है।^२

क्या मुक्त पुरुष का परलोकगमन सम्भव है ?

मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में इस शब्द का होना स्वाभाविक है कि क्या मुक्त पुरुष देहत्याग के पश्चात् लोकान्तर की प्राप्ति करता है अथवा नहीं। अद्वैत वेदान्त के बन्धुमार जीव की प्रक्षात्मता सिद्ध होने पर उसका लोकान्तरगमन न दायि सम्भव नहीं है। 'न तस्य प्राणा उत्कामन्ते' (उस आत्मज्ञानी पुरुष के प्राण उत्कर्षण को नहीं प्राप्त होते) आदि श्रुति वाच्य भी उक्त सिद्धान्त के ही प्रतिपादक हैं। इस प्रकार आत्मज्ञानी मुक्त पुरुष उत्तमान शरीर को त्याग वर लोकान्तर को प्राप्त नहीं होता, अपितु अपने प्रारब्ध कर्मों के क्षय पर्यन्त सुख दुःख को भोगकर अन्त में विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है।^३ इस विषय का विवेचन अभी जीव-मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के तुलनात्मक समीक्षण के अवसर पर किया जाएगा। मुक्त पुरुष के लोकान्तर-गमन के सम्बन्ध में विचार करते हुए ब्रह्ममूर्ति के अन्तर्गत 'कार्य बादरिरस्य गत्युपत्ते' (इ० मू०, ४।३।७) मूर्त के अन्तर्गत बादरायण द्वारा उद्दृत अचार्य बादरि के मत की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि सगुण ब्रह्म में गन्तव्यत्व की उपाधि होने के कारण उपासक ईश्वर की ग्राप्ति कर सकता है, परन्तु इसके विपरीत परब्रह्म में गन्तव्यत्व, गन्तव्यत्व या गति की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म सर्वंगत एवं गमन करने वालों का प्रत्यगात्मा है।^४ ब्रह्म वेत्ता मुक्त पुरुष जब स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है और अद्वैत सत्य ब्रह्म के अतिरिक्त जब किमी अन्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं देखी जाती तो फिर मुक्त के लोकान्तरगमन का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

मूलत, मुक्ति के अन्तर्गत भेद का निरूपण शाकर वेदान्त के प्रतिकूल है। शाकराचार्य ने मुक्तावस्था वरे एक रूप ही माना है।^५ अत शाकर वेदान्त में मुक्ति सम्बन्धी जो भेद मिलते हैं, वे परिस्थिति के अनुसार किए गए भेद हैं। शाकर वेदान्त में मुक्ति के जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति—ये दो भेद मिलते हैं। जीव-मुक्त प्राणी के लिए अविद्या की निवृत्ति एवं ब्रह्म

^१ स चक्षुरचक्षुरिक सकर्णो अकर्णेऽव—वेदान्तसार ३५ से उद्धृत।

^२ मुपुर्पत्तवज्ज्ञश्रतियो न पश्यति, द्वय च पश्यन्पि चाद्यत्वत्।

तथाचकुर्वन्तरि निष्ठियस्त्रय, सप्रात्मविन्नान्य इतीह निष्ठय ॥ —उपदेशगाहसी

^३ वेदान्त परिमाणा, परिच्छेद ८।

^४ इ० मू०, शा० मा०, ४।३।७।

^५ वही, ३।४।५।

वोध होने पर कर्मादि का बन्धन समाप्त हो जाता है। परन्तु जिस प्रकार छोड़े हुए वाण की निवृत्ति, वेग का क्षय होने पर होती है, उसी प्रकार जिस कर्म का फल प्रवृत्त हो चुका है, उसकी निवृत्ति शरीरपात होने पर ही होती है। इस प्रकार जब तक प्रारब्ध कर्मों द्वा भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक मुक्त पुरुष को भी जीवन धारण करना ही पड़ता है। अंकराचार्य ने जीवन्मुक्ति की स्थिति को कुम्भकार के चक्र के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कहा कि जिस प्रकार एक बार चलाया हुआ कुम्भकार का चक्र तब तक नहीं चक्रता, जब तक कि उसका वेग समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार मुक्तपुरुष को भी प्रवृत्त फल वाले कर्मों के भोग के लिए जीवन धारण करना पड़ता है। यही जीवन्मुक्ति की स्थिति है। जब जीवन्मुक्त प्राणी का प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है, तो उसका देह नष्ट हो जाता है और वह विदेहकैवल्य की उपलब्धि करता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति में प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होने के कारण जीवन्मुक्त प्राणी को शरीर धारण करना पड़ता है और विदेह मुक्ति में प्राणी कर्मभोग समाप्त करके शरीर बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है, यही जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति का प्रधान भेद है।

मुक्तात्माओं द्वारा, शरीरपात होने पर पुनः शरीर धारण करने की समस्या पर विचार

प्राचीन इतिहास में मुक्त आत्माओं के शरीर धारण करने की अनेक कथाएँ मिलती हैं। अपान्तरतमा नामक आचार्य ने विष्णु की आज्ञा से कलि और द्वापर की संधि में कृष्णद्वैष्यन रूप से जन्म ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा के मानसपुत्र वशिष्ठ ने भी निमि के शाप से पूर्व देह का त्याग करके ब्रह्मा के आदेश से मित्रावरुण के रूप में जन्म ग्रहण किया था। इन दृष्टान्तों के अनुसार अपान्तरतमा आदि लोक मर्यादा के अर्थ वेदप्रवर्तन आदि अधिकार में नियुक्त हुए थे। अतः उनकी स्थिति अधिकाराधीन है। जिस प्रकार 'अथ तत उच्चं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेत्कल एवं मध्ये स्वाता' (छा० उ० ३।१।११) श्रुति वाक्य के अनुसार ज्ञूर्य सहस्रों युगों तक जगत् का अधिकार चलाकर उसकी समाप्ति होने पर उदय और अस्त जै रहित होने पर कैवल्य का अनुभव करता है, और जैसे आज भी ब्रह्मवेत्ता आरम्भभूति कर्मों के भोग के क्षीण होने पर कैवल्यानुभूति को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर द्वारा तत्-तत् अधिकारों में नियुक्त हुए अपान्तरतमा आदि कैवल्य के हेतु—सम्बूद्ध तत्त्वज्ञान के होने पर भी कर्मों के क्षीण न होने से, अधिकार पर्यन्त शरीर धारण करते हैं और कर्मों के क्षीण होने पर विदेह कैवल्य की प्राप्ति करते हैं।^१ इस प्रकार ईश्वर रूप को प्राप्त अपान्तरतमा आदि को भी जब तक कर्म क्षीण नहीं हो जाते, तब तक पुनः-पुनः शरीर धारण करना ही पड़ता है।

समीक्षा

अंकराचार्य के प्रवर्ती आचार्यों ने शांकरवेदान्तसम्मत जीवन्मुक्ति एवं विदेह-मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना की है। जबंजातमुनि तो जीवन्मुक्ति को ही अस्वीकार करते हैं। सर्वज्ञातममुनि का तर्क है कि अविद्या के विरोधी तत्त्वसाधात्कार के

१. एवमपान्तरतमः प्रभूतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्बन्धदर्शने कैवल्यहेतौ अक्षीणकर्मणः यावदधिकारमवतिष्ठन्ते, तदवसाने च अपवृज्यन्ते। — न० ३०, या० ३०, भा० ३।३।३२।

उदित होने पर लेखरूप से भी अविद्या की अनुवृत्ति नहीं हो सकती। अत जीवन्मुक्ति का प्रतिपादक शास्त्र अवण आदि विधि का वेदन वर्थवाद मात्र है, क्योंकि जी-मुक्ति के प्रतिपादन में शास्त्र का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार जिस पुरुष ने निदिष्यामन किया है, उस पुरुष को ब्रह्मसाक्षात्कार की उत्पन्नि मात्र में विलास और वासना के साथ अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।^१ शकराचार्य और सर्वज्ञात्ममुनि वे सिद्धान्तों के इस अर्थ में सामग्र्य हैं कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर अविद्यालेश शेष नहीं रहता। ब्रह्मवादी शकराचार्य वे सिद्धान्त के अनुमार छद्म अखण्ड^२ एव अनन्तप्रकाश सम्पन्न हैं। अत अखण्ड एव अनन्त प्रकाश सम्पन्न ब्रह्म का माक्षात्कार होने पर अविद्यालेश का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। परन्तु जैसा कि सर्वज्ञात्ममुनि ने कहा है अविद्यालेश के निराकरण द्वारा जीवन्मुक्ति का निराकरण असमीचीन है। जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर अवान्तरतमा आदि की भी प्रारंभ कर्मों का भोग भोगने के लिए तुल जन्म ग्रहण करना पड़ा था। अत सर्वज्ञात्ममुनि दा वह कथन शाकर वैदान्त के प्रतिकूल है कि अविद्या लेश न रहने के कारण, ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्ति का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।

विद्यारण्य जे, देहेन्द्रियादिनधान के उदादान कारण—अविद्या की निवृत्ति होने पर जीवन्मुक्ति की असगतना का निराकरण करते हुए वहा है कि तत्त्वसाक्षात्कार होने पर भी प्रारंभ कर्मों का नाश होने तक अविद्यालेश की अनुवृत्ति होने के कारण जीवन्मुक्ति की मिद्दि होती।^३ इस प्रकार विद्यारण्य के विचारानुमार प्रारंभ कर्म पूर्णनया अविद्यानिवृत्ति में वाधक है। तत्त्वसाक्षात्कार होने पर भी अविद्यालेश की अनुवृत्ति का विचार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शकराचार्य द्वारा प्रतिपादित मूलितविषयक विचार से भिन्न है। शकराचार्य अविद्या की पूर्वनिवृत्ति के पक्षपाती हैं।

मण्डन मिथ ने जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में दो विरोधी विवारो का उल्लेख किया है।^४ जीवन्मुक्ति का निराकरण करते हुए एक और उन्होंने सद्योमुक्ति का समर्वन किया है तो दूसरी ओर प्रवारान्तर से जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन भी किया है। सद्योमुक्ति वा समर्वन करते हुए मण्डनमिथ का कथन है कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर प्राणी के नमस्त सचित, सचीपमान एव प्रारंभ कर्मों का ही क्षय हो जाता है। ब्रह्ममिद्दिकार का कथन है कि समस्त कर्मों का क्षय होने पर प्राणी का देहपात हो जाता है और वह विदेहवैवत्य को प्राप्त करता है। उन तर्क वा ही समर्वन करते हुए कुछ विद्वानों का कथन है कि 'क्षीप्तते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराकरे' (उम परावर परमात्मा का साक्षात्कार होने पर ब्रह्मवेत्ता वे समस्त कर्मों का क्षय होता है) इस थ्रुति—तथा 'ज्ञातानि सर्वकर्माणि भम्मसान् कुरते नया' (पञ्चलित अग्नितिम प्रकार समस्त इष्ट को जलान्तर भस्म कर देता है, उमी प्रकार आत्मज्ञान-रूप प्रज्ञविनिः अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भम्मीभूत करता है) इत्यादि स्मृति वादयों के अनुगार

^१ मिं० से० स०, ५१३-५६।

^२ ब्रह्मव हि मुन्यवस्था, न चरक्षणोऽनेकाशास्त्रयोगोऽस्ति।

—त्र० स० शा० भा०, ३।।।।।

^३ तद्दि तत्त्वसाक्षात्कारे जानेऽप्याप्नार प्रत्यमविद्यार्त्तानुभृत्वा जीवन्मुक्तिरस्तु।

—विं० प्र० स० ११, प० ३६२।

^४ ब्रह्ममिदि, प० १३०।

ब्रह्मज्ञान के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय सिद्ध होता है।^१ परन्तु श्रुति एवं स्मृति के वाक्यों के पारस्परिक सामंजस्य के आधार पर यदि इस विषय का अध्ययन किया जाए तो उक्त मत का अनौचित्य स्वयं सिद्ध हो जाता है, क्योंकि 'तस्य तावदेवचिरंयावन्विमोक्षेऽय संपत्स्ये' (उस आत्मज्ञानी विद्वान् के विदेह कैवल्य में तब तक ही विलम्ब है जब तक प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता) इस श्रुति वाक्य तथा 'नाभुक्तं क्षीयतेकर्म' (विना मोक्ष के कर्म का क्षय नहीं होता) इस स्मृति वाक्य के अनुमार प्रारब्ध कर्मों का क्षय ब्रह्माक्षात्कार होने पर भी विना भोग किए नहीं होता।^२ अतः मण्डनमिश्र प्रभृति विद्वानों का सद्योमुक्ति का विचार समुचित नहीं प्रतीत होता।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति के समर्थक विचार का भी उल्लेख किया है।^३ परन्तु उनका जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त दांकराचार्य के जीवन्मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त से भिन्न है। मण्डनमिश्र का विचार है कि जीवन्मुक्ति की दियति में गेष अविद्या लेश में, प्राणी में वात्सु तथा आम्यन्तर किसी प्रकार का भी दन्धन उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। परन्तु अविद्या का लेश गेष रहने के कारण प्रारब्ध कर्मों का भोग आवश्यक है। मण्डनमिश्र का तर्क है कि अविद्या लेश के ही कारण जीवन्मुक्त प्राणी को शरीर धारण करना पड़ता है और जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तो उस अविद्या लेश^४ की भी पूर्णतया निवृत्ति हो जाती है, जिसके कारण प्राणी प्रारब्ध कर्मों का भोग करता है। जैसा कि ऊपर किए गए विवेचन से स्पष्ट हुआ है, मण्डनमिश्र का जीवन्मुक्ति सम्बन्धी उक्त मत शांकर मत से पूर्णतया भिन्न है। प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर एकाधिक स्थलों पर इस प्रकरण में यह कहा जा चुका है कि ब्रह्माक्षात्कार होने पर भी प्रारब्ध कर्मों का भोग अतिवार्य है। इसके अतिरिक्त यह भी ऊपर कहा चुका है कि जीवन्मुक्ति के लिए अविद्या लेश की अनुवृत्ति यंकराचार्य के भिन्नान्त के प्रतिकूल है। सदानन्द प्रभृति यंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने भी उक्त मत का समर्वन करते हुए कहा है कि जीवन्मुक्त प्राणी को अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर उसके सन्ति कर्म, संयय-विपर्य आदि नष्ट हो जाते हैं और देह समस्त वन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है।^५

'काश्यां मरणान्मुक्तिः' (काशी में मृत्यु होने से मुक्ति मिलती है) के सम्बन्ध में विचार

अद्वैत वेदान्त के पारम्परिक विवेचन के अन्तर्गत इस तथ्य का प्रतिपादन स्थल-स्थल पर किया गया है कि ज्ञान के विना मोक्ष की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। परन्तु कुछ विद्वानों ने

१. वेदान्त परिभाषा, परिच्छेद ८, पृ० १३६, १३७।

२. वेदान्त परिभाषा, पृ० १३६।

३. ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३१-१३२।

४. ज्ञान से आवरण के नष्ट होने पर भी प्रारब्ध कर्म से जो अज्ञान का विक्षेपण अनुवृत्त होता है, वही अविद्या का लेश है और उसी से जीवन है। कुछ विद्वानों का मत है कि अत्यन्त स्वच्छ किए लहसुन के पात्र में वर्तमान लहसुन की वासना ने मान अनुवर्तमान अविद्या की वासना ही अविद्या का लेश है। —सिं० ल०० सं०, चतुर्थ परिच्छेद।

५. वेदान्तशार, पृ० ६३ (वीषम्बा संस्करण)।

मुकित के एक सरल मार्ग का अन्वेषण करते हुए कहा है कि काशी में मृत्यु होने से मनुष्य को मुकित प्राप्त हो जाती है। उक्त निधि को परिणाम इसी रूप में प्रह्लादिया ज्ञान तो अवश्य ही ज्ञान के विना मुकित को असिद्ध करते दाले मिदान्त—‘अनेज्ञानान्मुकित’—एवं कामी मरण से मुकित प्राप्ति सम्भवी निदान में परस्पर विरोध दिखाई पड़ने लगता है। विरोध के माय हो साथ ‘काशी मरणान्मुकित’ मिदान्त के स्वीकार कर लेने पर अद्वैत वेदान्त के प्रमुख एवं आधारभूत मिदान्त ‘अनेज्ञानान्मुकित’ का वैयाक्यर्थ भी मिद्द होता है। ‘अनेज्ञानान्मुकित’ पक्ष का वैयाक्यर्थ मिद्द करते हुए पूर्वपक्षी का कथन है कि जब काशी मरण से ही मुकित मिल सकती है तो किर बोक्षमुकुल स्त्री आदि के त्याग में ही वया लाभ ? अत यानासक्ति एवं वैराग्य के केर में न पड़कर मुमुक्षु वो यदेच्च जीवनयापन करते हुए कामीमरण के तिए ही प्रथलगील होना चाहिए।^१ उक्त तर्क के आधार पर पूर्वपक्षी का ‘अनेज्ञानान्मुकित’ पक्ष का निराकरण पूर्णपक्षा तर्कप्रतिष्ठित एवं एकाग्री है। पूर्वपक्षी के उपर्युक्त तर्क का निराकरण एवं उपर्युक्त दोनों मिदान्ता के पारम्परिक विरोध का सामग्रस्य मिद्द करते हुए रामायाचार्य का इयन है कि काशी में भी भगवान् शत्रुघ्नि के उपर्देशों में भक्ति होने से ज्ञान प्राप्त होता है और फिर ज्ञान से ही जीव वो मुकित मिलती है।^२ उक्त काशी मरण भी ज्ञानप्रयोजक ही समझना चाहिए। उम प्राप्त वाक्यो-मरण के द्वारा भी जीव वो तभी मुकित मिल सकती है, जब कि उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाए।

उपर्युक्त विवेचन के पादार पर यह कथन निदान समुचित होगा कि केवल काशी-मरण के द्वारा ही जीव का मुकित की प्राप्ति नहीं ही सकती, प्रत्युत ज्ञान के द्वारा ही जीव की मुकित सम्भव है।

अद्वैत वेदान्त में वृत्ति निष्पत्ति—

अद्वैत वेदान्त के आध्यात्मिक स्वरूप के मूलन अध्ययन के दृष्टिकोण से वृत्तिनिष्पत्ति अत्यन्त उत्तम है। यह कहना अत्युकित पूर्ण न होगा कि वृत्ति निष्पत्ति के असाध में अद्वैतवाद का प्रतिपादन भी अनुरूप है। परन्तु यह आदर्श है कि इतना उपादेय होने हुए भी अद्वैत वेदान्त वे महर्षों आलोचकों में से कनिष्ठ जातेओचरों ने ही इस विषय का द्यन्तिक्षिति विवेचन किया है। यहाँ वृत्ति के स्वरूप एवं उष्टुप्ती निष्पत्ति के सम्बन्ध में आलोचनात्मक विवेचन किया जाएगा।

अन्त करण के परिणाम विशेष को वृत्ति कहते हैं। वृत्ति के मूलतया दो भेद किए जा सकते हैं—एक वाह्य विषयों ने सम्बन्धित वृत्ति और दूसरी ‘अह व्रह्मात्मि’ के स्वप्न में अन्त करण की अवस्थाकारात्मक वृत्ति। जातीचक्षों ने प्राय वृत्ति के प्रथम प्रकार के सम्बन्ध में ही विवेचन किया है, जबकि अद्वैत मिदान्त के आध्यात्मिक पक्ष के अध्ययन की दृष्टि से द्वितीय प्रकार वी वृत्ति का अध्ययन ही अधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ दोनों प्रकार की वृत्तियों का निर्णय किया जाएगा।

१ ननु किमन वेदामकुरुक्षुन्यादिंग्यानुलोक्येत् पराकाम वर्ज्ञानानामपि कारणसी-मरणमेवानुष्ठेयम्।—वेदान्त क्रीमुदी, पृ० ७३ (मध्यस ११५७)।

२ तत्त्वाहि यम्भूपदेवनव्या ज्ञानान्मुक्तुपर्यन्। वेदान्त क्रीमुदी पृ० ७३।

स्थूल विषयों से सम्बन्धित वृत्ति—

जिस प्रकार कि तालाव का जल तालाव के किसी एक छिद्र द्वारा निकलकर कुल्य, (नहर) के समान लम्बायमान होकर खेत के केदारों (ब्यारियों) में प्रविष्ट होकर उन केदारों की ही तरह त्रिकोण चतुष्कोणादि आकारों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार तंजस होने के कारण अतिशीघ्रगामी अन्तःकरण भी नेत्रादि वृत्तियों द्वारा निकलकर घट-पट आदि विषयदेश को प्राप्त हुआ घटपट आदि विषयों के आकार रूप से परिणाम को प्राप्त होता है। यही परिणाम वृत्ति है^१। अन्तःकरण की इस वृत्ति के संशय, निश्चय, गवं तथा स्मरण, ये चार भेद हैं। वृत्ति सम्बन्धी उक्त भेद व्यवस्था के कारण ही अन्तःकरण के भी क्रमशः मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त—यह चार भेद होते हैं।

वृत्ति का महत्व

वृत्ति के महत्व एवं उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन प्रमुख पक्ष मिलते हैं :

प्रथम पक्ष—विवरणकार प्रकाशात्मा ने वृत्ति की उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा है कि जिस प्रकार गोत्व जाति के व्यापक होने पर भी उसका गो व्यक्ति से ही सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार जीव के व्यापक होने पर भी उसका अन्तःकरण से ही सम्बन्ध होता है, परन्तु फिर जीव का अन्तःकरण की वृत्तियों के ऊपर आरु होकर अन्य विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है^२ और वह जीव जाता कहलाता है।

द्वितीय पक्ष—एक दूसरा पक्ष है कि अन्तःकरणोपाधिक जीव वृत्ति द्वारा बाहर निकलकर विषयचैतन्य और ब्रह्मचैतन्य की अभेदाभिव्यक्ति से विषय का प्रकाशक होता है।

तृतीय पक्ष—तृतीय पक्ष के अनुरूप, यद्यपि जीव व्यापक एवं अन्तःकरणात्मक अनावृत है, तथापि अविद्यावृत होने से स्वयं अप्रकाशमान होकर विषयों का प्रकाश नहीं करता है, परन्तु वृत्ति द्वारा आवरण का भंग होने पर विषयों का प्रकाश करता है। वृत्ति के उक्त पक्षों के अनुसार अधोलिखित तीन प्रयोजन हैं^३—

- (१) वृत्ति के विना जीवचैतन्य विषय का अवभासक नहीं होता है, इसीलिए चित् के साथ सम्बन्ध के लिए वृत्ति की अपेक्षा है।
- (२) वृत्ति द्वारा जीवचैतन्य एवं विषयचैतन्य में अभेद की स्थापना होती है।
- (३) आवरण के विनाश के लिए वृत्तिनिर्गम की अपेक्षा करके वृत्ति के साथ सम्बद्ध मात्र विषय का जीव प्रकाश करता है। इस प्रकार वृत्ति द्वारा अविद्या का आवरण भंग होता है।

उपर्युक्त तीनों पक्षों की अद्वैत वेदान्त के आलोचकों ने भिन्न-भिन्न दृष्टि से आलोचना की है। इस स्थल पर भी उपर्युक्त पक्षों की समालोचना करना उपयुक्त होगा।

१. वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ६ (वर्माई संस्करण सं० १९५६)।

२. सिद्धान्त लेश संग्रह, प्रथम परिच्छेद, १४३-१४४।

३. वही, पृ० १४६।

प्रथम पक्ष की आलोचना—प्रथम पक्ष के सम्बन्ध में आशेष की थवतारणा करते हुए आलोचक विद्वानों का कथन है कि विषयवैतन्य एवं जीववैतन्य का वृत्तिवैतन्य सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। अपने मत की पुस्ति में आधेपक्षता का तर्क है कि क्रियारहित विषय चंतन्य एवं जीव चंतन्य का वृत्ति के द्वारा तादात्म्य अथवा संयोग नहीं स्थापित किया जा सकता। तादात्म्यसम्बन्ध तो इसलिए नहीं स्थापित किया जा सकता कि जिनका तादात्म्य व्यपवहार से देखा जाता है वह पूर्व से ही होता है, भव्य में तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना नहीं की जा सकती। अत विषयवैतन्य और जीववैतन्य का तादात्म्यसम्बन्ध वृत्ति द्वारा उत्पन्न नहीं रहा जा गता। इसके अतिरिक्त जीववैतन्य एवं विषयवैतन्य में संयोग-सम्बन्ध इसलिए नहीं माना जा सकता कि संयोगसम्बन्ध एक या उभय वीं श्रिया से उत्पन्न होता है परन्तु विषयवैतन्य और जीववैतन्य तो स्वभावत ही विपक्षिक्य हैं, अत उनका कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

पूर्वपक्षी के उपर्युक्त आशेष का परिहार करने हुए अद्वैतवेदान्त के समीक्षकोंने भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख किया है। यह प्रमुख चार मतों का संक्षेप में उल्लेख करना सभीचीन होगा। इसके पश्चात् शेष दो पक्षों की समालोचना भी जायेगी।

प्रथम मत—कुटुंबिविद्वानों का विचार है कि जिसे तैयारिक लोग विषयविपक्षिभाव सम्बन्ध स्वभाव से ही मानते हैं उसी प्रकार वृत्ति से विषय-विषयि भाव सम्बन्ध उत्पन्न होता है।

द्वितीय मत—प्रथम मत के विरुद्ध कुटुंबिविद्वानों का विचार है कि यदि केवल विषय-विपक्षि संसार माना जाएगा तो वृत्ति का निर्गम ही व्यर्थ होगा। अत विषयसम्बन्धवृत्ति-तादात्म्य ही वृत्ति ने उत्पन्न होता है यह मानना चाहिए।

तृतीय मत—तृतीय मत दे अनुयायियों का कथन है कि विस प्रकार तरण के स्फरण से वृक्ष में नदी का स्पर्श होता है, उसी प्रकार विषय में वृत्ति के सम्बन्ध में जीव का सम्बन्ध होता है।

चतुर्थ मत—चतुर्थ मत के पक्षातीविद्वानों का विचार है कि 'अभेदाभिव्यवत्त्वर्था वृत्ति'—(वृत्तिका प्रयोजन अभेद की अभिव्यक्ति है) इस द्वितीय पक्ष में जीव के अन्यान्य होने के बारण, उसके माय भावर्य न होने से विषयावच्छिन्नत्रहु चंतन्य के साथ अभेदाभिव्यक्ति के द्वाया विषय के साथ तादात्म्यसमादन ही वृत्ति का प्रयोजन है।

द्वितीय पक्ष की आलोचना—वृत्ति की उपर्योगिता के विस द्वितीय पक्ष का उल्लेख हमने पीछे किया है, उसके अनुमार अन्न वरणोपाधिक जीव वृत्ति द्वारा चाहूर तिक्तल वर विषयवैतन्य और व्रह्मवैतन्य की अभेदाभिव्यक्ति में विषय का वृद्धभाव होता है। इस द्वितीयरक्ष की अभेदाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में भी वृद्धी आलोचकोंने ने विभिन्न प्रकार से विचार किया है। वृद्ध एक विद्वानों का मन है कि त्रिम प्रकार नाली द्वारा तानाव और खेन वें जल का एकीभाव—अभेदाभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार विषयावच्छिन्न चंतन्य और अन्न वरणावच्छिन्न चंतन्य का जो वृत्ति द्वारा एकीभाव होता है, वही अभेदाभिव्यक्ति है। द्वितीय मत के अन्यान्य उक्त मत के विराटीन कुटुंब आलोचक विद्वानों का मन है कि उपाधि के रहने पर विष्व और प्रतिविष्व द्वा भेद अवश्य रहता है। जिस प्रकार दर्पण के स्फरण पर दर्पण भेद पड़े हुए प्रतिविष्व और विष्व स्थानीय सुष वा अभेद अभिभवन नहीं होता, व्योगि दर्पण स्पर्श उपाधि विष्व एवं प्रतिविष्व की अभेदाभिव्यक्ति में वापर्ते हैं। उक्ती प्रकार प्रहृत स्वल में भी विषय और अन्त वरणह्य

व्यावर्तक उनाधि के रहते हुए विम्बभूत ब्रह्मचैतन्य और प्रतिविम्बभूत जीवचैतन् भिव्यवित्र नहीं हो सकती।

—वृश्य-

द्वितीय मत के समर्थक विद्वानों ने प्रकारान्तर ने अभेदाभिव्यक्ति का प्रतिपादन कर हुए कहा है कि विषयाद्विद्यन्त ब्रह्म चैतन्य विषयमन्तस्पृष्ट वृत्ति के अग्रभाग में विषय का प्रकाश करने वाले अपने प्रतिविम्ब का नमरण करता है, अतः उसके प्रतिविम्ब का ही जीव के माथ एकीभाव है। यह एकीभाव ही अभेदाभिव्यक्ति है। इन विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जाएगा कि जिस प्रकार कौरतुभमणि या किनी गति की प्रभा अपने स्थान से निकलती हुई वडे आकार में परिणत होकर विषयदेश पर्यन्त जाती है, उसी प्रकार हृदयदेश में रहने वाले अन्तःकरण की वृत्ति अस्तःकरण से लेकर विषयपर्यन्त अवच्छिन्नरूप से जाती है। इस वृत्ति का विषय के साथ सम्बद्ध भाग अग्रभाग कहनाना है। उस अग्रभाग में पड़े हुए ब्रह्म के विषय-प्रकाशक प्रतिविम्ब के माथ जीव का एकीभाव (अभेदाभिव्यक्ति) है।

कुछ वालोंको ने उपर्युक्त दोनों मतों के विपरीत एक तृतीय मत की घटतारणा करते हुए कहा है कि विषय का अधिष्ठानभूत विम्बस्वरूप ब्रह्म चैतन्य ही, साक्षात् आध्यात्मिक सम्बन्ध का लाभ होने से, विषय का प्रकाशक है। अतः विम्बत्वविगिष्टचैतन्य का विम्बत्वरूप से प्रतिविम्बत्वविगिष्टचैतन्यरूप जीव के साथ भेद होने पर भी विम्बत्व और प्रतिविम्बत्वरूप से उपलक्षित शुद्धचैतन्यरूप से जो एकीभाव है, वही अभेदाभिव्यक्ति है।

तृतीय पक्ष की याज्ञोचना—वृत्ति के महत्व के सम्बन्ध में तृतीय पक्ष का उल्लेख करते हुए हमने पीछे कहा है कि वृत्ति के द्वारा अविद्या के आवरण का भंग होने पर जीव विषयों का प्रकाश करता है। उपर्युक्त दो पक्षों की तरह तृतीय पक्ष आवरणभंग के सम्बन्ध में भी अद्वैतदर्शन के समालोचकों का मतेक्षण नहीं है। इस सम्बन्ध में प्राप्त ग्रन्थ भरमतात्तरों का ही निर्देश इस दृष्टि पर उपयुक्त होगा।

प्रथम मत—प्रथम मत के अनुमन्धितमुओं का विचार है कि जिस प्रकार अन्धकार में जुगनू के प्रकाश से द्यिद्र होता है, उसी प्रकार ज्ञान से ज्ञान के एक देश में चटाई के समान अज्ञान का वेष्टन, या भीत योद्धा के समान पनायन, आवरण भंग है।

द्वितीय मत—अज्ञान के एकदेशीय विनाश, संवेष्टन या अपसरण को आवरण भंग न मानकर कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आवरण के होने से वृत्तिकालपर्यन्त विषयाद्विद्यन्त चैतन्य का आवरण न रहता ही आवरण भंग है। 'मैं अज्ञ हूँ' इस अनुभव की स्थिति में 'अहम्' अनुभव में प्रकाशमान जीव चैतन्य का अज्ञान आश्रय है, परन्तु वह अज्ञान से आवृत नहीं करता।

तृतीय मत—उपर्युक्त दोनों मतों के विपरीत कुछ वालोंकों का कथन है कि वृत्ति से नप्ट होने वाले और संख्या में वृत्ति के वरावर अवस्थारूप अज्ञान अनेक हैं। एक अज्ञान के नप्ट होने की स्थिति में वृत्ति से अवस्थारूप अज्ञान का विनाश आवरणभंग है। इस मत के अनुसार जितने ज्ञान हैं उतने ही अज्ञान भी हैं। इस अवस्थारूप अज्ञान के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। यदि कुछ विद्वान् अवस्थारूप अज्ञान को मूलाज्ञान के समान अनादि मानते हैं तो इसके विपरीत दूसरे निद्रा आदि के समान सादि मानते हैं।

चतुर्थ मत—चतुर्थ मत के अनुयायियों का विचार है कि जिस काल में जो अज्ञान जिस वस्तु का आवरण करता है, उस काल में उस वस्तु के ज्ञान से उसी अज्ञान का नाश होता है। समस्त अज्ञान सर्वदा आवृत्त नहीं करते। जब अन्य वृत्ति के द्वारा, आवरक अज्ञान का

प्रथम पठ
हुए आलोचक्ष्य
नहीं सर्
स्य
स्य
स्य
स्य
स्य

होना है तो अन्य अज्ञान उसको आवृत कर लेता है। इस की प्रमिद्ध टीका न्यायचन्द्रिका के लेपक आनन्दपूर्ण ज्ञान से किसी एक ज्ञान का नाश होना ही है, परन्तु इतर नहीं होना। अब धारावाहिर दूसरी वृत्तियों से भी एक एक

उन के अनुसार सशेष में वृत्ति के बार्य—आवरण शक्ति का उच्छेद, तूलाज्ञान का । ५ या वी एक विदेष प्रिक्षिति का निराकरण, अविद्या के एक देश का विनाश कर उसमें दोबंध उत्तम बरना, भीम्भटापसरण के समान अविद्या का निराकरण तथा कटमवेष्टन (चटाई लपेटना) के समान अविद्या की निवृत्ति करना है। सदीन में, वृत्ति का यही महत्व है।

'अह ब्रह्मात्म' वृत्ति का स्वरूप और उसकी उपयोगिता

'अह ब्रह्मात्म' अन्त करण की वह अपाङ्ग आपार से आकारित वृत्ति है जिसका उद्दय जिज्ञासु के अन्त करण में, तत्त्वमसि के द्वारा अवगताकार का बोध होने पर होना है। 'अह ब्रह्मात्म' वृत्ति के अनुसार तत्त्वजिज्ञासु को यह बोध होना है कि 'मैं ही नित्य शुद्धबुद्धस्वरूप ब्रह्म हूँ'। इस वृत्ति के सम्बन्ध में यह शक्ता होना स्वामावित्त है कि जटचित्वृत्ति नित्य-शुद्ध-बुद्धस्वरूप अहु को अपना विषय क्रिय प्रकार बना सकती है। उनका का समाधान हमें अद्वैती सदानन्द के इस कथन में मिलता है कि चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती, वरन् वह अज्ञानविचिष्ट प्रत्यगमित्तिविषयी होती है। जब उसमें चंतन्य का प्रति विष्व पड़ता है तो वह प्रत्यक्चंतन्यगत अज्ञानावरण को दूर करती है। इस प्रकार अज्ञानावरण को दूर करना ही (अह ब्रह्मात्म) इस चित्तवृत्ति के उदय का परिचय है। प्रत्यक्ष पर ब्रह्मविषयक अज्ञानावरण के दूर होने ही तत्त्वजिज्ञासु को यह अनुभव होने लगता है कि मैं ही नित्य शुद्धबुद्धस्वरूप ब्रह्म हूँ। उनका वृत्तिसम्बन्ध तत्त्ववेत्ता को ब्रह्म के अनित्यत्व दिसी सत्ता की झानि नहीं होती। इस प्रकार अपाङ्ग चंतन्य वृत्ति के कारण प्रत्यक्चंतन्यगत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर अज्ञान के कायंप्रश्वक वा भी उसी प्रकार बाय जो जाता है जिस प्रकार कि उन्नुत्तम वारण के जन जाने पर पट्टस्व कार्य का विनाश हो जाता है। यहाँ यह आधीर बरना उपयुक्त न होता कि अज्ञान और उसके कार्य-प्रश्व का बाय होने पर भी 'अह ब्रह्मात्म' वृत्ति से नेपे रह जाएगी, जिसके कारण अद्वैत निष्ठि में वाधा आएगी। उनका जास्तीप के निराकरण के सम्बन्ध में यह तथ्य विचारणीय है कि वृत्ति भी अज्ञान एवं उसके कार्य-प्रश्व के अन्तर्गत ही है। अब जब अज्ञान की निवृत्ति होती तो कार्य प्रश्व एवं अवगताकाराकारित वृत्ति का भी नाश हो जाएगा। अब यदि यह कहा जाए कि अज्ञान, प्रश्व एवं अवगताकाराकारित वित्त-वृत्ति का नाश होने पर भी वृत्तिप्रतिविभित चंतन्यामाम हो चंतन्याम ही रहेगा, तो इसके उन्नर में यह कहा जाएगा कि अवगताकार वृत्ति के नष्ट होने पर उसमें जो चंतन्य का प्रतिविष्व पष रहा था वह अन्त नहीं प्रतीत हो सकता। जिस प्रकार कि दर्शन में मुख का प्रतिविष्व तभी तक दिखाई पड़ता है जब तक कि दर्शन रहता है, उसी प्रकार वृत्ति में चंतन्य का प्रतिविष्व तभी तक दिखाई पड़ता है, जब तक कि वृत्ति रहती है। जिस प्रकार कि दर्शन के नष्ट हो जाने पर विष्व माथ (मुख) रोप रह जाता है, उसी प्रकार वृत्ति के लील होने पर उस चंतन्य

प्रतिविम्ब के विम्ब-प्रत्यगभिन्न परब्रह्म मात्र की ही सत्ता रह जाती है।^३

जिस प्रकार कि घटादि जड़ पदार्थ को देखने के लिए नेत्र एवं दीपक दोनों की आवश्यकता होती है, परन्तु दीपदर्शनार्थ के बल नेत्र ही पर्याप्त है, उसी प्रकार अज्ञानावच्छिन्न जीव चैतन्यमत अज्ञान को दूर करने पर ब्रह्म मात्र के दर्शन के लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' यह तदाकाराकारित चित्तवृत्ति तथा तदगत चिदाभास दोनों की आवश्यकता है।

'अहं ब्रह्मास्मि' एवं जडघटाद्याकाराकारित चित्तवृत्ति का भेदनिरूपण

वृत्ति सम्बन्धी विवेचन के आरम्भ में जडघटाद्याकाराकारित वृत्ति एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप वृत्ति के भेद की ओर संकेत किया गया था। यहाँ दोनों प्रकार की वृत्तियों के सूक्ष्म भेद का निरूपण किया जाएगा।

जैसा कि 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति सम्बन्धी विवेचन करते समय कहा जा चुका है, अज्ञानावरण का उच्चेद करके स्वयं चित्तवृत्ति भी शान्त हो जाती है। इसके पश्चात् उस वृत्ति में चैतन्य का प्रतिविम्बरूप चैतन्याभास रह जाता है। वह चैतन्याभास स्वयं प्रकाशमान शुद्ध चैतन्य का ही अंश है, अतः यह उसे प्रकाशित करके स्वयं उसी में विलीन हो जाता है। परन्तु जडघटाद्याकाराकारित वृत्ति की स्थिति वृत्ति की उक्त स्थिति से भिन्न है। क्योंकि जब 'अयं-घटः' (यह घट है) इस प्रकार अज्ञातघटविपयक चित्तवृत्ति का उदय होता है तो वह वृत्ति घटावच्छिन्नचैतन्य के आवरण करने वाले घटविपयक अज्ञान का भी नाश करती है और अपने में वर्तमान चिदाभास के द्वारा घट को भी प्रकाशित करती है।^४ इसके विपरीत जैसा कि ऊपर कह आए हैं, 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति में चैतन्य का प्रतिविम्बरूप चैतन्याभास शुद्धचैतन्य का अंश होने के कारण उसे प्रकाशित करने में असमर्थ होता है।^५

'तत्त्वमसि' द्वारा ब्रह्मवोध

मोक्ष के साधन के रूप में उपनिषदों में 'प्रज्ञानं ब्रह्म', (ऐ० ५-१) 'अहं ब्रह्मास्मि' (व० १-४-१०), 'अयमात्मा ब्रह्म' (व० २१५।१६) और 'तत्त्वमसि' (छा० ३० ६-८-७) —इन चार महावाक्यों का उल्लेख किया गया है। यहाँ हमारा उद्देश्य सामवेद शाक्त के छान्दोग्योपनिषद् के महावाक्य—तत्त्वमसि द्वारा होने वाले अखण्डार्थवोध की भी मांसा करना है। छान्दोग्योपनिषद् में तत्त्वमसि का उपदेश उद्वालक ऋषि ने श्वेतकेतु के प्रति किया है। यहाँ यह कह देना और उपयुक्त होगा कि तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा अखण्डार्थब्रह्म का साक्षात् कार तभी हो सकता है जब कि जिजासु का चित्त युद्ध, संस्कृत एवं ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए दृढ़ है।

१. वेदान्तसार, पृष्ठ ७७ (चौखम्बा संस्करण)।

२. चक्षुदीपावपेक्षयेते घटादेवदर्शने यथा।

न दीपदर्शने, किन्तु चक्षुरेकमपेक्षयते ॥ पञ्चदशी ॥ वेदान्तसार, पृ० ८२ से उदृत ।

३. बुद्धि तत्स्थचिदाभासी द्रवितो व्याप्तुतो घटम् ।

तत्राज्ञानं धियानश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥ पञ्चदशी ॥ वेदान्तसार २६ से उदृत ।

४. जडपदार्थकाराकारितचित्तवृत्तिविशेषोऽस्ति । तथाहि अयं घट इति घटाकाराकारित-चित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तदगताज्ञाननिरसनपुरःसरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपिभासयति । —वेदान्तसार, पृष्ठ ८०।

'तत्त्वमसि' महावाक्य का विवेचन करने से पूर्व इस महावाक्य के पदों के अर्थ का विवेचन करना उपयुक्त होगा। अत यहा पहिले तत्त्वमसि महावाक्य के पदार्थ का निर्णय किया जाएगा।

'तत्त्वमसि' के अन्तर्भूती पदों का अर्थ

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अन्तर्गत पहिला पद तत् है, जिसका वाच्यार्थ अज्ञान एवं कारण, सूक्ष्म-स्थूल शरीर की समष्टि, ततुपहित चेतन्य नथा एवं द्रुपहित चेतन्य (तुरीय चेतन्य) — इन सबका तप्ततोहृषिण के समान एवं रूप से अवभासित होना है। इसके अनिरिक्त 'तत्' शब्द का लक्षणार्थ — अज्ञानावच्छिन्न ईश्वरचेतन्य का आधार भूत जो अनुपहित चेतन्य उपरा अज्ञान एवं तदवच्छिन्न ईश्वर चेतन्य से विविजत होकर भिन्न-भिन्न रूप से अवभासित होना है।

'त्वम्' पद का लक्षणार्थ एवं लक्षणार्थ — अज्ञान तथा कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीरों की व्यष्टि एवं प्राज्ञ, तंजम तथा विद्व चेतन्य और तदनुपहित चेतन्य, इन तीनों दा तप्त लोहृषिण के समान अमेद विवक्षा म एकरूप मे अवभासित होना 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है। इसके अनिरिक्त व्यष्टिभूत अज्ञानादि, तदुपर्ति जीवचेतन्य एवं इनका आधार भूत जो अनुपहित प्रतय-गात्रमव तुरीय चेतन्य, इन सबका भेद विवक्षा मे पृथक्-गृथक् प्रतीत होना 'त्वम्' पद का लक्षणार्थ है।

उपर्युक्त वयन के अनुमार अनुपहित चेतन्य (भुद्ध चेतन्य) तत् और त्वम् पदों का लक्षणार्थ है। इस प्रकार तत् त्वम् पदों के अर्थ का निर्णय होन पर अब यहा 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अर्थ का प्रतिपादन किया जाएगा।

'तत्त्वमसि' का लक्षणाप्रतिपाद्य अर्थ — 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत 'तत्' एवं 'त्वम्' पद हमसा संबंध ईश्वर एवं अल्पज्ञ जीव के बोधक हैं। इस प्रकार दोना पदार्थों से स्पष्ट विरोप होने के कारण 'तत्त्वमसि' द्वारा अवष्टार्थ का बोध होना असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु उक्त व्यापत्ति तत्त्वमसि का अभियेयार्थ ग्रहण करने पर ही उत्पन्न होती है। लक्षणा द्वारा तत् एव त्वम् पदों का अर्थ ग्रहण करने पर 'तत्त्वमसि' के अवष्टार्थ का बोध स्वयं हो जाता है।

पचदशीवार ने तत्त्वमसि के अन्तर्गत तत् एव त्वम् पदों का लक्षणार्थ बतलाने हुए पहिले तत् शब्द का लक्षणार्थ निर्मित करते हुए कहा है कि सूक्ष्म से पहिले नाम रूप से रहित जो सद् गृह अद्वैत वस्तु बनलाई गई है, सूक्ष्म निर्माण होने के पश्चात् वह सद् वस्तु अब भी वैमी ही अविरत है, — यदो तत् शब्द का लक्षणार्थ है। पचदशीवार विद्यारथ्य ने 'त्वम्' पद का लक्षणार्थ बतलाने हुए कहा है कि 'त्वम्' पद लक्षणा हे द्वारा अवणादि का अनुठान करने वाले तथा महावाक्य के जिजामु थोगा दे देहेन्द्रियानीत एवं तीनों दहा (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) के साक्षी पदार्थ का बोधक है।

यह कहना अमर्गत न होगा कि तत्त्वमसि महावाक्य का अवष्टार्थबोध तब तक नहीं हो सकता जब तक कि यह निर्णय न हो जाय कि जहूनक्षणा एवं जहूदजहूनक्षणा या भाग-लक्षणा मे से किस लक्षणा के द्वारा अवष्टार्थ का बोध होता है। उक्त तीनों लक्षणाओं के समी-

क्षात्मक विवेचन के द्वारा यह देखने का प्रयत्न किया जा सकता है कि अखण्डार्थ का बोध संगत हो सकता है।

जहल्लक्षणा और तत्त्वमसि

जहल्लक्षणा को ही जहत्स्वार्थी भी कहते हैं। ज अर्थ का बोध कराता है तो वह जहल्लक्षणा कहलाती है धोपः' (गंगा में धोप) है उक्त उदाहरण के अन्तर्गत गंग प्रवाह में धोप का होना सम्भव नहीं प्रतीत होता, इसी को त्याग कर सामीप्य सम्बन्ध के द्वारा तीर अर्थ का बोधक है। अतः 'गंगायां धोपः' स्पष्ट ही जहल्लक्षणा का उदाहरण है। जहां तक 'तत्त्वमसि' का प्रश्न है, यह महावाक्य उक्त रीति से जहल्लक्षणा का उदाहरण नहीं सिद्ध होता। तत्त्वमसि में जहल्लक्षणा न मानने का कारण यह है कि तत्त्वमसि के तत् एवं 'त्वम्' पद अपने मुख्यार्थ-चैतन्य का पूर्णरूप से परित्याग नहीं करते, क्योंकि दोनों के चैतन्यांश में विरोध न होकर तत् के परोक्षत्व एवं त्वम् के अपरोक्षत्व का ही विरोध है। यदि कहा जाए कि अविस्तृचैतन्यरूप वाक्यार्थ को त्याग कर तो उक्त लक्षणा हो ही जाएगी तो यह अनुचित है, क्योंकि यदि 'तत्त्वमसि' के चैतन्यांश रूप वाक्यार्थ का त्याग कर दिया जाएगा तो तत्त्वमसि के द्वारा प्रतिपाद्य अखण्ड एवं चेतन व्रहा का बोध ही नहीं निष्पन्न हो सकेगा। एक दूसरा तर्क करते हुए पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस प्रकार 'गंगायां धोपः' के अन्तर्गत गंगा पद अपने अर्थ का त्याग करके तीर अर्थ का बोध कराता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत भी 'तत्' एवं 'त्वम्' पद क्रमशः परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य रूप अर्थ और किञ्चिज्ज-त्वादिविशिष्टचैतन्य रूप अर्थ को त्याग कर लक्षणा द्वारा जीवचैतन्य का बोध कराएंगे। पूर्वपक्षी की उक्त शंका निराधार है, क्योंकि गंगायां धोपः में तो तीर पद न होने के कारण लक्षणा द्वारा गंगा शब्द का अर्थ तीर ग्रहण किया जाता है, किन्तु 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत तो 'तत्' एवं 'त्वम्' शब्द वर्तमान है, अतः इन पदों के द्वारा तत्-तत् अर्थों की प्रतीति स्वतः हो रही है। इस प्रकार लक्षणा द्वारा एक पद से दूसरे पद के अर्थ का बोध कराने का प्रयत्न व्यर्थ ही कहा जाएगा।^१ इसलिए 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थ का बोध जहल्लक्षणा द्वारा कदापि संगत नहीं कहा जा सकता।

अजहल्लक्षणा और तत्त्वमसि

जहां पद अपने अर्थ का परित्याग न करके अन्य अर्थ का बोध कराता है, वहां अजहल्ल-क्षणा होती है। इसे अजहत्स्वार्थी भी कहते हैं। 'शोणोधावति' (लाल दोडता है) अजहल्लक्षणा का उदाहरण है। उक्त उदाहरण के अन्तर्गत 'लाल' (वर्ण विशेष) का दोडना असम्भव है, इसीलिए शोण शब्द का अर्थ लक्षणा के द्वारा शोणवर्णविशिष्ट अश्वादि लिया जाता है। 'शोणोधावति' में शोण शब्द अपने अर्थ—लाल वर्ण का परित्याग किए विना ही शोणगुण विशिष्ट अश्वादि रूप अन्य अर्थ का बोध कराता है। परन्तु 'तत्त्वमसि' का वाक्यार्थबोध अजहल्लक्षणा के द्वारा नहीं प्रतिपादित किया जा सकता। इसका कारण यह है कि 'तत्' एवं

१३८	अनेकविद्या	शुभेता है, इसीलिए
१३९	अनेकविद्या	शुभेता है, सम्बन्ध,
१४०	अनेकविद्या	अन्य अर्थ का
१४१	अनेकविद्या	सम्बन्ध

ऋग्मश परोक्षत्वादिविशिष्ट चेतन्य एव अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चेतन्य

'तत्त्वमसि' चेतन्याशा मे अविश्वद होते हुए भी परोक्षत्व एव अपरोक्षत्व रूप अर्थं मे विश्व चन करना जब्जहृत्स्वार्थी लक्षणा मानने पर उक्त विरोध का परिहारन होने मे बारण तत्व जाएगा। द्वारा अखण्डार्थ का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि अजहृत्स्वार्थी लक्षणा मे अनुसार , के अपने अर्थ का त्याग न होने के कारण उक्त परोक्षत्व एव अपरोक्षत्व रूप अर्थ का विरोध बना ही रहेगा।

तत्त्वमसि मे पुन अजहृलक्षणा सिद्ध करते हुए पूर्वपक्षी का विचार है कि 'तत्' पद 'त्वम्' पद से विश्व अपने परोक्षत्वादि धर्म को त्याग कर उभयसामान्य एव (तत् एव त्वम् पदवर्ती) अविश्व चेतन्याशा को न त्याग कर त्वम् पद के अर्थ—किञ्चिज्जटादिविशिष्ट जीद-चेतन्य का लक्षणा द्वारा बोध कराता है। उक्त प्रकार के अनुसार ही त्वम् पद तत् पद से विश्व अपने अपरोक्षत्वादि धर्म को त्याग कर उभयसामान्य एव अविश्व चेतन्याशा को न त्याग कर तत् पद के अर्थ—सर्वसत्त्वादिविशिष्ट ईश्वरचेतन् द का लक्षणा द्वारा बोध कराना है। अजहृलक्षणा के समर्थन मे पूर्वपक्षी का उक्त तर्क सगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक पद ('तत्' या 'त्वम्') लक्षणा द्वारा अपने परित्यक्त परोक्षत्वापरोक्षत्व रूप अर्थ को भी भूषणा हो सूचित करे और दूसरे पद के अर्थ को भी लक्षणा द्वारा बोधित करे, यह असंगत है, क्योंकि अजहृलक्षणा का जो उदाहरण 'शोणोधावति' हमने अभी दिया है, उसमे शोण पद अपने अर्थ—रक्त को भी बतलाए और लक्षणया नीलादि वर्णों का भी बोध कराए, यह असंगत है। इसके अतिरिक्त 'तत्' एव 'त्वम्' पदो द्वारा अपने-अपने अर्थ की स्वत प्रतीति होने के कारण लक्षणा द्वारा एक पद से दूसरे पद के अर्थ का ग्रहण करना ही व्यर्थ है।'

जपर किए गए विवेचन के आधार पर अजहृलक्षणा द्वारा भी 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थबोध की असंगति स्पष्ट हो है।

तत्त्वमसि और भागलक्षणा या जहृदजहृलक्षणा

भागलक्षणा या जहृदजहृलक्षणा उस स्थल पर होती है, जहा शब्द अपने कुछ अशंके अर्थ का त्याग कर कुछ अशंके अर्थ का बोध बराता है। उदाहरण के लिए 'सोऽय देवदत्त' इस वाक्य में तत् (स) शब्द का अर्थ है—तत्काल विशिष्ट देवदत्त और इदम् (अमम्) शब्द का अर्थ है—एतत्काल विशिष्ट देवदत्त। उक्त वाक्य के अन्तर्गत देवदत्ताशा मे कोई विरोध न होकर तत्कालीन और एतत्कालीन अशंके ही काल सम्बन्धी विरोध है। इस प्रकार उक्त उदाहरण मे विश्वादा का त्याग करके अविश्व देवदत्तपिण्डमात्र का बोध कराने के लिए जहृदजहृलक्षणा मानी जाती है। इसी प्रकार तत्त्वमसि के अन्तर्गत भी तत् शब्द वा अर्थ है—परोक्षत्वादि विशिष्ट चेतन्य—जहृ और त्वम् पद का अर्थ है—अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चेतन्य जीव। इस प्रकार इन दोनों पदों के चेतन्याशा मे कोई विरोध न होकर केवल परोक्षत्व एव अपरोक्षत्व मे ही पारस्परिक विरोध है। अत परोक्षत्व एव अपरोक्षत्व रूप विश्वदांशों का त्याग जहृलक्षणा द्वारा और तत् एव त्वम् पद से अविश्व अखण्ड चेतन्य का बोध अजहृलक्षणा द्वारा होकर, जहृदजहृलक्षणा द्वारा तत्त्वमसि से अखण्ड चेतन्य का बोध होता है।

१. एकेनपदेनस्वार्थाद्यशदायन्तिरोभयलक्षणाया वसम्बवात् पदान्तरेण तदर्थप्रतीती लक्षण्या पुनस्तदन्तप्रतीत्यपेक्षाभावाच्य। —वेदान्तसार २६।

जहां जहलक्षणा द्वारा पदार्थ के कुछ अंश का त्याग एवं कुछ अंश का ग्रहण होता है, इसीलिए इसे भागलक्षणा भी कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से तत्त्वमसि में लक्षणा होने पर सम्बन्धत्रय (समानाधिकरण सम्बन्ध, विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध और लक्षणभावसम्बन्ध) के आधार पर अखण्डकार्य का प्रतिपादन करना है। अतः यहां तत्त्वमसि के सम्बन्ध में उक्त तीनों सम्बन्धों का विवेचन अपेक्षित है।

समानाधिकरण सम्बन्ध

जिस सम्बन्ध के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्याविवोध होता है, वह सम्बन्ध समानाधिकरण सम्बन्ध कहलाता है। उदाहरणार्थ 'सोऽयं देवदत्तः' इस उदाहरण में तत् (सः) पद का तत्काल-तदेशविशिष्ट अर्थ है और इदम् (अयम्) शब्द का एतत्काल-एतदेश विशिष्ट रूप अर्थ है। परन्तु उक्त दोनों पदों का तात्पर्य देवदत्तपिण्ड रूप एक ही अर्थ को प्रकट करना है। इसी प्रकार तत्त्वमसि में भी तत् एवं त्वम् पदों का परोक्षत्व-सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट रूप अर्थ तथा किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट रूप अर्थ परस्पर विरुद्ध होते हुए भी समानाधिकरणसम्बन्ध द्वारा एक ही अखण्ड चैतन्य रूप अर्थ का वोधक है। अतः समानाधिकरणसम्बन्ध द्वारा तत्त्वमसि से एक ही अखण्डार्थ व्रद्धि का प्रतिपादन होता है।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध

जो शब्द अपने विशेष्य को अन्य शब्दों से व्यावृत्त कर देता है उसे विशेषण कहते हैं और जो शब्द व्यावृत्त होता है उसे विशेष्य कहते हैं। उदाहरणार्थ 'सोऽयं देवदत्तः' इस उदाहरण में अर्थशब्दवाच्य एतत्काल-एतदेशविशिष्ट देवदत्त 'सः' शब्द वाच्य तत्काल-तत् देशविशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है, जब यह वोध होता है तो तत् शब्द 'इदम्' शब्द का विशेषण होता है और इदम् शब्द तत् शब्द का विशेष्य है। अतः विशेषणविशेष्यसम्बन्ध से 'सोऽयं देवदत्तः' से यह वही देवदत्त है, यह वोध होता है और तत्काल-तत्देशविशिष्ट देवदत्त से अन्य देवदत्त की व्यावृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार तत् पद वाच्य तत्कालतदेशविशिष्ट देवदत्त 'इदम्' शब्द वाच्य एतत्काल-एतदेशविशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं है अर्थात् 'यही वह देवदत्त है' जब इस प्रकार का वोध होता है तो इदं (अयम्) शब्द तत् (सः) शब्द का विशेषण होता है और (सः) शब्द विशेष्य होता है। इस प्रकार परस्पर भेद व्यावर्तक होने से स एवायम् (यह वही है) एवं 'अयमेवसः' (वह यही है) के रूप में सः और अयम् दोनों ही एक दूसरे के विशेषण एवं विशेष हो जाते हैं। इस प्रकार विशेषणविशेष्यसम्बन्ध के द्वारा देवदत्त रूप एक ही अर्थ का प्रतिपादन होता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में जब यह वोध होता है कि 'त्वम्' पदवाच्य अपरोक्षत्व-किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तत्पदवाच्य सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं है तो तत् शब्द का अर्थ त्वम्-पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य होता है। इसी प्रकार जब यह वोध होता है कि तत्पदवाच्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य 'त्वम्' पदवाच्य अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से भिन्न नहीं है तो त्वम्-पदार्थ तत्पदार्थनिष्ठ भेद का व्यावर्तक होने से विशेषण है और त्वगदार्थ व्यावर्त्य होने से विशेष्य है। इस प्रकार विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध के आधार पर तत् एवं त्वम् पदों के द्वारा चैतन्यरूप एक ही अर्थ का वोध होता है। तत् एवं

स्वम् पदों द्वारा एक ही वर्ण का चोप होने से 'बही तू है' और 'तू ही वह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। अत 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ के द्वारा जिस विरोध की प्रतीति होती है, उसका निराकरण इस विधि में लक्षणा भानने पर स्वयं हो जाता है। मधुभूत सूरस्वती प्रमृति अद्वैत वेशान्त के अनेक विद्वानों ने तत्त्वमसि के अवग्नार्थं वोथ के सम्बन्ध में अहरनहर्मनसाका का ही समर्यन किया है।

वेदान्तपरिभाषाकार का मत

वेदान्तपरिभाषाकार ने स्वमतप्रतिपादन के सम्बन्ध में पहिने पूर्वपक्षी के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस प्रकार 'आदित्यो यूप्' (यजस्तम्भम् सूर्यःश्च) है तथा 'यत् मात् प्रस्तुर्' (यजमान दर्भंमुष्टि स्वस्त्र है), इन्यादि वाक्यों में गौणमृप से यूप में आदित् एव दर्भंमुष्टि से यजमान का व्यवहार होता है, उसी प्रकार जीव और परमात्मा का अनेद 'द्वाविमौगुण्यो लाके धरत्वात्पर एव च', द्वायुपाणी मयुद्वा समाया समान वृक्ष परिष्वस्त्रते। तथोरन्य विषय स्वाद्वन्धननन्योऽभिचाक्षीति 'आदि प्रमाणों में वाधित होने पर भी तत्त्वमसि इत्यादि में आदित्य एव यूप तथा यजमान एव दर्भंमुष्टि के परम्पर भेद की तस्वीर तत् त्वम् पदों के अर्थों में परम्पर भेद होते हुए भी गौण शृणु से अनेद का व्यवहार हो जाता है। पूर्वपक्षी के मत का निराकरण कर्त्त्वे हुए घर्मरात्रा-वरीन्द्र का तर्क है कि 'तत्त्वमसि' के अन्त गेत 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के विरोध की धानि गौणार्थं व्यवस्था के दिना श्वीकार जिए ही सम्भव है। इस विदान का कथन है कि यावहारिक भेद को निष्ठ बरने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणों के साथ वास्तविक अनेद का वीपक बराने वाले 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का कुछ भी विरोप नहीं है। अपने मत की पुष्टि में वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि 'तत्त्वमसि' में तत् एव त्वम् पदों के भेद के साक्षात्कार में प्रत्यक्षादि दोषद्वारा होने वी समावना हो सकती है, परन्तु वैदिक प्रमाण के सर्वेद निरोप होने के कारण उसमें दोषों की समावना नहीं वी त्रा नकी। अत वेदवन्धन्यते के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों "ता वाऽस्त्रत् निष्ठहो जाता है। इस प्रकार तत् एव त्वम् पदों का अनेद प्रतिपादन, दद्र प्रतिपाद्य होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतिपादित भेदप्रतिपादन की अपेक्षा प्रामाणिक होने के कारण स्वीकार्य है। यदि शास्त्र प्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण को वरवान् माना जाएगा, तब तो चन्द्रादि प्रहो वे अदिक् परिमाण के ग्रन्थ बरने वाले ज्ञोतिर्द्वारा शास्त्र वाँ, चन्द्रादि प्रदेश मात्र परिमाण दिलाने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण से दाप होने लगेगा। अत प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा शास्त्र प्रमाण को ही वरवान् माना जाना चाहिए। परन्तु पूर्वपक्षी की दाका है कि प्रत्यक्ष तथा दद्र प्रमाण का परम्पर दाजीव्योऽजीव्य भाव है। मरि शब्दप्रमाण की प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा वरवान् माना जाएगा ता दद्र-जीव्योऽजीव्य भाव की स्थिति नहीं देनी त्रा नकी। पूर्वपक्षी की दाका का समानान बरते हुए वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि अनिष्टयोग से रक्त हुए घट में 'अत रक्तोपदीन् द्याम' (यह रक्त घट द्याम नहीं है) इत्याकारक प्रतीति होती है। यही वेदान्त परिभाषाकार का कथन है कि 'सतिनेष्टोहि' न्यायनियमों के अनुसार जिस प्रकार कि पहुँच हुए रक्त

1. वेदान्त परिभाषा, वल्मी परिच्छेद।

2. वेदान्त परिभाषाकार द्वारा विशिष्ट 'मविदोपल्लिहि' इस न्याय के अनुमार विदेशादि में प्रवृत्त होने वाले विधि नियेष्ट स्व वर्तनों त्रा यदि विशेष भाग म वाऽप्रतीत हो तो वह विधि नियेष्ट विदेश भाग में प्रवृत्त होकर आन्त हो जाता है।

धट में 'सोऽयं घटोरक्तो न श्यामः' (वह यह घड़ा रक्त है, श्याम नहीं है) आदि स्थलों में श्यामता एवं रक्तता आदि धर्मों के भेद होने से भी धर्मी विशेष मात्र घटादि का अभेद होने से, उक्त वाक्य का केवल श्यामन्त्र एवं रक्तता आदि धर्म भेद ही में तात्पर्य सिद्ध होता है, उसी प्रकार जीव एवं परमात्मा के भेद के साधक प्रत्यक्ष का भी, उसके (प्रत्यक्ष के) विशेषणीभूत अल्प-ज्ञात्व एवं सर्वज्ञत्वादि धर्मों का अवगाहन करने वाला होने से अर्थात् 'नाहं ईश्वरः' इत्यादि प्रत्ययों का केवल विशेषण मात्र में उपक्षीण होने से, केवल विशेष भाग में अभेद के वोधक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यार्थ के साथ कुछ विरोध नहीं है। बतः' में ईश्वर नहीं हूँ' 'दुःखी हूँ,' संमारी हूँ इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर तत् एवं त्वम् पदार्थों की भेदयोजना अनुचित कही जाएगी।^१

उपर्युक्त विवेचन के अनुरूप प्रत्यक्ष का निराकरण होने पर पूर्वपक्षी का यह कथन कि जीव और ईश्वर किञ्चिज्ञत्वादि एवं सर्वज्ञत्वादि विश्वद्वं धर्मों से आक्रान्त होने के कारण तथा प्रकाश एवं अन्धकार के समान विश्वद्वं धर्मवाले होने के कारण परस्पर भिन्न हैं, इत्यादि अनुमान के अनुसार जीव एवं ईश्वर में परस्पर भेद होने के कारण तत् एवं त्वम् पदों के अर्थों में भेद निश्चित है, यह अयुक्त है, क्योंकि यदि ऐमा माना जाएगा तो 'मेरुपाणमयः पर्वतत्वात् विन्द्यादिवत्' (विन्द्यादि के समान पर्वत होने के कारण मुमेल पर्वत भी पापाण युक्त है) आदि अनुमान भी प्रामाणिक कहलाएंगे, परन्तु उक्त अनुमानवाक्य आगमप्रमाण से वाचित होने के कारण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार 'जीवेश्वरी परस्परभिन्नोऽ' आदि अनुमान वाक्य भी आगमवाचित होने के कारण अप्रामाणिक हैं। वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है कि आगमान्तर के साथ भी तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का विरोध नहीं है,^२ क्योंकि तत्पर एवं अतत्पर वाक्यों में से तत्पर वाक्य के वलवान् होने के कारण 'तत्त्वमसि' में भेद के अनुवादक 'द्वानुपर्णा' इत्यादि आगम वाक्यों से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की ही प्रबलता है। क्योंकि उपकम उपसंहारादि पद्धतिं लिगों के अनुरोध से अद्वैत में ही तात्पर्य निश्चित होता है^३ इस प्रकार वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थों के विरोध का परिहार जहदजहलक्षणा के द्वारा न करके उपर्युक्त तर्क-तथ्यों के आधार पर किया है।

१. विशेष देखिए—वेदान्त परिभाषा, सप्तम परिच्छेद ।

२. अतएव च नानुमानमणि प्रमाणम्, आगमवाचात्, मेरुपाणमयत्वानुमानवत् । नाव्याग-मान्तरविरोधः तत्परातत्परवाक्ययोः तत्परवाक्यस्यवलवत्वेनलोकसिद्धभेदानुवादिद्वा-सुपर्णादिवाक्यापेक्षया उपक्रमोपसंहाराद्यवगताद्वैततात्पर्यविशिष्टस्यतत्त्वमस्यादिवाक्यस्य प्रवलत्वात् । —वेदान्त परिभाषा, सप्तम परिच्छेद ।

पाठ अध्याय

अद्वैतवाद तथा अन्य विविध वैष्णव-वेदान्तिकवाद (तुलनात्मक अध्ययन)

अभी तक इस अध्ययन की समस्याएँ—सहिताकाल से लेकर शक्तराचार्यपरदर्ती शाकर-वेदान्ती आचार्यों के काल तक अद्वैतवाद के इतिहास एवं विकासक्रम का विवेचन, अद्वैतवाद का विविध भारतीय दर्शन पद्धतियों, इस्लामी दर्शन, यूनानी दर्शन एवं ब्रितानी अन्य पादशास्त्र दर्शन पद्धतियों के सन्दर्भ में तुलनात्मक विवेचन और शाकर वेदान्त एवं तत्परवर्ती अद्वैत-वेदान्तिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक निष्पत्ति रही हैं। अब यहाँ रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों का समीक्षात्मक निष्पाग तथा इन सिद्धान्तों का शाकर अद्वैत-वाद के साथ तुलनात्मक विवेचन किया जाएगा।

शक्तराचार्य रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्जिनीय एवं बल्लभाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों द्वारा ऐसे वेदव्याख्य को छोड़कर प्राप्त अभी आचार्यों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्राप्त उपनिषदों तथा वेदान्त सूत्र को स्वीकार किया है। इन आचार्यों द्वारा ऐसे वेदव्याख्य को अपेक्षा वैदिक सहिताओं को अधिक महत्व दिया है। आचार्य मध्व ने वेदान्त की व्याख्या करते समय वेदान्त शब्द वा अर्थ वेद विनियंत्रण' किया है।^१ यही कारण है कि आचार्य मध्व का भाषण अन्य भाषणकारों की अपेक्षा अधिक संपृक्त नहीं है।^२ परन्तु इसके साथ यह भी स्वीकार्य होगा कि मध्व के अतिरिक्त शक्तराचार्य प्रभृति अन्य आचार्यों के वेदान्तसूत्रभाष्य भी पूर्णतया संगत हैं, यह कहना कठिन है। समालोचक घाटे ने तो शक्तराचार्य प्रभृति वेदान्त सूत्र के सभी भाष्यकारों के भाष्यों को सूत्रकार के वास्तविक मिदान्त से भिन्न बतलाते हुए कहा है—

Perhaps the system in the mind of the Sutrakara was different from the five we are considering.^३

अपने मन के भमर्यन में घाटे महोदय वा कथन है कि वेदान्त सूत्र के शक्तराचार्य प्रभृति भाष्यकारों ने वेदान्त सूत्र की भाष्य रचना करते समय सूत्रकार वे मिदान्त वी विनान भरते अपने पूर्व निरिवत मिदान्तों की व्याख्या वी थी और इस व्याख्या की प्रामाणिकता वे लिए वेदान्त-सूत्र के सूत्रों का आधय लिया था।^४ मेरे विचार से शक्तराचार्य प्रभृति आचार्यों के पूर्व-काल के दार्शनिक साहित्य में निदान स्पष्ट से विसी दार्शनिक विचार वा उदय एवं विकास

^१ भाष्य भाष्य—वेदान्त सूत्र ३। ३। १।

^२ Ghate The Vedanta page 169

^३ Ghate The Vedanta, p 51

^४ Ghate The Vedanta, p 51

नहीं हो सका था। वेदान्त सूत्र की वात तो दूर रही, स्वयं वेदान्त दर्शन के मूलाधारभूत उपनिषदों में किसी एक सिद्धान्त की स्थापना न होकर अनेक सिद्धान्तों के बीज मिलते हैं। यही कारण था कि उपनिषद्-सारभूत वेदान्त सूत्र के बन्तर्गत भी किसी एक सिद्धान्त की स्पष्ट प्रतिष्ठा नहीं मिली। उपत कथन की प्रामाणिकता इसी से स्पष्ट है कि शंकराचार्य प्रभृति भाष्यकारों ने एक ही वेदान्त सूत्र के आधार पर अपने-अपने भाष्यों में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों की स्थापना की है। शंकराचार्य आदि भाष्यकारों के सिद्धान्तों की मिन्नता का कारण उपनिषदों के वेदान्तिक बीज हैं जिनके आधार पर भाष्यकारों ने अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि विभिन्न सिद्धान्तों के प्राप्ताद खड़े किए थे। जहां तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि वेदान्त सूत्र के उपर्युक्त शंकराचार्य प्रभृति भाष्यकारों में किस का भाष्य अधिक संगत एवं समीचीन है, वहां इस समस्या के काठिन्य की ओर हम पहिले ही संकेत कर चुके हैं। पद्यपि प्रस्तुत विवेचन के सन्दर्भ में उक्त सभ स्था के विस्तृत विवेचन का अवसर नहीं है, फिर भी इतना हम अवश्य कहेंगे कि वेदान्त सूत्र का सर्वाधिक संगत भाष्य वही कहला सकता है, जिसमें कि संहिताओं, उपनिषदों एवं वेदान्त सूत्र की विचारधाराओं की पारस्परिक समरसता एवं सम्बन्ध दिखाई पड़े। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत लेखक का विचार तो यह है कि संहिताओं, उपनिषदों एवं सूत्रों के सामरस्यपूर्ण ज्ञान की जैसी त्रिवेणी शंकराचार्य ने वहाई है, वैसी अन्य किसी भाष्यकार ने नहीं। कहना न होगा कि शंकराचार्य के भाष्य द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्त में जो आध्यात्मिक गम्भीर, सूक्ष्म तार्किकप्रणाली मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। बंगाल के विद्वान् प्रज्ञानानन्द सरस्वती ने शांकर भाष्य की समालोचना करते हुए कहा है—

‘शंकरेभाष्य प्रसन्न गम्भीर। ताहांर भाष्य अचल सिन्धुरमत गम्भीर, अटलपर्वते-रन्धाय अधृष्य, सूर्येर न्याय प्रोज्वल एवं चन्द्रेर न्याय सुशीतल… विचारेर तीक्ष्णताय तिनि साक्षात् सरस्वती। शंकर दार्शनिक क्षेत्रे सार्वभौम सप्राद्, चिन्ताराज्ये चकवर्तीं ओ भनीयाय महाराजाधिराज’^१।

भर्त्यात् शांकर भाष्य प्रसन्न गम्भीर है। शंकराचार्य का भाष्य अचल सिन्धु के समान गम्भीर, अटल पर्वत के समान अधृष्य सूर्य के समान प्रोज्वल एवं चन्द्रमा के समान सुशीतल है। विचारों की तीक्ष्णता में शंकर साक्षात् सरस्वती हैं। शंकर दार्शनिक क्षेत्र में सार्वभौम सप्राद् हैं। डाक्टर थीबो, जिन्होंने रामानुज भाष्य की भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा ही है, का निःसंकोच कथन है कि शंकराचार्य के धार्मिक वेदान्त की तुलना, विचारों की निर्भकिता और सूक्ष्मता के क्षेत्र में न किसी शांकर वेदान्त के विरोधी सिद्धान्त से की जा सकती है और न किसी अवेदान्तिक सिद्धान्त से।^२ इस प्रकार अनेकों भारतीय एवं पश्चिमी विद्वानों ने शंकराचार्य के भाष्य और उनके दार्शनिक सिद्धान्त की अत्यधिक प्रशंसा की है। यहां रामानुजाचार्य प्रभृति आचार्यों के सिद्धान्तों का निह्पण तथा उनका शांकरवेदान्तसिद्धान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

१. वेदान्त दर्शनेर इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ५३।

(श्री शंकरमठ वरिशाल प्रकाशन, प्रथम संस्करण वंगाल १३३२)

२. S. B. E., Vol. XXXIV p. 14, Oxford Clarandon 1890.

रामानुजाचार्यं (१०३७-११३७ ई०) का दार्शनिक सिद्धान्त (विशिष्टाद्वैतवाद)

अन्य वेदान्तिक सिद्धान्तों के विपरीत रामानुजीय दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न जीव एवं जड़ जगत् ब्रह्म के शरीर, प्रकार एवं विशेषण कहे गए हैं। जीव चित् एवं जड़ जगत् अचित् है। चित् एवं अचित् से विशिष्ट ब्रह्म ही रामानुज दर्शन का विशिष्टाद्वैत तत्त्व है। इस प्रकार चित् एवं अचित् से विशिष्ट होने के कारण ही इस सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा है। कुछ समालोचकों ने, अद्वैत तत्त्व और दो विशिष्ट-कारण एवं कारण की सत्ता के आधार पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का नामकरण किया है।^१ रामानुज दर्शन के अनुसार यद्यपि जीव तथा जगत् की स्वतन्त्र सत्ताएँ स्वीकार की गई हैं, तथापि परमेश्वर अन्तर्यामी रूप से मोक्षा—जीव एवं भोग्य—जगत् में स्थित रहता है।^२

ब्रह्म का विविध प्रकार से वर्णन

रामानुजीय वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म का वर्णन विविध प्रकार से दिया गया है। ब्रह्म सम्बन्धीय वर्णनों में ब्रह्म के आधार, नियन्ता, शासक एवं रक्षक, शीपी प्रकारी, सारा एवं सुन्दर रूप के वर्णन प्रमुख हैं। यहाँ ब्रह्म के उत्तरुक्त स्वरूपों का समीक्षात्मक निरूपण किया जाएगा।

ब्रह्म का आधार रूप—शाकुर अद्वैत के अधिष्ठानवाद सिद्धान्त के विपरीत आचार्यं रामानुज ब्रह्म तथा जीव एवं जगत् के बीच शरीर-शरीरी एवं आधाराखण्य सम्बन्ध मानते हैं। इस सम्बन्ध के अनुरूप ब्रह्म शरीरी एवं चित्-तथा अचित्—जीव जगत् ब्रह्म के शरीर हैं। इसपर शब्दों में शरीरी ब्रह्म, शरीर रूप—जीव तथा जगत् का आधार है तथा जीव एवं जगत् उस ब्रह्म के आधीप हैं। इस सम्बन्ध को ही रामानुज वेदान्त में शरीर—शरीरी सम्बन्ध तथा आधाराखण्य सम्बन्ध कहा गया है। शरीर की परिमाणकरता हुए रामानुजाचार्यं ने लिखा है कि वह द्रव्य, विस्फी, भूत्वा अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए रक्षा करता है तथा जिसे धारण करता है और जो आत्मा के अधीन रहता है उसे शरीर कहते हैं।^३ जिस प्रकार कि आत्मा उपर्युक्त शरीर को धारण करता है तथा उसपर नियन्त करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जीव तथा जगत् को धारण करता है तथा उसका नियन्त करता है। इस प्रकार चेतन जीव तथा अवेतन शरीर उस ब्रह्म के शरीर हैं।^४ ब्रह्म जब आत्मा रूप से जीव को धारण करता है तथा अन्तर्यामी रूप से उस पर शासन करते हुए स्वार्थ सिद्धि के लिए उसे उसी प्रकार कार्य में प्रवृत्त

१. The phrase विशिष्टाद्वैतम् is sometimes explained as the oneness or identity and the two Vishushta entities mentioned with text, as cause & effect (Three great Acharyas p 151 Footnote) G A Nateson and Co Madras

२. परमेश्वरस्य भोक्तृभोग्योहभयोरन्तर्दर्थमिहपेणावस्थानम्।

—सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १०८।

३. यस्य चतुर्न्यस्य यद् द्रव्यम् भर्वान्तसा स्वार्थे नियन्तुम् पारपितु च शक्यम् तच्चेष्टाऽस्वरूप च सन् तस्य शरीरम्। —श्रीभाष्य २१। १६।

४. उपर्युक्त प्रमुखोग्यं सर्वदेहान्वेतत् तस्माशरीरम्। —श्रीभाष्य २१। १७।

करता है, जिस प्रकार कि जीव शरीर को धारण करता हुआ तथा उस पर नियमन करता हुआ अपनी स्वार्थं सिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है, तो ब्रह्म और जीव का यह सम्बन्ध आधाराधेय सम्बन्ध कहलाता है। इस सम्बन्ध के अनुसार ब्रह्म आधार एवं जगत् आधेय है। इस प्रकार शरीर-शरीरी-सम्बन्ध को ही आधाराधेय-सम्बन्ध भी कहते हैं।

ब्रह्म का नियन्ता रूप—रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत आधार रूप ब्रह्म का वर्णन नियन्ता रूप से भी किया गया है। ब्रह्म के इष्ट नियन्ता रूप का उल्लेख हमें बृहदारण्यक उप-निष्पद् के अन्तर्गत उस स्थल पर स्पष्ट रूप से मिलता है जहाँ उद्वालक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं कि इस संसार का अन्तर्यामी नियन्ता एवं शासक कौन है—और याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि जो परमात्मा समस्त प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से स्थित रहता हुआ भी सबसे अलग रहता है और जिसे समस्त प्राणी नहीं जानते परन्तु समस्त प्राणी जिसके शरीर हैं वही परमात्मा अन्तर्यामी रूप से समस्त प्राणियों का नियन्ता है।^१ इस कथन के अन्तर्गत परमात्मा के प्राणियों से पार्यक्य का यही आशय है कि वह प्राणियों के पाप-पुण्यों से अस्पृष्ट रहता है। नियन्ता परमात्मा पुरुषोत्तम रूप है। उसकी पुरुषोत्तमता यही है कि वह अपहृत पापमा, विजर, विमृत्यु, विशोक, अविजिधित्स, तृष्णारहित, सत्यकाम एव सत्य संकल्प है।^२ श्वेताश्वतर उपनिषद् में उस परम पुरुष के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि वह परम पुरुष अपाणियाद होते हुए भी समस्त वस्तुओं को ग्रहण कर लेता है तथा सर्वत्र वेगपूर्वक गमन करता है। वह परमात्मा नैऋत्यान होते हुए भी देखता है तथा अकर्ण होते हुए भी सुनता है। वह सब कुछ जानता है, परन्तु उसे कोई नहीं जानता।^३ वह परमात्मा ही प्राणियों का सर्वोच्च शासक है, जिसके प्रशासन में सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक तथा पृथ्वी एवं समस्त संसार स्थिर रहता है। इसी प्रकार रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत अन्तर्यामी परमपुरुष परमात्मा को जगत् का नियन्ता कहा गया है। परमात्मा के नियन्ता रूप के अनुसार जीव एवं जगत् की सत्ता स्थिति एवं प्रवृत्ति परमात्मा के संकल्प के अधीन है। यही उस परमात्मा का नियाम्यत्व है।^४ विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज के अतिरिक्त शांकर अद्वैतवाद में भी माया विशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को अन्तर्यामी^५ एवं नियन्ता कहा गया है।^६

ब्रह्म का शासक एवं रक्षक रूप—रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत जहाँ चिदचिदविशिष्ट ब्रह्म को नियन्ता कहा है, वहाँ उसके शासक एवं रक्षक रूप का भी व्यवस्थित एवं तर्कप्रतिष्ठित वर्णन मिलता है। रामानुज का शासक ब्रह्म जीवों को उनके कर्मों के अनुसार शुभ एवं अशुभ कल का दाता है। यद्यपि ब्रह्म स्वभाव से परम कारुणिक है, परन्तु उसकी कारुणिकता का यह अर्थ कदाचित् नहीं ग्रहण करना चाहिए कि वह पापी को दण्ड नहीं देता। आचारिक दृष्टि से पापी को दण्ड देना भी उस पर कृपा ही करना है।^७ क्योंकि दण्ड भी पापी के लिए

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ३।७।१५।

२. श्री भाष्य ३।२।१।

३. श्वेत ० उ० ३।१६।

४. तत्संकल्पाधीनसत्तास्थितिप्रवृत्तिकर्त्वम् नियाम्यत्वम्।

५. ब्रह्मसूत्र, शा० भा०, १।१।२०।

६. ब्रह्मसूत्र, शा० भा०, १।१।१८, २०, २२, १।३।३६, ४१, १।२।६-१०।

७. The Philosophy of Vishishtadvaita, p. 153.

पापकी मुक्ति का ही उपाय है जो परमात्मा की कृपा से सम्भव होना है। इस प्रकार शासक ब्रह्म में कर्णा की प्रतिष्ठा होने पर भी रामानुज वेदान्त में कर्म सिद्धान्त की अवहेलना नहीं की गई है। शासक ब्रह्म जहाँ पापी को दण्ड देता है वहाँ पुण्यदृत्यकारी को शुभ फल भी प्रदान करता है।

रामानुजीय दर्शन पद्धति में ब्रह्म के उपर्युक्त शासक रूप के अतिरिक्त उम्मा एक लोकरक्षक का भी रूप है। लोक रक्षा के ही हेतु ईश्वर जगत् की रक्षा के लिए पर, व्यूह, विमव, अन्तर्भासी तथा अर्चार्थी को ग्रहण करता है।^१ इनमें प्रथम—पर, ज्ञान, शक्ति आदि वल्याण गुण से विशिष्ट परब्रह्म, परवायुदेवादि घटों में वाच्य नागर्यण का रूप है। ईश्वर का दूसरा व्यूहरूप, उपासना एवं जगत् सृष्टि आदि के लिए वासुदेव, मकर्यण प्रथुम एवं अतिरिक्त भेद से चार रूपों में स्थित होना है। इन में वासुदेव पठगुणपुद्म सकृप्तं ज्ञान और दत्तयुक्त, प्रथुम ऐश्वर्य और वीर्य से युक्त और अनिरुद्ध वाक्ति और तज से युक्त हैं। ईश्वर का तीसरा हृषि विभव अवतार रूप है। ईश्वर के मात्य कूम निमिह वामन परमुराम, श्वीराम, वलमीक्र, श्रीहृष्ण एवं बलदी, में अवतार भेद हैं। इन अवतारों वा उद्देश्य दुष्कृति विनाश पूर्वक साधुओं की रक्षा दरना ही है। यपने अन्तिमी रूप के द्वारा ईश्वर स्वयं नरवादि की अनुभव दशा में भी सुहृद रूप में जीवात्मा के हृदय में स्थित रहता है। अर्चा रूप में ईश्वर मूर्ति विशेष के रूप में गृह ग्राम, नगर प्रासाद देव एवं पवानादि में स्थित रहता है। ईश्वर का यह अर्चा रूप भी, स्वयं अवतार देव, मैदू एवं मानुष भेद में चार प्रकार का है। इस प्रकार ईश्वर के उपर्युक्त रूपों के द्वारा उम्मे लोकरक्षक गुण की निदिपूर्वतया हो जानी है। इसके अतिरिक्त लोकरक्षक रूपों परम वाह्यिक ईश्वर की करणा का एक तीव्र हृषि वह भी होता है, जब वह प्रलय के द्वारा पापियों एवं अपराधियों का सहार बर देता है और किर से सृष्टि रखता। वरके मुक्ति होने का अवसर प्रदान कर देता है।

ब्रह्म का शेषी रूप—रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म का एक शेषी रूप भी है। ब्रह्म शेषी एवं जीव 'शेष' है। इस प्रकार ब्रह्म एवं जीव में 'शेष शेषी' भाव है। 'शेष' जीव ईश्वर का उपवारक है। जीव की प्रथमेक किया अर्थात् ईश्वर के निर्देशानुसार ही होती है। इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म में सेवक-स्वामी का सम्बन्ध है परन्तु भगवान् का कैर्यं परम महित्तु अवधा प्रपाति द्वारा ही प्राप्य है।^२ रामानुजाभावं ने ब्रह्म का वर्णन प्रकारी रूप से भी किया है। ब्रह्म के प्रकारी रूप के अनुसार ब्रह्म 'प्रकारी' और जीव एवं जगत् 'प्रकार' है। इस प्रकार ब्रह्म एवं जीव तथा जगत् के अन्तर्गत प्रकार प्रकारीभाव गम्भन्य है। भोक्ता जीव, भोग्य जगत् एवं प्रेरक ईश्वर में स्वस्य भेद होने के कारण भेद होने पर भी प्रकार प्रकारी भाव सम्बन्ध के द्वारा अभेद ही है,^३ वर्णादि रामानुजाभावं का ब्रह्म प्रकारविशिष्ट प्रकारी कहा गया है।^४

१ एवं प्रकार ईश्वर पर व्यूहविभवान्तर्याम्यवतारस्तेषुपचक्रकार,—यतिपतिमतदीपिका नवम अवतार, पृ० ४०—४१ (त्रिज बी० दाम एफड बम्बनी, बनारस १६०७)।

२ श्रीमाध्य २४४।

३ रस्य त्रय, अध्याय ३, पृ० २२ (वल्याण, बम्बई)।

४ सर्वदर्शन सप्तह, ४।३०।

५ Radhakrishnan Indian Philosophy, Vol II, p 695 (F. note)

ब्रह्म का लक्ष्य रूप—विशिष्टाद्वंति सिद्धान्त के समर्थकों ने ब्रह्म के कारणावस्थ ब्रह्म एवं कार्यविस्थ ब्रह्म के भेद से दो रूप माने हैं। प्रलयकाल में जीव एवं जगत् के सूक्ष्म रूपता प्राप्त कर लेने वार सूक्ष्म चित् एवं अचित् से विशिष्ट ईश्वर 'कारणावस्थ ब्रह्म' कहलाता है। इसके अतिरिक्त सृष्टिकाल में स्थूल चित् एवं अचित् से विशिष्ट ईश्वर 'कार्यविस्थ ब्रह्म' कहलाता है।^१ कारण एवं कार्य ज्ञात्य का यह पार्थक्य ही विशिष्टाद्वंति सिद्धान्त का समर्थक है। कारणावस्थ ब्रह्म स्वेच्छा से कार्यविस्था को प्राप्त होता है। अतः ब्रह्म जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है।

कार्य रूप जीव एवं जगत् की सत्ता कारण रूप ब्रह्म में वर्तमान रहती है,^२ इसीलिए रामानुज वेदान्त में कार्यकारणवाद सम्बन्धी सिद्धान्त के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त की तरह विवर्तवाद सिद्धान्त को न मानकर सत् कार्यवाद भिद्धान्त का समर्थन किया गया है।

रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत सृष्टि का सापेक्ष विधान द्रष्टव्य है। इस सापेक्ष विधान के अनुसार प्रलय एवं सृष्टि ब्रह्म की दो अवस्थायें मानी हैं। ब्रह्म की कारणावस्था प्रलय की स्थिति है और कार्यविस्था सृष्टि की स्थिति। प्रलयकालिक ब्रह्म कारणावस्था को प्राप्त होकर जब स्वेच्छा से सृष्टि आरम्भ करता है तो सूक्ष्म भौतिक तत्त्व स्थूल दशा को प्राप्त होते हैं और फिर जीव अपने पूर्व जन्म के पाप एवं पुण्यों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीरों में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार लक्ष्य ब्रह्म, जगत् की सृष्टि विभिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुरूप ही करता है। अतः यह कहना और संगत होगा कि लक्ष्य ब्रह्म जगत् की सृष्टि करने में पूर्णतया स्वतंत्र नहीं है।^३

रामानुज दर्शन में जीव का स्वरूप

रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत निर्दिष्ट जीव का स्वरूप शांकरवेदान्त में विवेचित जीव के स्वरूप से नितान्त भिन्न है। जहाँ शांकर अद्वैतवाद के अनुरूप जीव और ब्रह्म की एकता का निह्पण करते हुए, यह कहा गया है कि जीव स्वरूपतः ब्रह्म ही है, वहाँ रामानुज दर्शन में जीव की अनन्त सत्ता स्वीकार की गई है।^४ रामानुजाचार्य के मतानुसार जीव ब्रह्म का प्रकार द्वोनो से सत्य, अद्वितीय, अनन्त, ज्ञान शक्ति सम्पन्न, चंतन्यस्वरूप, अवयव रहित, अपरिवर्तनीय, अगांचर एवं अणुरूप है।^५ जीव की सत्ता शारीर, इन्द्रियों, प्राण एवं दुर्द्वि से पृथक् है। जीव कर्ता एवं भोक्ता दोनों ही है। अणुरूप जीव का आधारस्थान हृत्पदम् है। सुपुत्रि अवस्था में जीव हृत्पदम् एवं परमात्मा का आश्रय लेकर विश्राम करता है।^६ यद्यपि जीव अणु है परन्तु अणु होते हुए भी विस्तार एवं संकोच शील ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण शरीर के सुख-दुःख का भोक्ता बनता है। श्री भाष्यकार ने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दत्त हुए

१. यतिपतिमतदीपिका, पृ० ३६।

२. Ghate : The Vedanta p. 28.

३. श्री भाष्य २।१।३४, ३५।

४. M. Hiriyanna : Outlines of Indian Philosophy, p. 405.

(London, Allen & Unwin—1956)

५. श्री भाष्य २।२।१६-३२, २।३।१८, यतिपतिमतदीपिका ८।

६. श्री भाष्य ३।२।६।

वहा है कि जिस प्रकार दीपक को ज्वाला लघु होते हुए भी अपने प्रकाश के द्वारा अनेक वस्तुओं को प्रकाशित करती है। उसी प्रकार अणु जीव भी सुख-दुःख का भोक्ता बनता है। दीपक के विस्तार एवं सकौच दील प्रकाश के समान ही जीव का ज्ञान भी विस्तार एवं सकौच से सम्पन्न है।

जीवों की सत्या अनन्त है। प्राणियों में सुख एवं दुःख का पृथक् पृथक् विभाजन जीवों की अनन्तता का दोतरा है। यद्यपि जीव, जगत् में अनेक बार जन्म लेने हैं, परन्तु अनेक बार जन्म लेन पर भी उतके मूल स्पृष्टि में परिवर्तन न होकर—वाह्य ल्पों में ही परिवर्तन होता है।

रामानुज दर्शन के अन्तर्गत जीव को ज्ञाता कहा गया है। वन्यत एवं मुक्ति दोनों अवस्थाओं में, जीव का ज्ञातृत्व बना रहता है।^१ इसके अतिरिक्त शाक्त वेदान्त के विपरीत रामानुज वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म में अद्वैतता न मानकर 'अशाश्वि भाव का प्रतिपादन इया गया है। अशाश्वि भाव के अनुसार ब्रह्म असी एवं जीव अस है। जीव की असता से यह विद्यापि न ग्रहण करना चाहिए कि जीव ब्रह्म का कोई पृथक् कृत अस है, क्योंकि ब्रह्म भेदों से रहित है।^२ जीवों के, ब्रह्म के विरोपण एवं 'प्रकार' होने के कारण ही उन्हें ब्रह्म का अस कहा गया है।^३

जीवों के भेद

रामानुज दर्शन के अन्तर्गत जीव के बढ़, मुक्त एवं नित्य स्पृष्टि से तीन भेद माने गए हैं।^४ जो जीव अज्ञान एवं स्थायी के कारण समार में बार-बार जन्म लेते हैं वे बढ़ बहलते हैं।^५ चतुर्दश मुनों में रहने वाले ब्रह्मा आदि से लेनह कीट पर्यन्त जीव बढ़ कोटि में आते हैं। बढ़ जीव के ही देव, मनुष्य, निर्यत् एवं स्थावर ये चार भेद हैं। कुछ एक विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् जीवों का एक भेद नित्यबढ़ भी मानते हैं। नित्यबढ़ वे जीव हैं जो सदा समार चक्र में फसे रहते हैं।^६ जैसा कि ऊपर कहा है, इसरे प्रकार के जीव मुक्त जीव बहलते हैं। ये वे जीव हैं जो अपनी बुद्धि, गुणा एवं महित के द्वारा सासार के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे प्रकार के नित्य जीव वे जीव हैं जो मात्रवदभिमत आचरण के विरुद्ध कदारि व्यवहार नहीं करते। ऐसे जीवों के ज्ञान के सकौच का अवसर नहीं आता।^७ ये जीव कमं एवं प्रहृति के बन्धन में मुक्त होकर आनन्द का अनुभव करते हुए वैकुण्ठ में निवास करते हैं। गरुड़ एवं विष्वकूर्म से आदि जीव नित्य जीवों की कोटि में आते हैं।

१ Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol II, p 692

२ यीमात्य २।३।४२।

३ वही, २।३।४५।

४ सजीवस्त्रिविध—बढ़मुक्तनित्यभेदात्। यत्तिष्ठिमनदीपिका, पृ० ३२।

५ रहस्यत्रयमार ४।

६ वस्त्रमुक्तवाक्लाप २।२७, २८।

७ यत्तिष्ठिमनदीपिका, पृ० ३६।

जगत्

शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन अत्यन्त बलपूर्वक किया गया है। इसके विपरीत विशिष्टाद्वैतवादी परम्परा के अनुसार ब्रह्म एवं जगत् के शारीर-नशीरी एवं विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध के आधार पर जगत् को, ब्रह्म का गरीर एवं विशेषण होने के कारण मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार कि नील कमल का नीलत्व कमल से पृथक् नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार जगत् की सत्ता भी ब्रह्म से पृथक् नहीं है। अतः शांकर वेदान्त में जगत् को जिस व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत घतलाया गया है, रामानुजीय दर्शन में उसका वैपरीत्य है^१ रामानुज दर्शन में अचित् जगत् भी उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार कि ब्रह्म और जीव। मूलतः, जगत्, ब्रह्म और जीव दोनों से भिन्न है परन्तु साय ही साय ब्रह्म का विशेषण एवं प्रकार होने के कारण जगत् की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है^२। ब्रह्म की कार्यावस्था में सूक्ष्म विचित्रित्विशिष्ट रूप से स्थित ब्रह्म स्वेच्छा से, विचित्र शक्ति के योग से नामरूपात्मक जगत् एवं जीवों की सृष्टि करता है।

मुक्ति का स्वरूप

रामानुज दर्शन का मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त शांकर वेदान्त के मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त से नितान्त भिन्न है। शांकर वेदान्त के अनुसार मुक्ति के अन्तर्गत जीव और ब्रह्म की जिस एकता का विवेचन किया गया है उसका रामानुजदर्शनपद्धति से विरोध है। रामानुज दर्शन के अनुसार जीव ब्रह्म के साथ ऐक्य को न प्राप्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है^३। इन दोनों सिद्धान्तों का तुललात्मक विवेचन अभी रामानुजदर्शन का निरूपण करने के पश्चात् किया जाएगा। रामानुज दर्शन के अनुसार मुक्त जीव सर्वज्ञत्व एवं सत्यसंकल्पत्व को तो प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह ईश्वर की तरह सर्वकर्तृत्व गुण से सम्पन्न नहीं होता।^४ मुक्त जीव को स्वराद् कहने का यही आशय है कि वह संसार के कर्म बन्धन से मुक्त होता है।^५

शांकर वेदान्त के विपरीत रामानुजवेदान्त के अन्तर्गत जीवन्मुक्ति को न स्वीकार करके केवल विदेह मुक्ति का ही समर्थन किया गया है। मुक्त जीव की कोई कामना न होने के कारण उसे फिर संसार में जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता।^६ इसीलिए रामानुज वेदान्त में विदेह मुक्ति का समर्थन किया गया है। मुक्तावस्था में जीवात्मा, यों तो अनेक शारीरों में प्रवेश कर सकता है और स्तूप द्वारा यह अनेकों लोकों का आनन्द ले सकता है, परन्तु स्पष्ट ब्रह्म की अपेक्षा जीव में दो न्यूनताएं स्पष्ट रूप से मिलती हैं। एक तो यह कि जीव अणु है

१. Radha Krishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 701.

२. Ghate : The Vedanta, p. 28.

३. ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपेक्यम् । —श्री भाष्य १११।

४. एवं गुणाः समानाः स्युमुक्तानामीश्वरस्य च ।

सर्वकर्तृत्वमेवैकं तेभ्योदेवे विशिष्यते । —सर्वदर्शन संग्रह ४१४३ तथा देखिए श्रीभाष्य

५. श्रुत प्रकाशिका—श्रीभाष्य १११।

६. श्री भाष्य ४१४।२२।

और दूसरी यह कि जगत् को कियाओं के नियन्त्रण की शक्ति जीव में नहीं होती। उक्त न्यूनताओं की पूर्ति ब्रह्म ही में विली ती है।^१

विशिष्टाद्वैतदर्शन परम्परा के अनुसार मुक्त जीव भी दो प्रकार के हैं—एक वे जो ससार और स्वर्ग में परमेश्वर के किन्तु वने रहना चाहते हैं। इन जीवों का यह कैकर्य ही मुक्ति है। दूसरे प्रकार के मृक्त जीव के दली कहलाते हैं, मुक्त जीवों का सम्बन्ध विसी अन्य वस्तु से नहीं होता। ये जीव अपने मुक्ति रूप लक्ष्य की प्राप्ति आत्मा के सतत चिन्तन द्वारा प्राप्त करता है।^२ प्रथम प्रकार के मुक्तों को कैकर्य रस की उपलब्धि होती है और इससे उनमें तिस्तव्यांश सेवा का भाव उत्पन्न होता है। इसके विपरीत केवली मुक्तों को आत्मरतिष्ठय आनन्द की उपलब्धि होती है।^३

मुक्तात्माओं को जिस वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है वह साधारण जीवन से भिन्न नहीं है।^४ वेश-भूषा, रहन-सहन एवं रमणीक दर्शों की सुनस्पन्दन योजना वैकुण्ठ में साधारण जीवन की अपेक्षा विशिष्ट होती है। वैकुण्ठ में जीव सभी भी मुनता है और कभी-कभी गृह रहस्यों का विवेचन भी करता है। इस प्रकार वैकुण्ठ में भी जीव वे कामना एवं विलासिता के जीवन का वर्णन नहीं होता। इस प्रकार रामानुज दर्शन के अनुसार मुक्त पुरुष परमात्मा द्वारा सूष्ट आनन्दमय पदार्थों का भोग करता है। (वै० सा० ४।४)

रामानुज दर्शन में प्रपत्ति का स्वरूप

रामानुज दर्शन के अनुयायी विद्वानों का मत है कि ज्ञानयोग एवं कर्मयोग से शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक एकान्तिक भवितव्ययोग से भगवान् की उपलब्धि करता है।^५ विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज ने तो मुक्ति में भवित की प्रधान कारण माना है।^६ भवित में भी पराप्रपत्ति का महत्त्व रामानुज दर्शन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रपत्ति का अर्थ शरणागति है। यामुनाचार्य वे शब्दों में प्रपत्ति को प्राप्त भगवान् का भक्त न अपने आप को धर्मनिष्ठ मानता है, न आत्मवेत्ता और न भक्तिमान्। वह सदा अपने अकिञ्चननत्व एवं अनन्यतात्मत्व का ही भगवान् से निवेदन करता है।^७ प्रपत्ति को प्राप्त भक्त की दृष्टि में एकमात्र भगवान् ही उपरा उदारवत्ती है।^८ इस प्रकार प्रपत्ति का अर्थ भक्त वा सर्वात्मना भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण है। समर्पण भी निम्नलिखित

१. श्रीभाष्य ४।४।१३, १५।

२. Radha Krishnan Indian Philosophy, p 71।

३. P. N. Srinivasachari The Philosophy of Vishishtadvaita, page 489-490।

४. नारद पञ्चरात्र १।६।१३, १४, १५, १६, १७। (सूर्यों प्रिटिंग प्रेम, बम्बई, सन् १९०६)

५. बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४७४।

६. वेदार्थं सप्तह, पृष्ठ १४५, १४७।

७. नधर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भवितमास्त्वच्चरणारविन्दे।

अकिञ्चनोऽन्यगति शरण्य त्वत्पादमून शरणं प्रपद्ये॥

८. रामानुजाचार्य, शरणागति गद्यम्, १२। —यामुनाचार्य आलबद्दार स्तोत्र २५।

तीन भेद हैं—

(१) फल समर्पण । (२) भारतसमर्पण । । (३) स्वरूप-समर्पण ।

(१) फल समर्पण—फल समर्पण के अन्तर्गत भक्त द्वारा फल-त्याग आता है । फल का समर्पण करने वाला भक्त प्रशस्ति रूप भगवन् में किसी प्रकार के बात्मानन्द या बात्मनन्दोय की कामना नहीं करता । जहा ऐश्वर्य एवं कैवल्य के नावक न्वर्जन और आत्म दर्शन की कामना करते हैं वहा प्रपत्ति वा नच्चा अनुयायी यही समझना है कि जनन्याहं शेष एव पूर्ण परतन्त्र द्वारा उसका आधार 'शेषी' परमात्मा ही है । प्रपत्ति पर आधारित भक्त अपनी नत्ता भगवान् की प्रमनन्ना के लिए ही समझता है । इस प्रकार प्रपत्ति में फल-समर्पण के द्वारा भक्त फल का पूर्णत्वपेय त्याग कर देता है ।

(२) भार समर्पण—भार समर्पण के द्वारा भक्त अपनी रक्षा का पूर्ण भार अपने ऊपर न रख कर पूर्णतया भगवान् को समर्पण कर देता है । प्रपत्ति के अनुनार आत्मरक्षा का भाव उस रक्षक में उत्पन्न होता है जो नाव्य एव नापन दोनों ही है, न कि प्रपत्ति में । इसका कारण यह है कि प्रपत्ति द्वारा पूर्ण समर्पण होने पर रक्षा एव रक्ष्य का भेद नहीं रह जाता । भार-समर्पण मूलक प्रपत्ति और भक्ति योग में यह प्रमुख भेद है कि प्रपत्ति हृदय को कर्तव्य, प्रपत्ति एवं पाप के भार में मुक्त कर देती है, जब कि भक्तियोग के अनुनार भक्त में सतत नैतिक प्रयत्न एवं आध्यात्मिक उत्कृष्टा तथा जागरण अपेक्षित होता है ।^१ अतः प्रपत्ति-योग भक्तियोग की अपेक्षा नरल है ।

(३) स्वरूप-समर्पण—स्वरूप-समर्पण के द्वारा प्रपत्ति अपने स्वरूप का पूर्ण रूप से त्याग कर देता है । स्वरूप-समर्पण के बल अहंकार त्याग ही नहीं है, अपितु उसमें बात्म-समर्पण दा भाव भी निहित है ।

इन प्रकार प्रपत्ति भाव द्वारा पूर्ण आत्मसमर्पण का नाम है । परन्तु प्रपत्ति सम्बन्धी विवेचन के समय यह विचार करना भी अत्यन्त अपेक्षित है कि क्या प्रपत्ति में कर्मानुषान की उपादेयता है अथवा नहीं । इन सम्बन्ध में निम्नलिखित मत है—

(१) टेक्कलई मत—इन भने के प्रस्वापक श्री लोकाचार्य हैं । ये प्रपत्ति में कर्मों के अनुप्तान को आवश्यक नहीं मानते । इनका विचार है कि प्रपत्ति के अन्तर्गत भक्त पर भगवान् की दया किसी कर्मादि हेतु पर नहीं आधारित होती । यह उनी प्रकार है जिस प्रकार कि मार्जार शिशु जब अपनी भा (विल्लो) की जर्ज में जाता है तो उसकी भा (विल्ली) तुरन्त शिशु को मूह में द्वाकर यथास्थान पहुंचा देती है । अटिवृद्ध्य^२ नहिता एव नठनोपाचार्य^३ आदि की उक्तियों के अनुनार भी भक्त पर भगवान् की अकारण कृपा का ही उल्लेख है ।

(२) चडक्के मत—चडक्के मत के प्रस्वापक आचार्य वेदान्तदेशिक हैं । इस मत के अन्तर्गत वेदान्त देशिक प्रपत्ति के लिए भक्तों के कर्मानुषान को आवश्यक मानते हैं ।

१. वेदान्तदेशिक, न्यासदराक, इनोक २ ।

२. *Shrinivasaachari : The Philosophy of Vishishtadvaita*, p. 392.

३. अहिर्वृद्ध्य संहिता १४।२६ ।

४. श्रीवचनभूषण, पृष्ठ ६२७ ।

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद की तुलना

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त का विवेचन अभी ऊपर किया जा चुका है। अद्वैतवाद का निष्पत्र तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। अत यहां उसके पुनर्स्त्वेष की आवश्यकता नहीं समझने।

शक्तराचार्य एवं रामानुज वेदान्त की तुलना करते हुए टावटर रामाकृष्णन ने लिखा है—

Sankara and Ramanuja are the two great thinkers of the Vedanta, and the best qualities of each were defects of the other^१

डा० रामाकृष्णन के उपर्युक्त कथन के अनुसार शक्त और रामानुज दोनों वेदान्त के महान विचारक हैं। इन दोनों में प्रत्येक के उत्तम गुण दूसरे के दोष हैं। विचार करते पर, योदो दोनों ही दर्शन पद्धतिया अपने-अपने प्रकार एवं स्वरूप के अनुसार बड़े बलपूर्वक स्थापित की गई हैं, परन्तु फिर भी दोनों की कुछ न कुछ दुर्बलताएं अवश्य देखने को मिलती हैं। कहना न होगा कि शक्तराचार्य का दर्शन यदि शुष्क तर्कपुष्ट होने के कारण धार्मिक आकर्षण से दूर है तो रामानुजाचार्य द्वारा की गई परलोकमस्वनिधि नी सुन्दर कथाएं विश्वास की भाजन नहीं बनती। इसके विपरीत शक्त वेदान्त की वह तर्कविद्या जो ईश्वर जीव एवं जगत् को पूर्ण-ब्रह्म का रूप देती है रामानुज दर्शन में किमी प्रकार ग्राह्य नहीं है। जैसा कि रामानुज दर्शन की विवेचना के समय कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर, जीव एवं जगत् की पृथक् पृथक् यना स्वीकार की गई है, जबकि अद्वैती शक्तराचार्य ने परमार्थतः ईश्वर, जीव एवं जगत् की पृथक् सत्ता को न स्वीकार करके, एवं मात्र अद्वैत ब्रह्म की ही सत्ता को सिद्ध किया है। इसके साथ ही साथ यदि शक्त वेदान्त में बोहिक सन्तुष्टि के लिए तर्क की सुन्दर योजना की गई है तो रामानुजीय दर्शन पद्धति में अपूर्व धार्मिक दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। इस प्रकार यह निरिचित है कि दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतवाद को जो भ्रतिष्ठा मिली है, वह रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद बो नहीं। धार्मिक दृष्टि से नि सन्देह रामानुज दर्शन की देन बेजोड़ है, परन्तु धर्म जीवन का प्रथम चरण है और दर्शन द्वितीय। धर्म साधन है, साध्वतो दर्शन ही है। समालोचक घाटे ने शक्त वेदान्त के विशिष्ट आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार तो किया है परन्तु साथ ही साथ उन्होंने उस पर लोकसामान्य के अनुपयोगी होने वा आरोप भी लगाया है। मेरे विचार से जैसा कि घाटे महोदय ने स्वयं स्वीकार किया है शक्तराचार्य द्वारा की-गई उपास्य संगुण ब्रह्म की स्थापना शक्तराचार्य के अध्यात्मदर्शन को पूर्णतया लोकसामान्य के लिए उपयोगी सिद्ध करती है। परन्तु शक्तराचार्य प्रतिपादित उपास्य ईश्वर की आलोचना करने हुए घाटे साहब ने उसे मिथ्या एवं गोण कहा है।^२ घाटे महोदय का उन मन समीक्षीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शक्त वेदान्त में साधाविशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर सज्जा है। अत माध्याविशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर भ मात्या को ही मिथ्या कहा जा सकता है, न कि ब्रह्म रूप को। जहा तक नि ईश्वर को गोण मिद्द करने की बात है, वह भी उचित नहीं है। इसका बारण यह है कि शक्त वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म एवं ईश्वर रूप से दो भिन्न तत्त्वों की स्थापना नहीं

^१ Radhakrishnan Indian Philosophy, Vol II, p. 720

^२. Ghate The Vedanta, p 20

^{३.} बही।

की गई है। यदि ऐसा हुआ होता तो अद्वैत मिदान्त की मिदि ही सम्भव न होती। अतः ब्रह्म एवं ईश्वर के मूलतः एक होने के कारण प्रवान्तव एवं गोप्तव का प्रधन नहीं उपस्थित होता। जब सावक ब्रह्म स्वप्न को प्राप्त हो जाता है तो उसकी दृष्टि में ईश्वर एवं ब्रह्म का स्वरूप भेद नहीं रहता। अतः ईश्वर के सम्बन्ध में घाटे महोदय की गोप्तव की कल्पना समीचीन नहीं श्रतीत होती।

प्रायः समालोचकों ने रामानुजदर्शन के धार्मिक दृष्टिकोण को विधिक महत्व दिया है।^१ परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, धर्म जीवन का साधन मात्र है। दर्शन ही के द्वारा बात्म-दर्शन सम्भव है। अब यहां शांकराचार्य एवं रामानुजदर्शन के ब्रह्म, जीव, जगत् एवं मुक्तिवादि तिदान्तों के सम्बन्ध में तुलभात्तनक रीति से विचार किया जाएगा। इससे दोनों महान् दार्शनिकों का संदर्भान्तिक अन्तर स्वतः स्पष्ट हो जाएगा।

ब्रह्म

ब्रह्मतत्त्व की स्वापना शाकर एवं रामानुज-वेदान्त की उच्चतम निधि है, परन्तु दोनों दर्शनपद्धतियों की ब्रह्मसम्बन्धिनी विचारधारा में पर्याप्त अन्तर है। शांकर वेदान्त का ब्रह्म अज, अनिद्र, अस्त्वप्त, नामहपरहित, सहृद-विभात एवं सर्वज्ञ है।^२ शांकर वेदान्त में ब्रह्म की सर्वज्ञता का आशय उसकी ज्ञानहरता से है,^३ न कि उनके सर्वज्ञतृत्व से। रामानुजाचार्य का ब्रह्म उपर्युक्त शांकरवेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म से बहुत-सी वार्ताओं में भिन्न है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म समस्त दोषों से रहित, वसीम, अतिशय एवं असंख्य कल्याण गुणों से सम्पन्न पुरुषोत्तम का रूप है।^४ रामानुज के ब्रह्म की कल्याणगुणसम्पन्नता एवं पुरुषोत्तमाभिवानता^५ शांकर वेदान्त के ब्रह्म से विपरीत है। शांकर वेदान्त का ब्रह्म तो निरुण एवं निरभिवान है। यों, रामानुज भी ब्रह्म को निरुण मानते हैं, परन्तु उनकी निरुणता की परिभाषा शांकर वेदान्त की निरुणता की परिभाषा से भिन्न है। राणानुज का कथन है कि ब्रह्म समस्त हेतु गुणों से शून्य है, इसीलिए वह निरुण कहलाता है।^६

रामानुज-वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म को चिदचिद् विशेषणों से विशिष्ट कहना भी शांकर वेदान्त की ब्रह्मविषयिका विचारधारा से भिन्न है। जहां शांकर वेदान्त का ब्रह्म समस्त भेदों से रहित होता हुआ अद्वैत सत्य रूप है, वहां रामानुजाचार्य का ब्रह्म सजातीय-विजातीय भेदों ने शून्य होते हुए भी स्वगत भेद से शून्य नहीं है। इसके अतिरिक्त शाकर वेदान्त में मायोपादिक ब्रह्म को ईश्वर तथा मायोपादिवरहित को ब्रह्म कहा गया है। इसके विपरीत रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म एवं ईश्वर में भेद नहीं है। रामानुज वेदान्त में जहां संगुण

१. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 720.

२. गौ० का० ३।३६।

३. या० भा०, गौ० का० ३।३६।

४. श्रीभाष्य १।१।१।

५. पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। — श्रीभाष्य १।१।१।

६. निरुणवादश्च परस्प्रब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपद्यते। — श्रीभाष्य, प०० ८।

ब्रह्म के अतिरिक्त जीव एवं जगत् की नित्यता स्वीकार की गई है, वहा शाकर वेदान्त में जीव एवं जगत् की नित्यता का निराकरण कर इन्हें मिथ्या मिथु किया गया है। इस प्रकार जहाँ अद्वैत वेदान्त में एह साध ब्रह्म को ही नित्य पदार्थ माना है, वहा रामानुज दर्शन में ब्रह्म, जीव एवं जगत्, इन तीन नित्य पदार्थों को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार शाकर वेदान्त एवं रामानुज वेदान्त के ब्रह्मसम्बन्धी विचार से पर्याप्त अन्तर है। परन्तु वहा का सत्, चिन् एवं आनन्द स्पष्ट दोनों दर्शन पद्धतियों में समान है।

जीव

शाकर वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्मेवं जीव स्वयम् (विवेक लूढामणि, ३६५) बहुत जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता मिथु की गई है। जीव की जीवता तभी तत् है, जब तब कि वह अविद्या के उपहित है। अविद्या निवृति होने पर जीव अपने वास्तविक स्वाक्षर ब्रह्मत्व की प्राप्ति होता है। इस प्रकार शाकर वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म की अभिन्नता स्वयमिथु है, परन्तु इसके विपरीत रामानुज वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट है। ब्रह्म एवं जीव के सम्बन्ध में विचारित दोनों भेदीभावसम्बन्ध, प्रकार प्रकारी भावासम्बन्ध नियात्य नियामनभाव-सम्बन्ध एवं विदोषण विदोषण भाव आदि सम्बन्ध दोनों की मिलन स्थिति के ही सूक्ष्म हैं। इसके अतिरिक्त रामानुज-वेदान्त में ब्रह्म एवं जीव में अग्रातिमावसम्बन्ध माना गया है। अग्रातिमाव को स्पष्ट करते हुए रामानुजाचार्य ने कहा है कि जिम प्रकार अग्रिं वादि आदित्यादि के, गोचारादि गवादि के और देव भगुप्य आदिभगीर, देही के अग हैं, उसी प्रकार जीव परमात्मा का अग है।^१ रामानुज दर्शन में लगातिमाव होने पर भी ब्रह्म एवं जीव में विदोषणविदोषण-सम्बन्ध होने के बारण होनों में स्वाभाविक वैरक्षण्य भी मिलता है।^२ इसके अतिरिक्त रामानुज वेदान्त में जीव को ज्ञाना वहा गया है।^३ जवाहिल शाकर वेदान्त में जीव 'अ' कहा गया है।^४ अपने जन्म के बारण ही जीव स्वयं ज्योतिस्वरूप कहलाना है।

शाकर वेदान्त का जीव विमु एवं सर्वभ्याप्त है, परन्तु रामानुजाचार्य ने जीव के विमुत्त का निराकरण कर उसे विमुसिद्ध किया है।^५ जीव के विमु-व एवं विमु-व के आधार पर ही दोनों दर्शनादर्शनियत्र का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि नद्वैतवेदान्त के विमु जीव के उत्तमा एवं आपमन, वा प्रस्तु नहीं उत्तमित होता, जबकि विमित्याद्वैतवेदान्त के अनुमार अणु जीव की उत्कान्ति, चन्द्रादितोऽप्यमन एवं उच्चं लोकों में आपमन की बात पूर्णतया सिद्ध होती है।^६ इस प्रकार शाकरवेदान्त और रामानुज-वेदान्त की जीवसम्बन्धित विचार-भाषा में सीरिज भेद है।

१. श्रीभाष्य २।३।४५।

२. विमेदाविदोषणरामानुजवेदिति स्वभावरैलक्षण्य दृष्ट्यनेः । —श्रीभाष्य २।३।४५।

३. श्रीभाष्य २।३।१६ तथा देखिए—Radhakrishnan · Indian Philosophy, Vol II, page 692

४. द३० सू०, द३० भा० २।३।१०।

५. नाय सर्वगत अपि त्रूतेवायमात्मा । —श्रीभाष्य २।३।२०।

६. श्रीभाष्य २।३।२०।

जगत्

शांकर वेदान्त का जगन्मयात्म का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के व्याख्याताओं द्वारा मिथ्यात्म की व्याख्या सदसद्विलक्षणत्व की जाने पर भी, इस दर्शन पर आलोचकों द्वारा प्रत्यायनवादिता का अनुचित आरोप लगाया गया है। शांकर वेदान्त में जगत् की व्यावहारिक सत्ता नि.संकोच स्वीकार की गई है, परन्तु रामानुजदर्शन में जगत् को मूलतया सत्य स्वीकार किया गया है। दोनों दर्शन पद्धतियों की तुलना करते हुए घाटे महोदय लिखते हैं—

According to one, the world as we perceive it, is unreal, only an appearance superimposed through nescience on the real entity, i.e. Brahman, just like that of serpent superimposed on a rope. According to the other, the world, though inexplicable, is however, as real as the Brahman.^१

घाटे साहब के उपर्युक्त कथन के अनुसार रज्जु में आरोपित सर्प के समान अज्ञान के कारण ब्रह्म में आरोपित जगत् के शांकरवेदान्तगत स्वरूप से रामानुजाचार्य प्रतिपादित जगत् का स्वरूप भिन्न है। रामानुज दर्शन के अनुसार जगत् अनिर्वचनीय होते हुए भी उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार कि ब्रह्म। फिर जैसा कि रामानुजाचार्य के दार्थनिक सिद्धान्त का निरूपण करते समय कहा जा चुका है, रामानुज-वेदान्त द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म एवं जगत् का शरीर-शरीरी-सम्बन्ध भी शांकर वेदान्त के पूर्ण विपरीत है।

शांकर वेदान्त का, ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध में प्रचलित अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त भी रामानुज-दर्शन पद्धति में ग्राह्य नहीं है। अद्वैतियों के अधिष्ठानवाद के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान एवं जगत् अव्याप्त या अविद्या रूप है। जबकि रामानुज-वेदान्त के अन्तर्गत अविद्यावाद या मायावाद सिद्धान्त को मूलतया अस्वीकार किया गया है। मायावाद सिद्धान्त के विरोध में रामानुज ने जो आक्षेप लगाये हैं उनकी समीक्षा अभी आगे की जायेगी।

कार्य-कारणवाद

शांकर-वेदान्त एवं रामानुज-वेदान्त का कार्यकारणवाद-सिद्धान्त भी एक दूसरे से विरुद्ध है। शांकर-वेदान्त के अन्तर्गत मायाशक्तिसम्पन्न ब्रह्म जगत् का उपादान-कारण एवं निमित्त-कारण दोनों हैं। माया के कारण ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है एवं वैतन्यरूप होने के कारण निमित्त-कारण है। रामानुजदर्शन के अनुसार सृष्टि एवं प्रलय ब्रह्म की ही दो स्थितियों के नाम हैं। (रामानुज भाष्य गीता १३।२, ६।७) प्रलयावस्था में जो ब्रह्म कारण रूप से स्थित रहता है वही सृष्टिकाल में कार्यविश्व देखा जाता है। इस प्रकार सृष्टि एवं प्रलय ब्रह्म की ही दो स्थितियाँ हैं। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार रामानुज सत्कार्यवाद^२ के समर्थक है और शंकर-चार्य विवर्तवाद के। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता वर्तमान रहती है। जैसा कि अभी कह चुके हैं, जगत् की कार्यता ब्रह्म के अवस्थान्तर का ही नाम है।^३ इसके विपरीत

१. Ghate : The Vedanta, p. 173.

२. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 678.

३. अवस्थान्तरपत्तिरेव हि कार्यता । —रामानुजभाष्य, गीता १३।२।

शाकर वेदान्त के अनुसार जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण न ब्रह्म वा कायं है और न परिणाम। शाकर वेदान्त में तो जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विवर्तबाद के अनुसार जगत् ब्रह्म का कायं न होकर मायिक एवं मिथ्या प्रतीतिमान का फल है। कायं-कारण सम्बन्धी उक्त विचार के कारण ही शक्तिराचार्य एवं रामानुजाचार्य के स्याति सम्बन्धी विचार में भी अन्तर है। रामानुज सत्स्यतिवादी है और आचार्य शक्ति विचार अनिवृत्तीयत्वातिवादी। सत्स्यानि वादी रामानुज के अनुसार इक्किं बादि में रजतादि की स्याति असत्स्यतिवादी बोद्ध की तरह असत् वयवा शाकरवेदान्ती की तरह अनिवृत्तीय न होकर सत् है। इसके विपरीत शाकरवेदान्त के अन्तर्गत धुक्ति बादि में रजतादि की स्याति वो सत् एव असत् से विलगण होने के कारण अनिवृत्तीय कहा गया है।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार शक्तिराचार्य एवं रामानुजाचार्य के कायं कारण सम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर मिलता है।

मुक्ति का विचार

रामानुज दर्शन की मुक्तिविषयक विचारणा के अवसर पर वभी दीद्धे रामानुज एवं शाकर वेदान्त की मुक्ति से सम्बन्धित अन्तर वा सकेत किया गया था। निश्चय ही दोनों की मुक्तिविषयक विचारधारा में पर्याप्त अन्तर है। शक्तिराचार्य द्वारा प्रतिप्रदिन अद्वैत वेदान्त की प्रक्रिया के फलस्वरूप मुक्ति जीव की ब्रह्मदशा प्राप्ति का नाम है। जब जीव की अविद्या निवृत्त हो जाती है तो वह ब्रह्म स्वरूपता को प्राप्त होता है। शाकरवेदान्त वे इस दृष्टिकोण से रामानुज का मौलिक विरोध है। रामानुज के मतानुसार मुक्त जीव एवं ब्रह्म की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है। शाकरवेदान्त के विरोध रामानुजाचार्य का विचार है कि मुक्त जीव ब्रह्ममात्र को प्राप्ति करता है न दि स्वरूपेक्य को। (श्रीमात्य १।१।१) इसके अतिरिक्त रामानुज वेदान्त में जहा मुक्त जीव का चन्द्रादिसोक्तगमन साप्त है,^१ वहा शाकरवेदान्त में ब्रह्ममात्र पन्न मुक्त जीव की परलोकादिगमनशीलता का पूर्णतमा निराकरण किया गया है।^२

शक्तिराचार्य एवं रामानुजाचार्य के मुक्ति सम्बन्धी विचार का यह अन्तर और विचार्य है कि जहा शक्तिराचार्य जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति दोनों के समर्थक हैं, वहा रामानुजाचार्य के मतानुसार केवल विदेहमुक्ति को ही स्वीकार किया गया है।^३ रामानुजाचार्य का सिद्धात है कि जब जीव को परब्रह्म वा अनुमद हो जाता है तो फिर उसे शरीरप्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।^४ परन्तु शाकरवेदान्त के अनुसार विद्या निवृत्ति के फलस्वरूप आत्मबोध होने पर जीव को तब तक शरीर धारण करना ही पड़ता है, जब तक कि प्रारब्ध बमों का भोग समाप्त नहीं हो जाता। यहा तक कि अपान्नरक्तमा लादि को भी अद्वैत बमों के भोग के लिए जन्म प्रहण करना पड़ता था। इस प्रकार शाकरवेदान्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति दोनों को ही स्वीकार किया गया है।

१ श्रीमात्य २।३।२०।

२ द३ सू०, द३० मा० ४।३।७।

३ For Ramanuja there is no Jivanmukti

—Radhakrishnan Indian Philosophy, Vol II, p 710

४ श्रीमात्य ४।४।२०।

तत्त्वमसि

शांकर-वेदान्त और रामानुज-वेदान्त की, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की समन्वय दिशा में भी भेद है। शांकरवेदान्तानुगत 'तत्त्वमसि' का प्रतिपादन पूर्वम् व्यथयाय के अन्तर्गत विस्तृत रूप में किया जा चुका है। शांकरवेदान्त के अनुसार 'तत्त्वमसि' में 'तत्' पद परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्वरूप ब्रह्म एवं 'त्वम्' पद अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यस्वरूप जीव का वोधक है। दोनों के परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व अंगों में विरोध होने पर भी जहदजहलक्षणा या भागलभणा द्वारा जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन किया जाता है। आचार्य रामानुज का दृष्टिकोण शांकर वेदान्त के उपर दृष्टिकोण से भिन्न है। आचार्य रामानुज के मतानुसार 'तत्त्वमसि' में 'तत्' पद सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प एवं जगत्कारणरूप ब्रह्म का वोधक है और 'त्वम्' पद अचिद्विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का ।^१

अचिद्विशिष्ट जीव शरीरक ब्रह्म रामानुज के वेदान्त का अन्तर्यामी ब्रह्म है। रामानुजाचार्य के भत्तानुसार जीवात्मा के वाचक 'तत्त्वमसि', आदि महावाक्यों के अन्तर्वर्ती 'त्वम्' आदि शब्दों का परमात्मा में ही पर्यवसान है। इसीसिए तो परमात्मा के द्वारा 'मामेवविजानीहि' (मुझ ही को जानो) और 'मामुपासत्व' (मेरी उपासना करो) का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार वामदेव का यह कथन कि 'मैं ही मनु हूँ' और 'मैं ही सूर्य हूँ' परमात्मा के अन्तर्यामित्व का ही सूचक है।^२ अनन्त ब्रह्म के सर्वगत एवं अन्तर्यामी होने के कारण प्रत्येक जीव में उसकी सत्ता देखी जा सकती है। अतः प्रत्येक जीव प्रह्लाद की तरह यह कह सकता है कि अनन्त परमात्मा के सर्वगत होने के कारण मैं उस परमात्मा का ही रूप हूँ, मुझ से सारा संसार उत्पन्न हुआ है, मैं सब कुछ हूँ और मुझ सनातन में सब कुछ स्थित है।^३

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने उपर्युक्त दृष्टि से विनार करते हुए 'तत्' पदबोध्य, जगत्, रणब्रह्म एवं त्वम् पदबोध्य अन्तर्यामी ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन किया है।

मायासम्बन्धी दृष्टिकोण

यों तो, शांकर वेदान्त एवं रामानुज वेदान्त, दोनों ही दर्शनपद्धतियों में माया की चर्चा मिलती है, परन्तु दोनों का मायासम्बन्धी दृष्टिकोण एकदम भिन्न है। शांकर वेदान्त का तो प्राप्ताद ही मायावाद पर आधारित है। यद्योऽकि मायावाद को स्वीकार किए विना अद्वैतवाद की सिद्धि ही असम्भव है। शांकर वेदान्त के अनुसार माया शब्द भी अर्थ मायावी परमेश्वर की शक्ति है।^४ परमेश्वर की यह माया शक्ति सद् एवं असद् से विलक्षण होने के कारण अनिवंचनीय एवं मिथ्या है। इसके विपरीत रामानुजाचार्य ने माया को परमात्मा की विवित्र शक्ति का रूप दिया है। इन्होंने माया शब्द को आश्चर्य अर्थ का वोधक

१. रात्त्वमसि, अपरमात्मा ब्रह्मेत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दबत् त्वमयमात्मेति' शब्दा अपि, जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेनैकार्याभिपायित्वात्। —श्रीभाष्य २।३।४५।
२. श्रीभाष्य १।१।२।
३. सर्वगतत्वादादतन्तस्य सद्वाहमवस्थितः।
४. मतः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने ॥ —विष्णुपुराण १।१।८५।
५. शा० भा०, श्व० उ० ४।१०।

माना है।^१ इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य ने एक स्थल पर माया गद्द का अर्थ कृष्णुकित भी किया है।^२ अत निश्चित ही मिथ्यात्व एवं अनिर्वचनीयत्व की दोषक शाकर वेदान्त की मायासम्बन्धीविचारधारा से रामानुज का मायासम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णतया भिन्न है। उन्होंने दर्शन पढ़तिथोंके मायासम्बन्धी दृष्टिकोण में भेद का होना स्वभाविक ही है, क्योंकि रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त मायावाद की ही प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ है। शाकर वेदान्त के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण ने जहाँ जगत् के मिथ्यात्व का विचार प्रस्तुत किया था, वहाँ रामानुजाचार्य ने शाकर वेदान्त के उक्त दृष्टिकोण की विरोधिती प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जगत् को सत्य सिद्ध किया था। इन्हाँ ही नहीं, रामानुजाचार्य ने शाकर वेदान्त के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कुछ आशेष भी लगाये थे। यहाँ इन आशेषों का उल्लेख एवं समीक्षण उपयुक्त होगा। रामानुजाचार्य के यह आशेष रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत सात अनुपत्तियों के रूप में भिन्न हैं। यहाँ सातों अनुपत्तियों के अन्तर्गत रामानुजाचार्य के मायावाद विरोधी आक्षेपों का निष्पत्त एवं समीक्षा ही जाएगी।

१ आश्रयानुपत्ति

शाकर वेदान्त के अविद्यासम्बन्धी दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए रामानुजाचार्य का कथन है कि अविद्या का आश्रय अनुपत्त है। अत निराधार अविद्या की स्थिति नहीं सिद्ध की जा सकती। रामानुजाचार्य का तर्क है कि जीव एवं ब्रह्म दोनों ही अविद्या के आश्रय नहीं सिद्ध किये जा सकते। जीव तो अविद्या का आश्रय इसलिए नहीं सिद्ध किया जा सकता कि वह स्वयं अविद्याकृति है और ब्रह्म अविद्या का आश्रय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह जात स्वरूप हीने के कारण अविद्या न कियो जाती है।^३ इसप्रकार रामानुजाचार्य का तर्क है कि अविद्या न ब्रह्माधित कही जा सकती है और न जीवाधित।

समीक्षा—डा० प्रभुदत्त शास्त्री ने रामानुजाचार्य के उपर्युक्त आक्षेप की समालोचना करते हुए निम्नलिखित दो दोष बताए हैं—

(१) आश्रयानुपत्ति के अन्तर्गत रामानुजाचार्य ने तर्क का पहला दोष तो यह है कि वे अविद्या को सत् पदार्थ मानकर उसके आश्रय का अन्वेषण करते हैं, जब वि अविद्या सत् न होने वाली है। अविद्या विद्या का अभाव एवं आवरण है। इस सम्बन्ध में डा० प्रभुदत्त शास्त्री ने एक दृष्टान्त देने हुए कहा है कि जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार उपाधियों में ब्रह्म की सत्ता एवं चैतन्य भाव छिपा रहता है।^४

आक्षेप—तर्क की क्षेत्री पर प्रभुदत्त जी का उपर्युक्त भूत खंड नहीं उत्तरा। जैसा कि प्रभुदत्त जी का कथन है, यदि अविद्या वो विद्या का अभाव माना जाए तो अविद्या आवरण शक्ति का कार्य ही किस प्रकार वर सकती है। इसके अतिरिक्त डा० प्रभुदत्त जी के कथन के विपरीत अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत अविद्या या अज्ञान की अभाव व्यष्ट न मानकर भाव-

१ मायासम्बन्धी हातचर्यवाची। —श्रीभाष्य ३।२।३।

२ रामानुज भाष्य, गीता ७।१५।

३ यतोजानस्वरूपस्य ब्रह्मणो विरोधादेव नाज्ञानाशयत्वम्। —श्रीभाष्य १।१।१।

४ P D Shastri The Doctrine of Maya p 122

रूप माना गया है।^१

(२) डा० प्रभुदत्त जी के अनुसार रामानुजाचार्य के तर्क का दूसरा दोष यह है कि वे ब्रह्म एवं जीव की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। ब्रह्म एवं जीव की भेदव्यवस्था का निराकरण करते हुए डा० प्रभुदत्त जी का कथन है कि उपाधि के कारण ही ब्रह्म और जीव की भेद व्यवस्था सम्भव है। जहाँ तक अविद्या के आश्रय का प्रश्न है, मन और इन्द्रियों की उपाधियाँ ही अविद्या की आश्रय हैं।^२

आलोचना—प्रथम मत के समान ही डा० प्रभुदत्त जी का दूसरा मत भी दोष पूर्ण है। जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है, डा० प्रभुदत्त जी ने जीव एवं ब्रह्म के भेद का निराकरण किया है, परन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमार्थ दृष्टि से अभेद होते हुए भी अविद्योपाधि के कारण जीव एवं ब्रह्म का भेद देखने में आता है। इसके अतिरिक्त डा० प्रभुदत्त जी का, मन और इन्द्रियों की उपाधियों को अविद्या का आश्रय कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि मन और इन्द्रियोंकी उपाधियाँ भी अविद्या रूप ही हैं। इस प्रकार डा० प्रभुदत्तजी ने रामानुजाचार्य की आश्रयानुपपत्ति के विरोध में जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, वे अप्रामाणिक एवं अयुक्त हैं। परन्तु डा० प्रभुदत्त जी के तर्कों की अयुक्ति से हमारा तात्पर्य रामानुजाचार्य की आश्रयानुपपत्ति को युक्ति-युक्त कहना कदाचित् नहीं है।

रामानुजाचार्य की आश्रयानुपपत्ति के विरोध एवं आश्रयोपपत्ति के समर्थन में यह कहा जाएगा कि अविद्या जीवाश्रया है। यदि कहा जाए कि अविद्या को जीवाश्रया मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष की सम्भावना है, तो यह अयुक्त है, क्योंकि अविद्या एवं जीव का सम्बन्ध अनादि है।^३ इस प्रकार जीव एवं अविद्या का अनादिसम्बन्ध होने के कारण रामानुजाचार्य का यह कथन उचित नहीं है कि जीव को अविद्या द्वारा कल्पित होने के कारण अविद्या का आश्रय नहीं कहा जा सकता। दोनों के अनादि होने के कारण अविद्या जीवाश्रया है और जीव अविद्याश्रय।

विवरणकार का मत

विवरण प्रस्थान के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव न होकर ब्रह्म है। इस मत के अनुसार अविद्या स्वरूपज्ञान की उपाधि एवं अविरोधिनी है।^४ अतः रामानुजाचार्य का ब्रह्म एवं अविद्या में विरोध देखना समुचित नहीं है। रामानुजाचार्य द्वारा तर्कित ब्रह्म एवं अविद्या के विरोध के सम्बन्ध में यह कहना और युक्ति-युक्त होगा कि ब्रह्मज्ञान, अज्ञान या अविद्या का निवर्तक नहीं है; अपितु अखण्डाकारवृत्ति ही अज्ञान की निवर्तक है। अतः ब्रह्म ज्ञान एवं अविद्या में विरोध मानना असंगत है।

१. वेदान्त सार ६।

२. P. D. Shastri : The Doctrine of Maya, p. 122.

३. अविद्येयं जीवाश्रया । न चान्योऽन्याश्रयः, अनादित्वादविद्या-जीवतत्सम्बन्धानाम् ।

—अनन्तकृष्ण शास्त्री : अद्वैत तत्त्वसुधा, द्वितीय भाग (प्रथम संपृष्ठ, पृ० १७१) ।

४. विवरण प्रस्थाने त्वविद्या ब्रह्माश्रया । सादिस्वरूपज्ञानोपाधिः, तदविरोधिनी च ।

—ब्रह्म, पृष्ठ १७२ ।

२ ब्रह्मावरकत्वानुपर्याप्ति

ब्रह्मावरकत्वानुपर्याप्ति को ही तिरोधनानुपर्याप्ति भी कहते हैं। मायावाद सिद्धान्त के अन्तर्गत अविद्या की आवरण शक्ति का निष्पत्ति क्रिया गया है। अविद्या की आवरण शक्ति के कारण ही जीव ब्रह्म बोध करने में असमर्थ होता है। रामानुजा इन्हें ने मायावाद सिद्धान्त के उक्त तर्क का निराकरण करते हुए कहा है कि यदि अविद्या के द्वारा प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का निरोधान समझा जाएगा, तो इसमें तो ब्रह्म का स्वरूपनाश ही मिल जाएगा। उक्त तर्क के समर्थन में श्रीभास्त्रावार का वर्णन है कि प्रकाश के तिरोधन में प्रकाशोत्पत्ति के प्रतिवर्त्य एवं विद्यमान प्रकाश के विनाश का आशय ग्रहण किया जाता है। परन्तु अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्मज्ञानरूप प्रकाश के अनुपाद होने के कारण प्रकाशतिरोधान आ आशय प्रकाशनाश ही भयभासा जाएगा।^१ अत एकार्थरूप ब्रह्म का तिरोधन या आवरण मानने से तो ब्रह्म के स्वरूप का नाश ही मिल जाएगा जो अनिभ्रेत है।

सर्वोत्तमा—ब्रह्मावरकत्वानुपर्याप्ति के समर्थन में रामानुजाचार्य का यह तर्क समीकीय नहीं है कि अविद्या के द्वारा प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का तिरोधन मानने से ब्रह्म का स्वरूपनाश ही हो जाएगा। अविद्या का आवरण प्रकाश का नाशक न होस्तर प्रकाश का प्रतिवर्त्य ही है। आत्मत्रोप होनेपर प्रकाश के प्रतिवर्त्य अज्ञान भी ही निवृत्ति होनी है न कि स्वरूपज्ञान होने। जिस प्रकार घट में आत्म दीपक द्वारा पर दृष्टिगत होने से घटाप्ररण मात्र की निवृत्ति होती है, न कि दीपक द्वी, उसी प्रकार ज्ञान योग्य होने पर अविद्यावरण की ही निवृत्ति सम्भव है, न कि स्वरूपज्ञान की। अत अविद्या ने आवरण द्वारा रामानुजद्वारा की गई स्वरूपज्ञान के दिनाम की कलाना निरर्थक ही करी जाएगी। इस प्रहार रामानुजाचार्य की ब्रह्मावरकत्वानुपर्याप्ति की मूल अविष्टत ही है।

३ स्वरूपनुपर्याप्ति

मायावाद के तिरोध में रामानुजाचार्य का विचार है कि जिस अविद्या के कारण अनन्त ज्ञानात्मो एवं श्रेष्ठो की कल्पना की जाती है, उसका स्वरूप अनुपर्यन्त है। अपने मन के समर्थन में आनायं रामानुज का कथन है कि अविद्या जो न मम् ब्रह्म जा सकता है और त अस्त्। अविद्या को सत् मानने मतो स्वयं अद्वैतवेदान्तियों को ही अलाप्ति है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत एक मात्र ब्रह्म की ही मम् पदार्थ के द्वारा स्वोक्तार किया गया है। इसके अतिरिक्त यदि अविद्या को असत् माना जाएगा तो अविद्या का आशय भी असत् ही मानना पड़ेगा और इस प्रकार एक अन्य अमन् पदार्थ की कल्पना बर्नी पड़ेगी। इस असत् पदार्थ के आशय के लिए भी एक अन्य अमन् पदार्थ की कल्पना बर्ना भी उक्त वर्णन के अनुपार अपेक्षित ही

१ अविद्यया प्रदायन्म ब्रह्म तिरोऽपि विवश्वता स्वरूपनाम एव उक्तस्यात्। प्रकाश-
निर्गतन नाम प्रकाशो गतिप्रतिवर्त्यो विद्यमानस्य दिनाशोदा। प्रकाशस्यानुगाम्यत्वा
म्युत्तरम् प्रतापत्तिरोधान प्रशास्यता एव। —थीराम ११।
२ अद्वैत रामुगा द्वितीय माग, पथम ग्रन्थ, पृष्ठ १३।

होगा। इस असत् पदार्थ कल्पना का परिणाम अनवस्था दीप होगा।^१

समीक्षा—रामानुजाचार्य की दृष्टि में अविद्या की स्वरूपानुपपत्ति का कारण अद्वैत-वेदान्त के अनिर्वचनीयवाद तिद्वान्त की अवहेलना है। अनिर्वचनीयवाद के अनुसार अविद्या न सत् रूप है और न असत् रूप, प्रत्युत्, सदसत् से विलक्षण है। सदसत् से विलक्षण होने के कारण ही अविद्या को अद्वैत वेदान्त में अनिर्वचनीय कहा गया है। इस प्रकार अविद्या को अनिर्वचनीय मान लेने पर उसकी स्वरूपानुपपत्ति का प्रश्न नहीं उपस्थित होता।^२ अनिर्वचनीयता के द्वारा ही परमार्थ में अविद्या को असत्यता एवं व्यवहार में सत्यता सिद्ध होती है। अतएव अविद्योत्तन संसार यदि परमार्थ रूप से सत नहीं है तो वन्या पुत्रादिवत् नितान्त असत् भी नहीं है। इसीलिए अनिर्वचनीयवाद के आधार पर, अद्वैत वेदान्त में मायिक जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है।

४. अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति

जिस अनिर्वचनीयवाद के आधार पर अद्वैत वेदान्तियों ने अविद्या के स्वरूप का निश्चय किया है, रामानुजाचार्य ने उसका निराकरण करने की चेष्टा की है। अनिर्वचनीयत्व के विरोध में रामानुजाचार्य का कथन है कि अनिर्वचनीयत्व से सदसद्विलक्षणत्व का आशय ग्रहण करना अनुचित है, क्योंकि सदसत् से विलक्षण वस्तु की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए अनिर्वचनीयता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।^३ रामानुजाचार्य का तर्क है कि संसार की समस्त वस्तुओं की व्यवस्था उनकी प्रतीति पर आधारित है और समस्त वस्तुओं की प्रतीति सदसदाकारा है। सदसद्विलक्षण वस्तु को सदसदाकारप्रतीति का विषय मान लेने पर तो समस्त वस्तुजगत् समस्त जीवों की प्रतीति का विषय बन जाएगा^४ और इस प्रकार वस्तु प्रतीति के सम्बन्ध में कोई मर्यादा न रह जाएगी। उक्त तर्कों के आधार पर रामानुजाचार्य ने अद्वैत वेदान्त के अनिर्वचनीयवाद को अनुपपत्तन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

समीक्षा—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रामानुजाचार्य का अनिर्वचनीयता को प्रमाणासिद्ध कहना समीचीन नहीं है। अनिर्वचनीयता में अर्थापत्ति प्रमाण है। सद् वस्तु का वाच नहीं होता और असत् की प्रतीति नहीं होती, इस प्रकार प्रतीति का विषय सदसद्विलक्षणत्व अर्थापत्ति के द्वारा सिद्ध है। इसके अतिरिक्त रामानुजाचार्य का प्रतीति को सदसदाकार कहना भी अयुक्त है। किसी भी वस्तु की प्रतीति सदसदाकार नहीं होती। इसीलिए मीमांसक की सदसदत्याति का भामतीकार द्वारा पूर्णतया निराकरण किया गया है।^५ यदि कहा जाए कि सदसदाकारवी अविद्या ही समस्त कार्य जगत् का उपादान है तो यह असंगत है, क्योंकि अविद्या को सदसदाकारा मानने पर समस्त विषयों की प्रतीति भी सदसदाकारा ही मानी जाएगी और इसका परिणाम यह होगा कि खातिवाद अनुपपत्तन ही रह जाएगा। इस

१. श्रीभाष्य १११।

२. अद्वैततत्त्वसुधा, द्वितीय भाग (प्रथम संपुट), पृष्ठ १७४।

३. श्रीभाष्य १११।

४. वही।

५. भामती, च० स०, शा० भा० उपोद्घात।

प्रकार स्यातिवाघ की अनुपपत्ति ही अनिवंचनीय अविद्या में प्रमाण है।^१ ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप वी निरोधानकर्त्ता, अनेक प्रकार के अवश्यमों की उत्तराशनभूता, ज्ञानादिपदवाच्या, मात्रस्त एव प्रत्यक्ष प्रमाण मिद्द अनिवंचनीय अविद्या है स्वीकार वर लेने पर उसमें उत्पन्न समस्त जगत् भी अनिवंचनीयता मिद्द ही है। सदृश्विलक्षणत्व लक्षणवाली अनिवंचनीयता प्रत्यक्ष प्रमाण में भी मिद्द है। अनिवंचनीय ज्ञान के आवरण के विता ब्रह्म की जगद्गुपादानता एव मर्वपद्म की अधिष्ठानता मिद्द नहीं होती।^२

५ प्रमाणानुपपत्ति

सदृश्विलक्षणत्वप्रमाण अनिवंचनीयता का निराकरण करने हुए रामानुजाचार्य ने अनिवंचनीयता की प्रमाणामिद्द वनलाया है। श्री भाष्यकार का विचार है कि सदृश्विलक्षण वस्तु में कोई प्रमाण नहीं है।^३

समीक्षा—अनिवंचनीयत्वानुपपत्ति की समीक्षा करते समय हम अनिवंचनीय अविद्या की प्रामाणिकता वा उन्नेक कर चुके हैं। अनिवंचनीय अविद्या अर्द्धपत्ति एव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से मिद्द है। सदृश्विलक्षण एव अनिवंचनीय वस्तुओं का स्वरूप पारमार्थिक सत् एव अलोक थमन् में विलक्षण होने के कारण ही प्रत्यक्ष का विषय है। इसेलिए शत्तराचार्य ने जगत् के उपादान एव अनिवंचनीय अवश्यम वौ लोकप्रत्यक्ष का विषय कहा है।^४ इम प्रकार अनिवंचनीय वस्तुओं की गमाणोपपत्ति स्पष्ट ही सिद्ध है।

६ निवंत्सानुपपत्ति

रामानुजाचार्य ने अद्वैत वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान के अज्ञाननिवंत्सकत्व द्वा अनुपपत्ति मिद्द रखने का प्रयास किया है। रामानुजाचार्य का कथन है कि अद्वैत वेदान्त का यह सिद्धान्त वि श्रुति के बन्नुसार निर्विद्येय ब्रह्म के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है, अमुवत् है। अपने कथन वौ पुस्टि में रामानुजाचार्य का तर्ह है कि 'विदाहमेत पुरुष महान्तम्' 'वादिव्यवर्ण तन्म परस्तात्' आदि वाक्य निर्विद्येयब्रह्म ज्ञान के विरोधी हैं। श्रीभाष्यकार का कथन है कि ब्रह्म के मणुष होने के कारण समस्त युतिवाचन मणुष ब्रह्म के ज्ञान में ही मोक्ष की मिद्द का प्रतिरादन करते हैं।^५ इसके अनिरिक्त तत्त्वमपि आदि महाकाण्ड भी आचार्य रामानुज के मनानुसार सणुष ब्रह्म के ही प्रतिरादत् हैं। रामानुजाचार्य के मतानुमार तत्त्वमसि का निष्पत्त इसी अन्याय में खोचे किया जा चुका है।

समीक्षा—आचार्य रामानुज ने निर्गुण ब्रह्म ज्ञान के विरोध में जिन 'विदाहमेत पुरुषमहान्तम्' (वै० ३० ३०) आदि स्वर्णों को उद्भूत किया है, वे वाच्यार्थ या अनुवाद मात्र की दृष्टि

१. इनिद्वितिवाचानुपपत्तिरेऽनिवंचनीयाविद्याया प्रमाणम्।

—अद्वैततत्त्वमुद्धा, द्वितीय भाग (प्रथम संपुट), प० १३५।

२. वही० पृ० १७५।

३. श्रीभाष्य १।१।१।

४. एवम्यमतादिरनन्तोऽसर्वाद्योऽन्यामो 'लोकप्रत्यक्ष'।—व० १००, शा० १००, उ० १००।

५. ब्रह्मण मविद्येय गादेव स्वर्णग्रन्ति ब्राह्मणति मविदेयज्ञानादेव मोक्ष वर्तन्।

—श्रीभाष्य १।१।१।

से ही सगुण ब्रह्म के समर्थक हैं, परन्तु उनका लक्ष्य परमात्मा को अविद्याहृष्ट बन्धकार से सर्वधा अतीत कहना एवं स्वप्रकाश स्वरूप चित् तत्त्व के बोध की ओर संकेत करना ही है। इस प्रकार 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' के अन्तर्गत 'तमसः परस्तात्' से परमात्मा की अविद्या से अतीत होने का अभिप्राय है और आदित्यवर्णंता से स्वप्रकाश स्वरूप संवित्तमात्रता का। इसी प्रकार श्रीभाष्यकार द्वारा उद्भूत अन्य वाकों का भी अद्वैत वेदान्त के जीवब्रह्मीकथ सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं कहा जा सकता।^१ यों तो, अद्वैत वेदान्त में भी पर एवं अपर ब्रह्म के रूप में निर्गुण एवं सगुण दोनों प्रकार से ही ब्रह्म का निष्पण किया गया है, परन्तु निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान को ही मनुष्य जीवन का सर्वोच्च प्रतिपाद्य बतलाया गया है। निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से ही अध्यात्म रूप अविद्या की निवृत्ति सम्भव है। अतः रामानुजाचार्य का निवर्त्तकानुपत्ति का सिद्धान्त पुष्टकर्धारित नहीं कहा जा सकता।

७. निवृत्यनुपत्ति

जीव एवं ब्रह्म के ऐश्वर्य से होने वाली अद्वैतवेदान्तानुगत अविद्यानिवृत्ति को श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य ने अयुक्त बतलाया है। रामानुजाचार्य ने अविद्या निवृत्ति को अनुपपत्तन सिद्ध किया है। रामानुजाचार्य का तर्क है कि बन्धन पारमार्थिक है, इसलिए उसकी निवृत्ति ज्ञान के द्वारा कदाचित् सम्भव नहीं है।^२ विषिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुयायियों का तर्क है कि पुण्यापूर्ण कर्मों के निमित्त स्वरूप देवादि के शरीर में प्रवेश करने से होने वाले सुख-दुःखानुभव रूप बन्धन का मिथ्यात्व किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। इस बन्धन की निवृत्ति तो भवितव्यापन्न उपासना से तुष्ट परमपूरुष के अनुग्रह से ही सम्भव है। अतः जीव एवं ब्रह्म के एकत्र के द्वारा अद्वैत वेदान्त में जो अविद्यानिवृत्ति का विवेचन किया गया है, वह असंगत है।

समीक्षा—मूक्षनतया विचार करने पर रामानुजाचार्य का निवृत्यनुपत्ति का तर्क पूर्णतया असंगत प्रतीत होता है। जैसा कि रामानुजाचार्य के मत का उत्तेज करते समय ऊपर कहा जा चुका है, यदि बन्धन के परमार्थिक होने के कारण जीव और ब्रह्म के एकत्वज्ञान के द्वारा अविद्या निवृत्ति असम्भव होगी तो फिर श्रीभाष्यकार के मतानुसार ही अविद्यानिवृत्ति का कोन उपाय होगा। यदि उपासना मात्र से अविद्याबन्धन की निवृत्ति मानी जाएगी तो फिर अविद्याबन्धन की पारमार्थिकता का ही क्या आशय होगा। यदि कहा जाए कि अविद्या बन्धन की निवृत्ति होने पर भी बन्धन शेष रह जाएगा तो संसार दशा एवं मुकितदशा में अन्तर ही क्या रहेगा। इसके अतिरिक्त यदि ब्रजाननिवृत्यनुपत्ति का समर्थक कहे कि निवृत्ति से केवल निवृत्ति की अवन्धकता से अभिप्राय है तो यह भी अनुचित है, क्योंकि ऐसी निवृत्ति का आशय एवं उद्देश्य अस्पष्ट है। अतः रामानुजाचार्य द्वारा निवृत्यनुपत्ति के समर्थन में जो तर्क दिए गए हैं, वे निराधार हैं।

श्रीभाष्यकार का बन्धन को पारमार्थिक कहना भी अनौचित्यपूर्ण ही है। 'नैहनानास्तिकिचन' आदि श्रुतिवाक्य अविद्याजन्य नानात्वमय बन्धन की अपारमार्थिकता के ही घोतक हैं। जिन जिज्ञासुओं को परमार्थतत्त्व का ज्ञान होता है, वे अविद्याजन्य द्वैतबन्धन से,

१. अद्वैततत्त्वसुधा (प्रथम सम्पृष्ट), पृष्ठ २०६।

२. बन्धस्य पारमार्थिकत्वेन ज्ञाननिवृत्यत्वाभावात्। —श्रीभाष्य १।१।१।

पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं। यत अविद्यावन्धन को पारमार्थिक कहना, स्पष्ट ही अन्यायपूर्ण है। लाइवर्यं तो यह है कि श्रीभाष्यकार को बन्धन के मिथ्यात्व के स्वीकार करने में आवश्यक है। निवृत्ति, अविद्या और उसने उत्तरन बन्धन के बाष्प का नाम है। रज्जु एवं सर्प के उदाहरण में रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प रूप मिथ्या ज्ञान का बाष्प हो जाता है। यही बात सर्पादि के मिथ्या ज्ञान से उत्तरन भयादि बन्धन की निवृत्ति करता है। यदि सपादि वा ज्ञान मिथ्या न होता तो उससे उत्तरन भयादि बन्धन की निवृत्ति ही वैसे सम्भव होती। यत श्रीभाष्यकार का, अविद्याजन्यबन्धन के मिथ्यात्व से सशय करना, सगतिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार रज्जु एवं सर्प के उदाहरण के अनुसार ही इह एवं जीव के एकत्व ज्ञान के द्वारा अविद्या एवं उससे जन्य नानात्वरूप मिथ्या ज्ञान का बाष्प हो जाता है और तत्कलस्वरूप मिथ्या ज्ञानोत्पन्न अनेक समन्वय—परत्वादि बन्धन की भी निवृत्ति हो जाती है। यत आविधिर बन्धन के मिथ्यात्व से सशय करना नितान्त निर्मल है।

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने शाक्त भाष्यावाद के विरोध में उपर्युक्त जिन सर्वाधिक अनुप्रतिष्ठों का उल्लेख किया है, वे पूर्णतया असिद्ध हैं।

निम्बाकं दर्शन (११वीं शताब्दी) का स्वरूप

ऐसेतिन प्रभुति कुछ परिचयी विद्वानों ने तो निम्बाकांचार्य के ब्रह्मसूत्रभाष्य को वृत्तिषय समानताओं के आधार पर भास्कराचार्य, निम्बाकांचार्य वा ही दूसरा नाम बतलाया है। इस प्रकार दोनों भाष्यों वी समानता के आधार पर ऐसेतिन ने निम्बाकांचार्य एवं भास्कराचार्य को एक ही मिछ करने का प्रयत्न किया है। परन्तु अब दोनों भाष्यों के निम्बान्तों के मूलम् अध्ययन के द्वारा दोनों के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का भेद स्पष्ट हो गया है।

निम्बाकांचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त द्वैताद्वैतवाद है। यहा द्वैताद्वैतवाद मिदान्त का निष्पत्र किया जाएगा।

द्वैताद्वैतवाद का सिद्धान्त

रामानुजाचार्य के मतानुसार निम्बाकं-दर्शन में भी चिन्तु, अचित् एव ईश्वर रूप से तीन तत्त्व माने गए हैं। चिन्तु तत्त्व जीव एवं अचित् तत्त्व जगत् वा बीषक है। परन्तु निम्बाकं-दर्शन के चित् एव अचित् तत्त्व रामानुजाचार्य की तरह ईश्वर के विशेषण नहीं हैं। इसीलिए निम्बाचार्य विशिष्टाद्वैतवाद के विरोधी है। आचार्य निम्बाकं के अनुगार ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में, रामानुजाचार्य की तरह विशेषण-विशेषण भाव सम्बन्ध न होकर, आप्याभित सम्बन्ध है। जीव एवं जगत् ईश्वर के आप्यित तथा ईश्वर आप्य है।

निम्बाकांचार्य के अनुसार ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अनेद भी है और भेद भी। इस प्रकार निम्बाकं दर्शन में जीव एवं जगत् के आप्यितवादि स्वभाव एवं अचितनवादि विशेषणों के ईश्वर के आप्यत्वादि स्वभाव एवं विशेषण विशेषणों से विद्ध होने के कारण ईश्वर तथा जीव एवं जगत् का भेद स्पष्ट हो गया है। परन्तु जीव तथा जगत् की सना आप्यत्व

ईश्वर के विना असम्भव है, अतः ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अभेद भी है।^१ इस प्रकार ईश्वर जीव एवं जगत् में भेद भी है और अभेद भी। जिस प्रकार कि जल की लहरें, सूर्य की किरणें, अग्नि के झुर्लिंग, रस्ती के नयें एवं संपर्क का कुण्डली रूप, जलादि से भिन्न एवं अभिन्न दोनों ही हैं, उसी प्रकार जीव एवं जगत् ईश्वर से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। इस प्रकार द्वैताद्वैतवादी के मतानुसार द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही सत्य हैं। इसीलिए द्वैताद्वैतवाद दर्शन के अनुरूप द्वैत एवं अद्वैत दोनों की ही प्रतिपादक धूतियाँ सत्य हैं। अब यहाँ द्वैताद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर, जीव जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन किया जाएगा।

ईश्वर

द्वैताद्वैतवादी निष्ठाकर्दणंत के अन्तर्गत बद्धत्वेदान्त के निर्गुण व्रह्म के विस्तृद्ध सगुण व्रह्म की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की गई है। निष्ठाकर्चार्य ने अपने व्रह्म को समस्त दोपां से रहित एवं अशेष कल्याण गुणों से सम्पन्न कहा है।^२ इसके अतिरिक्त परमात्मा समस्त अन्त-जगत् एवं वहिर्जगत् में व्याप्त होकर स्थित है।^३ जीव एवं जगत् की सत्ता स्वतन्त्र न होकर ईश्वराधीन है, इसीलिए ईश्वर इन ज्ञानियता कहलाता है।^४ प्रलयकाल में जीव एवं जगत् ईश्वर में ही लीन हो जाते हैं। प्रलय एवं सृष्टि के पूर्णिमाण काल के बीच जीव एवं जगत् सूक्ष्म रूप से ईश्वर में ही स्थित रहते हैं। सर्वगवित्तमान होने के कारण ईश्वर अपनी इच्छा भाव से ही समस्त संकार की सृष्टि में नमर्य होता है।^५ इस प्रकार रामानुज के अनुसार जहाँ जगत् सगुण व्रह्म की विशेषणभूत प्रकृति का परिणाम है, वहाँ, निष्ठाकर्चार्य के दृष्टिकोण के अनुसार वह ईश्वर की दक्षित का परिणाम है। इस प्रकार आचार्य निष्ठाकर्क अद्वैती को तरह विवर्तवादी न होकर परिणामवादी हैं। इस विषय का विवेचन बद्धत्वेदान्तदर्शन एवं निष्ठाकर्दणंत के सिद्धान्तों के तुलनात्मक विवेचन के समय किया जाएगा। द्वैतवादी मध्वाचार्य के विपरीत निष्ठाकर्क ईश्वर को उपादानकारण एवं निमित्तकारण दोनों ही भावते हैं। रामानुजाचार्य के विष्णु, एवं लक्ष्मी के स्वान पर आचार्य निष्ठाकर्क ने दृष्टि एवं राधा की स्थापना की है। इसके अतिरिक्त निष्ठाकर्चार्य की वासुदेव, संकर्यण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध, इन चार व्यूहों की कल्पना रामानुजाचार्य के तमान ही है।^६ निष्ठाकर्क दर्शन के अनुसार भी ईश्वर मत्स्यादि रूप से लोक कल्याण के लिए अवतार ग्रहण करता है। निष्ठाकर्क दर्शन के अनुसार जीव एवं जगत् ईश्वर के ही आश्रित हैं।

१. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 753.

२. दशश्लोकी ४।

३. यत्किंचित् जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयते ऽपिवा।

अन्तर्वंहिश्च तत्सर्वं व्याप्त नारायणः स्थितः। — सिद्धान्तजात्री, पृष्ठ ५३ से उद्धृत।

४. दशश्लोकी ७।

५. निष्ठाकर्मभाष्य, ब्र० सू० १११६।

६. डा० देवराज : दर्शनशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४६०।

जीव

निम्बाकं दक्षं न मे जीवों को अनन्त एव अणु स्प बतलाया गया है, परन्तु अणु होने वृए भी जीव का यह वंशिष्य है कि वह रावित्रिक ज्ञान के कारण शरीर के मुख दुखादि का अनुभव करने में समर्थ होता है। यास्त्रदर्शन के विपरीत जीव बढ़ एव मुक्त दौतो अवस्थाओं में ही कर्तृत्व से युक्त रहता है। परन्तु यहां यह कह देना और अपेक्षित होगा कि जीव स्वतन्त्र स्प से कर्ता नहीं है। उसका कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है। जीवजाता एव भोक्ता भी है, परन्तु कर्तृत्व के समान ही जीव का ज्ञानरूप एव भोवन्न भी परमेश्वर के ही आधित है।

साधारणतया बढ़ एव मुक्त इष्य से जीवों के दो भेद हैं। बढ़ जीव मुमुक्षु तथा वृमुक्षु इष्य से दो प्रकार के हैं। मुमुक्षु एव वृमुक्षु जीवों का यह बन्तर द्रष्टव्य है कि मुमुक्षु जीव मुक्तिन का इच्छुक होता है और वृमुक्षु जीव विषयानन्द का इच्छुक। इसी प्रकार मुक्त जीवों के भी नित्य मुक्त एव मुक्त इष्य से दो भेद बतलाए गये हैं। नित्य मुक्त जीवों में गहड़ एव विष्वकृ सेन आदि आते हैं। नित्यमुक्त जीव भगवान् के पापेद इष्य में परमानन्द की प्राप्ति करते हैं। इसके विपरीत वे मुक्त जीव हैं जो अपनी साधना के बल से सप्तार चक्र से मुक्तिन प्राप्त करते हैं। निम्बाकं दर्शनमध्यत मुक्तिन का विवेचन अभी आगे किया जाएगा।

ईश्वर एव जीव का सम्बन्ध

निम्बाकं दर्शन के बन्तराज जीव एव ईश्वर में यशाशिभाव है। जीव अश एव ईश्वर अशी है, परन्तु द्वैतवादी के बन्तराज अश शब्द का अर्थ अवश्यक नहीं है। वेदान्त पारिदात सौरभ (निम्बाकं भाष्य) के दीक्षाभार श्रीनिवासाचार्य के अश शब्द का 'अर्थशस्त्रिन' विया है। अत सर्वसक्तिमान् होने के बारण ही ईश्वर को अशी कहा गया है। इस प्रकार जीव एव ईश्वर में यशाशिभाव के द्वारा धर्मित एव शवितमान का सम्बन्ध है।

जगत्

निम्बाकं दर्शन में भी रामानुजदर्शन की तरह जगत् अचिन् स्वरूप है। यह कहा जा चुका है कि ईश्वर अपनी शक्ति से जगत् की मूर्ति एव महार करता है। यह अचिन् जगत् भी अग्रहत्, प्राण्डु एव काल भेद से तीन प्रकार वा है। अग्रहत् जगत् वह जगत् कृत्सना है जो प्रहृति ने गुणों से लिपित नहीं है। इस प्रकार के जगत् म भगवान् का लोक और उनके बन्तराज आदि पदर्थ आते हैं। प्राण्डु जगत् से उम जगत् का आशय है, जो प्रहृति द्वारा उत्तरान हुआ है। इसमें महत्त्व से ऐक्षर महाभूतों तद् दे पदर्थ आते हैं। प्राण्डु पदर्थों को उत्तरान करने वाली प्रहृति साक्ष की प्रहृति के भासन चिरुणाय्यव तो है, दिन्तु साक्षकी प्रहृति के समान स्वतन्त्र न होकर ईश्वर द्वारा नियन्त्रित होती है। जगत् के कालतत्त्व का स्पृष्ट्य प्रहृति एव अग्रहत् स्वरूप से मिल है। काल ही समार चक्र का नियमक है परन्तु यह भी ईश्वर द्वारा शामिल है। काल, दूनतया अवृत्त है, परन्तु उपर्यि के कारण इसके

१ दर्शकोक्ती—२।

२ अगोहि शवित्रह्योप्राप्तु । —वेदान्तकौस्तुम्, व० ग० २४४४२।

प्रातरादि अनेक भेद हैं।

मुक्ति

जीव, अनादि ग्रिगुणात्मिका एवं प्रकृति स्वरूप माया से आवृत्त होने के कारण अपने घर्मभूत ज्ञान से वंचित रहता है। भगवान् के अनुग्रह से ही जीव को अपने वास्तविक रूप का ज्ञान होता है।^१ निष्ठार्क दर्शन का यह वैशिष्ट्य है कि उसके अनुमार मुक्तावस्था में भी जीव के कार्यात्म में वाधा नहीं पड़ती^२। यही कारण है कि मुक्तावस्था में भी जीव के द्वारा उपासना का विधान बतलाया गया है। निष्ठाकांदर्शन के अनुमार मुक्ति इस संसारवस्था में संभव नहीं है। सांसारिक देह का विनाश होने पर ही जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

निष्ठार्कदर्शन और अद्वैतवेदान्तदर्शन

आचार्य निष्ठार्क यों तो, व्रह्मादी ही हैं, परन्तु उनका ब्रह्म अद्वैतवेदान्तियों के समान निर्गुण न होकर सगुण है। उनके ब्रह्म की मग्निता रामानुजाचार्य के चिदचिदविद्येयण विशिष्ट ब्रह्म से भिन्न है, यह पीछे कहा जा चुका है। अद्वैतवेदान्तमध्यत ब्रह्म के स्वरूप से तो निष्ठार्कचार्य द्वारा प्रतिगदित ब्रह्म का स्वरूप पूर्णतया भिन्न ही है। अद्वैतवेदान्तदर्शन और निष्ठार्कदर्शन, दोनों के ही अन्तर्गत ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म दोनों ही जगत् के निमित्त-कारण एवं उपादान कारण हैं, परन्तु दोनों में यह अन्तर विचारणीय है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म अपनी माया शक्ति के कारण जगत् का उपादानकारण है, जब कि निष्ठार्क-दर्शन के अनुसार चित् एवं अचित् शक्ति के द्वारा ईश्वर जगत् का उपादानकारण है। इसी लिए अद्वैतवेदान्त और निष्ठार्कदर्शन के कार्य-कारणसम्बन्धी सिद्धान्त में भी अन्तर है। अद्वैत वेदान्त में जहाँ विवर्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है, वहाँ निष्ठार्कदर्शन परिणामवादी है। परिणामवादी निष्ठार्कदर्शन के अनुमार जगत् ईश्वर की चित् एवं अचित् शक्ति का ही परिणाम है। विवर्तवाद के विरोध में निष्ठार्क दर्शन के अनुयायियों का तर्क है कि जैसा कि विवर्तवादी कहते हैं यदि जगत् मिथ्या हुआ होता तो उसका अध्यत्त होना संभव न हुआ होता।^३ द्वैताद्वैतवादी के उद्दत तर्क का अनौचित्य प्रदर्शित करते हुए यह कथन असंगत न होगा कि अद्वैतवेदान्त के अनुसार जगत् आकाशकुमुम अथवा यशश्वरंग के समान मिथ्या न होकर केवल परमार्थ दृष्टि से मिथ्या है। विवर्तवादी अद्वैतवेदान्ती के अनुसार जगत् के नाम एवं रूप का ही मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है। इसीलिए अद्वैतवेदान्त के अनुसार मुक्त पुरुष के लिए भी भौतिक जगत् का विनाश नहीं हो जाता, अपितु उसकी नामहृता का ही विनाश हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त एवं निष्ठार्क दर्शन के जीव सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी भेद है। अद्वैत वेदान्त में जीव ज्ञानस्वरूप मात्र है, परन्तु निष्ठार्कदर्शन के अन्तर्गत वह एक काल में ही ज्ञान का स्वरूप एवं आश्रय दोनों ही है।^४ जिस प्रकार कि सूर्य प्रकाश का स्वरूप एवं

१. वेदान्तरत्नमंजूषा, पृ० २०-२३।

२. कर्ता शास्त्रार्थत्वात् वेदान्तपारिज्ञात सीरभ, ब्र० गू० २१३।

३: Dr. Radha Krishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 753.

४. ज्ञानस्वरूपं च हरेरघीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्

बणु हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववर्त्तयदनन्तमाहुः ॥ —दण्डश्लोकी । ।

आश्रय दोनों ही हैं, उसी प्रकार जीव भी शात का स्वरूप तथा आश्रय दोनों है।

अद्वैत वेदान्त एवं निम्बाकेंद्रियन के मुख्यविषयक विचार में भी पर्याप्त जेद है। अद्वैतवेदान्तदर्शन के अन्तर्गत जीव मुव्वतावस्था में इहाँस्त्रा हो जाना है। शकराचार्य भी जीव और भ्रह्म के एवय के ही समर्थक हैं। इसके विश्वरीत निम्बाकेंद्रियन के अन्तर्गत प्रविन द्वारा प्राप्य भगवत्साक्षात्कार ही सोश्न है। परन्तु यह भगवत्साक्षात्कार भवन को हग जीवन में सभव नहीं है।

दलदेव उपाध्याय का मत—भारतीय दर्शन के सेवक पद्धित दलदेव उपाध्याय ने निम्बाकं दर्शन की विवेचना करते हुए 'मुमुक्षुर्वृद्धोपासीत' 'शान्तउपासीत' आदि श्रुतिवाचयो के आधार पर मुक्तनावस्था में जीव के उपासनन्प कर्तृत्व वो सिद्ध किया है।^१ मेरे विचार मे उबल श्रुति वाचयो के आधार पर मुक्तनावस्था में जीव के उपासनादि कर्तृत्व का सिद्ध करना समुक्तित नहीं है। क्योंकि उन्न श्रुति वाचयो के अन्तर्गत जीव के जिस मुमुक्षुत्व एवं शान्तित्व की चर्चा है वह मुक्ति की स्थिति के अन्तर्गत नहीं आते। मुमुक्षु का अर्थ है—मोक्ष का अभिलाषी और शान्त का अर्थ है—शान्त चित्त। अत मुमुक्षु और शान्त शब्दों से मुक्ति का अर्थ प्रहण करना समीचीन नहीं प्रतीत होता। अपे मत के समर्यन मे पद्धित दलदेव उपाध्याय ने वैदान्तपरिजातसौरभ के जिस अश (वैदान्तपरिजातमौरभ, द० स० २।३।३२) को उद्धृत किया है उसमे भी 'मुमुक्षुर्वृद्धोपासीत' वो मुक्ति का उपाय ही माना गया है।^२

बद्ध वेदान्त और निष्वाकं दर्शन के मुख्य सम्बन्धी सिद्धान्त का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि अद्वैत वेदान्त के समान निष्वाकं दर्शन में यह जीवन्मुक्ति को नहीं स्वीकार किया गया है। जैसा कि पीछे भी कहा जा चुका है, निष्वाकं दर्शन के अन्तर्गत जीव को शरीर त्याग हीने पर ही मोक्ष की उपलब्धि होती है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार जीव को शरीर दाता में ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन एवं निष्वाकं दर्शन के सिद्धान्तों में भेद वा होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि समस्त वैज्ञानिक पद्धतिया अद्वैत वेदान्त की ही प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती हैं।

मध्याचार्य (११९९-१३०३ ई०) वा दार्शनिक सिद्धान्त (द्वितीयाद)

आचार्य मध्य के अपर नामवेष, आनन्द शीर्ष तथा पूर्णप्रक्ष हैं। इसीलिए ब्रह्ममूर्ति पर उपलब्ध आचार्य मध्य का भाष्य पूर्णप्रक्ष दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य मध्य का दार्शनिक सिद्धान्त शाकर वेदान्त से उत्पन्न पूर्ण प्रतिक्रिया का फैल है। शहराचार्य ने जहाँ अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था, वहाँ मध्वाचार्य ने अद्वैतवाद के एवं दूसरे विरोधी द्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना की थी। द्वैतवाद का बीजारोगण तो रामानुजाचार्य के विदिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत ही हो सकता था, क्योंकि विदिष्टाद्वैतवाद वादी ने ब्रह्म वे अतिरिक्त जीव एवं जगत् की सत्यता स्वीकार करते हुए इन्हें ब्रह्म का विदेशण बतलाया था। आचार्य मध्य ने जगत् की ब्रह्म का विदेशण अथवा शरीर न मानकर ब्रह्म और जगत् की पृथक्-पृथक् मत्ता ही स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार कहना न होगा कि आचार्य मध्य का दार्शनिक सिद्धान्त रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का ही विकसित रूप है। यह बात दूसरी है कि रामानुजाचार्य के दार्श-

१ दलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पाठ ४६३।

२ आत्मेव वर्तस्विगंकामोयज्ञे, सुमुखुर्द्दीपासीनेत्यादैर्मुक्तमुक्तियुग्मायबोधवस्य शास्त्र-
स्याप्तव्यात् । —वेदान्त प्रतिज्ञात सौरभ १०५० २३३३३ ।

निक सिद्धान्त में मध्वाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त के बीज निहित होने पर भी दोनों दर्शन पद्धतियों के सिद्धान्तों में भेद दृष्टिगोचर होता है।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, आचार्य मध्व का प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त द्वैतवाद है। शांकर अद्वैतवाद के विपरीत द्वैतवादी आचार्य मध्व जीव एवं जगत् को मिथ्या न मानकर सत्य सिद्ध करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म, जीव एवं जड़ जगत् में अभेद न मानकर भेद सिद्ध करना मध्व-दर्शन की प्रमुख विशेषता है^१। अपने इस दार्शनिक वैशिष्ठ्य के समर्थन के लिए आचार्य मध्व ने दरिद्र-दम्पत्तिन्याय से श्रुति का भी बावधान निया है। अद्वैत सिद्धान्त के समर्थक तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, ब्रह्मविद्वर्त्तीव भवति, एकमेवाद्वयं ब्रह्म, सर्वं खलिवदं ब्रह्म आदि वाक्य भी आचार्य मध्व की अद्वैत कल्पना के अनुसार द्वैतसिद्धान्त के ही समर्थक हैं। यहाँ उक्त सिद्धान्त वाक्यों के सम्बन्ध में मध्व-दर्शन की दृष्टि से विचार करना उपयुक्त होगा। आचार्य मध्व 'तत्त्वमसि' से जीव एवं ब्रह्म के ऐवय को न स्वीकार करके यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि जीवात्मा एवं परमात्मा की मूलभूत विशेषताओं में साम्य है^२। इस सम्बन्ध में माध्वाचार्य ने अपने भाष्य में जीवों और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करते हुए भविष्यपुराण का एक श्लोक भी उद्धृत किया है^३। उन्होंने तत्त्वमसि का अर्थ 'त्वम् तदीयः असि' एवं 'त्वम् तस्य असि' भी स्वीकार किया है^४। आचार्य मध्व 'स आत्मा तत्त्वमसि' को 'स आत्मा अतत्वमसि' के रूप में ग्रहण करते हैं^५। 'अर्यं आत्मा ब्रह्म' को आचार्य मध्व जीवात्मा की प्रयांता अयवा घ्यान की दृष्टि से कहा गया मानते हैं। इन्होंने अद्वैतपरक उपर्युक्त वाक्य को पूर्वपक्ष भी कहा है^६। 'अयमात्मा ब्रह्म' वाक्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य मध्व ने शब्दों का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ ग्रहण किया है। व्युत्पत्ति मूलक अर्थ के ही आधार पर मध्वाचार्य ने उक्त वाक्य के अन्तर्गत जीवात्मा या ब्रह्म का वर्णन माना है। जीवात्मा का वर्णन मानने पर मध्वाचार्य ने 'अयमात्मा ब्रह्म' का अर्थ किया है—यह जीवात्मा वर्द्धनशील है।^७ आचार्य मध्व ने उक्त वाक्य में ब्रह्मपरक वर्णन मानते हुए इस वाक्य का अर्थ किया है—यह जो सर्वत्र व्याप्त है, ब्रह्म है। इसी प्रकार 'ब्रह्मविद् ब्रह्मीव भवति' (ब्रह्म वेत्ता ब्रह्मवृप ही हो जाता है) वाक्य का अर्थ भी आचार्य मध्व यह करते हैं कि मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म के समान हो जाता है। 'एकमेवाद्वयं ब्रह्म' एवं 'सर्वं खलिवदं ब्रह्म' वाक्य भी मध्वाचार्य की दृष्टि से क्रमशः ब्रह्म की अद्वितीयता और विश्वव्यापकता के द्योतक हैं, न कि जगत् और ब्रह्म के अभेद के द्योतक। इस प्रकार विश्वव्यापक ब्रह्म को आचार्य मध्व विश्व से पृथक् मानते हैं। इस प्रकार अद्वैतवाद के समर्थक वाक्यों का मनमाना अर्थे लगाकर मध्वाचार्य ने द्वैतवाद की ही स्थापना करने का प्रयत्न किया था।

१. Ghate : The Vedanta, p. 33.

२. मध्वभाष्य, ब्र० स० २३।२६।

३. भिन्नाः जीवाः परोभिन्नस्थयापिन्नानहपतः।

प्रोच्यन्ते ब्रह्मवृपेण वेदवादेषुसर्वशः ॥

—भविष्यपुराण, मध्वभाष्य २३।२६ के अन्तर्गत उद्धृत।

४. Ghate : The Vedanta, p. 34.

५. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 746.

६. वही, प० ७४६।

७. Ghate : The Vedanta, p. 34.

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद के विपरीत मध्याचार्य ने पाच प्रकार के भेद की स्थापना की थी। यह भेद ईश्वर और जीव, ईश्वर और जड़ जगत्, जीव और जड़ तथा जड़ और जड़ का भेद है।^१ इस भेदवाद के आधार पर ही आचार्य मध्य ने द्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना की है। अब यहाँ ईश्वर, जीव एवं जगत् आदि के सम्बन्ध में आचार्य मध्य के विचार का अध्ययन किया जाएगा। इसमें उनका द्वैत दर्शन और भी स्पष्ट हो जाएगा।

ईश्वर

ईश्वर के सम्बन्ध में मध्य का विचार है कि परमात्मा वेदों द्वारा जानने योग्य है (मध्य भाष्य द३।३।१)। अत ईश्वरस्यभाव को अपरिभाष्य नहीं कहा जा सकता। मध्याचार्य का विचार है कि परमेश्वर की अवाच्यता का यही आशय है कि उसका पूर्ण ज्ञान होना कठिन है। श्रहु को मध्य ने विष्णु का रूप प्रदान किया है। विष्णु ही समार का पूर्ण रूप से शासन करते हैं। वे ही सकार के स्पष्टा एवं सद्गुरुकर्ता हैं। इसके अतिरिक्त मध्य विष्णु को भी जीवों का अन्तर्यामी मानते हैं।^२ विष्णु समार के बल्यागार्थ मत्यादि रूप से अवतार प्रहण करते हैं। विष्णु के समस्त अवतार पूर्ण हैं।^३ परन्तु मध्य ईश्वर को उपादान कारण न मानकर कारण ही मानते हैं। मध्य का कहना है कि जो ईश्वर ज्ञानस्वरूप है उससे जड़ जगत् की उत्पत्ति इस प्रकार सम्भव है।^४

लद्दमी परमात्मा की शक्ति है। वह परमात्मा से भिन्न एवं केवल उसीके अधीन है।^५ लद्दमी दिव्य शरीरधारिणी होने के कारण अक्षरस्वरूप है।^६ परमात्मा की तरह लद्दमी नित्यमुक्ता तथा देश एवं काल की दृष्टि से परमात्मा के ही समान व्यापक है।^७ परन्तु गुणों की दृष्टि से लद्दमी परमात्मा से न्यून ही है। नित्यव्य ही परमात्मजिना, नित्यमुक्ता एवं दिव्य-शरीरधारिणी शक्ति (लद्दमी) का स्वरूप शास्त्रवेदान्त की ईश्वराभिन्ना, अज्ञातस्वरूप एवं जड़ माया से भिन्न है।

जीव

मध्य दर्शन में जीव परमात्मा में भिन्न है तथा समस्त जीव परस्पर एक दूसरे से भिन्न

१ मध्याचार्यस्तमश्व, पृष्ठ १७ (चौथम्या सम्पादन, वराहम् १६०७)।

२ मध्य भाष्य १।१।५।

३ वही, १।२।१३।

४ अवतारादप्यो विष्णो सर्वदूर्णा प्रभीतिना।

पूर्णच, तत् परपूर्णं पूर्णान् पूर्णा समूद्गता। —मध्यवृद्धभाष्यम्

(वदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ० ४८१ से उदृत)

५ Ghate The Vedanta, p 34

६ मध्य सिद्धान्त सार, पृष्ठ २६।

७ लद्दमीरसदेह्वात् नद्दरा —मध्यकृतेतत्रेय भाष्य।

८ द्वावेव नित्यमुक्ती तु परम प्रतिभिन्नता। देवत बालनश्चैव समव्याप्ताद्बुभावजी॥।

—भागवतनाटायेनिर्णय, वतदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४८२ से उदृत।

है। परमाणु प्रदेश में रहने वाले जीव अनन्त हैं।^१ समस्त जीवों का आधार परमात्मा है। परमात्मा ही जीवों को उनके पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार कर्म करने के लिये प्रवृत्त करता है।^२ मध्वचार्य का कहना है कि जीव की स्वप्नकल्पना भी ईश्वर की इच्छा पर ही आयारित है—(मध्व भाष्य ३।२।३,५) जीव अनु परिमाण होने के कारण सर्वव्यापक ब्रह्म की सत्ता से पृथक् है। यद्यपि जीव पूर्वकृत कर्मानुमार वज्ञान, मोह, दुःख एवं भयादि दोषों से पूर्ण है तथापि उसका स्वभाव आनन्द ही है। मुक्तावस्था में जीव अपने मूलस्वभाव आनन्दस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

मध्व दर्थन के अनुसार प्रवानन्या तीन प्रकार के जीव वर्तलाये गए हैं—मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी एवं तमोयोग्य जीव। मुक्तियोग्य जीवों के अन्तर्गत देव, ऋषि ऐति, चक्रवर्ती एवं उत्तम रूप ने पांच प्रश्न के जीव आते हैं। नित्य संसारी वे जीव हैं जो महामुखदुर्खादि का भोग करते हुए अपने-अपने कर्मों के अनुमार स्वर्ग, नरक एवं भूलोक में विचरण करते हैं। तमोयोग्य जीवों में देव्य, राक्षस, विशाच तथा अन्य अधम कोटि के जीव आते हैं।

जगत्

मध्व-दर्थन के अनुसार प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर, उपादानकारणभूता प्रकृति से अनेकानेक हपों की सृष्टि करता है। स्वयं ईश्वर प्रकृति के अनेक रूपों में वर्तमान रहता है। इस प्रकार प्रकृति भी परमात्मा का ही रूप है। व्यक्तावस्था में प्रकृति के—महरू, अहंकार, बुद्धि, मन, दर्शनद्वयां, पञ्चतन्मावार्ण और शित्यादि पञ्चतत्त्व, ये चतुर्विद्याति तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। अव्यक्तावस्था में, मूल प्रकृति में मेरत्त्व सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहते हैं। लक्ष्मी अपने श्री, भू, एवं द्वारा रूप के द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति की अव्यक्तता करती है। मध्व-दर्थन के अनुमार अविद्या प्रकृति का ही रूप है।^३ इस अविद्या के ही जीवाच्छादिका एवं परमाच्छादिका, ये दो रूप हैं। अविद्या जीवाच्छादिका रूप में जीव की आध्यात्मिक शक्ति को आच्छान्न कर लेती है और अपने परमाच्छादिका रूप में परमात्मा को आवृत्त कर लेती है। परमाच्छादिका अविद्या के आवरण के कारण ही जीव परमात्मा का साक्षात्कार करने में असमर्थ होता है।^४

मुक्ति

मध्वदर्थन की मुक्ति, अद्वैत वेदान्त की तरह जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य की समर्थक नहीं है। मध्व समर्पित मुक्ति के अनुसार जीव परमात्मा के सांघर्ष परम साम्य को प्राप्त करता है। जीव एवं परमेश्वर के चैतन्यांश में ही एकता है परमतु गुण दृष्टि से विचार करने पर जीव एवं परमेश्वर का पार्वद्वय निद्व ही है। मध्वदर्थन के अनुसार मुक्ति की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि मुक्तावस्था में भी जीव समान रूप से आनन्द का अनुभव नहीं करते।^५

१. परमाणु प्रदेशेष्वनन्ताः प्राणिराग्यः । —मध्वचार्य, तत्त्वनिर्णय ।

२. मध्वभाष्य, ब्रह्मसूत्र २।३।४१; २।३।४२ ।

३. मध्व भाष्य १।४।२५ ।

४. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 745.

५. दुःखाभावः परानन्दो तिंगभेदाः समाप्ताः ।

तथापि परमानन्दो ज्ञानभेदात् भिजते ॥ —मध्वसिद्धान्तमार, पृष्ठ ३२ ।

मध्य दर्शन के अनुसार मुकित भी, वासंशय, उत्कान्ति, अचिरादि सार्गं एव भोग, ये चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं। भोग के भी सालोक्य, सामीप्य, साहृष्ट्य तथा सायुज्य रूप से चार भेद हैं। सालोक्य के अनुसार जीव स्वर्ग में निवास करता हुआ सन्तोषपूर्वक आनन्द का भोग करके सदा ईश्वर साक्षात्कार करता है। सामीप्य में जीव सदा भगवान् के समीप स्थित रहता है तथा साहृष्ट्य में जीव बाहु स्पृष्ट में भगवान् का सादृश्य प्राप्त करता है। सायुज्य में जीव भगवान् के शरीर में प्रवेश करके उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करता है।^१ जैसा कि वहा जा चुका है, जीवों के मुकितकालिक आनन्द को म्यिति भिन्न-भिन्न है। मध्य दर्शन के अनुसार जीव की मुकित के लिए वैराग्य, शाश्वत दमादि का सम्पादन, स्वाध्याय, शरणागतिमाव, गुरुसेवा, शास्त्रश्रवण, मनन, ईश्वरार्पणबुद्धि एव ईश्वरोपासना आवश्यक हैं।

अद्वैतवेदान्त एव मध्य-दर्शन

मध्य दर्शन का द्वैतवाद सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त दर्शन द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का वरय विरोधी सिद्धान्त है। यो तो, दोनों ही दर्शन पद्धतियों में ईश्वर, जीव, जगत् एव मुकित आदि सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है, परन्तु दोनों दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत उक्त सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अत्यधिक भेद मिलता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जहा निर्णय द्वाहा को पूर्ण मत्य एव मात्र्य के रूप में घोषित किया गया है, वहा मध्यदर्शनप्रस्तरा में सगुण एव साकार रूपधारी भगवान् विष्णु ही परमेश्वर के रूप बतलाए गए हैं। अद्वैत वेदान्त एव मध्य-दर्शन ने ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि मध्य-दर्शन में ईश्वर जगत् का निर्मित कारण ही है, उपादान कारण नहीं, जबकि अद्वैत वेदान्त में ईश्वर निर्मित कारण एव उपादान कारण दोनों ही है। जीव एव जगत् के मिथ्यात्व के आधार पर अद्वैतवादियों ने जो जीव एव द्वाहा के ऐवय के मिद्दान्त की स्थापना की है उसका तो मध्याचार्य ने पूर्णतमा विरोध किया ही है। इस विराग का ही तो कल है कि आचार्य मध्य ने ईश्वर और जीव, ईश्वर और जगत् जीव और जगत्, जीव एव जड़ और जड़ में भी भेद की व्यवस्था की है। इस भेद व्यवस्था के अनुसार जीव एव जगत् को अद्वैत वेदान्त की तरह मध्यदर्शन में रिक्या न मानकर मत्य ही माना गया है।

मायावाद अद्वैतवेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। अद्वैतवेदान्त में माया से अविद्या एव मिथ्यात्व का आशय प्रहण किया जाता है, परन्तु पूर्णप्रतदर्शन के लेखक मात्र ने माया से स्वप्न का तात्पर्य प्रहण किया है—(मध्य भाष्य ३।१२।३) इसके अतिरिक्त जहा अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत माया शक्ति परमेश्वर से श्रमिन्न बतलाई गयी है, वहा मध्य-दर्शन में परमेश्वर की शक्ति लहसी को परमेश्वर से भिन्न घिन्दि किया गया है।^२

जैसा कि मध्य-दर्शन द्वारा प्रतिपादित मुकित का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, मध्य-दर्शन के अनुसार मुकितकालिक आनन्द के भेद की व्यवस्था, अद्वैतवेदान्तसमान मुकित की अद्वैतस्थिता एव भेदराहित्य के विपरीत है। इस प्रकार कहता न होगा, कि अद्वैत वेदान्त एवं मध्य दर्शन के ईश्वरादि मिद्दान्तों में भेद की एक अत्यन्त स्पष्ट रेखा मिलती है।

^१ Dr. S N Das Gupta Indian Philosophy, Vol IV, p 318

^२ परमात्मसिन्ना तन्मात्राधीनातदवी। —मध्यमिद्दान्तमार, पृ० २६।

बल्लभाचार्य (१४८१-१५३३ ई०) का दार्शनिक सिद्धान्त (शुद्धाद्वैतवाद)

बल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद है। अद्वैत वेदान्त के समान बल्लभ-दर्शन के अन्तर्गत माया व्रह्य की शक्ति नहीं मानी गयी है, इसीलिए व्रह्य के माया-सम्बन्ध से अलिप्त होने के कारण ही बल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रचलित हुआ है।^१ शुद्धाद्वैतपद के अन्तर्गत गिरिधर महाराज ने कर्मधारय एवं पष्ठीतपुरुष दोनों समासों की ओर मंकेत किया है। कर्मधारय समास मानने पर विग्रह होगा—शुद्धं चेदम् अद्वैतम्—शुद्धाद्वैतम् और पष्ठी तप्तुवप मानने पर विग्रह होगा—शुद्धयोः अद्वैतम्—शुद्धा-द्वैतम्।^२ इस प्रकार बल्लभ दर्शन के अन्तर्गत शुद्ध अद्वैत तत्त्व के रूप में व्रह्य का प्रतिरादन करके शुद्धाद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रबन्धन किया गया है। अब यहां बल्लभ-दर्शन के अनुसार व्रह्य, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का निरूपण करने के पश्चात् बल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त एवं अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा।

व्रह्य

व्रह्य की शुद्धाद्वैततत्त्व का ऊपर संकेत निया जा चुका है। बल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित व्रह्य निर्णय एवं संगुण दोनों हैं। शुद्ध अद्वैत तत्त्व होने के कारण व्रह्य निर्णय तथा अनन्त ऐश्वर्य गुणों से युक्त होने के कारण संगुण है। व्रह्य के निर्णय एवं संगुण व्यप के विरोध का सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए बल्लभाचार्य का कथन है कि जिन प्रकार एक ही कहजु सर्प कुण्डलादि अनेक रूपों को ग्रहण कर लेने पर कुण्डलादि अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है, परन्तु सर्प और उसके कुण्डलादि भेद नहीं होता है, उसी प्रकार व्रह्य का स्वरूप भी भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक प्रकार से दर्शित होता है।^३ वस्तुतः व्रह्य शुद्ध अद्वैत तत्त्व व्यप ही है। व्रह्यस्वरूपनिरूपण के सम्बन्ध में बल्लभाचार्य द्वारा दिए गए 'अहिकृण्डल' दृष्टान्त में यह वैयम्य प्रतोत होता है कि सर्व तो कालस्वरूप से अपनी इच्छा के अनुसार कुण्डलादि अनेक रूपों को ग्रहण करता है, परन्तु बल्लभाचार्य का व्रह्य एक ही काल में भक्त की इच्छा के अनुसार अनेक रूपों को प्राप्त होता है। उक्त वैयम्य के समाधानार्थ प्रकाशकार पुरुषोत्तमाचार्य का तर्क है कि भक्त की तादृश इच्छा की उत्पत्ति में ईश्वर की तादृश-तादृश, फल देने की इच्छा ही प्रयोजिका है। अतः उक्त दृष्टान्त के अन्तर्गत वैयम्य देखना समुचित नहीं है।^४

कार्य-कारण-सम्बन्ध

बल्लभ दर्शन के अन्तर्गत कारण व्यप व्रह्य एवं कार्य व्यप जगत् में भेद नहीं है। जगत् व्रह्य की आविर्भाव दशा है। व्रह्य की कारणता उसकी तिरोभावदशा है। इस सम्बन्ध में

१. मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यतेवुर्धं।
कार्यकारणहर्वं हि शुद्धंव्रह्य न मायिकम् ॥—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड २८।
२. शुद्धाद्वैतपदेजेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः पष्ठीतपुरुषं दुधाः ॥—शुद्धाद्वैतमार्तण्ड २७।
३. अणुभाष्य—त्र० सू० ३।२।२७ (चौखम्बा संस्करण, १६०६।
४. पुरुषोत्तमाचार्य, प्रकाश टीका, अणुभाष्य ३।२।२७।

प्रस्थानरत्नाकरकार पुण्योत्माचार्य का कथन है कि उपादानरूप ब्रह्म के कार्य की जो शक्ति व्यवहारणोचर करती है, वह आविभाविका है। इस प्रकार आविभाविक व्यवहारयोग्यत्व एवं तिरोपात्र व्यवहारार्थीपत्त्व का नाम है।^१ इसीनिए वल्लभाचार्य ने मजानीय जीव, विजनीय जगत् एवं स्वरात्र अन्तर्यामी ईश्वर, ये ब्रह्म के ही तीन रूप घनत्वाएँ हैं। इमलिए जीवादि ब्रह्म से मिलन नहीं है। ब्रह्म जीवादि में सदा अनुस्थूत है।^२ वल्लभ-दर्शनपद्धति के अनुसार ब्रह्म जगत् का उपादानकारण एवं निमित्तकारणत्व के सम्बन्ध में तो कोई वैमरण नहीं है, परन्तु उपादानकारणत्व विवेचनशोध्य है। वल्लभ-दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म को समवायिकारण के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु ब्रह्म की समवायिकारणता के विरोध में पूर्वपक्षी का तरफ है कि यदि ब्रह्म को समवायिकारण माना जाएगा तब तो ब्रह्म को भी विकार का विपर्य मानना पड़ेगा—समवायित्वेविकृतत्वस्यापते। पूर्वपक्षी के उक्त कथन के विपरीत यह कहा जाएगा कि सत् चित् एव आनन्द रूप से सर्वाधारी होने के कारण ब्रह्म समवायिकारण है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के आरोपवाद सिद्धान्त के विपरीत वल्लभाचार्य का सिद्धान्त है कि ब्रह्म स्वेच्छा से सत्, चित् एव आनन्द तत्त्वों के प्रभाव से भौतिक जगत्, जीव एवं ब्रह्म रूप से व्यक्त होता है। अत वल्लभ दर्शनपद्धति दे अन्तर्गत ब्रह्म जगत् का समवायिकारण है।^३

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार वल्लभ-दर्शन का समवायिकारणवाद माया को उपादान कारण मानने वाले अद्वैतिक कारणवाद से तो मिलन है ही, साथ ही न्यायदर्शन की समवायकल्पना से भी मिलन है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार कारण एवं कार्य का सम्बन्ध तादात्म्य मूलक है। कारण एवं कार्य रूप द्वयों का तादात्म्य निविवाद मिल है।

अद्वैत वेदान्त के समान ही वल्लभ वेदान्त में भी माया ब्रह्म की शक्ति है।^४ परन्तु दोनों के मायासम्बन्धी दूर्घटकोण में अन्तर है। वल्लभाचार्य की माया अद्वैत वेदान्त की माया की तरह मिथ्या नहीं है। इस अन्तर का विस्तृत उल्लेख दोनों दर्शन पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन करते समय किया जाएगा। वल्लभ दर्शन के अनुसार ब्रह्म माया शक्ति के द्वारा ही अनेक रूपों में प्रवर्ट होता है। इस प्रकार माया ब्रह्म की सहायिका शक्ति है।

वल्लभ-दर्शन का जीवसम्बन्धी सिद्धान्त

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव अणु तथा ईश्वर का ही अश है। अणु होते हुए भी जीव सर्वव्यापक है, परन्तु ईश्वर की तरह सर्वज्ञ नहीं है। वह जीव उसी प्रकार ईश्वर का अश है जिस प्रकार स्फुलिण अभिन्न का अश है। इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म दोनों में अभिन्नत्व है।^५

वल्लभ-दर्शनपद्धति द्वाया प्रतिपादित जीव एवं ईश्वर का अशायिभावसम्बन्ध वैष्णव एवं अन्य लाचार्यों द्वारा प्रतिपादित जीवेश्वरसम्बन्ध से मिलन है। मध्य दर्शन के अनुसार भी

१. उपादानस्य कार्यम् या व्यवहारणोचर करोति साशक्तिराविभाविका तिरोपात्र तदश्योग्यत्वम्।—प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ २६।

२. देखिए तत्वार्थदीप १६६ एवं उसकी आवरणमग्न टीका, पृष्ठ १०६।

३. पुण्योत्माचार्य प्रकाश टीका, अणुभाष्य, पृष्ठ ६०।

४. प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ १५६ (बौद्धम्बा सस्करण)।

५. शुद्धाद्वैतभार्त्तर्ण, पृष्ठ १५ १६।

जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभावसम्बन्ध बतलाया गया है, परन्तु वहां जीवों की सत्ता ईश्वर से भिन्न है। इस प्रकार मध्यदर्शन के अन्तर्गत जीव एवं ईश्वर का दूरवर्ती सम्बन्ध है। निम्बाकं-दर्शन परम्परा के अनुसार जीव ईश्वर से भिन्न होते हुए भी ईश्वर के समान है। निम्बाकं-दर्शन परम्परा के अन्तर्गत भी ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध में अंशांशिभाव को स्वीकार किया गया है। परन्तु निम्बाकं दर्शन के अनुयायियों ने जीव एवं ईश्वर की भिन्नता तथा सादृश्य पर ही विशेष वल दिया है। जहां तक रामानुज दर्शन का प्रश्न है, रामानुजाचार्य के मतानुसार ईश्वर जीवों के ज्ञान का विकास एवं संकोच करते हुए उनकी समस्त कियाओं का नियमन करता है। भास्कराचार्य के अनुसार तो जीव स्वतः ईश्वर से सम्बद्ध है। उपाधि के कारण ही जीव ईश्वर से भिन्न दिव्याई पड़ता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार यद्यपि जीव वस्तुतः ईश्वर से भिन्न है परन्तु जीव ईश्वरस्वभावसम्पन्न है। अतः ईश्वर से जीव अभिन्न है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु के मतानुसार भी जीव एवं ईश्वर में अंशांशिभाव सम्बन्ध है।^१

जैसा कि ऊपर भी संकेत किया जा चुका है, वल्लभाचार्य का जीवेश्वरसम्बन्धी सिद्धान्त उपर्युक्त आचार्यों के सिद्धान्त से भिन्न है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव ईश्वर के अंश होने के कारण ईश्वर से अभिन्न है। जीवों का जीवत्व ईश्वर की आविभाव एवं तिरोभाव कियाओं का फल है। आविभाव एवं तिरोभाव कियाओं के द्वारा ही ईश्वर की कुछ शक्तियाँ एवं गुण जीव में तिरोभूत हो जाते हैं और कुछ आविभूत हो जाते हैं।^२

जीवों के भेद—वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीवों के शुद्ध, संसारी और मुक्त, यह तीन भेद बतलाए गए हैं। आनन्दांश के तिरोधान के फलस्वरूप अविद्या से सम्बन्ध होने से पहले जीव की शुद्धावस्था कहनाती है। जब जीव का अविद्या से सम्बन्ध हो जाता है और जब जीव जन्मादि क्रियाओं के बन्धन का विषय हो जाता है तो उसे संसारी कहते हैं संसारी जीव भी द्वैत और आसुर भेद से दो प्रकार के होते हैं। मुक्त जीव वे जीव हैं जो ईश्वर के अनुग्रह से सञ्चिदानन्द रूप को प्राप्त कर ईश्वराभिनन्तव को प्राप्त होते हैं। वल्लभ-दर्शन द्वारा प्रतिपादित मुक्तिंत का विवेचन पृथक् रूप से आगे किया जाएगा।

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् का स्वरूप

वल्लभ-दर्शन पढ़ति के अन्तर्गत जीव के समान जगत् भी ईश्वर का ही रूप है और वह ईश्वर से अभिन्न है।^३ जगत् ईश्वर की आविभाविका शक्ति का ही फल है। ईश्वर स्वेच्छा से आविभाविका शक्ति के द्वारा जगत् रूप में आविभूत होता है और तिरोभाविका शक्ति के द्वारा समस्त जीवों एवं जगत् का ईश्वर में तिरोधान हो जाता है। इस प्रकार जगत् ईश्वर का रूप होने के कारण, अद्वैत वेदान्त की तरह मिथ्या नहीं है। ईश्वर ही समस्त जगत् का शासक तथा नियन्ता है।

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् का और संसार का भेद

वल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् एवं संसार में भेद की स्थापना की गई है। ईश्वरेच्छा

१. स्वर्णसूत्र, पृष्ठ ८५।

२. Dr. S.N. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 367.

३. देखिए—तत्त्वदीपन पर वल्लभाचार्य की टीका, पृष्ठ १०६।

से प्रादुर्भूत पदार्थों को जगत् कहते हैं। इसके विपरीत स्वस्वप्नान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास एवं अन्न करणाध्यास, अविद्या के इन पच पक्षों के द्वारा जीवों की बुद्धि में जगत् के पदार्थों के सम्बन्ध में जो द्वैतभूतक भ्रम उत्पन्न हो जाता है, उसे समार कहते हैं। उदाहरण ने लिए, समार बुद्धि के अनुमार जीव, जगत् के ध्यादि पदार्थों की मत्ता ईश्वर से पृथक् समझते हैं। यहाँ यह विशेष स्वयं से उल्लेखनीय है कि वल्लभ-दर्शन के अनुमार जगत् मिथ्या न होकर उसमेंका द्वैत-भूलक भमार ही मिथ्या है। वादावलिकार ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि बुद्धिकर्ती घट ही मिथ्या है, न कि प्रपत्तान्तर्वर्ती घट।^१ इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी जगत् की नानात्मसूलक बुद्धि का निराकरण किया गया है—‘नेहनानामिति विचन’ (विवेकचूहामणि ४६५)।

वल्लभ-दर्शन के अनुसार भक्ति का स्वरूप

भक्ति वल्लभ दर्शन का प्रमुख तत्त्व है। आचार्य वल्लभ ने भक्ति की महत्ता की स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है कि भक्ति मुक्तिका अनिवार्य भाग्यन है। परन्तु आचार्य वल्लभ ने इस भक्ति सिद्धान्त वा प्रतिपादन किया या उसका विवेचन हमें वल्लभपूर्ववर्ती साहित्य में अनेक मनमतान्तरों के साथ पिलता है। जहाँ तक वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति मिद्धान्त पर पूर्ववर्ती पुराणादि के प्रभाव का प्रदर्शन है निश्चित ही वल्लभाचार्य का भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त पुराणादि के भक्तिमन्त्रियों विवेचन से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष स्वयं में प्रभावित हुआ है। श्रीमद्भागवत का तो पूर्ण प्रभाव वल्लभाचार्य के भक्ति मिद्धान्त पर प्रत्यक्ष ही है। यहाँ वल्लभ दर्शन के अनुमार भक्ति सम्बन्धी मिद्धान्त की समीक्षा करने में पूर्व भक्ति सम्बन्धी विभिन्नता तथा वस्तु व सम्बन्ध में विवेचन करना उत्तम्युक्त होगा।

शाङ्किल्य सूत्र और भक्ति—‘परानुरक्तिरीद्धरे’ भूत्र के अन्तर्गत शांकिल्य सूत्र में भक्ति का निष्पग्न किया गया है। शांकिल्य सूत्र में भक्ति को ‘परानुरक्ति’ का रूप दिया गया है। बनुरक्ति राग का ही उत्तरकृष्ट है। इस प्रकार आराध्यविषयक उत्तरकृष्ट राग ही शांकिल्य सूत्र के अनुमार भक्ति है।^२ हस्तेश्वर ने शांकिल्य सूत्र के उत्तर बनुरक्ति शब्द की व्याख्या करते हुए ‘बनु’ का अर्थ पक्षात् किया है और ‘रक्ति’ का अर्थ राग। इस प्रकार हस्तेश्वर अनुरक्ति का अर्थ ईश्वरज्ञानोनरकर्ती राग प्रहृण करते हैं।^३

विष्णु पुराण और भक्ति—विष्णु पुराण के अन्तर्गत प्रह्लाद के प्रमग में भक्ति का ग्रीति स्वयं से वर्णन किया गया है (विष्णु पुराण-१।२०।१६)।

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति का व्यवस्था—श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति का जो व्यवस्था सम्भव्या गया है, उसमें मन्त्र वा आनन्द भी सम्मिलित है। हृष्ण अपने भक्तों के नक्षत्र अद्वितीय तथा मुक्ति में ही जिनका चित्त है तथा मुक्ति में ही जिनके चक्र आदि इन्द्रिय स्वर प्राण नीन रहते हैं, ऐसे भेद भस्त्र परस्तर एवं द्वृन्मरे को मेंग तत्त्व समझाने हुए तथा ज्ञान, वल, एवं सामर्थ्यर्थादि गुणों से युक्त मुक्त परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए, भद्रा सञ्चालन

^१ वत्रापि बोड एवं बोडी मिथ्या, न तु प्रपत्तान्तर्वर्तीनि तिरङ्गं ।

—वादावलि, सूत्र ६। (मृह्यनिदिरपुष्टिमाणं, मिद्धान्त कार्यालय, वस्त्र १६२०) ।

^२ शांकिल्य भूत्र १।१ तथा ईश्वर ईश्वर की टीका ।

^३ Radhakrishnan Indian Philosophy, Vol II, p 704

रहते हैं तथा आनन्द को प्राप्त होते हैं।^१ इस प्रकार उपर्युक्त कथन के अनुसार भक्ति में से सुन्तोष एवं आनन्द के भाव भी सन्तिहित रहते हैं।

रामानुजाचार्य और भक्ति—रामानुजाचार्य ने भक्ति को ज्ञान की एक कोटि के हृषि में माना है। विभिन्न प्रकार की अचंनाएँ एवं कर्मकाण्ड के अनेक हृषि जीव को भक्ति की ओर ही लग्नसर करते हैं, परन्तु वह भक्ति के अन्तर्गत नहीं आते। इस प्रकार रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति ज्ञान एवं कर्म का समन्वय है (रामानुजभाष्य-गीता उपोद्घात)।

भक्ति चिन्तामणि के अनुसार भक्ति का स्वरूप—भक्तिचिन्तामणि के अन्तर्गत भक्ति को 'योगविद्योगवृत्तिप्रेम' कहा गया है। योगविद्योगवृत्तिप्रेम प्रेम का वह हृषि है जिसमें दो मिलन को प्राप्त प्रेमी वियोग से भयविह्वल रहते हैं और दो वियुक्त प्रेमी सघोग के लिए उत्कंठित रहते हैं।^२

कुछ अन्य आचार्यों एवं विद्वानों के मत—हृरिदास एवं गुप्ताचार्य भक्तिचिन्तामणि के उपर्युक्त मत ही के समर्थक हैं। गोविन्द चक्रवर्ती ने भक्ति के पीपक प्रेम को महान् से महान् आपत्तिकाल में भी निरन्तर हृषि से स्थिर रहने वाला कहा है।^३ प्रेमलक्षणचन्द्रिकाकार परमार्थ ठक्कुर ने उक्त प्रेम को अभिलाषा को वाणी द्वारा अवरणीय कहा है।^४ प्रेमरसायनकार विश्वनाथ ने भक्ति को प्रेममय आकांक्षा का हृषि दिया है।

गोपेश्वर जी महाराज का मत—गोपेश्वर जी का भक्तिसम्बन्धी मत उपर्युक्त उन मतों से भिन्न है जो आकांक्षा या उत्कण्ठा को भक्ति का प्रमुख तत्त्व मानते हैं। उनका कहना है कि पुश्प अधवा किसी प्रिय सम्बन्धी के प्रति जो प्रेम होता है उसका आधार कोई आकांक्षा नहीं होती। फिर आकांक्षा किसी अप्राप्य विषय को होती है परन्तु भक्ति का अनुराग अप्राप्त नहीं कहा जा सकता।^५ इसके अतिरिक्त गोपेश्वर जी रामानुज-सम्प्रदाय के अनुसार भक्ति को ज्ञान की कोटि के अन्तर्गत नहीं मानते। उन के मतानुसार भक्ति में कर्मकाण्ड एवं उपासना सम्मिलत नहीं है। गोपेश्वर जी तो शाण्डिल्य सूत्र के अनुयायी होने के कारण भक्ति को अनुरक्षित के ही अन्तर्गत मानते हैं।

इस लेखक का दृष्टिकोण—मेरे विचार से भक्ति, हृदय की वह भावदशा है जिसमें भक्त के हृदय में एक और तो भगवान् के माहात्म्य पर दृष्टि रहती है और दूसरी ओर आत्म निवेदन तथा आत्म समर्पण पर। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अचंन, वन्दन, दास्य, सत्य, और आत्म-निवेदन, यह ती भक्ति की मौलिक विशेषताएँ हैं। भक्ति ज्ञान से तो कोसों दूर है। जहाँ ज्ञान है वहाँ भक्ति नहीं और जहाँ भक्ति है वहाँ ज्ञान कहाँ? दोनों के आधार स्वल भी भिन्न हैं। ज्ञान का आधार बुद्धि है और भक्ति का आधार हृदय। अतः भक्ति को ज्ञान की कोटि के अन्तर्गत मानने वाले रामानुजाचार्य आदि आचार्यों के मतों से इस लेखक का मतवैपरीत्य है।

बल्लभाचार्य और उनका भक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त—बल्लभाचार्य ने स्वेह को भक्ति

१. श्रीमद्भगवद्गीता १०।६।

२. अदृष्टे दर्शनोक्तण्ठा दृष्टेविश्लेषभीरुता। —भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ ७५ (चौखम्बा संस्करण बनारस) सं० १६६५।

३. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ ७५।

४. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 351.

५. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ ७५।

का प्रमुख तत्त्व माना है। उन्हीं के शब्दों से भवित्व की परिभासा है—भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होने पर भगवान् के प्रति जो सुदृढ़ एवं सर्वाधिक स्तेह होता है वही, भवित्व है।^१ अपनी भवित्वविद्वीं के अन्तर्गत भवित्व का निष्पण करते हुए वल्लभाचार्य ने प्रेम को भवित्व का बीज माना है जो भगवद्गुण से उत्पन्न होता है। जब यह बीज पुष्टि को प्राप्त हो जाता है तो त्याग, भवित्व, शास्त्रव्यवण एवं नामनीर्णयादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। भवित्व कभी स्वतं वनी भवतों के समर्क से और कभी भवित्व के उपयोगी साधनों से उत्पन्न होनी है। जिन भक्तों से साधन द्वारा भवित्व उत्पन्न होती है उन्हें हृदय में वह भाव स्पृह से दियन रहती है। किंतु पूजादि साधनों के द्वारा प्रेमादि स्पृह से कम से कम से उद्भूत होती है।^२ भाव, प्रेम, प्रणय, स्नेह, राग, अनुराग और व्यसन गहरा भाव भवित्व के अधिक विवरण के स्रोतान् हैं। यदि भवित्व को भगवद्व्यसन प्राप्त हो जाना है तो उसे समार की कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। भगवद्व्यसन से पहिरो सासारिक वाधायें भक्त के जीवन में वाधक बनवार उपस्थित होती हैं। अत यदि तक व्यसन की उत्पत्ति नहीं होती तब तक सासारिक पदार्थों का राग नष्ट नहीं होता। इस प्रकार भवित्व की स्नेहशक्ति सासारिक व्यसनों की विनाशकर्त्ता है। व्यसनों के नाश होने पर पूर्ववृत्त समस्त कर्म भी व्यर्थ हो जाते हैं। अत कर्म का त्याग करके ही भगवत् प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।^३

बन्नभावार्य और उत्तरा पुष्टिमार्ग— बन्नभावार्य का भवित्व सिद्धान्त पुष्टिमार्ग के नाम से प्रस्तुत है। पुष्टि का अर्थ है—भगवान् का अनुप्रवह (प्रोपण तदनुप्रवह, धीमद्भागवत् २।१०) इस प्रकार बलभदर्शन में अनुमार भगवदनुप्रवह ही मुक्ति का प्रवान कारण माना गया है। इसलिए बन्नभदर्शन का भवित्वसिद्धान्त पुष्टिमार्ग के नाम से अभिहित होता है। पुष्टि मार्ग के अनुमार भगवत् प्राप्ति के लिए ज्ञानादि की अपेक्षा नहीं है।^४

मर्यादा भवित्व और पुष्टि भवित्व—पुष्टि भवित्व के विपरीत वैष्णव दर्शन का मर्यादा-भवित्व का निदान है। स्वयं वल्लभाचार्य ने पुष्टि भवित्व का समर्थन करते हुए भी मर्यादा भवित्व की युक्तिता की शरा नहीं की है।^५ भवित्वमार्तण्डद्वारा ने मर्यादा-भवित्व और पुष्टि-भवित्व का तुलनात्मक विवेचन करते हुए कहा है कि मनुष्य को अपने कर्मों एवं मार्गतों के द्वारा जो भवित्व प्राप्त होती है वह मर्यादा भवित्व कहलाती है और जैसा कि कहा जा चुका है, कर्म और साधनों के विना केवल भगवदनुप्रवह के द्वारा जिस भवित्व की उपलब्धि होती है उसे 'पुष्टिभवित्व' कहते हैं।^६ कर्म एवं साधनों का महत्व स्वीकार करते हुए भी, मर्यादा भवित्व के अनुयायियों की यह मान्यता है कि एक बार कर्म एवं साधनों द्वारा भगवत्प्रेम उत्पन्न होते

१. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सूदृढ़ सर्वतोऽधिक ।

स्नेहो भवित्वरिति प्रोक्तस्तया सुक्षिर्वत्तचान्यथा॥—तत्त्वार्थदीप, पृ० ८० ॥—Edited by Hari Shanker Onkarji Shastri, Bombay, 1943.

२. देविए—भवित्वद्विनी, इसीक ५ पर पुष्ट्योत्तमावार्य की वृत्ति ।

३. स्नेहशक्ति व्यवनालाद् दिवदातात् । तथा सतिकृनमपि सर्वं कार्यम् अर्थम् स्पात् । तेन तत् त्यागम् दृन्वायनेत् ।—भवित्वद्विनी, द्वोक्त ६ पर बालकृष्ण की दीक्षा ।

४. अनुवाद ३।३।२६ ।

५. वही ।

६. भवित्वमार्तण्ड, पृ० १ ।

पर किर साधनादि की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु पुष्टिमार्ग के अनुसार किसी स्थिति में भी साधन मात्र से भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। पुष्टि मार्ग में तो भगवत्कृपा को ही साधन कहा गया है—पुष्टिमार्ग वरणम् एवं साधनम्। मर्यादा भक्ति के अन्तर्गत श्रवणादि के द्वारा पापक्षय होने पर प्रेमोत्पत्ति और किर मृक्ति की उपलब्धि हो जाती है। परन्तु पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुसार भगवान् का अनुग्रह ही पापादि की अप्रतिबन्धकता का कारण है। इसके अतिरिक्त मर्यादा भक्ति के अन्तर्गत जो श्रवणादि एवं प्रेम का पौर्वार्पण सम्बन्ध बतलाया गया है, वह भी पुष्टि मार्ग की भक्ति में आवश्यक नहीं है।^१

प्रवाह मार्ग और पुष्टि मार्ग—वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग के अतिरिक्त प्रवाहमार्ग के नाम से एक और मार्ग का भी उल्लेख किया है। प्रवाहमार्ग के अन्तर्गत उन वैदिक कर्मों का उल्लेख किया गया है, जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। जो कर्म वैदिक नियमों का उल्लंघन नहीं करते वे मर्यादामार्ग के अन्तर्गत आते हैं। पुष्टि मार्ग और मर्यादा मार्ग का भेद ल्पर बतलाया जा चुका है। पुष्टि मार्ग प्रवाह मार्ग से इस बंश में भिन्न है कि पुष्टिमार्ग प्रवाहमार्ग की तरह वैदिक कर्मों पर आधारित न होकर पूर्णतया भगवद्गुग्रह पर ही प्रतिष्ठित रहता है।^२

भक्ति के साधन—वैसे तो, भगवद्भक्ति की प्राप्ति का प्रमुख कारण भगवद्गुग्रह ही है, परन्तु भगवद्गुग्रह प्राप्त करने के लिए भक्ति में अन्तःकरण की शुद्धि अत्यावश्यक है। अन्तःकरण की शुद्धि के पोड़ा साधन बतलाए गए हैं। इनमें कुछ साधन बान्धत्रिक तथा कुछ वाह्य हैं। बाह्य साधनों में स्तान, यज्ञ और देवमूर्ति का अर्चन, ये तीन साधन आते हैं। सर्वत्म-हृष्प से भगवान् का व्याप्त करना चतुर्थ साधन है। सत्त्वानुग का उत्कर्ष पंचम साधन है। समस्त कर्मों का समर्पण एवं अनासक्ति पाठ साधन है। घट्टेयों एवं आदरणीयों का आदर करना सप्तम साधन है। दीनों के प्रति दया का भाव अष्टम साधन के अन्तर्गत आता है। सभी प्राणियों के प्रति समानता एवं मित्रता का भाव नवम साधन है। दशम साधन यम तथा एकादश साधन है। गुरुमुख द्वारा शास्त्र श्रवण द्वादश साधन है। भगवन्नामश्रवण एवं कीर्तन व्रयोदय साधन है। सावधीमसहानुभूति एवं स्नेह चतुर्दश साधन है। सत्त्वंग पञ्चहृषां साधन व्रयोदय साधन है। सावधीमसहानुभूति एवं स्नेह चतुर्दश साधन है। भगवन्नामश्रवण एवं कीर्तन है। डाक्टर देवराज ने ईश्वरसायुज्य को अन्तःकरण की शुद्धि का पंचदश साधन माना है।^३ परन्तु यह अनुचित है, क्योंकि ईश्वर सायुज्य तो साधन न होकर साध्य ही है। अन्तःकरण की अनुमति ही अनुचित है, क्योंकि ईश्वर सायुज्य तो साधन न होकर साध्य ही है। अन्तःकरण की शुद्धि का सोलहवां साधन अहंकार का विनाश है।^४ इस प्रकार वल्लभदर्शन के अनुसार अन्तःकरण की शुद्धि के अर्थ यह सोलह साधन बतलाए गए हैं।

१. भक्तिमार्तण्ड, पृष्ठ १५२।

२. अतो वेदोक्तत्वेऽपि वेदात्पर्यगोवरत्वेऽपि जीवकृतवैयसाधनेऽवप्रवेशात् तदसाध्यसाधनात् फलवैलक्षण्याच्च स्वल्पतः कार्यतः फलतश्चोत्कर्पाच्च वेदोक्तसाधनेऽप्यभिन्नैव तत् तदाकारिकापुष्टिरस्तीत्यतो हेतो मिद्भितिमार्गव्रयोऽत्र न सन्देह दृश्यते।—पुष्टिप्रवाह-मर्यादाभेद-टीका, पृष्ठ ८।

३. डा० देवराज : दर्शन शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४३७।

(हिन्दुस्तान एकड़ेमी, इलाहाबाद, १९५०)

४. Dr. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 354.

बलभदर्णन मेरुक्षित का स्वरूप

अद्वैतवेदान्त परम्परा के अनुसार जहा परमात्मसाक्षात्कार का मूलज्ञान है, वहा बलभदर्णन के अन्तर्गत भगवन्-महान्य ज्ञानपूर्विका भवित हो मुक्ति का कारण है, पहली प्रवरण के अन्तर्गत वहा जा चुका है। अत ज्ञान एवं मक्ति द्वारा प्राप्त मुक्ति की स्थिति मेरी अन्तरहोना स्वामाविक है। अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत ज्ञानमात्र्य जिस जीवप्रत्यक्षय स्पृष्टि का प्रतिपादन किया गया है, उसमे बलभाचार्य प्रतिपादित मुक्ति का स्वरूप भिन्न है। वत्तम दर्शन के अनुसार जीव मुक्तावस्था मेरी कर्मरत रहते हैं। इनमे कुछ जीव इस प्रकार के हैं जो पूर्व वन्धन से मुक्त हो गए हैं। इस प्रकार के जीवों मेरी सनकादि आते हैं। दूसरे प्रकार के जीव वह हैं जो ब्रह्म लोक की प्राप्ति करते, भगवान के अनुग्रह से मुक्ति प्राप्त करते हैं, इसके अतिरिक्त तीसरे प्रकार के जीव वह हैं जो एकमात्र भगवान् की भवित्व का आधार प्राप्त करते हैं और किर पूर्ण भगवत्पूर्ण द्वारा ईश्वरसम्मुख्य की उपलब्धि करते हैं।^१

बलभदर्णन के अन्तर्गत यद्यपि भवित मुक्ति का साधन है, परन्तु उसका महत्व मुक्ति से भी अधिक है। मुक्ति के अन्तर्गत जिस आनन्द का अनुभव होता है वह आत्मिक है, परन्तु भक्ति को जो सामुभव होता है वह इन्द्रियों तथा अन्त करण के द्वारा ही अनुभूत होता है। बलभाचार्य के मतानुसार इन्द्रियों तथा अन्त करण के द्वारा आनन्द का अनुभव करने वाले भक्तों की महता जीवमुक्तों से भी अधिक मानी गई है।^२

अद्वैत वेदान्त एवं बलभदर्णन, तुलनात्मक विवेचन

याकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया होते पर भी बलभाचार्य के दार्शनिक मिदान्त-शुद्धाद्वैतवाद एवं शारीराचार्य के अद्वैतवाद भी समनाएँ एवं विषयमताएँ दोनों ही मिलती हैं। जहा तद याकर अद्वैतवाद एवं वाल्मभ शुद्धाद्वैतवाद वीर्य समनाद्वारा प्रदत्त है, दोनों मेरी दार्शनिक मिदान्तों ने अनुसार अद्वैतवाद वा समर्थन किया गया है। याकर अद्वैतवाद के अनुसार यदि सजातीय विजातीय भेद से रहित एवं दिग्देशगुणगतिफलभेद भूत्य अद्वैत एवं एकरस ब्रह्म ही परमार्थ स्पृष्ट से सत्य है^३ तो बलभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद मिदान्त के अन्तर्गत भी मायासम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म को ही अद्वैत तत्त्व के स्पृष्ट मेरी स्वीकार किया गया है।^४ याकर अद्वैतवाद का परब्रह्म भी शुद्धाद्वैतवादी की तरह माया से रहित है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कि अद्वैत वेदान्त मेरी जगत् के मिथ्यात्म प्रतिपादन के द्वारा पदार्थमय जगत् की शून्यतान मिद्द करने वाले जगत् के सम्बन्ध मेरी उत्तम द्वैतवृद्धि का ही निराकरण किया गया है, उसी प्रकार शुद्धाद्वैतवादियों ने भी प्रवचनवृद्धि का ही मिथ्यात्म मिठ किया है (वादावलि, पृष्ठ ६)। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत 'सर्वं मत्विद ब्रह्म' एवं नेहनानान्ति नित्यन् की भावना के द्वारा जिस प्रकार ब्रह्म एवं जगत् का वर्तन्तम स्थापित किया गया है, उसी प्रकार शुद्धाद्वैत दर्शन के अन्तर्गत भी जगत्

१. Radhakrishnan - Indian Philosophy, Vol II, p 760

२. देखिए तत्त्वदीपन पर बलभाचार्य की टोका, पृष्ठ ७३।

३. दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्य ही परमात्मंसदृश ब्रह्म। — शा० भा०, छा० र० ८।१।

४. मायासम्बन्धधरहित शुद्धमित्युत्ते बुरे — शुद्धाद्वैतसर्त्तर्प्त २८।

के सम्बन्ध में शुद्धात्मकता का भाव स्पष्ट रूप से मिलता है।^१ अद्वैतवादी एवं शुद्धाद्वैतवादी के दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रतिविम्बवादसम्बन्धिनी समानता भी द्रष्टव्य है। अद्वैतवादी शंकराचार्य एवं शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य दोनों ही प्रतिविम्बवाद सिद्धान्त के अनुसर्ता प्रतीत होते हैं। प्रतिविम्बवाद के द्वारा अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए, अद्वैती शंकराचार्य का कथन है कि जल में स्थित सूर्यप्रतिविम्ब जल की वद्धि होने पर वढ़ता है और जल के क्षीण होने पर क्षीणता को प्राप्त होता है, जल के कम्पित होने पर कम्पित होता है और जलमेद होने पर भिन्नता को प्राप्त होता है। इस प्रकार सूर्यप्रतिविम्ब जल के धर्मों का अनुसरण करता है, परन्तु परमार्थतः सूर्य वैसा नहीं है। इसी प्रकार व्रह्म परमार्थतः अविकृत एवं एक होते हुए भी देहादि उपाधि के अन्तर्भाव से वृद्धि, क्षय आदि को प्राप्त होता हुआ प्रतीत होता है।^२ इस प्रकार प्रतिविम्बवाद सिद्धान्त के अनुसार जीव प्रतिविम्ब रूप है जिस प्रकार प्रतिविम्ब वृद्धि-क्षयादि को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जीव सुवदुःखादि का अनुभव करता है। परमेश्वर वस्तुतः सुख-दुःखादि से जस्तम्बद्ध है। अब शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य को लीजिए। प्रतिविम्बवादी वल्लभाचार्य ने सूर्य का दृष्टान्त न देकर चन्द्रमा के दृष्टान्त के द्वारा प्रतिविम्बवाद का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—जिस प्रकार कि जल में चन्द्रमा का प्रतिविम्ब पड़ने पर जल-धर्मी कम्पादि धर्म मिथ्या हैं और उनका चन्द्रमा से कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार अनात्म देहादि का जन्म, वन्धु, दुःखादि रूप धर्म, जी का ही है, ईश्वर का नहीं।^३ इस प्रकार अद्वैत वेदान्त की प्रतिक्रिया होने पर भी वल्लभदर्शन एवं शंकरवेदान्त के सिद्धान्तों में समानता भी मिलती है। अतः वल्लभाचार्य के शंकराचार्यपरवर्ती होने के कारण शांकरवेदान्त एवं वल्लभवेदान्त के संबंध में ऊपर निर्दिष्ट किए गए समान स्थलों में, वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों पर शंकरवेदान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित कहा जा सकता है। अद्वैत वेदान्त एवं वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतदर्शन के अन्तर्गत समताओं की अपेक्षा विषमताएँ अधिक हैं। शुद्धाद्वैत दर्शन के शंकरवेदान्त की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने के कारण शांकरवेदान्त एवं शुद्धाद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों में विपरमताओं का होना स्वाभाविक ही है। यहाँ दोनों दर्शन पद्धतियों की विपरमताओं का उल्लेख किया जाएगा।

अद्वैत वेदान्त एवं शुद्धाद्वैत वेदान्त, दोनों ही पद्धतियों के अनुसार सर्वोच्च तत्त्व व्रह्म है, परन्तु दोनों की व्रह्मसम्बन्धिनी विचारधारा में मूल अन्तर तो यह है कि अद्वैत वेदान्त में भी अनुसार व्रह्म निर्गुण है और वाल्लभ वेदान्त के अनुसार सगुण पृष्ठोत्तम। अद्वैत वेदान्त में भी अपरक्षम् के नाम से सगुण व्रह्म की चर्चा मिलती है, परन्तु उसकी सत्ता केवल उपासनार्थ है। परमार्थ दशा में पर अथात् निर्गुण व्रह्म ही एक मात्र सत्य है। पर एवं अपर व्रह्म का निरूपण चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। शंकराचार्य और वल्लभाचार्य दोनों ही अद्वैती हैं, परन्तु एक का सिद्धान्त केवलाद्वैतवाद है और दूसरे का शुद्धाद्वैतवाद। केवल द्वैतवादी शंकराचार्य के मतानुसार, केवल अद्वैत व्रह्म ही परमार्थ सत्य है, जगत् जो व्यावहारिक सत्ता

१. विवेकस्तु ममैतद् एव प्रभुणाङ्कुरतम् सर्वं व्रह्मात्मकम् कोऽहं, किञ्च साधनम् किं कलम्, को दाता, को भोक्ता इत्यादिरूपः।—सेवाकल श्लोक ३ पर हरिराज की टीका।

२. व्र० सू०, दा० भा० ३।२।२०।

३. यथा जले चन्द्रमः प्रतिविम्बतस्य तेन जलेनकृतो गुणः कम्पादिरूपम्: आसन्नो विद्यमानो द्विष्यैवदश्यते न वस्तुतश्चन्द्रस्य एवमनात्मनोः देहादर्थर्मो जन्मवन्धुःखादिरूपो द्रष्टुरात्मनो जीवस्य न ईश्वरस्य।—सुवीधिनी, श्रीमद्भागवत् ३।७।१।

की दृष्टि से सत् है परमार्थ दृष्टि से मिथ्या है। शाकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् की सत्ता मायिक होने के कारण मिथ्या है क्योंकि माया स्वयं मिथ्या है।^१ शुद्धाद्वैतवादी का सिद्धान्त शाकर वेदान्त के उक्त सिद्धान्त के विपरीत है। शक्तरचार्य के केवलाद्वैतवाद पर आश्रोप करते हुए बल्लभाचार्य का कथन है कि ब्रह्म से अतिरिक्त माया की सत्ता स्वीकार करके मायिक जगत् की सत्ता सिद्ध करना शुद्ध अद्वैतवाद में बाधा उत्पन्न करना है।^२ वैसे, माया के दापित्व की कल्पना दोनों दर्शन पद्धतियों में समान ही है। शाकर वेदान्त में यदि माया को ईश्वर की शक्ति का रूप दिया गया है तो बल्लभवेदान्त में भी माया का उत्तेज भगवान् की अभिन्न शक्ति के रूप में किया गया है।^३ परन्तु दोनों की माया शक्ति में पर्याप्त अन्तर है। शाकर वेदान्त की मायाशक्ति अविद्यात्मिका एवं मिथ्या है (ब० स०, शा० भा० १५४३) और बल्लभ वेदान्त की माया मिथ्या न होकर परमायिक सत्य है। बल्लभ दर्शन के विपरीत अद्वैत वेदान्त की माया का मिथ्यात्व अनिवार्यता पर आधारित है। परमार्थ सत् एव अलीक असत् से विलक्षण होने के कारण ही माया को अद्वैत वेदान्त में अनिवार्यता वहा गया है। शाकर वेदान्त और बल्लभ दर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि शाकरवेदान्तमध्यत मायिक जगत् मिथ्या है और इसके विपरीत बल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भगवान् की माया शक्ति की सहायता से आविभूत जगत् मिथ्या न होकर सत्य है। कायं स्य जगत् के ब्रह्म की ही आविभाव दशा का फल होने के बारण उपका सत्यत्व स्पष्ट ही है।

कायंकारणवाद सिद्धान्त के सम्बन्ध में शाकर वेदान्त के अन्तर्गत जिस अधिष्ठान वाद^४ एवं अच्यारोपवाद^५ का समर्थन दिया है उसका भी बल्लभदर्शनपद्धति में विरोध है। शाकर वेदान्त के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान है एवं जगत् आरोप वा फल है। इसके विपरीत बल्लभ-दर्शन के अनुसार जगत् का समवायिकारण है^६ और शाकर अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म जगत् वा निर्मित कारण है एवं माया उपादान कारण है।^७ इस प्रकार शाकर वेदान्त में माया शक्ति के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निर्मित कारण दोनों हैं। अद्वैत वेदान्त-दर्शन के अन्तर्गत जगत् को ब्रह्म वा विवरं कहकर विवरंवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया है परन्तु बल्लभदर्शन का सिद्धान्त विवरंवाद न होकर अविहृत परिणामवाद का सिद्धान्त है।

शाकर वेदान्त एवं बल्लभदर्शन के जीव सम्बन्धी सिद्धान्त में भी पर्याप्त भेद है। बल्लभदर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म में अशाश्विभाव है। अशाश्विभाव होने के कारण ही दोनों में अभेद है।^८ इसके विपरीत शाकर वेदान्त के अनुसार जीव स्वरूपत ब्रह्म ही है—शाकर

१ गौ० का० ४५८।

२ अणु भाष्य १११६।

३ मायायाऽपि भगवच्छक्तिवेन शक्तिमदभिनन्तवात्।—प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ १५६।

४ ब० स०, शा० भा० ११११, २११२८ तथा देखिए वेदान्त परिभाषा, प्रथम परिच्छेद वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली—४६।

५ ब० स०, शा० भा० १११।

६ देखिए—पुरुषोत्तमाचार्य की टीका—अणु भाष्य, पृष्ठ ६०।

७ वेदान्त सार, १।

८ अणु भाष्य ११३।४३।

वेदान्त में जीव वी सत्ता अविद्योपाधिक होने के कारण मिथ्या है, परन्तु वल्लभ-दर्शन में ऐसा नहीं है। वल्लभ-दर्शन के अनुसार जीव भी मिथ्या न होकर व्रह्य के समान सत्य है।^१ इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनानुगत जीव के विभूत्व का भी शांकर वेदान्त में चिरोध है। शांकर वेदान्त के अन्तर्गत सर्वसे दड़ा भेद ज्ञान और भवित का है। शांकर वेदान्त का पक्ष 'ऋते ज्ञानान्त मुक्तिः' पर आधारित है। जिसके अनुसार जीव को स्वरूप-ज्ञान (व्रह्यज्ञान) के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती। इस मत के अनुसार भवित का पर्यवसान भी ज्ञान में ही होता है। स्वयं कृष्ण ने भी भक्त की अपेक्षा ज्ञानी को ही अपना अधिक प्रिय माना है (गीता ७।१७), परन्तु वाचार्य वल्लभ का मत शांकर वेदान्त के मत से विपरीत है। जैसा कि वल्लभ दर्शन की भवित का स्वरूप स्पष्ट करते समय कह आए है, भवित मुक्ति का अनिवार्य साधन है, ज्ञान नहीं। ज्ञान तो भक्ति का वाधक है।^२ इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शनपद्धति के अनुसार भवित का पर्यवसान ज्ञान में न होकर स्वयं ज्ञान को ही भवित का अंग बतलाया गया है।

शांकर वेदान्त और वल्लभ-दर्शन की मुखितपरक विचारधारा का प्रमुख भेद भी विवेच्य है। वल्लभ दर्शन की भगवत्-सायुज्यादिस्वल्पिणी मुक्ति शांकर वेदान्त की जीवेवय-स्वल्पिणी मुक्ति से तो भिन्न है ही, साथ ही दोनों दर्शनपद्धतियों की आत्मानुभवसम्बन्धिनी दृष्टि में भी मोलिक भेद है। शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जीव को आत्मानन्द की स्थिति में जो बानन्दानुभव होता है वह इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि से अतीत है, क्योंकि आत्मा इन्द्रियादि से परे है।^३ इसके विपरीत जैसा कि वल्लभदर्शनानुगत मुक्ति के स्वरूप का विवेचन करते समय कहा जा चुका है, भक्त को इन्द्रियों एवं अन्तःकरण के द्वारा ही आनन्द का अनुभव होता है।

ऊपर किए गए तुलनात्मक विवेचन से ज्ञात होता है कि शांकर वेदान्त और वल्लभ-वेदान्त के सिद्धान्तों में परस्पर यत्किञ्चित् साम्य होते हुए भी पर्याप्त भेद है। जैसा कि दोनों दर्शनपद्धतियों के साम्यपूलक सिद्धान्तों की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, शांकर वेदान्त के सिद्धान्तों की समता को प्राप्त वल्लभदर्शन के सिद्धान्तों पर शांकर वेदान्त का प्रभाव निःसंकोच कहा जा सकता है।

कतिपय अन्य वैष्णव एवं उनके दार्शनिक सिद्धान्त

रामानुजाचार्य आदि चार वैष्णव वाचार्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य वैष्णव भी हैं जिनके दार्शनिक सिद्धान्त रामानुजाचार्य प्रभृति वैष्णव वाचार्यों के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। इन वैष्णव भक्त एवं वाचार्यों में चैतन्य महाप्रभु, जीवगोस्वामी एवं वलदेवविद्याभूषण प्रमुख हैं। यहां इन वैष्णव भक्तों एवं वाचार्यों तथा उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाएगा। इसके अतिरिक्त इन वैष्णवों के सिद्धान्तों का अद्वैत वेदान्त के साथ जो साम्य एवं वैषम्य मिलता है, उसका भी स्वान्-स्थान पर निरूपण किया जाएगा।

१.it is as real and eternal as Brahman.—Radhakrishnan : Indian Philosophy) Vol, II, p. 757.

२. भवितमार्त्तण्ड, पृष्ठ १३७।

३. शांकर भाष्य गीता, ३।४२।

महाप्रभु चंतन्य (१४८५-१५३३ ई०) और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

महाप्रभु चंतन्य लिखित कोई स्वगत्र प्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर उनके दार्शनिक सिद्धान्त की समीक्षा की जा सके। अत उनके दार्शनिक सिद्धान्त के यत्किंचिद् यीज उनके चरित प्रन्थों में ही देखे जा सकते हैं जो उनके अनुयायियों द्वारा लिखे गए हैं। यहाँ, इन चरितप्रन्थों के आधार पर ही चंतन्य के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण किया जाएगा।

महाप्रभु चंतन्य का दार्शनिक सिद्धान्त अचिन्त्यभेदभेदवाद है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति अचिन्त्य है। अत भगवान् और जगत् में भेद है या अभेद, यह भी अचिन्त्य ही है। इसीलिए इस सिद्धान्त का नाम अचिन्त्यभेदभेदवाद पड़ा है।^१ भेदभेद के अचिन्त्य होने के कारण चंतन्यसम्प्रदाय के अनुष्ठ प्रगत्, शाकर वेदान्त की तरह मिथ्या न होकर सत्य है। प्रलक्षकाल में भी जगत् भगवान् के साथ उसी प्रकार सूक्ष्मरूप से स्थित रहता है जिस प्रकार कि रात्रि में पक्षी बन में लोट हो जाता है।^२

शाकर वेदान्त की तरह चंतन्यसम्प्रदाय के अन्तर्गत ब्रह्म को निर्गुण न स्वीकार करके पूर्णतया मगुण माना गया है। ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ हैं। चंतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत भगवान् की शक्ति के प्रमुख तीन रूप हैं—विष्णु शक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति और अविद्या शक्ति।^३ विष्णु शक्ति के भी ह्यादिनी, सन्धिनी और सवित्रि भेद से तीन भेद हैं। सत्, चित् एव आनन्द शक्तियाँ पर्याशक्तियाँ या विष्णु शक्ति के अन्तर्गत वर्तमान हैं। क्षेत्रज्ञ शक्ति (जीव शक्ति) एवं अविद्या शक्ति भगवान् की परा शक्ति के अन्तर्गत नहीं है।

चंतन्यदर्शन का वहाँ प्राकृत गुणोंसे रहित होते हुए भी अप्राकृत विशेषताओं से विशिष्ट है। श्रीमद्भगवदगीता के अन्तर्गत माया के द्वारा ईश्वर के नियन्त्रक की विचारणा मिलती है।^४ माया शक्ति से सम्पन्न, चंतन्य दर्शन का ईश्वर भी जीवों का नियन्ता है, ईश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तियों के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। ईश्वर द्वारा सृष्टि जगत् यथापि मिथ्या नहीं है, परन्तु 'युत्पादिविनाशित्' के अनुसार विनाशशील अवस्था है। घटी शाकर वेदान्त और चंतन्य दर्शन के अग्रु भवन्त्वी दृष्टिकोण का भेद है। शाकर वेदान्त का जगत् परमात्मा की अविद्या शक्ति से उत्पन्न होने के कारण मिथ्या है।

चंतन्य सम्प्रदाय के भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त का सबैत हमें चंतन्य एवं रामानन्द के स्वादों में मिलता है। रामानन्द का कथन है कि वर्णाद्यमध्यवस्थागत् कर्मों के करते पर भग-

१. स्वहपादिमिन्नत्वेन चित्तयितुमशक्यत्वाद् भेद, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदस्य प्रतीपते इति शक्तिशक्तिभूतो भेदभेदवगीवृत्तोः। तो च अचिन्त्योः। स्वमतेतु अचिन्त्य भेदभेदवेव अचिन्त्यशक्तिन्नत्वात्। (जीव गोस्वामी, सर्वसाक्षादिनी)।

२. 'आत्मादाइद' मित्यादौ वननीनविहारत्।

सत्य विनश्वसा मन्त्रव्यमित्युक्त वेदवेदिभि ॥ (प्रमेयरत्नाकरी ३१२)

३. विष्णुशक्ति पराप्रोक्ता दोशज्ञात्मा तथा परा।

अविद्यात् मंसज्ञात्मा तृपीया शक्तिरिष्यते ॥ विष्णु पुराण ६७१६।

४. भ्रामयन्वंभूतानि यन्त्राकृतानि सायदा (गीता १६।११)।

बान् की भक्ति की प्राप्ति होती है।^३ परन्तु भक्तिरसामृतसिन्धुकार का मत चैतन्य चरितामृतकार के उक्त मत से भिन्न है। भक्तिरसामृतमिन्दुकार का कथन है कि उत्तमाभक्ति समस्त अभिलाषाओं से शून्य तथा ज्ञान-कर्मादि से अनावृत है। इस प्रकार बानुकूल्य के साथ भगवान् कृष्ण का अनुसेवन ही भक्ति है।^४ यहां यह उल्लेख है कि चैतन्य रामानन्द के इस उपर्युक्त मत से नहमत नहीं ये कि वणश्चिमव्यवस्थागत कर्मों के विधान से भक्ति की उपलब्धि होती है। चैतन्य की उक्त अमृहमति देखकर रामानन्द, भक्ति की एक और उच्चतर स्थिति मानते हैं, जिसके अनुसार भक्त ईश्वरप्राप्ति का अनुष्ठान करते हुए समस्त कामनाओं का त्याग कर देता है। इसके बाद भक्ति की वह स्थिति आती है जिसके अनुसार भक्त भगवत्प्रेम के द्वारा समस्त कर्मविधान का त्याग कर देता है। इसके पश्चात् भक्ति की वह ज्ञानगमित स्थिति आती है जिसमें भक्त को भगवान् के माहात्म्य एवं स्वभाव का ज्ञान भक्ति का वाधक न होकर साधक ही है।^५

पूर्वधा-भवित—भगवान् के प्रति भक्त का जो स्वाभाविक एवं अविच्छेद्य अनुराग होता है, उसे प्रेमाभक्ति कहते हैं। इसके पांच भेद हैं। यह पांच भेद शान्त, दास्य, सत्य, वात्सल्य और माधुर्य हैं।

शुद्धाभवित—चैतन्य ने शुद्धाभवित की पृथक् रूप से चर्चा की है। चैतन्य के मतानुसार शुद्धाभवित वह है, जिसमें भक्त समस्त कामनाओं, वैधानिक उपासनाओं, ज्ञान एवं कर्म का त्याग कर देता है और अपनी समस्त इन्द्रियों के सामर्थ्य से एकमात्र कृष्ण में ही लीन हो जाता है।^६ शुद्धभवितसम्पन्न भक्त भगवान् से किसी प्रकार की कामना की पूर्ति की इच्छा नहीं करता। उसे केवल भगवत्-अनुराग में ही आनन्द आता है। शांकर वेदान्त एवं चैतन्यदर्शन के सिद्धान्तों में परस्पर वैष्णव वैष्णव होते हुए भी यह साम्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार शांकर वेदान्त के अन्तर्गत कर्म का मुक्ति से साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी आचार एवं दार्शनिक दृष्टि से उसका महत्व स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार चैतन्यविचारपद्धति के अनुसार भी भक्त के लिए आचार जी महती उपयोगिता बतलाई गयी है। इस सम्बन्ध में चैतन्य दर्शन के अन्तर्गत यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित हुआ है कि कृष्ण के भक्त को दयालु, सत्यपालक, समानदृष्टिवाला, अनपकारी, उदारचेता, सहृदय, शुद्धनिःस्वार्थी, एवं शान्त होना चाहिए।^७ इस प्रकार शांकर वेदान्त एवं चैतन्य दर्शन के अन्तर्गत आचारपक्ष पर समान रूप से बल दिया गया है।

जीवगोस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त

जीवगोस्वामी एवं वलदेव विद्याभूषण, ये दोनों वैष्णव आचार्य भी चैतन्य के ही अनुयायी थे। यहां इन दोनों के दार्शनिक सिद्धान्तों का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे। पहले जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में मीमांसा की जाएगी।

१. देखिए—चैतन्यचरितामृतमध्यलीला में अष्टम अव्याय के अन्तर्गत चैतन्य एवं रामानन्द का संवाद।
२. बानुकूल्यन कृष्णानुसेवन भक्तिहृतमा। भक्तिरसामृतसिन्धु, ११।१।
३. Dr. Das Gupta Indian Philosophy, vol : IV, p. 392.
४. चैतन्य चरितामृत, मध्यलीला, २६।
५. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. IV, p. 392.

जीवगोस्वामी के अनुसार ब्रह्म, भगवान् तथा परमात्मा का स्वरूप

जीवगोस्वामी का कथन है कि मूलत तो ब्रह्म भगवान् एवं परमात्मा भेद नहीं है परन्तु किरभी एक मूल सत्य ब्रह्म का प्रतिपादन होने के कारण और तदनुरूप उपासक पुरुष के अनुभव के कारण ब्रह्म, भगवान् या परमात्मा शब्दों का व्यवहार होता है।^३ जब पूर्ण सत्य रूप ब्रह्म और उसकी शक्तियों का भेद नहीं दिखायी पड़ता तो उसे ब्रह्म कहते हैं। परन्तु जब यह मूल सत्ता (ब्रह्म) अपनी मूल एवं स्वरूपस्थित शक्ति के द्वारा अन्य विभिन्न शक्तियों का आधार बन जाती है और भक्त को विविध शक्तियों से मण्डित दिखाई पड़ती है तो उसे भगवान् कहते हैं। इस प्रकार जीवगोस्वामी के मतानुसार आनन्द विशेष्य, समस्त शक्तियां विशेषण, एवं भगवान् विशिष्ट हैं।^४ यही भगवान् जब जीवों और उनकी क्रियाओं का नियन्ता होता है तो परमात्मा बहलाता है। जीवगोस्वामी के मतानुसार भगवान् ब्रह्म का ही पर्याय-वाची है—(भगवान् ब्रह्म सक्षितः । पट् सन्दर्भं, पृष्ठ २५४)।

यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जीवगोस्वामी वे अनुमार ब्रह्म अद्वैत वेदान्त दर्शन के समान शूद्रचिन् एवं विषय, माया अथवा अज्ञान का लाभ्यम नहीं है, अपितु उसका मत्त्या मे अचिन्त्य सम्बन्ध है। अद्वैत वेदान्त एवं जीवगोस्वामी के मतानुसार परमात्मा स्वयं जगन् का नियन्ति कारण एवं अपनी शक्तियों के बारण उपादान बारण है।^५

परमात्मा ही सत्त्वर्ण या महाविज्ञु (समस्त जीवों एवं प्रहृति का स्वामी) प्रद्युम्न (समस्त जीवान्तर्यामी) एवं प्रत्येक जीव के अनर्यामी स्वरूप को स्वयं धारण करता है।

भगवान् की शक्तियां

भगवान् की मूल शक्ति अचिन्त्य है। दुर्घटघटकता की सामर्थ्य होने के बारण ही भगवान् की शक्ति को अचिन्त्य ब्रह्म गया है।^६ अचिन्त्य शक्ति भगवान् की स्वामाविक शक्ति है। भगवान् की शक्ति के प्रधान स्वरूप से नीचे लिखे तीन भेद मिलने हैं—

(१) अन्तरग स्वरूप शक्ति (२) तटस्थ शक्ति और (३) बहिरण माया शक्ति।

अन्तरग स्वरूप शक्ति भगवान् की स्वामाविक शक्ति है।^७ भगवान् की द्विनीय तटस्थ शक्तिवा प्रतिनिधित्व जीव करत है। इस प्रकार शूद्र जीव तटस्थ शक्ति के प्रतीक हैं। जगत् भगवान् की बहिरण माया शक्ति के ही विकास का पात्र है। इन शक्तियों में प्रथम स्वरूप शक्ति एवं तृतीय बहिरण माया शक्ति में परम्पर वैषम्य स्पष्ट प्रतीक होता है, परन्तु किरभी जीवगोस्वामी के मतानुमार उनका एवं निवान परमात्मा ही है।^८ यही भगवान् का दुर्घटघटक अचिन्त्य-शक्तित्व है। बहिरण माया शक्ति का प्रभाव जीवों पर ही हो सकता है, भगवान् पर नहीं। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त का द्वैतवर मायावी होने हुए भी माया मे वस्पष्ट रहता है। परन्तु दोनों की

१. जीवगोस्वामी, पट् सन्दर्भे पृष्ठ ५०।

२ आनन्द मात्र विशेष्यम्, समस्ता शक्तिय विशेषणानि, विशिष्टो भगवान्। —पट् सन्दर्भं, पृ० ५०।

३. पट् मन्दर्भं, पृ० २५०।

४. दुर्घटघटकत्वयुचिन्त्यत्वम्।

५. पट् सन्दर्भं, पृ० ६५।

६. पट् सन्दर्भं, पृ० ६१।

माया शक्ति में भेद है। इस भेद का निरूपण तुलनात्मक अध्ययन के समय आगे किया जाएगा। जीवगोस्वामी के मतानुसार माया के दो भेद हैं—एक गुणमाया और दूसरी आत्ममाया। गुण-माया जगत् के समस्त भौतिक तत्त्वों की मूलभूता है और आत्ममाया ईश्वर की इच्छाखण्डिणी शक्ति है। जब माया ब्रह्म का प्रयोग आत्ममाया अद्यवा, ईश्वर की माया के वर्ष में होता है तो उसके तीन वर्ष होते हैं। आत्म माया के यह तीन वर्ष—स्वरूप शक्ति, ज्ञानकियाशक्ति और चित्तशक्तिविलास हैं।^१ इसके अतिरिक्त जीवमाया का भी उल्लेख मिलता है। जीव-माया के ही भू, श्री एवं दुर्गा, यह तीन रूप मिलते हैं। इनमें भू शक्ति सूष्टिकर्ता, श्री शक्ति रक्षाकर्ता एवं दुर्गा शक्ति संहारकर्ता हैं।

जीव का स्वरूप—जीव स्वभावतः शुद्ध होने के कारण माया का विषय नहीं है, परन्तु यह माया द्वारा उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव करता है और उनसे प्रभावित भी होता है। जीव स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के साथ अपने सम्बन्ध को प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करता है, इसीलिए इसे क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं।^२ जीव की सत्ता अणुरूप है। जीव अनन्त हैं और वे ईश्वर के अंश हैं। इसके अतिरिक्त जीव सत्त्व, रज एवं तमोगुण से युक्त हैं। इसके विपरीत ब्रह्म त्रिगुणातीत है।

जगत् का स्वरूप—वैष्णव दार्शनिक जीवगोस्वामी जगत् का मिथ्यात्व रज्जु में सर्प के भान के समान नहीं स्वीकार करते। विवर्तवादी ब्रह्मत्वेदान्तियों की ओर वास्त्रपे करते हुए उन्होंने कहा है कि रज्जुसर्प के समान जगत् मिथ्या नहीं है, अपिनु घटादि के समान नद्वर है।^३ परन्तु मिथ्या न मानने पर भी जीवगोस्वामी जगत् को सत्य भी नहीं मानते हैं। सत्य के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि—सत्य वही हो सकता है जो त्रिकालावाधित है। अतः जीव-गोस्वामी के मतानुसार सत्यत्व के बल परमात्मा या उसकी शक्ति में ही देखा जा सकता है।^४

जीवगोस्वामी के विचारानुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त न होकर परिणाम है। परमात्मा अपनी अचिन्त्यगतिके द्वारा जगत् की सृष्टि करता है।^५ इस प्रकार कार्यकारणवाद की दृष्टि से जीवगोस्वामी परिणामवाद एवं सत्कार्यवाद के समर्यक हैं।

जीवगोस्वामी और परमात्मसाक्षात्कार का स्वरूप—जीवगोस्वामी के मतानुसार परमात्मसाक्षात्कार के भी दो रूप हैं—एक ब्रह्मसाक्षात्कार और दूसरा ईश्वर या परमात्मा का साक्षात्कार। जीवगोस्वामी के दर्शन के अनुसार ब्रह्म एवं परमात्मासम्बन्धी भेद की ओर हम प्रारम्भ में ही सकेत कर चुके हैं। जीवगोस्वामी के मतानुसार विभिन्न रूपों सहित परमात्मा का साक्षात्कार उच्चकोर्ट का साक्षात्कार कहलाता है।^६ परमात्म साक्षात्कार की स्थिति में भक्त परमात्मा के विभिन्न रूपों एवं उसकी अनन्त शक्तियों का साक्षात्कार करता है। परमात्मसाक्षात्कार की स्थिति में भक्त अपने आनन्दस्वरूप का अनुभव करता है एवं

१. पट्सन्दर्भ, पृ० ७३, ७४।

२. पट्सन्दर्भ, पृ० २०६।

३. ततोविवर्तवादिनामिव रज्जुसर्ववन्न मिथ्यात्वम् किन्तुघटवन्नश्वरत्वमेव तस्य।

—पट्सन्दर्भ, पृ० २५५।

४. पट्सन्दर्भ, पृ० २५५।

५. पट्सन्दर्भ, पृ० २६०।

६. पट्सन्दर्भ, पृ० ६७५।

आनन्द स्वरूपवान् परमात्मा के साथ ऐक्य का अनुभव करते हुए अद्वैतस्थिति को प्राप्त होता है। आनन्द की इस अनुभूति के द्वारा भक्त के समस्त बलेशों का विनाश हो जाता है।

मुक्ति का विचार करते हुए यह भी द्रष्टव्य है कि परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले मुक्त पुरुष का जगत् के प्रति केंद्रा व्यवहार होता है। इस सम्बन्ध में यह विशेष रूप से विचार योग्य है कि मुक्त पुरुष के लिए भौतिक जगत् का लोप नहीं हो जाता। मुक्त पुरुष का यही वैशिष्ट्य है कि वह जगत् को ईश्वर का ही अश समझता है। उसके लिए जगत् के समस्त सम्बन्ध एवं आकर्णण मिथ्या प्रतीत होते हैं। जहाँ तक मुक्त पुरुष के कर्म फल भीग का प्रश्न है वह केवल प्रारब्ध कर्मों के फल का ही भीग बरता है परन्तु इन प्रारब्ध कर्मों के फल के भीग में ही न उसकी इच्छा होती है और न उससे वह बढ़ होता है।

परमात्मसाक्षात्कार की उपर्युक्त स्थिति में माया का अविद्याकायं समाप्त हो जाता है। इस प्रकार माया की पूर्ण निवृत्ति ही भोक्ता की पूर्णता को स्थिति है।

मुक्ति के अन्य रूप—मुक्ति की उपर्युक्त स्थिति के अनिरिक्त जीवगोस्वामी ने सातोवय, सार्विष्ट, साहृष्य, सामीप्य, और मायुज्य रूप से मुक्ति के पाच भेद और माने हैं, परन्तु जीवगोस्वामी का वक्षन है कि सच्चा भक्त परमात्मा की मुक्ति से ही सन्तुष्ट रहता है, उसे उपर्युक्त मुक्तियों की अपेक्षा नहीं है।^१

जीवगोस्वामी और भक्ति का स्वरूप—भक्त का भगवान् में पूर्णतया लीन हो जाने का नाम ही भक्ति है। अद्वैत वेदान्त के अनुमार मुमुक्षु को ज्ञान-वैराग्य आदि अभ्यास की अपेक्षा है, परन्तु भक्त को ज्ञान एवं वैराग्य के अभ्यास की आवश्यकता नहीं है।^२ भक्ति का एक द्विसंरामी भी है जिसके अनुरूप ज्ञान के द्वारा भक्त का चित्त सामारिक विषयों से हट कर परमात्मा में लीन होता है। इनमें भक्ति का प्रथम रूप ही प्रशस्त है। दोनों प्रकार की भक्ति का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न करना ही है, अनु कुल पिलाचर भक्ति अहेतुकी भी कहलाती है। व्योमिक सच्चे भक्त का कोई उद्देश्य विशेष नहीं होता। जीवगोस्वामी ने भक्ति को ही मुक्ति का रूप दिया है।

भक्ति का महत्व बतलाते हुए, जीवगोस्वामी ने स्पष्ट बता है कि भक्ति के द्वारा ही परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार सम्भव है।^३ भक्त को समस्त कर्त्तव्यादि कर्मों एवं वैराग्यादि के पीपक कर्मों का भी त्याग कर देना चाहिए। इसके अनिरिक्त भक्त को प्रत्येक कर्म भगवद्यर्थं बुद्धि से बरना चाहिए। इस प्रकार भक्त्यनुष्ठान को जीवगोस्वामी ने कर्मानुष्ठान की अपेक्षा घोष्ठ बतलाया है। जीवगोस्वामी ने भक्ति को जीवन्मुक्ति से भी घोष्ठ कहा है। जीवगोस्वामी का कथन है कि जीवन्मुक्त पुरुष पुन बन्धन को प्राप्त हो सकते हैं,^४ परन्तु भक्त का पतन नहीं होता। भक्त्यनुष्ठान में तो भदा आनन्द की ही स्थिति देखी जाती है।

भगवन्नाम का भहत्व—जीवगोस्वामी का मत है कि वैसे तो एवमात्र भगवन्नाम ही जीव के घोरातिथोर भासी के विनाश में समर्थ है, परन्तु, यदि किसी में कौटिल्य, अश्रद्धा एवं

१. पद सन्दर्भ, पृ० ६६३।

२. भजताम् ज्ञानवैराग्याम्यासेन प्रयोजन नाम्नि। पद सन्दर्भ पृ० ४८१।

३. पद सन्दर्भ, पृ० ४५४।

४. पद सन्दर्भ, पृ० ४७५।

इस प्रकार की वस्तुओं में अनुराग है जो भगवद्भक्ति में वाधक हैं तो उसमें भगवान् के प्रति भक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती।^१ यदि किसी व्यक्ति के पूर्वकृत पाप नहीं हैं तो उसे एक बार भगवान् का नामसंकीर्तन करना ही पर्याप्त है। यदि वह एक बार नामसंकीर्तन करने के पश्चात् फिर घोर पाप नहीं करता है तो उसे एक बार का ही नाम संकीर्तन पर्याप्त है।^२ मृत्युकाल के समय तो यदि कोई एक बार ही भगवान् का नाम ले लेता है तो उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वह भगवान् के साथ अत्यन्त निकटसामीप्य को प्राप्त करता है।^३

भक्ति की नौ विशेषताएं—जीवगोस्वामी ने श्रवण, कीर्तन, विष्णुस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सत्य और आत्म निवेदन रूप से भक्ति की नौ विशेषताएं वर्ताई हैं।^४

भक्ति के भेद—प्रयोजनीय लक्ष्य की दृष्टि से भक्ति के तीन भेद हैं—सकाम भक्ति, कैवल्यकाम भक्ति और भक्तिमात्रकामा भक्ति। सकाम भक्ति के अनुरूप मनुष्य साधारण अभिलापाओं की पूर्ति के लिए भगवान् की भक्ति करता है। जैसा कि उसके नाम से ही प्रतीत होता है, कैवल्यकाम भक्ति का अनुयायी भक्त जीव और परमात्मा के ऐवय रूप कैवल्य के उद्देश्य से भक्ति करता है। इस भक्ति के अन्तर्गत भक्त ज्ञान एवं योग का बाश्रय भी लेता है। तृतीय भक्तिमात्रकामा भक्ति के अनुसार भक्त के समस्त ज्ञान एवं कर्मों का उद्देश्य एक मात्र भगवान् की भक्ति ही है, अन्य कोई लौकिक अयवा अलौकिक कामना नहीं यही भक्ति का प्रगत्यस्त रूप है।

शरणागति भाव और उसके प्रमुख तत्त्व—भक्ति परम्परा के अन्तर्गत शरणागति का भाव प्रमुख भाव है। इस भाव के अनुमार भनुष्य सब और से निराश होकर एकमात्र भगवान् की ही शरण प्रहण करना है।

वैष्णव तन्त्र के आधार पर शरणागति का लक्षण वत्तलाते हुए जीवगोस्वामी ने शरणागति भाव के प्रमुख तत्त्व—भगवान् के अनुकूल संकल्पना, भगवान् के प्रतिकूल विषयों का त्याग, भगवान् के रक्षकात्म में पूर्ण विश्वास, अपनी रक्षा के लिए भगवान् को वरण करना, आत्मनिक्षेप एवं कार्यपूर्ण वत्तसाए हैं।^५

उपर्युक्त शरणागति के समस्त तत्त्वों में भगवान् में आत्मरक्षा का विश्वास करना सर्वमुन्दर तत्त्व है। अन्य तत्त्व येनकेनप्रकारेण उसीसे सम्बद्ध हैं।

भक्तों की विभिन्न कोटियां—जीवगोस्वामी ने प्रमुख रूप से भक्तों की तीन कोटियां वत्तलाई हैं, प्रथम कोटि के भक्त वे हैं जो समस्त जीवों में ईश्वर के ही दर्शन करते हैं। ये जगत् के जीवों को अपने एवं ईश्वर के ही अंश के रूप में मानते हैं। ये भक्त अपने आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। इसीलिए सांसारिक जीव इनके अंश कहे गए हैं। ये उत्तम कोटि के भक्त कहलाते हैं। द्वितीय कोटि के भक्त वे हैं जो ईश्वर के प्रति प्रेम, भगवान् के अधीन भक्तों के प्रति मैत्री, अव्रोधों के प्रति दया और शत्रुओं के प्रति उपेक्षा का भाव रहते

१. पट् सन्दर्भ, पृ० ५३२-५३४

२. पट् सन्दर्भ, पृ० ५३६।

३. पट् सन्दर्भ, पृ० ५३६।

४. पट् सन्दर्भ, पृ० ५४१।

५. पट् सन्दर्भ, पृ० ५६३।

है^१ ये भक्त मध्यम कोटि के भक्त कहलाते हैं। तीमरी कोटि के भक्त वे हैं जो श्रद्धापूर्वक भगवान् की ही पूजा करते हैं परन्तु भगवान् के भक्तों एवं अन्य पुरुषों के भस्त्रधर्म में उनमें किसी विशेष भाव का उदय नहीं देखा जाता।^२ ये अधम कोटि वे भक्त कहलाते हैं।

उत्तम भक्त का लक्षण जीवगोस्वामी ने यह भी बतलाया है कि जिसके चित्र में सकाम कमों का भाव नहीं उद्दित होता और जो सदा भगवान् में ही अनुरक्त रहता है, वह उत्तम कोटि का भक्त है।^३ एक अन्य प्रकार से उत्तम भक्त का लक्षण बतलाते हुए जीवगोस्वामी ने बहा है कि जिसमें अपने पराये का भेद नहीं है और जो भमस्त जीवों का मिश्र एवं दान है वही उत्तम कोटि का भक्त है।^४ इसके अतिरिक्त जिनके हृदय को भगवान् वरण वर लेते हैं और तदनुमार जिनका हृदय भगवान् के चरणकमलों में प्रेम करता है उन्हें भी जीवगोस्वामी ने उत्तम कोटि का भक्त कहा है।^५

अद्वैत वेदान्त और जीवगोस्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त (तुलनात्मक दृष्टिकोण)

जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रभुव आधार वैष्णव भक्ति है, परन्तु फिर भी अद्वैत वेदान्त एवं जीवगोस्वामी के दार्शनिक मिद्दान्तों में साम्य एवं वैयम्य दोनों मिलते हैं। यहाँ जीवगोस्वामी और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के साम्य एवं वैयम्य का उल्लेप दर्शें।

जीवगोस्वामी एवं अद्वैत वेदान्त के बहु और उसके मात्रात्कारसम्बन्धी मिद्दान्त में पर्याप्त साम्य है। जीवगोस्वामी के दार्शनिक मिद्दान्त के अनुमार भक्त विभिन्न गुणों एवं शक्तियों से रहित बहु का साक्षात्कार करता है। जब भक्त अपने शुद्ध चिन्तृ स्वरूप का साक्षा त्कार करता है तो उसे बहु के शुद्ध चिन्तृ स्वरूप का साक्षात्कार भी हो जाता है।^६ यह विषय अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी इसी रूप में मिलता है। अद्वैतवेदान्तदर्शन के अनुसार भी जब जीव को आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो उसे ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार स्वयं हो जाता है। अद्वैत वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत आत्मशोध का नाम ही ब्रह्माक्षात्कार या परमात्माक्षात्कार है। अविद्या के कारण जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। जब अज्ञान नीं निवृत्ति हो जाती है तो जीव को भीक्ष वी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार अज्ञाननाश को ही अद्वैत वेदान्त में मोक्ष कहा गया है।^७ यही स्वरूपज्ञान की स्थिति है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त और जीवगोस्वामी के ब्रह्मसाक्षात्कारसम्बन्धी सिद्धान्त में पर्याप्त साम्य है।

जीवगोस्वामी और अद्वैतवेदान्त के ब्रह्माक्षात्कार विषयक मिद्दान्त में उपर्युक्त समानता होते हुए भी यह वैयम्य है कि जहा अद्वैतवेदान्तानुगत सिद्धान्त के अनुमार जीव को, स्वरूप बोध के लिए तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के अनुशीलन की उपादेयता बतलाई गई है वहाँ

१. ईश्वरे तदधीनेषु बालियोपु द्विपत्त्वपि ।

प्रेमयैत्रीकृष्णपेण्या य कर्तोदित स यथ्यम् ॥—पट सन्दर्भ, पृ० ५६२ ।

२. वही, पृ० ५६४ ।

३. वही, पृ० ५६४ ।

४. पट सन्दर्भ, पृ० ५६५ ।

५. पट सन्दर्भ, पृ० ५६५ ।

६. Dr. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol : IV, P. 397.

७. सिद्धान्तसेशमग्रह, पृ० १२६ ।

जीवगोस्वामी के अनुसार निरन्तर भक्ति अथवा भगवत्कृपा के द्वारा ही ब्रह्म साक्षात्कार संभव है। भगवत्कृपा भी भक्ति का ही फल है।

मायावाद का सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त का प्रमुख विचार है। इस विचार के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है। इसके अतिरिक्त माया को त्रिगुणात्मिका^१ एवं जड़ भी कहा गया है। अद्वैत वेदान्त की ही तरह जीवगोस्वामी की दार्शनिक विचार धारा के अनुसार भी मायापरमात्मा की शक्ति है—माया शब्देन शक्तिमात्रमपिमन्यते (पट् सन्दर्भ, पृष्ठ ७३) साथ ही साथ जीवगोस्वामी अद्वैतवेदान्त के ही समान माया को त्रिगुणात्मक भी मानते हैं। जीवगोस्वामी के मतानुसार यह त्रिगुणात्मिका माया जड़ भी है।^२ इस प्रकार माया का शक्तित्व, जड़त्व एवं त्रिगुणत्व अद्वैत वेदान्त एवं जीव-गोस्वामी के दार्शनिक विचार में समान है। जीवगोस्वामी और अद्वैत वेदान्त के इस सिद्धान्त के विषय में भी साम्य है कि अविद्या ही जीव में द्वैतवुद्धि की जननी है। इसके अतिरिक्त दोनों दर्शन पद्धतियों की यह समानता भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत मायावी ईश्वर स्वयं माया से स्पृष्ट नहीं होता^३, उसी प्रकार जीवगोस्वामी के मतानुसार भी भगवान् की माया भगवान् पर अपना प्रभाव डालने में अक्षम है।^४ शंकराचार्य ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक स्वयं प्रसारित माया से त्रिकाल में भी स्पृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा भी संसारमाया से स्पृष्ट नहीं है। (ब्र० सू०, शा० भा० २।१।६)।

परमात्मा के क्षेत्रज्ञत्व का विचार भी दोनों दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत उपलब्ध है, परन्तु दोनों का यह अन्तर भी निर्दिश्य है कि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत निर्विशिष्ट चित्तस्वरूप ईश्वर क्षेत्रज्ञ है और जीवगोस्वामी द्वारा प्रतिपादित दर्शनपद्धति के अनुसार क्षेत्रज्ञ अन्तर्यामी परमात्मा है।^५

अद्वैत वेदान्त ही की तरह जीवगोस्वामी के मतानुसार भी परमात्मा जगत् का निमित्त कारण एवं उपादान कारण दोनों हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और जीवगोस्वामी के मतानुसार अनन्य शक्तियों के द्वारा परमेश्वर जगत् का उपादान कारण है। जीवगोस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त और अद्वैत वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत यह सिद्धान्त साम्य भी विचार्य है कि दोनों दर्शन पद्धतियों के ही अनुसार मुक्त पुरुष के लिए भौतिक जगत् का विनाश न होकर केवल जगत् के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई मिथ्या दृष्टि का ही विनाश होता है।

जगत्निम्यात्वसम्बन्धी दृष्टिकोण के विषय में दोनों दर्शनपद्धतियों में साम्य तथा वैपर्य दोनों मिलते हैं। त्रिकालावाधित वस्तु को ही सत्य कहने के कारण जीवगोस्वामी के मतानुसार केवल परमात्मा या उसकी शक्ति ही सत्य है।^६ परन्तु अद्वैत वेदान्त में परमात्मा को तो त्रिकालावाधित सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है, न कि उसकी शक्ति माया को

१. अव्यक्तनाम्नी परमेश्वशक्तिरूपाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या। विवेकचूडामणि।

श्लोक ११०।

२. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, P. 400.

३. ब्र० सू० शा० भा० २।१।६।

४. *Das Gupta* : Indian Philosophy, Vol. IV, P. 399.

५. पट् सन्दर्भ, पृष्ठ २१०।

६. पट् सन्दर्भ पृष्ठ २५०।

भी। इसके अनिरिक्त जैसा कि जीवगोस्वामी ने अनुरूप जगन्मिथ्यात्म के दृष्टिभौति का विवेचन करते समय कहा जा चुका है जीवगोस्वामी को रज्जु मर्म के समान जगत् वा मिथ्या होना स्वीकार नहीं है।^१ जीवगोस्वामी के मनानुमार जगत् क्षणभगुर होने के बारण मिथ्या वहा जा सकता है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन के आधार पर जीवगोस्वामी के वाद्यात्मिक विचार पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से दियाई पड़ता है। अब यहाँ जीव गोस्वामी के ही अनुयायी भक्त दार्शनिक वलदेव विद्याभूपण के दार्शनिक विचार की समीक्षा करेंगे।

वलदेव विद्याभूपण और उनका दार्शनिक सिद्धान्त

जीवगोस्वामी और वलदेव विद्याभूपण के गिद्धान्ती मध्यस्तिवित् ही अन्तर है। अत यहाँ वलदेव विद्याभूपण के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन ही पर्याप्त होगा।

ईश्वर—वलदेव विद्याभूपण के मनानुमार भगवान् वा स्वरूप शुद्धचित् एव आनन्द है। यह दोनों ही भगवान् के विश्रह रूप कहे जा सकते हैं। शुद्धचित् एव आनन्द स्वभाव-वान् भगवान् अपनी वचित्त शक्ति के द्वारा धनेन् स्वात्मा पर दिवायी पड़ता है। इसके अनिरिक्त भगवान् विभिन्न भक्तों के स्वरूप ग्रहण भरता हुआ तो रियाई पड़ता है। भगवान् वा वनेन् रूपों में प्रकृत हाना दिसी जाता या वासना का पलन होने के कारण उसकी लीना माना है।^२ यह विवार अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत भी रूपों रूप में दियता है। यहाँ भी आप्तवाम ईश्वर के विषय में तिर्यो वासना वा सूत सम्भव न होने के कारण, लीना में ही, ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि गिर्द वीर्य गई है।^३

वलदेव विद्याभूपण के मनानुमार एवं ही भगवान् ध्याता भरता और कायमेद ने सारण अनेन् रूप रूपण पर भी रूपकर भेद सम्भवन् त होकर ऐक्य सम्भवन् ही है।^४ अब वलदेव विद्याभूपण वा मिद्धान्त भेदाभेद मिद्धान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वलदेव विद्याभूपण के प्रमुख भगवान् के स्वरूप में कार्ड भेद नहीं देया जा सकता है। उनदेव विद्याभूपण के दार्शनिक गति के अनुगत ता भगवान् की विभिन्न की तुलना उन अभिनेता में की जा सकती है, जो रामचंद्र वर यज्ञो में प्रवक्त हाना है, गग्नु विश्वे मूल स्वरूप में बोई परिवर्तन नहीं देखा जाता।

वलदेव विद्याभूपण के मनानुमार जीव भगवान् के ही वर है। वे अणु तथा भगवदाधित् हैं।

वलदेव विद्याभूपण का 'विशेष' सिद्धान्त

भगवान् और उनी अनेन् रूप के जायार पर उत्तम हुई भेदाभेद शरण वा निवारण वलदेव विद्याभूपण ने 'विशेष' नामक मिद्धान्त के जायार पर किया है। इस मिद्धान्त का सूत्र

^१ पूर्णनन्द, पृष्ठ २५५।

^२ गोविन्द भाष्य ३।२।१।

^३ द३० सू०, मा० मा० २।१।३३।

^४ ध्यानुभेदान्त् सार्थभेदान्त्व वनेन्तप्याप्रतीतोऽपि हुरि स्वस्त्रैस्यम्-

स्वस्त्रैस्यम् । गोविन्द भाष्य ३।२।१।३ नवा दिग्गं ३।२।१२ पर मृश्म दीक्षा।

रूप तो आचार्य मच्च द्वारा ही उद्घाटित हुआ था। परन्तु वलदेव विद्याभूपण ने इस सिद्धान्त का पूर्णतया विकास किया था। इमीतिए वलदेव विद्याभूपण के सम्प्रदाय को मध्यगांडीय सम्प्रदाय भी कहते हैं।

'विशेष' सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर और उसके गुणों अथवा ईश्वर के स्वभाव और उसके शरीर में भेद न होने पर भी भेद की सत्ता सिद्ध की जाती है। 'विशेष' के ही गांधार पर भगवान् के स्वरूपभूत चित् एवं आनन्द भगवान् के विशेषण या शरीर कहलाते हैं। इस प्रकार वलदेवविद्याभूपण का 'विशेष' भेद का प्रतिनिधि है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार भेद न होने पर भी भेद की प्रतीति होनी है। 'विशेष' निदान्त का महत्त्व समझाते हुए वलदेव विद्याभूपण का कथन है कि इन सिद्धान्त के स्वीकार किए विना गुणों एवं गुण का विचार स्पष्ट नहीं हो सकता।^१ जीवगोस्वामी ने केवल अचिन्त्य भवित के आवार पर उक्त समस्या वा समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की थी। परन्तु वलदेवविद्याभूपण ने अचिन्त्य भवित के अतिरिक्त 'विशेष' नामक सिद्धान्त का विकास किया था। अतः वलदेव विद्याभूपण का 'विशेष' सिद्धान्त उनकी विशेष देन है।

भगवान् की शक्तियाँ—भगवान् की तीन प्रमुख शक्तियाँ हैं। यह शक्तियाँ पराशक्ति या विष्णु शक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति और अविद्या शक्ति हैं। प्रथम शक्ति के अन्तर्गत द्वारा स्वरूपस्थ एवं अपरिवर्तनीय है। इतर दो शक्तियाँ के परिणाम जीव एवं जगत् हैं। इस प्रकार वलदेव-विद्याभूपण के अनुसार द्वारा जगत् का निमित्त वारण एवं उपादान कारण^२ दोनों हैं।

भवित—भगवदनुभवित के अतिरिक्त भवित के सम्बन्ध में दो तथ्य और बतलाए गए हैं। एक तो यह कि भवित ज्ञान विशेष का ही नाम है।^३ इमी भवित के द्वारा जीव जागतिक विषयों से अपना मन हटा कर ईश्वर की ओर लगाता है। इमें जनिरिक्त दूमरा तथ्य यह है कि सिद्धान्तरत्न की टीका के अन्तर्गत भवित के स्वरूप का निष्पण जक्कि के रूप में किया गया है। इस प्रकार भवित भगवान् को वश में करने की शक्ति है।^४

परमात्मा का पूर्ण साधारकार या दर्शन भवित को साध्यभवित के द्वारा ही प्राप्त होता है, न कि साधनभवित के द्वारा। साधन भवित के अन्तर्गत जहाँ भवित के महांग आदि विभिन्न साधनों का उल्लेख मिलता है, वहाँ साध्यभवित के अन्तर्गत साध्य—भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण का भाव ही प्रमुख है।

समीक्षा

ऊपर रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वलभाचार्य, महाप्रभु चैतन्य, जीव-गोस्वामी तथा वलदेव विद्याभूपण के दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षा तथा अद्वैत वेदान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन करते समय विरोध और साध्य दोनों ही पाये गए हैं। विरोध के कारण—शांकर दर्शन की प्रतिक्रिया, व्रह्मसूत्र की अस्पष्टता, स्वाभाविक तर्कनाशक्ति, सम्प्रदाय परम्परा का अनुसारन और आचार्यत्व की छाप, हैं। सत्य के अन्वेषणकार्य में मत-

१. गोविन्द भाष्य २। १। १३।

२. गोविन्द भाष्य २। १। १४।

३. भवितरपि ज्ञातविशेषोभविति।—सिद्धान्तरत्न टीका, पृ० २६।

४. भगवद्वज्रीजाहेतुभूतजगवितः—सिद्धान्तरत्न टीका, पृ० ३५।

विषय एव विचारविरोध का होना, सेवक के दृष्टिकोण से आधारित अनौपित्य का ~ नहीं कहा जा सकता। किमी साधारण उद्देश्य की प्राप्ति के सम्बन्ध में ही जब साधर्व विभि पर्यो का अनुगमन करते देखे जाते हैं तो किर चतुर्थ पुश्यार्थ—मोथ के साधकों में विरो होना शास्त्रयाहिन नहीं है। शकराचार्य, रामानुजाचार्य, निदानन्दिचार्य, मध्वाचार्य एव वर्ण भाचार्य आदि उपर्युक्त आचार्य केवल शास्त्रीय दृष्टि से ही आचार्यत्व के भाजन नहीं वर्ण चतुर्थ पुश्यार्थ के साधक भी थे, यह निरिचत रूप से कहा जा सकता है। अत उक्त साम विचारकों के मिदान्तों में विरोध होने पर भी जो साध्यगत साकृत्य देखते थे तो मिलता है, यह इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य की तर्कता शक्ति पर आधारित संदान्तिक विरोध उपर्युक्त सत्यान्वेषण की साधना से विचित नहीं कर सकता।^१ इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादा शकराचार्य एव रामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों के मिदान्तों का परस्पर विरोध स्वा भाविक एव मगत ही है। इसके अनिरिक्त विशेषतया ज्ञान एव भक्तिमम्बन्धी मिदान्तों पर आधारित उपर्युक्त आचार्यों की दर्शन पद्धतिया इस रूप में और उपर्योगी रही है जि पात्रत्व की मिलता को दृष्टि से भक्तिभावसम्पन्न हृदयों एव ज्ञानवीजसम्पन्न जीवों को पृथक्-पृथक् पर्यप्रदर्शन मिल गया है। जहा तक, ज्ञान एव मक्ति पर आधारित उपर्युक्त दर्शनपद्धतियों वी सफलता का प्रदर्शन है, कृष्ण ने गीता में स्पष्ट रूप से कहा है कि भक्त भी परमात्मा की प्राप्ति करते हैं और परमात्मा ज्ञानगम्य भी है।^२ जहा तक शास्त्रीय दृष्टि से शाकर वेदान्त और रामानुजाचार्य आदि वे मिदान्तों वे विरोध विवेचन का प्रश्न है, वहा यह कहा जाएगा जि श्रुतिसाम्मत्य, सिदान्तप्रणिष्ठा, तकङ्गुणता, वैज्ञानिक विवेचनशीलता, दार्शनिकता और सुस्पष्टता के जो गुण शकराचार्य के दर्शन में मिलते हैं, वे इतर दार्शनिकों के दर्शन में नहीं। यही कारण है जि रामानुज प्रभृति अनेक आचार्यों द्वारा शकर वेदान्त का निगदरण होने पर भी आज शाकर वेदान्त की प्रतिष्ठा मर्वीगरि है।

जैसा कि इस प्रकरण के अन्तर्गत देखा गया है, रामानुजाचार्य आदि का शकराचार्य का आतोचक एव व्याख्याना होने वे बारण शकराचार्य एव रामानुजाचार्य आदि के दार्शनिक मिदान्तों में परस्पर भास्य स्वाभाविक है। शकराचार्य के पूर्ववर्ती होने के कारण, रामानुजादि आचार्यों की दर्शनपद्धतियों के ऐसे विचार जो शाकर मिदान्त के समान हैं, शाकर वेदान्त से प्रभावित कहे जा सकते हैं। इस प्रकरण के अन्तर्गत, अद्वैत वेदान्त के साथ रामानुजाचार्य आदि के मिदान्तों का तुननात्यक विवेचन करते समय इन दर्शन पद्धतियों के साम्यमूलक विचारों का निष्पत्ति किया जा चुका है। इन साम्य मूलक विचारों के आधार पर शकराचार्य के पर्यन्ती रामानुजाचार्य आदि पर शकर वेदान्त का प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष प्रभाव स्पष्ट है। इस स्थिति पर उक्त दर्शनपद्धतियों के साम्यमूलक विचारों का पूरदृश्य अनावश्यक ही है।

१. "We are in a way maintaining the honour of human reason when we reconcile it with itself in the different persons of acute thinking and discover the truth, which is never entirely missed by men of such thoroughness, even if they directly contradict each other"

—J. Ward, A Study of Kant, p 11. से उद्धृत।

२. यान्तिमासपि ।—गीता ७।२३।
ज्ञान ज्ञानगम्य ।—गीता १३।१७।

सप्तम अध्याय

अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन

वेदान्तिक अद्वैतवाद और तान्त्रिक शब्दयद्वैतवाद

शब्दयद्वैतवाद तन्त्रशास्त्र के ही अंगभूत शाखतन्त्र का दार्शनिक सिद्धान्त है। 'तन्यते द्वित्तापंते ज्ञानमनेन,' इति तन्त्रम् के आधार पर जिस के द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है, उसे तन्त्र कहते हैं। उपर्युक्त कथन के अन्तर्गत तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति विस्तारार्थक तनु-धातु से ब्रैणादिक पट्टन् प्रत्यय के योग से सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त शैव सिद्धान्त के 'ऋगिक भागम्' के अन्तर्गत प्रदत्त तन्त्र की परिभाषा के आधार पर जो तत्त्व एवं मन्त्रों से समन्वित विविध विषयों का विस्तार से वर्णन करता है और साधकों की रक्षा करता है उसे तन्त्र कहते हैं।^१ क्रमिक-आगम की उन्नत परिभाषा के अन्तर्गत ज्ञान के साथ साधना पक्ष को भी सम्मिलित किया गया है। सामान्यतया तन्त्र शब्द का प्रयोग सांख्य,^२ योग, न्याय और धर्म शास्त्र आदि के लिए भी मिलता है।^३ परन्तु उसका साधनामूलक तन्त्रशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं सिद्ध किया जा सकता। व्युत्पत्तिमूलक वर्य विकासशील सिद्धान्तों के आशय का साथ नहीं देते। इसका फल यह होता है कि व्युत्पत्ति पीछे रह जाती है और सिद्धान्त विकसित होता जाता है। आगे चलकर तो सिद्धान्त से व्युत्पत्ति का सम्बन्ध कभी-कभी गवेषणा करने पर भी नहीं मिलता। अतः विस्तारार्थक 'तनु' धातु के आधार पर तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति वर्तमान तन्त्र शास्त्र के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं करती। मेरे विचार संजिस शास्त्र के अन्तर्गत साधना विशेष के द्वारा भोग एवं मोक्ष प्राप्ति की चर्चा मिलती है उसे 'तन्त्र' कहते हैं। और संक्षेप में, साधना विशेष को तन्त्र कहा जा सकता है। इस प्रकार तन्त्र के अन्तर्गत साधना पक्ष एवं दर्शन पक्ष या व्यायात्म पक्ष दोनों का योग है। यह बात दूसरी है कि तन्त्रशास्त्र के अन्तर्गत प्रादान्य साधना पक्ष का ही है। यही विशेषता तन्त्र और अद्वैतवेदान्तादि दर्शनपद्धतियों से उसे पृथक् करती है। वैसे, कंतिपय तन्त्रग्रन्थ और अद्वैतवेदान्त दोनों का ही मूल एवं चरमलक्षण एक ही है। दोनों का मूल वैदिक दर्शन एवं चरम लक्ष्यमोक्ष है। इस प्रकार तन्त्र और अद्वैत वेदान्त दोनों

१. तनोतिविपुलानयन् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।

श्राणं च कुरुतेयस्माद् तन्त्रमित्यभिवीयते ॥ क्रमिक भागम् ।

२. स्मृतिश्च तन्त्राल्यापरमर्पिणीता—ग्र० सू० शा० भा० २।१।

३. न्यायतन्त्राण्यनेकानि तंस्त्रैरुक्तानि वादिभिः ।

यतयो योगतन्त्रेषु यानिस्तुवन्ति द्विजातमः ॥

—महाभारत—दलदेवउपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ५११ से उद्धृत

४. Dr. P. C. Chakravarti's article : Philosophy of the Tantras (Jha commemoration volume p. 94-95).

ही शास्त्रों के अन्तर्गत वैदिक एवं ओरनियड मिद्दान्तों का ही विस्तार किया गया है, परन्तु तन्त्र और बद्वैत वेदान्त का यह भेद इष्टव्य है कि जहाँ तन्त्र में योग और भोग की योजना है वहा॒ वेदान्तिक योग के अन्तर्गत जीव की जगत् से निवृत्ति के विचार का बनपूर्वक समर्थन किया गया है।^१ पहा॒ यह कहना और मधोचीन होगा कि जहाँ तन्त्र की वैदिकता के अनेक प्रमाण गया है।^२ वहा॒ कुबृत-तन्त्रमध्यदाय ऐसे भी हैं जो वैदिकात्म हैं। इन वेदवाह्य तन्त्रपद्धतियों में प्रायः साधक के लिए मध्य भास, भीन, मुश और मंथुत के प्रयोग का समर्थन करने वाले कुलाचार^३ का विशेष रूप से उल्लेख किया जाता है परन्तु तन्त्र ग्रन्थों का सूक्ष्म अव्ययन करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि मद्यादि की स्थिति वाह्य न होकर सूक्ष्म है।^४ यहा॒ हमारे विवेचन का विषय तन्त्रशास्त्र की वैदिकता अथवा अवैदिकता का निर्णय न होकर तन्त्र दर्शन के शावत-सम्प्रदाय के अनुगार शम्भवाद एवं वेदान्तिक बद्वैतवाद की तुलना करना है। परन्तु यह नि सम्बोध इहा॒ जा॒ सकता है कि तन्त्रगत वर्मनाण्ड एवं ज्ञानराण्ड का मूलाधार बहुत कुछ वैदिक द्वाया॒ ही है।^५

प्रायः वडे वडे विद्वान् ममानोचक्त तन्त्र से वेबल शक्तिमध्यदाय का ही अर्थ प्रहण करते हैं जो नितान्त लेनुचिन है। तन्त्र शास्त्र के, शाहृण तन्त्र, बौद्ध तन्त्र और जैन तन्त्र के रूप में तीन प्राचार भेद हैं। शाहृण तन्त्रों के श्री पात्राचार, श्रीभाग्म और शाक्ताग्म रूप से तीन भेद हैं।

शब्दर्थवाद के मूलतत्त्व शक्ति की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता के विषय में मह-

१ Tantra is a union of Yoga and Bhoga .. The Vedantic yoga insists upon the withdrawal and aloofness of the conscious soul or Purusa from the world of nature.

(Shuddhanand Bharati's preface, Tantra Raj Tantra, Ganesh & Co. Madras 1954)

२ देलिए, श्री कण्ठाचार्य—श्रैव भाष्य २।२।३८, मनुस्मृति २।१ पर कुतूङ्भट्ट की टीका, कुत्ताण्डत तन्त्र २।१४०।

३ तन्त्र शास्त्र के अन्तर्गत शाक्त मार्म पशु भाव, वीरभाव और दिन्यभाग—यह तीन भाव हैं और इन तीन भावों के वेदाचार, वैष्णवाचार, धैवताचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौतानाचार—यह सात वाचार हैं।

४ कुलाण्ड और गन्धर्व तन्त्र के अनुमार भद्र का अर्थ वाह्य मदिरा न होकर ब्रह्मरूप में स्थित गहन्य क्षमता से लारिन सुना है, जिसका पात गाथा रोचकी भुद्वा के द्वारा करता है। कुलाण्ड तन्त्र के अनुमार जो पुन्न पुण्य और पाप रूपी पशुओं को ज्ञान रूपी खड़ग के द्वारा मारकर अपने मन को ब्रह्म में सोने करना है, वही भाष्मभोगी है। यागम भार के अनुमार जो भाष्म प्राणायाम के द्वारा इवाय-प्रश्वास का बन्द करके कुम्भक के द्वारा प्राणवायु को सुपुस्ता के भीतर ले जाना है, वही यथार्थ रूप से भूत्या साधना करने वाला है। शरोरस्थ इडा तथा गिंगला (गगा यमुना) में प्रवाहित होने वाले इवाय-ओर-प्रश्वास ही दो मन्त्र हैं। विजय तन्त्र के अनुमार अमृत मग के त्याग का नाम मुद्रा है। मंथुत मट्यार में स्थित शिय तथा कुट्टान्तिनों या सुपुस्ता तथा प्राण के मिलन का नाम है।

५ Jha Commemoration Volume, p 96

कहना उचित ही होगा कि शक्ति का सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितनी ऋग्वेद संहिता। ऋग्वेद संहिता के वागाभ्यूणी नूक्त के अन्तर्गत वान्देवी का जो उल्लेख किया गया है,^१ उसे शाक्त तंत्रों के महान् प्राचार की भित्ति कहा जा सकता है। प्राचीन उपनिषदों में शक्ति को सर्वोच्च तथा संसार की पाजनकर्त्री कहा गया है,^२ पुराणों में शक्ति का वर्णन छण्डी एवं अन्य विविध देवियों के रूप में भिन्नता है। समस्त विद्याओं और स्त्रियों को भी देवी के ही भेद के रूप में चिह्नित किया गया है।^३

शक्ति का यह भाव्युपासना का रूप भी अन्यन्त प्राचीन है। बारम्भ में यह उपासना अर्द्धनारीश्वर के रूप में होती थी।^४ इनके अतिरिक्त शब्द एवं पुलिन्द भी शक्ति के उपासक थे।^५ कतिपय विद्वानों का मन तो यह भी है कि शक्ति पूजा का विकान बौद्ध धर्म के माध्यम से ही सम्पन्न हुआ था।^६ बौद्ध धर्म के अन्तर्गत धर्म की पूजा स्त्री देवता के रूप में होती थी। बौद्धों के हारा आदि माता एवं बुद्ध माता के रूप में स्त्री देवता की पूजा की जाती थी। आदि-माता समस्त तथागतों की माता समझी जाती थी।^७ इनके अतिरिक्त नेपाली बौद्ध धर्म के अन्तर्गत हमें शाक्त तन्त्र की तरह देवी के कुमारी एवं माता आदि अनेक रूप मिलते हैं।^८

उपर्युक्त संकेतात्मक विवेचन से तन्त्र के शक्ति नम्बन्धी सिद्धान्त की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता स्पष्ट है। शक्ति तत्त्व पर आधारित यह शक्त्यद्वैतवाद की व्यपरेक्षा हम द्वितीय अध्ययन के अन्तर्गत अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि के रूप में दें चुके हैं। अतः यहां उनकी पुनरावृत्ति न कर अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद के प्रमुख-प्रमुख मिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा करें।

तुलनात्मक समीक्षा

अद्वैतवाद एवं शक्त्यद्वैतवाद सिद्धान्तों में पत्स्पर नाम्य और वैपस्य दोनों ही मिलते हैं। यहां अद्वैतवादी के ब्रह्म आदि एवं शक्त्यद्वैतवादी के शक्ति आदि सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

अद्वैतवादी का ब्रह्म और शक्त्यद्वैतवादी का शक्तितत्त्व

अद्वैतवाद दर्शन के अनुसार ब्रह्म सर्वोच्च मृत्यु के रूप में स्वीकार किया गया है। अद्वैतवादी का यह ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप है। शाक्त दर्शनपद्धति के अन्तर्गत ब्रह्म का स्थान शक्ति ने प्रहृण किया है। शाक्त दर्शन में शक्ति स्वयं ब्रह्मस्वरूपिणी है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द रूप है, उसी प्रकार शक्ति भी सञ्चिदानन्द स्व-

१. ऋग्वेद १०। १२५।

२. द्या० ८० ३। १२ तथा देखिए वृ० ८० ५। १४।

३. दुर्गा सप्तशती ११५।

४. D. C. Sen : History of Bengali Language & Literature, p. 261.

५. E. R. E. V. p. 118, Article—Durga.

६. Mahamahopadhyaya Har Prasad Shastri : Modern Buddhism, p. 27.

७. Nical Macnical : Indian Theism p. 183. (Oxford University Press)

८. Modern Buddhism, p. 127.

रूपिणी है।^१ यदि कहा जाए कि शक्ति तो शक्तिमान् शिव में रहती है, अतः शक्ति ब्रह्मस्वरूपिणी किम प्रकार हो सकती है? तो यह उचित नहीं है। नयोःकि शक्ति एव शक्तिमान् मे अभेद है।^२ अन् शक्ति ब्रह्मस्वरूपिणी है।^३ ब्रह्म एव शक्ति दोनों ही जगत् के निमित्त कारण एव उपादान कारण हैं। परन्तु दोनों की कारणता में यह विशेष अन्तर है कि ब्रह्म स्वयं निमित्त भारण एव अपनी अनिवचनीय माया शक्ति के द्वारा उपादान भारण है और शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति स्वयं ही उपादान कारण एव निमित्त कारण दोनों हैं। हाँ, यह शक्ति भी चित् शक्ति के रूप में निमित्त कारण एव माया शक्ति के रूप में उपादान कारण है। इस प्रकार ब्रह्म वी माया शक्ति एव शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति में अन्तर होने के कारण दोनों पद्धतियों के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी पर्याप्त भेद की स्थापना हो गई है। अतः हम यहाँ पहले अद्वैतवादी की माया शक्ति और शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति की तुलनात्मक समीक्षा करेंगे और फिर जगत् की।

अद्वैतवादी की माया और शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति

अद्वैतवादी की माया अचित्, एव सन् तथा असत् से विलक्षण होने के कारण अनिवचनीय एव मिथ्या है। इसके विपरीत शक्त्यद्वैतवाद के अनुरूप शक्ति सन् चित् एव आनन्दस्वरूपिणी माया ही अज्ञानी को जडवत् प्रतीत होती है।^४ वस्तुतु वह अद्वैतवादी की माया वी तरह जड एव मिथ्या नहीं है। शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार शक्ति विद्या एव अविद्यास्वरूपिणी है। अपनी अविद्याशक्ति के द्वारा ही शक्ति अपने विद्या रूप या चित् रूप को अत्यधिक कर लेती है। इस स्थल पर अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद का यह अन्तर उल्लेखनीय है कि अद्वैतवाद के मायावाद सिद्धान्त के अनुरूप मिथ्या एव जड जगत् आरोप के भारण सत्य प्रतीत होता है, जबकि शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत समस्त चित् रूप जगत् द्रष्टा को उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद के शक्तिसम्बन्धी सिद्धान्तों में अन्तर होने के कारण दोनों के जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी भेद मिलता है। यहा दोनों सिद्धान्तों के अनुरूप जगत् सम्बन्धित विवेचन विया जाएगा।

अद्वैतवादी और शक्त्यद्वैतवाद के अनुसार जगत् का स्वरूप

अद्वैतवाद के पोपक शाकर वेदान्त के अन्तर्गत प्रातिभासिक, व्यावहारिक एव पारमार्थिक रूप से तीन प्रकार वीसत्ताएँ स्वीकार की गई हैं। प्रातिभासिक सत्ता वा उदाहरण शुक्लिन में भासित रजत, व्यावहारिक सत्ता वा उदाहरण मायिक जगत् और पारमार्थिक सत्ता वा

^१ कुलचूडामणि तन्त्र ११६।

^२ सौन्दर्य लहरी, इलोक, १, शारदातिलक तन्त्र प० ३।

Mahamaya, Introduction, p 5, The World As Power p 76,

^३ It is Brahman then, for power (Shakti) & the possessor of power (Shaktuman) are one & the same, Wood Rosse, Shakti & Shakta p 370

^४ To the Shakta Maya is the mother power-MAHAMAYA-who in herself (Svarupa) is consciousness and who by her maya appears to be unconscious (MAHAMAYA, p 100, F N)

उदाहरण परम्परा है। इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद के अनुरूप जगत् व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत होने के कारण परमार्थ दृष्टि से असत् है। अतः परमार्थ दृष्टि से असत् होने पर भी जगत् शशशृंग अथवा बन्धा पुत्र के समान असत् नहीं है। अतः व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ जगत् सत्य है, वहाँ पारमार्थिक विचार के अन्तर्गत वह मिथ्या है। जैसा कि अभी संकेत किया जा चुका है, परमार्थ दृष्टि से तो ब्रह्म मात्र ही सत्य है। उक्त विचार के आधार पर ही अद्वैतवाद सिद्धान्त की प्राण प्रतिष्ठा हुई है। इसके विपरीत शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत उक्त अद्वैतवाद विचारधारा की सत्तात्रय कल्पना स्वीकार नहीं की गई है। शक्त्यद्वैतवाद के समालोचकों ने तो व्यावहारिक सत्ता की कल्पना को अद्वैतवाद का वाधक माना है।^१ शक्त्यद्वैतवाद के समालोचकों का तर्क है कि अनिर्वचनीय सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) के रूप में जगत् की सत्ता को स्वीकार करना द्वैतवाद का ही समर्थन करना है, परन्तु यह समीचीन नहीं है, क्योंकि क्षणभंगुर जगत् परन्त्रात्मत्व के समान सत्य नहीं है। परन्तु उसकी सत्ता को अस्वीकार करना भी असम्भव है। अतः अनिर्वचनीय माया से जन्य जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करने से अद्वैतवाद के प्रतिपादन में कोई वादा नहीं पड़ती। यह और विचारणीय है कि जब जीव को ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है तो उसे जगत् और ब्रह्म का भेद नहीं दिखाई पड़ता। ब्रह्म वेत्ता स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है—‘ब्रह्मं विद् ब्रह्मैव भवति’।

शक्त्यद्वैतवादी का विचार अद्वैतवादी के उपर्युक्त विचारानुसार जगत् के मिथ्यात्व के विपरीत है। उसे अद्वैतवादी की न व्यावहारिक सत्ता स्वीकार है और न अनिर्वचनीयता। यह हम पहिले ही कह चुके हैं कि शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत ‘शक्ति’ अद्वैतवादी की माया की तरह मिथ्या नहीं है। शक्त्यद्वैतवादी की शक्ति पूर्णतः सत्य है। अतः शक्त्यद्वैतवादी का कथन है कि सत्य शक्ति से उत्पन्न जगत् मिथ्या न होकर पूर्णतया सत्य है।^२ इस प्रकार शक्त्यद्वैतवादी परिणामवाद का समर्थक है और अद्वैतवादी आरोपवाद एवं विवर्तवाद का। इस प्रकार अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद सिद्धान्तों के जगत् सम्बन्धी विचार में पर्याप्त भेद मिलता है।

अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत मोक्ष का तुलनात्मक विवेचन

अद्वैतवादी और शक्त्यद्वैतवादी दोनों का चरम साध्य मुक्ति है। परन्तु शाक्त मत में शक्ति की उपासना भूक्ति एवं मुक्ति दोनों की प्रदात्री वत्तलायी गयी है। इस प्रकार शाक्त मत में शक्ति के विना मुक्ति वसम्भव है।^३ शाक्त मत में जगत् के विषयों का धर्मानुसार किया गया भोग मोक्ष का साधक ही है।^४ अद्वैतवाद और शक्त्यद्वैतवाद की मोक्षसम्बन्धिनी विचारधारा

१. Mahamaya, p. 124.

२. If the first or cause is real, so is the second or world. Shakti and Shakta, p. 370.

३. शक्तिं विना न वै मुक्तिः शक्तिमौक्षप्रदामता। —शक्तिसंगमतन्त्र ४।८०।
Gackwad Oriental Series, Vol. CIV.

४.The Kaula teaches liberation through enjoyment, that is the world. The path of enjoyment is a natural one. There is nothing bad in enjoyment itself, if it is according to Dharma. —Shakti and Shakta, p. 377.

का यह मौलिक भेद द्रष्टव्य है कि अद्वैतवाद मिद्धान्त के अनुमार वन्धन और मोक्ष का विचार पारमार्थिक न होकर व्यावहारिक एवं मार्यिक है।^१ परमार्थत आत्मा शुद्ध एवं मुक्त है। समस्त वन्धन अज्ञान जग्य हैं। वन्धन और मोक्ष की चर्चा ठीक वैसी ही है जैसे कि किसी वन्ध्या स्त्री का पुत्र स्त्रीजने पर उसका दुख शास्त्र करते के लिए अनेक प्रकार की मान्त्रवनाएँ दी जाएँ।^२ परन्तु अद्वैतवादी की उपर्युक्त विचार दृष्टि के विपरीत शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत वन्धन एवं मोक्ष का प्रश्न व्यावहारिक वयवा काल्पनिक न होकर पूणतया तात्त्विक है। शक्त्यद्वैतवादी के मतानुमार वन्धन मोक्ष थोर जगत् मरणम्प हैं। वन्धन और मोक्ष की दानी, शक्ति है। साधक माधना के द्वारा मुक्ति प्राप्त बरता है।

दोनों पद्धतियों के सिद्धान्तों के वन्धनसम्बन्धी विचारों का यह सूक्ष्म अन्तर देखने पोष्य है कि अद्वैतवाद के अनुमार जीव अविद्या के कारण भिन्ना जगत् को सत्य समझ बर जगत् के ममत्वादि वन्धन म फस जाता है और शक्त्यद्वैतवादी के मतानुस्पष्ट जीव जगत् के वास्तविक रूप—चित् रूप का साक्षात्कार न करके उसे अविद् (जड़) समझकर जगत् के जड वन्धनों म फसता है। अन्तनोगत्वा अद्वैतवादी एवं शक्त्यद्वैतवादी होना ही के विचार 'सर्व खल्विद् ब्रह्म' के रूप म पर्याप्ति होते हैं। अद्वैतवाद के अनुमार मुक्त जीव स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है और शक्त्यद्वैतवाद के अनुमार साधक स्वयं दृष्ट हो जाता है।^३

मुक्ति की उपलब्धि मे ज्ञान की प्रक्रिया अद्वैतवादी एवं शक्त्यद्वैतवादी दोनों की दृष्टि मे समान ही है। अद्वैतवाद मिद्धान्त के अनुमार जीव स्ववृप्त ब्रह्म ही है उसकी जीव मत्ता अविद्याजग्य है। शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत भी जीव को शिव रूप बतलाया गया है।^४ अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत जीव और परमात्मा के ऐक्य ज्ञान के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति बतलायी गई है। इसी प्रश्नार शक्त्यद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत भी जीव और आत्मा के ऐक्य रूप योग का सम्बन्ध मिलता है।^५ इसके अन्तिरिक्त अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत जिस प्रकार भुमुखु के लिए शुभाशुभ वर्म का त्याग एवं ज्ञान अनिवार्य साधन के रूप मे बतलाया गए हैं, उसी प्रकार शाक्त दर्शन मे भी उनका महत्व स्वीकार किया गया है।^६ अद्वैतवादी शक्तराचार्य ने जिस प्रकार निर्मल अन्त वरण धारा को मोरा का पात्र बतलाया है, उसी प्रकार शाक्त दर्शन मे भी जिसका अज्ञान क्षीण हो गया है, ऐसे निर्मल अन्त वरण वाले ज्ञानियों दो ही मुक्ति का भाजन बहा है।^७

१. बन्धमोक्षोपदेशादि व्यवहारोऽपिमायया। —मानसोन्ताम २१५६ अठ्यार, मद्रास।

२. देविए—J N Mazumdar's paper, The Philosophical, religious and social significance of the Tantra Shashtra, July, 1915

३. साधकोऽहम्बूपीस्यात् ब्रह्मज्ञानप्रसादत्, रुद्रप्राप्त—Jha Commemoration Volume, p 96 से उदृत, तथा देविए—बलदेव उपाध्याप भारतीय दर्शन, पृ० ५१३।

४. जीव शिव शिवोजीव म जीव वेवल शिव। —कुलांगं तत्त्व ६११२।

५. ऐदग जीवान्यन्तराहु योग योगिश्चारस्त्। —कुलांगं तत्त्व ६१३७।

६. यावन क्षीयते वर्म शुभदराम्भमेववा।

तावन्त्रजायो मोरो नुणा वृण्पदातेरपि॥—महानिर्वाण तत्त्व १४१०६।

तथा देविए—महानिर्वाण तत्त्व १४१११।

७. देविए—गीता भाष्य १२।१७, स्वच्छेषुप्रनिविष्ववत् (आत्मबोध)।

ज्ञान तत्त्वविचारेण निष्कामेणापि॒मेणा।

जायने धीरणतमसा विदुया निर्मलतमानम्॥—महानिर्वाण तत्त्व १४।१२।

इस प्रकार शक्त्यद्वैतवादी के ज्ञानपक्ष पर शांकर अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह प्रभाव इससे और सिद्ध होता है कि शाक्त मत में विदेह मुक्ति को स्वीकार करते हुए शंकराचार्य के मत का संकेत भी दिया गया है।^१

जपर किए गए विवेचन के अनुसार हमें वेदान्तिक अद्वैतवाद एवं शक्त्यद्वैतवाद के सिद्धान्तों में भेद एवं अभेद दोनों मिले हैं। इसके वितरित शाक्त तन्त्र के दार्शनिक सिद्धान्त को शक्त्यद्वैतवाद के रूप में ग्रहण करने पर कुछ ऐसी समस्याएं रह जाती हैं जो अनुत्तरित हैं। यहां उनका निष्पत्ति उपयुक्त होगा।

शक्त्यद्वैतवाद की कुछ समस्याएं

शक्त्यद्वैतवाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन शाक्त तन्त्रों का प्रमुख विषय नहीं है। यह तो शाक्त तन्त्रों के दार्शनिक दृष्टि से किए गए समालोचन का फल है कि उनमें शक्त्यद्वैतवाद नामक दार्शनिक सिद्धान्त का विकास मिलता है। परन्तु शाक्त तन्त्रों में शक्त्यद्वैतवाद नाम के दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार करने में कुछ ऐसी समस्याएं रह जाती हैं, जिनका उत्तर शाक्त तन्त्रों के अन्तर्गत अप्राप्त है। शाक्त तन्त्रों का उद्देश्य किसी दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना न होने के कारण, शक्त्यद्वैतवाद की इन समस्याओं को तन्त्र शास्त्र का दोष नहीं कहा जा सकता। शक्त्यद्वैतवाद की यह समस्याएं अधोलिखित हैं—

(१) शक्त्यद्वैतवादी ने एक ही शक्ति के चित् शक्ति और जड़ शक्ति^२ या विद्यामूर्ति और अविद्यामूर्ति के रूप में जो दो भेद बतलाए हैं, वे अद्वैतवाद की स्थापना में वाधक हैं।

(२) शक्ति के विद्यामूर्ति और अविद्यामूर्ति ये दो भेद मानते पर यह शंका स्वाभाविक है कि अविद्यामूर्ति परमार्थ सत्य है अथवा परिवर्तनशील माना जाएगा तो यह नित्यान्त असमीकृत है, क्योंकि शक्ति, जो परमात्मस्वरूप है, उसे परिवर्तनशील करने माना जा सकता है? इसके विपरीत यदि कहा जाए कि अविद्यामूर्ति परमार्थ सत्य है तो यह भी असंगत है, क्योंकि अविद्या मूर्ति को परमार्थ सत्य के रूप में स्वीकार कर लेने पर तो मेरेका प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। इस प्रकार शाक्त मत की अविद्या मूर्ति की कल्पना पूर्णतया शक्त्यद्वैतवाद की विरोधिनी है।^३

(३) शक्त्यद्वैतवादी का कथन है कि शुद्ध चित् शक्ति अपने चित् रूप को आच्छान्न कर लेती है और द्रष्टा को अचित् रूप में दिखाई पड़ती है। परन्तु शक्त्यद्वैतवाद के अन्तर्गत शक्ति के अपने चित् रूप को आच्छान्न करने का कारण स्पष्ट नहीं है।

शक्त्यद्वैतवादी समालोचकों ने शाक्तगतसम्मत प्रकृति एवं विकृति के एकत्व को, द्वैत तथा अद्वैत मत के पक्षपातियों के महान् द्वन्द्व को निवारण करने वाली प्रमुख देने के स्पष्ट में माना है।^४ इन शाक्त मतानुयायी समालोचकों का विचार है कि जगत् प्रकृति शक्ति का

१. देहान्ते शाश्वती मुक्तिरिति शंकरभाषितम्।

—Jha Commemoration Volume, p. 96 से उदृत।

२. चित्तविकृतश्चेतनारूपा जड़शक्तिर्जंडातिमका।—लतिता सहस्रनाम १४।

३. *Shiv Chandra Bhattacharya : Principles of Tantra*, Ganesh & Co. Madras, p. 200.

विद्वार होने के बारण मर्य है। अत शाक्त मन के अनुभार द्वैत भी है और अद्वैत भी। द्वैत इमलिए है कि अग्नि के समस्त दृश्यमान पदार्थ सत्य हैं और अद्वैत इसलिए है कि चित् शक्ति का अस्तित्व सर्वत्र एव सर्वदा है।^१ परन्तु यहा यह कहना उपयुक्त होगा कि शाक्तमध्यदाय उक्त मिदाल्त की स्थानना मे सफल नही हो सका है। मूलतया ब्रह्मपिणी चित् शक्ति से विकार की उत्पत्ति की कल्पना ही निरर्थक है। जहां तक साधना पक्ष की बात है, वहा न द्वैत सहायक है और न अद्वैत ही। कुलाणंव तन्त्र मे शिव ने स्वयं कहा है कि कुछ दैन और कुछ अद्वैत प्रिय हैं, परन्तु ये दोनों ही मेरे वास्तविक स्वरूप वो नही समझते, जो दैताद्वैतविवर्जित है।^२

तन्त्र शास्त्र के ग्रन्थो मे कलियुग मे तात्त्विक उपासना का विशेष महत्व बताया गया है। कही-कही तो यह भी वह दिया है कि कलियुग मे विना आगमनार्थ के गति ही नही है।^३ कलियुग अथ युगो की वरेक्षा पाप एव दत्तात्रार का युग है। ऐसे युग मे ज्ञान के द्वारा मुक्ति की उपलब्धि उत्पन्न दु मात्र्य है। इसीलिए तन्त्र ग्रन्थो मे, तात्त्विक उपासना का कलियुग मे विशेष महत्व बतायाया गया है। तन्त्र शास्त्र की शाक्त आराधना का विषय पारलीक्रिक होने के साथ-साथ लौकिक भी है। इस शास्त्र की इससे अधिक लौकिकता और कथा हो सकती है कि इसमे भैयुन भी आराधना का आग है।^४ शाक्त मन के अन्तर्गत स्त्रीपूजा के समर्थको का विचार है कि जिम प्रकार रगरेज रग के द्वारा किसी वस्त्र के वर्णचिह्नों को द्वारा कर देना है, उसी प्रकार सम्मोगादि 'विषस्य विषमीदधम्' के अनुभार साधक वी वृत्ति को शुद्ध करने मे समर्थ होते हैं।^५ अत यह नि सकोच रूप से स्वोकार किया जा सकता है कि तन्त्र मन की स्त्री-उपासना या शक्ति-उपासना के बारण शाक्त साधना ज्ञानपुष्ट अद्वैत साधना की अपेक्षा अधिक मरम्म है। किसी-किसी समालोचक ने तो स्त्री-उपासना से सम्बन्धित कोमलता को ही शाक्त आराधना वे प्रधार प्रसार का प्रधान कारण माना है।^६

वेदान्तिक अद्वैतवाद और काश्मीरी शैवदर्शन का ईश्वराद्वयवाद

कल्पिका—दीन तन्त्र की साधना का प्रमुख तत्त्व शिव तत्त्व है। वेदिक वाल से लेकर आज तक के साहित्य में शिव तत्त्व की साधना के अनेक रूप मिलते हैं। यद्यपि एस० ब० बेल-यत्कर एव आर० दी० रानाहे प्रभृति भारतीय दर्शन के समालोचक द्विदानो ने दीन तन्त्र का मूल दृश्यम महाभारत से ही माना है,^७ परन्तु इस लेखक के दृष्टिकोण से शिव तत्त्व का मूल

१. चिद्रगणनचन्द्रिका, इतोक ५६।

२. कुलाणंव तन्त्र, १। १०।

३. सत्यसत्यपून सत्य सत्य सत्य मयोध्यते।

दिनाह्नाप्रभमर्त्तेण कसौ नालिकाति त्रिये—महानिर्वाण तन्त्र २। ७।

४. वर्षूरादिस्तराज १०। तदा देविए—वर्षूरादिस्तराज १० की व्याख्या—गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास।

५. Poussin's Opinions, pp 403, 405, 406

६. D. C Sen : History of Bengali Language & Literature, p. 251.

७. S. K Belvalkar and Ranade : History of Indian Philosophy, Vol VII, p 5, Poona 1933.

क्षोत हमें किसी न किसी रूप में ऋग्वेद में ही मिलता प्रारम्भ हो जाता है। ऋग्वेद में रुद्र के स्वरूप का उल्लेख अनेक स्वलों पर मिलता है।^१ ऋग्वेद के अन्तर्गत ही रुद्र शिव को सर्वोच्च शक्ति का रूप दिया जा चुका था।^२ यजुर्वेद का शतरुद्रीय अव्याय तो शिवारावना के लिए प्रसिद्ध ही है। इस अव्याय के अन्तर्गत एक रुद्र के स्थान पर अनेक हृद्रों की चर्चा मिलती है। इसके अतिरिक्त रुद्र के लिए पशुपति, कपर्दी, गर्वं भव, शम्भु और शिव आदि शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। अथर्ववेद के अन्तर्गत रुद्र के स्वरूप का वर्णन और उच्चतर स्थिति के रूप में किया गया है। अथर्ववेद में भी रुद्र के अनेक नामों की चर्चा है, परन्तु वहाँ रुद्र के पृथक्-पृथक् नामों के अनुमार पृथक्-पृथक् देवताओं की कल्पना भी की गई है। उदाहरण के लिए, रुद्र के नामों में से भव और शर्व को अथर्ववेद में पृथक्-पृथक् देवताओं के रूप में विवित किया गया है और इन्हें द्विपदों एवं चतुर्पदों का शासक कहा गया है।^३ शतपथ ब्राह्मण एवं कौपी-तकि ब्राह्मण में रुद्र को उपम् का पुत्र बतलाया गया है।^४ उक्त ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति द्वारा दिए गए रुद्र के अष्ट नामधेयों—रुद्र, शर्व, उग्र, अशनि, भव, पशुपति, महादेव और ईशान नामों की चर्चा भी मिलती है। इनमें रुद्र, शिव, उग्र और अशनि संहार शक्ति के सूचक हैं और भव, पशुपति महादेव और ईशान आरम्भक शक्ति के। गृह्ण नूत्रों में रुद्र का उल्लेख भयानक देव के रूप में मिलता है।^५ उपनिषदों में भी रुद्र शिव के स्वरूप का वर्णन विविध रूप से मिलता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्तर्गत महेश्वर को माथी कहा है।^६ केनोपनिषद् में संकेत रूप से शिव की पत्नी के रूप में उमा की चर्चा मिलती है (केनोपनिषद् ३।१२)। उत्तर-कालिक उपनिषद् अथर्वगीर्य में रुद्र का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। अथर्वशीर्षोपेण-निषद् में रुद्र का ब्रह्म रूप में भी वर्णन मिलता है।^७ वैदिक साहित्य के अतिरिक्त पुराणों में शिव-वर्णन के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत अर्जुन के पाशुपतास्त्र मांगने और उसके प्राप्त करने का वर्णन किया गया है। अनुशासन पर्व में कृष्ण के द्वारा महादेव के माहात्म्य का वर्णन भी मिलता है। शिव पुराण का तो प्रवान विषय ही शिव के स्वरूप, महात्म्य एवं साक्षना का निरूपण है।

ऊपर किए गए विवेचन से हमें शैव दर्शन की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता का स्पष्ट रूप से ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार वैदिक एवं उत्तर वैदिक साहित्य में जो रुद्र शिव एवं शिव के अनेक रूपों से सम्बन्धित वर्णन मिलते हैं, उनमें शैव दर्शन के लीजतत्त्व—शिव का उत्तरोत्तर विकास दिखाई पड़ता है। अनेक शैवानामों की रचना भी शैव सिद्धान्त के उत्तरोत्तर विकास का ही फल है।

शैव सम्प्रदाय—वामन पुराण के अन्तर्गत शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक के

१. ऋग्वेद ७।४६।३, १।१।१।१, ७।४६।२, १।४३।४, २।३।३।४, १।१।४।६।

२. Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. IV, p. 146.

३. अथर्ववेद, ४।१८।१।

४. शतपथ ब्राह्मण ६।१।३।७, कौपीतकि ब्राह्मण ६।१।६।

५. Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. VII, p. 151.

६. माधिनं तु महेश्वरम्।—स्वे० उ० ४।१०।

७. अथर्वशीर्षोपेण-निषद्—३।३।

भेद से चार सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है।^१ शक्तराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में माहेश्वरों के मत का उल्लेख किया है।^२ माहेश्वर शब्द को स्पष्ट करते हुए भास्मीकार एवं रत्नप्रभाकार ने बामन पुराण के कालदमन वै स्थान पर कार्यिक सिद्धान्ती नामक सम्प्रदाय की चर्चा की है। अन्य सम्प्रदाय वामन पुराण के समान ही भाने हैं।^३ कार्यिक सिद्धान्ती के ही स्थान पर शाकर भाष्य के टीकाकारों ने तरह मिद्धान्ती नामक सम्प्रदाय का भी संकेत किया है।^४ रत्नानुज तथा वेश्वर कालमीरी ने कालक सिद्धान्ती के स्थान पर कालमुख नामक मिद्धान्त का उल्लेख किया है।^५ यामुनाचार्य ने भी कालमुख नामक सम्प्रदाय का निर्देश किया है।^६ मेरे विचार से कालमुख वास्तव का ही सहृदृष्ट हृपान्तर है। इस प्रकार पाशुपत, शैव, कालमुख, और कापालिक, शैवों के ये चार विशेष सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त दीर्घ यत्न मत एवं कालमीर शैव भत्त के नाम से दो और उत्तरकालिक सम्प्रदाय मिलते हैं। दीर्घ यत्न भत्त का प्रचार दक्षिण भारत में हुआ था और कालमीर शैव भत्त का प्रचार-प्रसार उत्तर भारत में किया गया था।

उपर्युक्त पद सम्प्रदायों में से पाशुपत एवं शैव सम्प्रदाय द्वैतवाद के समर्थक हैं। उक्त दोनों सम्प्रदायों के अन्तर्गत जीव (पशु) एवं निव दोनों की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है। इन सम्प्रदायों में प्रधान को जगत् वा उपादान काला सिद्ध किया गया है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उत्तर कालिक शैव सिद्धान्त द्वैतवादी न होकर विशिष्टाद्वैतवाद का समर्थक प्रतीत होता है। वायवीयसहिता आदि उत्तरकालिक शैव सम्प्रदाय के प्रत्यों के अनुसार शिव उस शक्ति से सम्पन्न कहा गया है, जिसम जीव और जगत् के मूल तत्त्व वर्तमान हैं। इसके अतिरिक्त वापातिक एवं कालमुख सम्प्रदाय भी द्वैतानुसर्त ही हैं। अद्वैत वेदान्त के प्रस्थापक शक्तराचार्य और कापालिका का विरोध लो प्रसिद्ध ही है। जहा तक कालमुख सम्प्रदाय का प्रश्न है, यह भी कापालिक सम्प्रदाय का ही उत्कृष्ट रूप है। जहाँ तक दीर्घ शैव सम्प्रदाय के दार्शनिक मिद्धान्त की समझा है इस मिद्धान्त के अन्तर्गत शिव को 'स्थल' कहा गया है। यह 'स्थल' भी अद्वैतवादियों के व्रह्म की तरह मृत्, निन् एव आत्मद स्वरूप है। परन्तु दोनों मिद्धान्त में पह विशेष अन्तर है कि दीर्घशैवसिद्धान्त के अनुरूप 'स्थल' अपनी सूक्ष्म शक्ति के द्वारा लिंगस्थल एवं अगस्थल रूपों में विभान्त हो जाता है। लिंगस्थल स्वयं शिवरूप तथा आराध्य है और अगस्थल जीव वा स्वरूप है। दीर्घशैव सिद्धान्त के उक्त वयन के विपरीत अद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जीव इहाँ वा अस या भाग न होकर अविद्योपाधिक है। इसके साथ ही साथ अद्वैत भत्त के अनुयायी एवं दीर्घ शैव पतानुयायी के विकासमन्वयी सिद्धान्त में भी अन्तर है। अद्वैतवाद मिद्धान्त के अनुरूप यहाँ परमात्मा की शक्ति मात्रा मिथ्या है, वहाँ वीर शैव सिद्धान्त के अन्तर्गत 'स्थल' रूप भी शक्ति में जीव एवं जगत् के मूल तत्त्व वर्तमान हैं। अतः

१ बामन पुराण ८४८६१।

२ द० मू०, या० भा० २१२३७।

३ चन्वारोमाहेश्वर — जीव, पाशुपत, कार्यिकमिद्धान्तिन वापालिकाश्चेति। अन्यप्रभा ब० मू०, या० भा० २१२३७ तथा देविए—ब० मू०, या० भा० २१२३७। पर भास्मी।

४ Collected Works of Sir R C Bhindarkar, Vol IV, p 172

५ वही p. 172

६ आगमप्रभाष्य, पृष्ठ ४८ ४६।

वार शैव सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद के समीप न होकर—रामानुजाचार्य के विगिष्टाद्वैतवाद सिद्धान्त के समीप है। परन्तु विगिष्टाद्वैतवाद एवं वीरशैव सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त में भी यह सूक्ष्म भेद विचारणीय है कि विगिष्टाद्वैतवाद मत में ब्रह्म के चिदचिद विगिष्ट होने के कारण उसमें जीव एवं जगत् के मूल तत्त्व स्थित हैं, जब कि वीरशैव सिद्धान्त के अन्तर्गत यह शिव की अवृत्ति ही है, जिसके द्वारा वह सृष्टि करता है।^१ उपर्युक्त पाशुपतादि पांच सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त काश्मीरी शैवदर्शन के अन्तर्गत अद्वैतवाद का बहुत कुछ समर्थन मिलता है। अतः यहां प्रथम काश्मीर शैव दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्त का निष्पत्रण किया जाएगा और फिर वेदान्तिक अद्वैत के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

काश्मीर-शैवदर्शन का सैद्धान्तिक रूप

उत्तरकालिक अद्वैतिक शैवदर्शन का प्रचार क्षेत्र काश्मीर होने के कारण ही इस दर्शन का नाम काश्मीर शैवदर्शन पड़ गया है। सूक्ष्म समीक्षा करने पर काश्मीरी शैव दर्शन के भी दो शास्त्रीय रूप मिलते हैं—एक स्पन्द दर्शन और दूसरा प्रत्यभिज्ञा दर्शन। अतः यहां दोनों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विवेचन करना उपयुक्त होगा।

स्पन्द दर्शन—स्पन्द दर्शन के प्रवर्तक स्पन्दकारिका के लेखक वसुगुप्त हैं। वसुगुप्त के ही शिष्य कल्लट स्पन्द दर्शन के प्रथम आचार्य हैं। इन्होंने स्पन्दकारिका पर स्पन्दसर्वस्व नामक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त क्षेमराज आदि स्पन्ददर्शन के कठिपय अन्य आचार्य भी मिलते हैं। स्पन्ददर्शन के अनुसार शिव सर्वोच्च तत्त्व है। यह शिव तत्त्व कर्ता एवं कर्म तथा ज्ञाता एवं ज्ञेय रूप है।^२ यद्यपि यह शिव तत्त्व जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में गतिशील रहता है परन्तु इसका ज्ञातृत्व कभी नप्ट नहीं होता। स्पन्ददर्शन का परमात्मा शिव मुख-दुःख, ज्ञान, ज्ञातृत्व एवं जडत्वादि से रहित होकर अद्वैततत्त्व रूप है।^३

स्पन्ददर्शन के शिव तत्त्व को संसार की सृष्टि के लिए न 'प्रधान' जैसे उपादान कारण की प्रावश्यकता है और न अद्वैत वेदान्तियों की मिथ्या माया की ही आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त स्पन्द दर्शन के अनुयायियों का शिव तत्त्व स्वयं उपादान कारण भी नहीं है। वह स्वेच्छा से जगत् की सृष्टि करता है। इस प्रकार स्पन्द दर्शन के अन्तर्गत परमात्मा-संकल्प भाव से अपने अद्वितीय स्वभाव से जगत् और संहार का कारण है।^४ यदि कहा जाए कि विना उपादान कारण आदि की सहायता के परमेश्वर-शिव किस प्रकार जगत् की सृष्टि-रचना में समर्थ होता है, तो इस सम्बन्ध में यह कहना संगत होगा कि जिस प्रकार मृत्तिका एवं वीजादि कारण के विना ही योगियों की इच्छा मात्र से धृत आदि कार्यं उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर भी विना उपादानादि कारण के जगत् की सृष्टि करने में समर्थ होता है।^५ स्पन्द शास्त्र

१. Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. IV, p. 195.

२. स्पन्दकारिका, पृष्ठ २६।

३. वही०, पृष्ठ ५।

४. अनेनस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य संकल्पमात्रेण जगदुत्पत्ति संहारयोः कारणत्वस्।—स्पन्दकारिका—१ पर कल्लट की वृत्ति।

५. मांधवाचार्यः सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ १७४।

के प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त ने भी परमेश्वर वो उपादानादि सामग्री एवं भित्ति के विना जगत् रूप चित्र का निर्माता कहा है^१।

जहा तक अनेक जीवों का प्रश्न है, यह परमेश्वर शिव के ही रूप हैं। परमेश्वर शिव अपनी माया दक्षिण के द्वारा अनेक जीवों के रूप में दृष्टिगोचर होता है और अपनी व्यतिरिक्ता परापराकृति को ज्ञान एवं ज्ञेय भाव से अवभासित दरता हुआ जागत्, स्वप्न दर्शा के व्यवहार का सचालन करता है^२।

स्पन्ददर्शन के आधार पर भगवान् शिव एवं जगत् की अद्वैतता का निरूपण करते हुए स्पन्दकारिका के टीकाकार धेमराज का कथन है कि भगवान् शिव अपने स्वातन्त्र्य भाव से अपृथक् जगत् के रूप को स्वभित्ति पर उसी प्रकार पृथक् रूप में प्रकाशित करता है, जिस प्रकार कि दर्पण नगर वास्तविक नार में अपृथक् होते हुए भी पृथक् रूप से प्रकाशित होता है^३। यहाँ तक परमात्मा शिव का जगत् के व्यवहारों से लिप्त होने का प्रश्न है, वह जगत् के व्यवहारों से उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार कि दर्पण प्रतिबिम्बित होने वाले पदार्थों से अस्पृष्ट रहता है। इस प्रकार स्पन्ददर्शन के आचार्यों ने शिव की परमायें एवं अद्वैत तत्त्व के रूप में स्पापना करते हुए अद्वैतवाद सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। स्पन्ददर्शन के अनुसार जीव और शिव में क्षेत्र है। परन्तु जीव 'मल' के कारण शिव रूपता को प्राप्त नहीं में असमर्थ होता है। इस 'मल' के भी तीन भेद हैं—आणव, मायीय और कार्मण। आणव मल के कारण जीव अज्ञान के कारण अपने व्यापक स्वरूप को भुलाकर अपने में अपूर्णता का अनुभव करता है। इसके भाव ही साथ आणव मल के कारण जीव देहादि को आत्मरूप मान लेता है। दूसरे प्रकार का मल 'मायीय' मल है। मायीय मल के प्रभाव वे कारण जीव देह रूप में सासार में भ्रमण करता है। अतः करणादि की प्रेरणा से जब इन्द्रिया क्रियाशील होती हैं तो कार्मण मल की उत्पत्ति होती है। कार्मण मल वी उत्पत्ति का कारण वह कर्म हो सकता है, जिसके विषय में कर्ता की सुख एवं दुःख के दाता सत् और असत् कर्म की धारणा बन गई है^४।

उपर्युक्त 'मल' का मूल 'नाद' है। नाद शिव की दक्षिण का स्त्री न्यू है। उसी से शब्द की उत्पत्ति होती है। नाद के मल का मूल होने का कारण यह है कि शब्द के विना कर्म के

१. अतएवोक्त वसुगुप्ताचार्य —

निरूपणादमभारमभित्तावेवतन्वने ।

जगच्छिवम् नमस्तस्मै क्लास्त्वाध्यायसुनिने ॥

—ग्राघवाचार्य सर्वदर्शन सग्रह, पृष्ठ १७४ १७।

- २ परमेश्वर एवं स्वप्नायावजाननानादेतत् स्पन्दनायावभासमान स्वामेव व्यतिरिक्ता परा शक्ति ज्ञानभेदभावेनावभासयन् जागरस्वप्नदशा व्यवहारमुद्भावयति। —स्पन्दकारिका १८ पर राम की टीका, तथा देखिए—N. B. Utagikar Report on Search for Sanskrit for 1883 ४ (Collected Works of Sir R G Bhandarkar, Vol 2, page, 204)
३. अग्निमण्ड भगवान् स्वप्नायावन्वयादननिरिक्तामपि व्यतिरिक्तामित्र जगदरूपता द्वितीय दर्पणनगरवन् प्रकाशयन् स्थित। —स्पन्दकारिका २ पर धेमराज की टीका, स्पन्दनिण्य।
४. देखिए—क्षेमराज शिवमूर्त्तिमणियो, मूल, १, २ और ३ (Published by the Kashmari Government)

आधार भूत भाव कारक एवं प्रेरक नहीं हो सकते। जब गम्भीर चिन्तन एवं सुदृढ़ योग के द्वारा साधक के हृदय में परमेश्वर का रूप प्रकाट होता है और तत्कलस्वरूप समस्त सीमित भावों का विलय हो जाता है तो समस्त मलों की निवृत्ति हो जाती है। इसी स्थिति में जीव परमात्मा रूप को प्राप्त हो जाता है। स्पन्द दर्शन में परमात्मा के साक्षात्कार को 'भैरव' कहते हैं।^१ स्पन्ददर्शन की यही संक्षिप्त रूप रेखा है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन—प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी स्पन्द दर्शन के समान बहुत मत का ही समर्थक है। माधवाचार्य ने प्रत्यभिज्ञा के निम्नलिखित तीन वर्य वतलाए हैं—

(१) वाह्याभ्यन्तर ज्ञान सुखादि समस्त सम्पत्तियों की सिद्धि तथा तत्त्वप्रकाश और उसकी पूर्ण प्राप्ति जिस प्रत्यभिज्ञा से हो, ऐसे महेश्वर की प्रतिमा के अभिमुख ज्ञान का नाम प्रत्यभिज्ञा है।

(२) प्रत्यभिज्ञा का एक लौकिक व्यवहार भी देखने में भाता है। उदाहरण के लिए, जोक व्यवहार में 'सोज्यं चैत्रः' (यह वही चैत्र है) इत्यादि स्थलों में अभिमुख वस्तुविषय के जो ज्ञान है उन्हें प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।

(३) तीसरे प्रकार की प्रत्यभिज्ञा, दर्शन से नम्बन्धित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अस्तर्गत पुराण, आगम एवं अनुसारादि से जात तथा परिरूप शक्तिमान् परमेश्वर के अभिमुख होने पर, स्वकीय ज्ञान के विषय में, अनुसन्धान द्वारा 'मैं वही परमेश्वर हूँ' इस प्रकार का जो ज्ञान उद्दित होता है उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।^२

प्रत्यभिज्ञा का उपर्युक्त तृतीय स्वरूप अद्वैत वेदान्त के 'स्वरूप ज्ञान' का रूप है। इस सम्बन्ध में तुलनात्मक विवेचन यथास्थान आगे किया जायेगा। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार जीव, जो स्वरूपतः परेश्वर शिव का रूप है, ज्ञान के कारण अनें स्वरूप को पहिचानने में अशक्त रहता है। जिस प्रकार कि कोई नायिका प्रेमी नायक के गुणों को सुन, उस पर आसक्त एवं कामातुर होकर, विरह पीड़ा के सहने में असमर्थ हो मदनलेखा के आलम्बन से अपनी विरह विदीर्ण अवस्था का निवेदन करती है तथा वेगपूर्वक नायक के पास पहुँच कर उसका अवलोकन करने पर भी पूर्व-अपरिच्छित एवं जनसाधारण के समान होने के कारण, अपने भाव को व्यक्त नहीं कर सकती, परन्तु किसी के द्वारा यह विदित होने पर कि 'तुम्हारा प्रिय पुश्प यही है' अपने हृदयगत भाव को स्पष्ट कर देती है, उसी प्रकार स्वात्मा में विश्वेश्वरात्मा भासित होने पर भी, विश्वेश्वरात्मा का प्रकाश गुणपरामर्श के बिना पूर्णता का सम्पादन नहीं करता। परन्तु जब गुण-वचनादि से सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि रूप परमेश्वर के उत्कर्ष का ज्ञान ही जाता है तो जीवात्मा पूर्णतया आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।^३ यदि कहा जाए कि पूर्ण प्रकाश स्वरूप परमात्मा जीव रूप को प्रकाशित करने में क्यों असमर्थ रहता है तो इस विषय में यह कहा जाएगा कि जिस प्रकार प्रेमी नायक अनेक प्रार्थनाओं द्वारा प्रेमिका के समीप स्थित होने पर भी अपरिच्छित होने के कारण एवं साधारण पुरुषों के समान होने के कारण रमण करने में समर्थ नहीं होता है, उसी प्रकार आत्म स्वरूप से प्रकाशमान विश्वेश्वर भी पूर्व-

१. विवसूत्रविमर्शिणी, १, ५।

२. माधवाचार्य : सर्वदर्शनसंग्रह—'प्रत्यभिज्ञा दर्शनम्'।

३. वही।

आपरिचिन होने से निज दंभव प्रकट नहीं करता। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के अन्तर्गत परमेश्वर अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है। इन प्रत्यक्ष शक्तियों में बिन्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ विदेश हैं, परमेश्वर अपनी चित् शक्ति से प्रभावित होकर ही विभिन्न जागतिक विषयों के स्थर में आसित होता है। यह परमेश्वर का योगी रूप है। इस प्रकार योगी रूप में परमेश्वर अधिष्ठान की अपेक्षा नहीं रखता।^१ इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अन्तर्गत परमेश्वर निव अद्वैत सत्य रूप है। आनन्द शक्ति के द्वारा परमेश्वर स्वाभाविक आह्वाद का निरपेक्ष अनुभव करता है। इच्छा शक्ति के कारण परमेश्वर स्वतन्त्र तथा अवाधित इच्छा शक्ति से सम्पन्न है। ज्ञान शक्ति से वह आनन्द ज्ञान सम्पन्न है, और क्रिया शक्ति से उसमें सर्वांकार ग्रहण करने की योग्यता है।^२

अद्वैत सत्य रूप परमेश्वरशिव को लिद करने वे तिए किसी प्रमाणान्तर की आवश्यन्ही है, क्योंकि वह सर्वप्रदाण पुष्ट है। तन्नालोककार ने निव तत्त्व का वर्णन मायाण्ड सज्जित ब्रह्म के रूप में किया है।^३ तन्नालोक के उक्त प्रकरण में मायाण्ड के द्वारा मायीय शिव की सृष्टि बतलाई गयी है परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तन्नालोककार अभिनव गुप्त द्वारा निर्दिष्ट परमात्मा की माया अद्वैत वेदान्त एव सार्स्यादि की माया से भिन्न है। उन्होंने माया को गोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छा शक्ति के स्था में चिह्नित किया है।^४ इसके अतिरिक्त रात्रानक क्षेमराजाचार्य ने परमेश्वर की माया के स्वरूप वा निरूपण प्रकृति,^५ आवरणशक्ति,^६ एव शक्ति^७ के रूप में ही बहलता के साथ किया है।

स्पन्द दर्शन और प्रत्यभिज्ञा दर्शन

प्राय काश्मीरांवदर्शन के मूल लेखकों एव आलोचकों ने स्पन्द दर्शन एव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों का पृथक्-पृथक् निरूपण एव विवेचन न करके दोनों सिद्धान्तों को पिसा दिया है। स्वयं माधवाचार्य ने ही स्पन्द दर्शन एव प्रत्यभिज्ञा दर्शन का पृथक् रूप सं विवेचन नहीं किया है। यद्यपि डा० बुहलर ने माधवाचार्य द्वारा सर्वदर्शनसंग्रह के अन्तर्गत विवेचित दौरदर्शन को स्पन्ददर्शन का ही रूप माना है^८ परन्तु बुहलर महोदय का उक्त कथन नितान्त असंगत है। अनन्त भूत की पृष्ठि में भेरा तर्क है कि माधवाचार्य ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन को सम्पूर्ण करते हुए गिर्व सूत्र—‘चंतन्यमात्मा’ तथा वसुगुप्त की एक कारिका को उद्दृत किया है।^९ इसके विपरीत माधवाचार्य ने सर्व दर्शन संग्रह के अन्तर्गत शैव दर्शन का विवेचन करते समय स्पन्द दर्शन के प्रबन्धक आचार्य वसुगुप्त अवधा रहने की स्थिति प्रत्यक्ष का उल्लेख तक नहीं दिया है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माधवाचार्य द्वारा विवेचित शैव दर्शन को स्पन्द दर्शन

१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञासूत्र, ५-६।

२. शिव मूर्ति विमलिणी, पृ० ५।

३. तन्नालोक ४। ४८६

४ तन्नालोक ४। २५४ तथा इसी स्थल पर देविए जयरथ की टीका।

५. प्रत्यभिज्ञा हृदय—१।

६. यहो, १७।

७. वही, ५।

८ Dr. Buhler's Report, 1875-1876.

९ Bibl Ind Ed 94-95

का मौलिक एवं सही सिद्धान्तिक रूप नहीं कहना चाहिए। इसके अतिरिक्त माधवाचार्य द्वारा विवेचित शैव दर्शन एवं वसुगुप्त के स्पन्द दर्शन में भेद भी है। उदाहरण के लिए, शैव दर्शन में शिव केवल निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं,^१ परन्तु स्पन्द दर्शन के अन्तर्गत परमेश्वर शिव संकल्प मात्र से हो सृष्टि की उत्पत्ति करता है। यहाँ तक स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तिक भेद का प्रश्न है, नीचे दिए गए विवेचन के अनुसार वह पूर्णतया स्पष्ट है।

स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों के अन्तर्गत यह मौलिक भेद है कि स्पन्द शास्त्र के अनुसार ध्यान के द्वारा साधक को पहले भैरव या महेश्वर का चित्त में दर्शन होता है और फिर समस्त मतों की निवृत्ति होती है, जिससे परमेश्वर का साक्षात्कार होता है, इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के अन्तर्गत जीव का अपने को ईश्वर रूप जानना ही परमेश्वर के साक्षात्कार का साधन है।^२ प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के प्रतिपादक आचार्य सोमानन्दनाथ का मत है कि एक बार प्रत्यक्षादि प्रमाण अथवा गुरुवाक्य यद्वा दृढ़ युतियों से सर्वभावस्थ शिवत्व का ज्ञान होने पर फिर अन्य साधनों अथवा भावना का प्रयोजन नहीं है। उदाहरण के लिए, सुवर्णार्दि का यथार्थ ज्ञान होने पर उसके साधन कसीटी आदि से प्रयोजन नहीं होता।^३

उपर किए गए विवेचन के अनुसार स्पन्दशास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है, परन्तु उक्त दोनों शैव दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत अद्वैतवाद की ही पुष्टि मिलती है। दोनों ही दर्शन पद्धतियों में जीव एवं परमात्मा के ऐक्य की बात कही गई है। दोनों ही के दर्शनिक विचारों के अनुसार जीव परमशिव रूप होते हुए भी अज्ञान वश अपने स्वरूप को भूला रहता है। सृष्टि, परमेश्वर की इच्छा जवित का फल है, यह सिद्धान्त भी दोनों ही पद्धतियों में मान्य है। इस प्रकार स्पन्दवादी एवं प्रत्यभिज्ञावादी, दोनों ही ईश्वराद्वयवाद के समर्थक हैं। यहाँ काश्मीरी शैव दर्शन के इन स्पन्दवाद एवं प्रत्यभिज्ञवाद सिद्धान्तों का वेदान्तिक अद्वैतवाद के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

स्पन्द शास्त्र एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का ईश्वराद्वयवाद और वेदान्तिक अद्वैतवाद (तुलनात्मक विवेचन)

काश्मीरी शैव दर्शन के अन्तर्गत स्पन्ददर्शन एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन दोनों ही अद्वैतवाद की पुष्टि करते हैं। परन्तु इन शैव सिद्धान्तों एवं वेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त में समानता के साथ ही असमानता भी है। यहाँ इन दर्शन सिद्धान्तों की अद्वैतवाद सिद्धान्त के साथ समानता तथा असमानता के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

वेदान्तिक अद्वैतवाद और स्पन्दवाद तथा प्रत्यभिज्ञवाद, इन तीनों सिद्धान्तों में तत्त्वतः

१. Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol. 9, p. 202, 203.

२. वही, Vol. IV, p. 187.

३. एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वागुरुवाक्यतः।

ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्या दृढात्मना ॥

करणेन नास्ति कृत्यं ववापिभावनया सकृत् ।

ज्ञाते मूर्खों करणं भावनां वा परित्यजेत् ॥ —शिवदृष्टि (राव॑ दर्शन संश्लेषण संग्रह, पृष्ठ १६६ से

जीव एक परमात्मा का ऐक्य स्वीकार किया गया है। यह बात दूसरी है कि वेदान्तिक अद्वैत-वाद के अन्तर्गत सर्वोच्च सत्ता ब्रह्म कहलाती है और इन शीर्ष सिद्धान्तों में सर्वोच्च सत्ता को शिव कहा गया है। शैव दर्शन के ग्रन्थों में शिव का ब्रह्मरूप में वर्णन भी उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कि वेदान्तिक अद्वैतवाद के अनुसार अविद्या जीव के स्वरूपज्ञान में वाधक है, उसी प्रकार स्फट्डशास्त्र के अन्तर्गत आणव, मायीय और कार्मण मल जीव के परमेश्वर-भावात्माकार में वाधा उत्पन्न होते हैं। अद्वैत वेदान्त की अविद्या निवृत्ति के समान ही स्पन्द दर्शन में भी जब उक्त विविध मल वा नाश हो जाता है तो जीव को परमेश्वर वा साक्षात्कार होता है। इस विविध मलका निष्पण हम स्पन्द दर्शन का विवेचन करने समय कर चुके हैं। स्पन्द दर्शन में आधार्य क्षेमराज ने जगत् के सम्बन्ध में जो दर्पणगर का दृष्टान्त दिया है,^१ उसमें परमात्मा के, जगत् से अस्पृष्ट रहने का तात्पर्य ही प्रमुख है।^२ शाकर वेदान्त के अन्तर्गत भी परमात्मा माया और मायिक जगत् से अस्पृष्ट ही रहता है।^३

उपर्युक्त समानताओं वे आगार पर स्पन्ददर्शन पर वेदान्तिक अद्वैतवाद का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। परन्तु उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त वेदान्तिक अद्वैतवाद एव स्पन्द दर्शन के अद्वैतवाद में भी मिलता है। उदाहरण के लिए अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ब्रह्म, माया शक्ति वे द्वारा जगत् का उपादान बारण एव निमित्त कारण दोनों हैं, परन्तु स्पन्ददर्शन के अनुसार परमेश्वर को जगत् की सृष्टि के निए उपादानादि की अपेक्षा नहीं है।^४ यह तो सकल मान से ही जगत् की सृष्टि करता है। इसके साथ-साथ वेदान्तिक अद्वैत-वाद एव स्पन्दवाद दर्शन का यह नेत्र भी द्रष्टव्य है कि वेदान्तिक अद्वैतवाद में जगत् मायिक होने के कारण मिळता है परन्तु स्पन्द दर्शन के अनुसार जगत् परमेश्वर की इच्छा से उत्पन्न होने के कारण सत्य है। यहा यह विशेष स्पष्ट में विचारणीय है कि जगत् के शिवस्वरूप होने के कारण स्पन्द दर्शन की अद्वैतता में वाधा नहीं पड़ती।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रत्यभिज्ञा अद्वैत वेदान्त के स्वरूपज्ञान का ही अपर नाम है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुस्य जीव वस्तुत शिव स्पष्ट ही है परन्तु अज्ञानवश शिवस्वरूपता को भूला रहता है। जब जीव को आगे गिरत्व का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है तो वह स्वयं शिवरूप हो जाता है। यही दार्त वेदान्त के अद्वैतवाद के सम्बन्ध में भी है। जीव अविद्यावश अपने स्वरूप घृणा को भूला रहता है और जब अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तो जीव ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है। इस प्रागार प्रत्यभिज्ञा दर्शन एव वेदान्तिक अद्वैतवाद दोनों के ही अनुसार जीव स्वरूपता शिव एव ब्रह्म रूप है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन और वेदान्तिक अद्वैतवाद में उपयुक्त साम्य होने हुए भी भेद की रेखा भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। विना किसी उपादान के

१. जगद्वस्तुता स्वमित्ती दर्पणगरवत् प्रकाशयत् स्थित ।

—स्फट्डशास्त्रा २ पर क्षेमराज की टीका—स्पन्द निर्णय ।

२. The illustration of a mirror is only applicable to this extent that he is not affected by his creation —Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol 2, p 203
३. एव परमात्माति समादृश्यात् समाप्त्यात् ।—अ० म००, शा० मा० २।१।६।
४. मर्वदादेन उपादानादिने रोपेदय कर्तुम्बनिम् ।

—स्फट्डशास्त्रा २ पर क्षेमराज की टीका ।

महेश्वर द्वारा सूचित की उत्पत्ति वेदान्तिक अद्वैतवाद के विपरीत है। जैसा कि कहा जा चुका है, प्रत्यभिज्ञा दर्शन में, वेदान्तियों के लद्वैतवाद की तरह परमेश्वर नाया के कारण जगत् का उपादान कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञादर्शनानुगत महेश्वर की इच्छा एवं क्रिया शक्तियां भी अद्वैत वेदान्त के पारमार्थिक एवं कूटस्थ ब्रह्म के लक्षणों के विपरीत हैं।

अभी जो विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि काश्मीरजैदर्शन के स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के ईश्वराद्वयवाद के सिद्धान्त शक्तराचार्यप्रतिपादित अद्वैतवाद से अभिन्न एवं निन्न दोनों हैं। परन्तु उपर्युक्त साम्यमूलक अध्ययन के आधार पर यह कहना पक्षपात पूर्ण न होगा कि काश्मीर वैद्व दर्शन का ईश्वराद्वयवाद का तिद्वान्त शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद सिद्धान्त से पूर्णतया प्रभावित है।

वेदान्त का अद्वैतवाद और योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद : तुलनात्मक विवेचन

योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद एवं कल्पनावाद तथा योगवासिष्ठानुसार जीव, जगत् एवं मुक्ति वादि सिद्धान्तों का निरूपण द्वितीय अव्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। योगवासिष्ठ के दार्यनिक सिद्धान्तों का मूलम अनुशीलन न होने के कारण कठिपय समालोचक योगवासिष्ठ के अद्वैतवादी विचार को शांकर अद्वैतवाद से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। निःसन्देह इन दोनों सिद्धान्तों में कुछ ऐसी समानता एवं है, जिनके आधार एवं दोनों सिद्धान्त समान प्रतीत होते हैं। योगवासिष्ठ एवं शांकर अद्वैतवाद में समानता के अधीनिखित स्पल मिलते हैं।

(१) शांकर अद्वैतवाद एवं योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद, दोनों ही दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत निरुण ब्रह्म को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है।

(२) जीव और ब्रह्म के ऐवय के द्वारा अद्वैतवाद का प्रतिपादन भी दोनों दर्शन पद्धतियों में समान ही है।

(३) शांकर अद्वैतवाद एवं योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद दोनों में ही जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण किया गया है। यह बात दूसरी है कि दोनों के मिथ्यात्वसम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर है। इस अन्तर का उल्लेख आगे किया जाएगा।

(४) दोनों ही सिद्धान्तों के अन्तर्गत जीवन-मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के रूप में मुक्ति के दो भेद किए गए हैं। परन्तु जैसा कि आगे विवेचन करेंगे, दोनों सिद्धान्तों के जीवन-मुक्ति सन्चन्द्री विचार में भी भेद है।

(५) शांकर वेदान्त और योगवासिष्ठ के अन्तर्गत प्रदत्त अनेक दृष्टान्तों में भी समानता है। उदाहरण के लिए शंकराचार्य^१ के 'रज्जुसर्व एवं मृगतृष्णका' आदि दृष्टान्त योगवासिष्ठ में भी मिलते हैं।^२ इसके अतिरिक्त शांकर वेदान्त के अन्तर्गत दिया गया इन्द्र-जाल का उदाहरण भी योगवासिष्ठ^३ के अन्तर्गत मिलता है। इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद एवं योगवासिष्ठगत अद्वैतवाद के अनेक स्थलों में साम्य मिलता है। अब यहां कुछ ऐसे महत्वपूर्ण विचार स्थलों का उल्लेख करेंगे, जिनमें शांकर अद्वैतवाद और योगवासिष्ठगत सिद्धान्तों में परस्पर भेद की प्रतीति होती है।

१. माटूक्य कारिका, शा० भा० ११६।

२. योगवासिष्ठ ४।४५।२६, ४।१।७।

३. मिलाइए—द्र० सू०, शा० भा० २।१।६ तथा यो० वा० ३।६।५।६।

(अ) शाकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के अनुहृष्ट परमार्थ सत्ता वहा भी 'सत्' तत्त्व के हृष्ट म स्त्रीबार किया गया है। ब्रह्म के सम्बन्ध म असद्वाद या धून्दवाद सम्बन्धी भ्रम के निवारणार्थ वक्तव्याचार्य ने स्पष्ट कहा है कि दिक् देश गुण, गति और फल भेद से धून्द, परमार्थसत् अद्वैत वहा मन्दवुद्धियों को असत् के समान प्रतीत होता है।^१ आचार्य शाकर का कथन है कि ब्रह्म ही चरम भूत है न कि अमाद।^२ इप्पते विपरीत योगवासिष्ठ के अन्तर्गत वहा को सत् न मानकर धून्द स्वयं स्वयं रहा गया है।^३ यहा यह उल्लेख करना भी न्याय सत्ता होगा कि योगवासिष्ठ में ब्रह्म वीर्य सूख्य एवं अग्रून्य तथा सत् एव अनन्त से विनश्च भी रहा है।^४ परन्तु इसके विपरीत शाकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत वहा जैसा कि ऊपर वहा गया है सत् तथा असत् से विनश्च न होकर पूर्ण तथा सत् है। इस प्रकार शाकर अद्वैत एवं योगवासिष्ठगत अद्वैत सम्बन्धी सिद्धान्तों के अन्तर्गत वहा के सत् पक्ष के सम्बन्ध म महान् अन्तर है।

(आ) योगवासिष्ठ दक्षन के अन्तर्गत अनेक स्वता पर जगत् वीर्य स्वभन्ता एवं विज्ञान भावता का उल्लेख भिलता है।^५ द्वितीय अध्याय म अन्तर्नावाद का विवेचन करते समय भी यह विस्तार से कहा जा चुका है कि योगवासिष्ठ के अनुसार जगत् भावनात्मक वज्ञना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु शाकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत योगवासिष्ठ के उक्त भत का विराध मिलता है। अद्वैतवाद के प्रतिपादक वक्तव्याचार्य ने जगत् की वाह्य सत्ता भी नि स्कोच स्वीकार किया है।^६ इस प्रकार योगवासिष्ठ का वल्पनावाद स्वप्नवाद एवं विज्ञानवाद शाकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया गया है।

(इ) जगत् के किष्यात्व का निष्पत्त करते समय योगवासिष्ठ के अन्तर्गत जगत् के सम्बन्ध म स्वप्न स्वीकृत, (यो० वा० ३१५४।२०) वैद्योण्डक (६/२।३६०।१३) तथा शाश्वत (यो० वा० १५७।१६) के जो दृष्टान्त दिए हैं, वे अद्वैतवेदान्तिक दृष्टि के विरुद्ध हैं। शाकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की सत्ता मायिक है। परन्तु यह माया धून्द या वृन्दनामाय न होकर सत् (परमार्थ सत्) एवं असत् (शशशृगादिवदसत्) से विनश्च होने के बारण लग्निवचनीय है। इस सम्बन्ध में द्वा० योगानाम भा का तर्क प्रुक्तिप्रक ही है कि यदि हम अविद्या के अन्तर्व को नहीं स्वीकार करें तब तो हमें आत्मा के अस्तित्व का नियंत्र करना पड़ेगा।^७ इस प्रकार शाकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के द्वारा स्वीकृत जगत् की उपादानकारणभूता माया और उससे उत्पन्न जगत्, योगवासिष्ठ^८ के ममान असीम नहीं हैं।

१. द्वा० ३०, शा० ८० भा० ८।१। का प्रास्ताविक।

२. द्वा० सू०, शा० ८० भा० ३।२।२२।

३. असमददृष्ट्या दिष्ट जगत् धून्दमायासतोऽधिकम्।—यो० वा० ३।१०।२६।

४. ६/१-४।८।१२—योगवासिष्ठ।

५. यो० वा० ६।२।५२। ११, ३।५४।२०, ३।६२।१५, ३।५७।२०, ३।४७।५४।

६. तस्माद् यथानुभव तत्कर्मन्युपाच्छद्युभिवैहिरेवायमासत इति दुक्तमयूपगान्तुम्—द्वा० सू०, शा० ३।२।२८।

७. "..... Were we to deny this, we should have to deny the inward self as well. Indian Thought, 1907, edited by Dr. Thibout and G. N. Jha

८. अनोइमिदमुत्पन्नमलीव च विवर्धते।

अतीतमेवस्वस्ते तमालीक दिलीपते ॥—यो० वा० ३।६७।१६।

(ई) जैसा कि अभी कहा जा चुका है, जगत् के सम्बन्ध में, शांकर अद्वैतवाद और योगवासिष्ठ गत अद्वैतवाद में भेद की रेखा स्पष्ट है। इस दृष्टिकोण-भेद का स्पष्टीकरण अद्वैती शंकराचार्य के सत्ताधय के विचार से भी पूर्णतया सम्पन्न हो जाता है। योगवासिष्ठ के अन्तर्गत शांकर अद्वैतवाद के समान जगत् की व्यावहारिक सत्ता को न स्वीकार करके समस्त जगत् को प्रातिभासिक सत्ता के ही अन्तर्गत माना गया है।^१ उक्त कथन की पुष्टि इस तथ्य से और ही जाती है कि योगवासिष्ठ में जगत् के सम्बन्ध में जो मृगतृष्णिका एवं केशोऽड्क आदि के दृष्टान्त दिए हैं, वे प्रातिभासिक सत्ता के ही सूचक हैं। योगवासिष्ठ के उपर्युक्त मत के विपरीत अद्वैतवाद के प्रतिपादिक शंकराचार्य ने जगत् को प्रातिभासिक सत् न मानकर व्यावहारिक सत् के रूप में स्वीकार किया है। यहां तक, परमार्थ सत् का प्रश्न है, शांकर वेदान्त में ब्रह्म ही परमार्थ दृष्टि से सत् है, परन्तु अद्वैत रूप परमार्थ सत्-तत्त्व ब्रह्म का बोध होने से पूर्व जागतिक पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता शांकर वेदान्त में विना 'ननुनच' के स्वीकार की गई है।^२ इस प्रकार अद्वैती शंकराचार्य ने प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक—यह तीन सत्ताएँ मानी हैं।

(उ) सत्ताधय की तरह ही जाग्रदादि अवस्थाओं के सम्बन्ध में भी योगवासिष्ठ एवं शांकर अद्वैतवाद दिशान्तों में मौलिक भेद है। योगवासिष्ठ दर्शन के अनुसार स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में अभेद स्वीकार किया गया है। इस विषय का विवेचन करते समय योगवासिष्ठ में कहा गया है कि जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थाओं में स्थिरता तथा अस्थिरता के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं है। इन दोनों अवस्थाओं का अनुभव सदा सर्वत्र समान है।^३ स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में योगवासिष्ठ के दृष्टिकोण के अनुसार केवल अधिक और अल्प समय तक अनुभूत होने का भेद है।^४ परन्तु योगवासिष्ठ के उक्त कथन के विपरीत अद्वैती शंकराचार्य ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के प्रत्ययों के बीच स्पष्ट अन्तर स्वीकार किया है। आचार्य शंकर ने उक्त सत्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वप्नावस्था के प्रत्ययों के समान जाग्रत् अवस्था के प्रत्यय कदाचित् नहीं हो सकते। इन दोनों अवस्थाओं में वैधर्य है। स्वप्नकालिक वस्तुओं का जाग्रदवस्था में वाध हो जाता है। परन्तु शंकराचार्य का मत है कि जाग्रत् अवस्था में उपलब्ध स्नम्भादि वस्तुओं का किसी अवस्था में भी वाध नहीं होता।^५ यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत मुक्त पुरुष के लिए भी जगत् का नाश नहीं हो जाता, वरन् मुक्त पुरुष की द्वैतबुद्धि का ही उच्छेद हो जाता है।

१. प्रतिभाससमुत्थानं प्रतिभासपरिक्षयम् ।

यथाग्रन्थवर्जनगरं तथासंसृतिविभ्रमः ॥—यो० वा० ६/१३३।४५।

२. सर्वव्यवहाराणमेव प्राग्द्रव्यात्मताविज्ञानात् सरयत्वोपततेःस्वप्नं व्यवहारस्येवप्राग् प्रयो- धात् । —व्र० सू०, शा० भा० २।१।४।

३. जाग्रत्स्वप्नदग्नभेदो न स्थिरास्थिरते विना ।

समः सर्वं सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः ॥—यो० वा०, ४।१।१।१।

४. कालमल्पमनलं च स्वप्नजाग्रदितीहृषीः । —यो० वा०, ६-२।१६।१।२६।

५. नस्वप्नादिवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमहंन्ति कस्मात् ? वैधर्यम् । वैधर्यम् हि भवति स्वप्नजागरितयोः ।………न चर्व जागरितोपलब्धं वस्तुस्तम्भादिकं कस्यान्विदप्यव स्थायांवाध्यते । —व्र० सू०, शा० भा० २।२।२६।

(क) शाकर अद्वैतवाद और योगवासिष्ठ प्रतिपादित अद्वैतवाद में बहु और जगत् सम्बन्धी सिद्धान्त में भी भेद है। शाकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म और अतिवचनीय माया वा सम्बन्ध भी अतिवचनीय, वाहू तथा अवर्णनीय है। इसके विपरीत योगवासिष्ठकार के मतानुसार जगत् के बोने स्पष्ट शुद्धचित्तस्पृश ब्रह्म की स्पन्द शक्ति के परिणाम है। महा यह साम्बन्ध विचारणीय है कि योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत शुद्धचित्तस्पृश ब्रह्म की स्पन्दकिया के सम्बन्ध में किसी तंदानिन्द्र व्यवस्था का निर्देश नहीं भिलता। शुद्धचित्त तत्त्व की स्पन्द क्रिया को योगवासिष्ठ दर्शन के अनुसार आवस्मिन् या वाक्तालीय कहा गया है।^१ डॉ दासगुप्त ने उन्ना न्यूनता को योगवासिष्ठ दर्शन का प्रमुख दोष माना है।^२

(ए) योगवासिष्ठ का मुक्ति सम्बन्धी विचार भी शाकर अद्वैतवाद के गुक्ति विषयक विचार से बहुत कुछ भिन्न है। शाकर अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म सा, चित् एव आनन्दस्वरूप है। अत शाकर दर्शन में ब्रह्म के आनन्द स्वरूप होने के कारण मुक्ति पुरुष भी ब्रह्म बोध हो जाने पर ब्रह्मस्पता को प्राप्त होकर आनन्दस्वरूप हो जाता है। इनके विपरीत योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म का कोई निश्चित संक्षण न होने के कारण ब्रह्मज्ञानस्वरूप मुक्ति भी पापाश्वरत् ही है।^३

योगवासिष्ठ दर्शन के अन्तर्गत कर्म एव ज्ञान वा समुच्छय सम्भव है। योगवासिष्ठकार ज्ञान एव कर्म को जिज्ञासु के निए समान रूप से आवश्यक मानते हैं।^४ इसके अतिरिक्त शाकर अद्वैत मत में कर्म वेदान्त चित्तशुद्धि का साथन है। मुक्ति तो शाकर वेदान्त में ज्ञान द्वारा ही प्राप्तव्य है, कर्म द्वारा नहीं।

ऊपर किए गए तुलनात्मक विवेचन के द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि योगवासिष्ठ का दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद होते हुए भी वेदान्तिक अद्वैतवाद से वितना और किस प्रकार वितरण है। योगवासिष्ठ, किसी दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिपादन की दृष्टि से लिखा हुआ ग्रन्थ न होते के कारण, उसके सिद्धान्तों में परस्पर एव इनर सिद्धान्तों के साथ वैलक्षण्य एव विरोध पाया जाना स्वाभाविक ही है।

वेदान्तिक अद्वैतवाद और बोद्ध दर्शन (विज्ञानवाद एव शून्यवाद) तुलनात्मक अध्ययन

बोद्ध दर्शन के वैभाषिक, सौत्रान्त्रिक, योगवाचार और गाध्यमिक सम्प्रदाय अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन सिद्धान्तों में योगवाचार और मात्र्यमिक सम्प्रदायों ने दार्शनिक मिद्दान्त शक्तराचार्य द्वारा प्रस्तावित अद्वैतवाद के अत्यन्त समीप हैं, इन तथ्य वा समर्थन आगामी विवेचन से स्वतः हो जाएगा। वैसे तो, शक्तराचार्य द्वे अद्वैतवाद एव बोद्धों के विज्ञानवाद एव शून्यवाद में प्राप्त साम्य के बाधार पर ही शतप्राप्य समालोचकों ने अद्वैतवादी शक्तराचार्य को 'प्रब्लूम बोद्ध' तरु बहु दिया है। समालोचकों की इस धारणा का निर्णय शाकर अद्वैतवाद और बोद्ध विज्ञानवाद एव शून्यवाद वा तुलनात्मक विवेचन स्वयं कर देगा। अत इस सम्बन्ध में तुलनात्मक विवेचन के पश्चात् ही दुष्क कहता श्रीचित्रयपूर्ण होगा। इस अवसर पर तो यह ढायुक्त

^१ Dr S.N. Das Gupta Indian Philosophy, Vol. 2 p. 271

^२ वही।

^३ वही, पृष्ठ २७२।

^४ वही।

होगा कि वेदान्तिक अद्वैतवाद के साथ बोढ़ विज्ञानवाद एवं शून्यवाद का तुलनात्मक विवेचन करने से पूर्व दोनों बोढ़ सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दे दिया जाए। अतः पहिंते विज्ञानवाद का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

विज्ञानवाद का संक्षिप्त परिचय

मैत्रेयनाथ और उनके शिष्य असंग विज्ञानवाद सिद्धान्त के मूल प्रतिपादक हैं। इन की कृति—महायानभूतालंकार विज्ञानवाद का मौलिक ग्रन्थ है। महायान भूतालंकार के अन्तर्गत प्रतिपादित विज्ञानवाद का विचार विज्ञानवादी अद्वैतवाद एवं असंग के अद्वैतवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है।

योगाचार और 'विज्ञान' का अर्थ—योगाचार सम्प्रदाय का ही दार्शनिक सिद्धान्त विज्ञानवाद है। बोद्धों के योगाचार सम्प्रदाय के अनुसार परम सत्य की उपलब्धि योगाभ्यास के द्वारा ही सम्भव बतलाई गई है, इसलिए इस सम्प्रदाय का नाम योगाचार प्रचलित हुआ है। इस प्रकार योगाचार शब्द इस सम्प्रदाय के साधना पक्ष पर विशेष बल देता है, जब कि विज्ञानवाद उसके दार्शनिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

जहाँ तक 'विज्ञान' शब्द के अर्थ का प्रश्न है, लंकावतार सूत्र के अन्तर्गत चित् तथा मन को विज्ञान का पर्यायवाची बतलाया गया है।^१ चित्, मन तथा विज्ञान को स्पष्ट करते हुए संकावतार सूत्र के अन्तर्गत कहा गया है कि चित् 'आत्म विज्ञान' है। इस प्रकार चेतन किया से सम्बद्ध होने के कारण ही 'चित्' संज्ञा का प्रचलन हुआ है। मनन किया करने के कारण मन संज्ञा का प्रचार हुआ है और विषय-ग्रहण में कारण होने के कारण विज्ञान शब्द का प्रवर्तन हुआ है।^२ विशिका के अन्तर्गत वसुवन्धु भै जगत् को आत्मधर्म का उपचार तथा विज्ञान का ही परिणाम माना है—“आत्मधर्मोपचारादि विविधो यः प्रवर्तते। विज्ञानपरिणामोऽस्मि।” बोधिचर्यावितार पंजिका में भी ज्ञान को अप्राप्त लक्षण कहा है—अग्राप्ति लक्षणं ज्ञानम्। इस प्रकार विज्ञान की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर विज्ञान का चित् रूप होना निश्चित ही है।

विज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुसार जगत् उपर्युक्त चित् अथवा विज्ञान का ही रूप है। दशमूलभीश्वर का यह तावय—‘चित्तमात्रं भो जिनपुत्रयदुत दैधातुकम्,’^३ जगत् की सत्ता को चित् मात्र ही सिद्ध करता है। इस प्रकार विज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुसार जगत् को चित्तमात्र स्वीकार करना योगवासिङ्ग के कल्पनावाद सिद्धान्त के अत्यधिक समीप है। जिसके अनुसार जगत् चित् के संकल्प मात्र का पाल है।^४ योगवासिङ्ग के इस कल्पनावाद सिद्धान्त का विवेचन अभी पीछे किया जा चुका है। कल्पनावाद की ही तरह विज्ञानवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जगत् की गृह्णात्मका का निराकरण किया गया है।

१. चित्तं भनश्चविज्ञानं संज्ञा देकल्पवर्जिताः ।

विकल्पधर्मतां प्राप्ताः श्रावका न जिनात्मजाः ॥—लंकावतार सूत्र ३।५० ।

२. चित्तमात्मविज्ञानं ननोयस्मन्त्यात्मकम् ।

गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते ॥—लंकावतार सूत्र, गाथा २ ।

३. देखिए—V. Bhattacharya : The Central Conception of Buddhism, p. 33.

४. चित्तमेवजगत्कर्तृं संकल्पयति यद्या ।—यो० वा० ६।१३।१।

विज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुसार शाता और ज्ञेय की सत्ता पृथक्भूता नहीं है। शाता और ज्ञेय की सत्ता को विज्ञानवादी ने सम्भृति सत्य के अन्तर्गत माना है। विज्ञानवादी शाता और ज्ञेय की सत्ता को न भावधृप मानता है और न अभाव रूप।^१

शाता और ज्ञेय अथवा ग्राहक एवं ग्राह्य विज्ञानवादी के मतानुसार पृथक् पृथक् न होकर चित्त मात्र ही हैं।^२ विज्ञानवादी ने चित्त को आलय विज्ञान का रूप दिया है। आलय विज्ञान समस्त व्येतों वौ उत्पन्न करते वाले घर्मों का भूल स्थान है। इस प्रकार स्थिरमति के अनुसार आलय और स्थान दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।^३ लकावतार सूत्र के अन्तर्गत आलय विज्ञान को स्पष्ट करते हुए वत्साया गया है कि आलयविज्ञान समुद्र रूप है। सामारिक विषय पर्यन रूप तथा मर्त्तविधि विज्ञान तरग रूप हैं।^४ जिस प्रकार कि पदन से प्रेरित होकर समुद्र में तरणों का नृत्य दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार आलय विज्ञान में भी विद्यरूप बायु से प्रेरित होकर अनेक प्रकार के विज्ञान उत्पन्न होते हैं।^५ जैसे कि समुद्र और उमड़ी तरणों में भेद नहीं है, उसी प्रकार आलयविज्ञान और अन्य विभिन्न विज्ञानों में भी बोर्द भेद नहीं है। यह यह और कम्य है कि विज्ञानवादी का यह आलय विज्ञान उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश से रहित है। उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश से रहित आलयविज्ञान की यह अवतारणा जागतिक विषयों की समस्या के स्पष्टीकरणार्थ की गयी प्रतीत होती है। इसीलिए डॉक्टर दासगुप्त ने इसे अनुमानिक कहा है।^६

विज्ञानवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध हुआ है कि जागतिक विषयों का जो प्रत्यय हैं दिखाई पड़ता है, वह हमारे विज्ञानों वा ही अनुभव है।

क्षणिक विज्ञानवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पादवाद

विज्ञानवादी क्षणिक विज्ञानवाद वा समर्थक है। क्षणिकविज्ञानवाद के अन्तर्गत प्रत्येक क्षणिक विज्ञान एक दूसरे क्षणिक विज्ञान वो उत्पन्न करते^७ नप्त हो जाता है।^८ विज्ञानी की उत्पत्ति और निरोध का कम सतत रूप से चलता है। यही प्रतीत्यसमुत्पादवाद का मिठान है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद के अनुसार समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह के भावान है। विज्ञानवादी वे मतानुसार विज्ञानों का उत्पन्न होना और निरोध होना ही परम तत्व है।^९ कुछ एक विज्ञानवादी आचार्यों ने प्रतीत्य समुत्पादवाद का द्विविध रूप स्वीकार किया है।

१०. असग—महायान सूत्रान्तकार, पृ० ४८-५६।

२. चित्तमात्र नदूस्योऽस्ति द्विधाचित्तहित्यने।

ग्रा हुग्राहकभवेत् शास्त्रवतोच्छ्रेदवीजितम् ॥—लकावतार सूत्र ३।६५।

तपा देखिए—सर्वसिद्धान्त सप्रह, पृ० १२।

३. तत्रसर्वात्मेणिदधर्मवीजस्थानात् वावय। आलय स्थानमिति पर्यायो।—त्रिविदा भाष्य, पृ० १८।

४. लकावतार सूत्र २।१००।

५. वही, १।१६।

६. Dr S. N Das Gupta . Indian Philosophy, Vol. I, p. 146

७. E. R. E. Vol IX. p 850

८. आचार्य नरेन्द्रदेव वीढ घर्म दर्शन, पृ० ४४६।

९. भरतमित्र उपाध्याय नोद्द दर्शन तथा अन्य मारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ० ६६६।

प्रतीत्य समुत्पादवाद के दो रूप व्यावहारिक प्रतीत्य समुत्पादवाद और आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पादवाद हैं। व्यावहारिक प्रतीत्य समुत्पादवाद का विषय जगत् के भौतिक विषयों का विवेचन है। जागतिक विद्य व्यावहारिक या वाहा प्रतीत्य समुत्पाद रूप हैं। इसके अतिरिक्त जिद्या, तृणा, कर्म और स्फूर्त्य एवं उनसे उत्पन्न आयतन आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पादवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं।^१

विज्ञानवादी का सांवृत्तिक सत्य—अद्वैत वेदान्त में जागतिक सत्य कों, आविधिक होने के कारण व्यावहारिक कहा है। परन्तु विज्ञानवादी के दर्शन में अंकराचार्य का व्यावहारिक सत्य सांवृत्तिक है। दोनों का तुलनात्मक समीक्षण आगे यथा अवसर किया जाएगा। विज्ञानवादी के सांवृत्तिक सत्य (जागतिक सत्य) का मूल 'संवृत्ति' है। बौद्ध दर्शन की यह 'संवृत्ति' अविद्या रूप है। संवृत्ति यथार्थ तत्व के परिज्ञान की आवरक है। इस प्रकार अविद्या रूप यह संवृत्ति वस्त् पदार्थ के स्वरूप की आरोपिका तथा वस्तुओं के स्वभाव दर्शन में आवरण के समान वाधक है।^२

विज्ञानवादी की इस 'संवृत्ति' के भी दो भेद हैं—एक तथ्य संवृत्ति और दूसरा मिथ्या संवृत्ति। तथ्य संवृत्ति के अन्तर्गत वे जागतिक विषय आते हैं जिनका इन्द्रियों द्वारा वावध प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस प्रकार संवृत्ति के अन्तर्गत वस्तुओं के भौतिक यथात्यरूप का प्रत्यक्ष होता है। 'मिथ्या संवृत्ति' अद्वैत वेदान्त की प्रातिभासिक सत्ता के सदृश है। मुगमरीचिका आदि के समान जगत् में जिन पदार्थों का दोपपूर्ण प्रत्यक्ष होता है, वे मिथ्या संवृत्ति के अन्तर्गत आते हैं। इस दृष्टि से तथ्यसंवृत्ति मिथ्यामंवृत्ति की अपेक्षा कुछ सत्य है, परन्तु परमार्थ सत्य की उपलब्धि होने पर उक्त दोनों ही संवृत्तियां मिथ्या सिद्ध होती हैं। परमार्थ सत्य तो वस्तु स्वभाव के अधिगम का नाम है। अतः उसके जानने पर तो उक्त दोनों ही संवृत्तियों का क्षय हो जाता है।

इस प्रकार विज्ञानवादी भी अद्वैतवादी है। द्वैत का निराकरण करते हुए विज्ञानवादी का कथन है कि वस्तुतः द्वैत नहीं है मायाहस्ती की आकृति के ग्रहण के समान ही द्वैत की अनुभूति होती है, अतः ग्राह्यग्राहकरूप द्वैत जगत् सत्य नहीं है।^३ इस प्रकार जगत् के समस्त भाव विज्ञानवादी की दृष्टि से मायोपम है।^४ अब यहाँ परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

परमार्थ सत्य—मिथ्यादर्शी का विषय उपर्युक्त सांवृत्तिक सत्य है और तत्त्वदृष्टा का विषय परमार्थ सत्य है। विज्ञानवाद के अनुभाव परमार्थ सत्य, भावाभाव के मिथित रूप एवं भाव और अभाव दोनों से अतीत है। इसके साथ-साथ वह दुःख और सुख की कल्पना का विषय भी नहीं है।^५ आचार्य असंग ने परमार्थ सत्य का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह

१. लंकावतार सूत्र, पृ० ८५।

२. वौधिचर्यावितारपंजिका, पृ० ३५२।

३. महायान सूत्रालंकार ११२६।

४. वही, ११२७।

५. अभावभावता या च भावाभावमानता।

अशान्त शान्ताकल्पा च परिनिष्पन्नलक्षणम् ॥—महायान सूत्रालंकार ११४१।

(परमायं सत्य) सत्—असत् तथा अलया, जन्ममरण, हासन्वृद्धि, शुद्धि-अशुद्धि आदि कह्य-
नामो से मुक्त है।^१

विज्ञानवादी आचार्यों ने इस परमायं सत्य को विशेष रूप से विज्ञानिमात्र, आलय
विज्ञान एव भूततथा शब्दों के द्वारा वभिहित किया है। विज्ञानवादी आचार्य अग्रग और
दमुदन्धु ने उस परमसत्य को 'विज्ञप्ति' मात्र बता है और लकावतार सूत्र में उक्त तत्व को
आलय विज्ञान रूप बता गया है। अश्वघोष ने 'भूततथा' के रूप से चरम सत्य का विवेचन
विशेष रूप से किया है। यहाँ उक्त तीतों मतों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

असग और दमुदन्धु का 'चरम सत्य'—असग और दमुदन्धु जब चरम सत्य को
'विज्ञप्ति' मात्र बताते हैं तो वे क्षणिक विज्ञानवाद के समर्थक हैं। क्षणिक विज्ञानवाद का उल्लेख
छापर किया जा चुका है। विज्ञानिमात्रा की दृष्टि से निर्विज बाल में विज्ञान से मनियता
नहीं रहती। चरमसत्यरूप विज्ञप्ति विशुद्ध चंतन्य, आनन्द रूप, अपरिवर्तनीय तथा अनि-
र्वचनीय है।

लकावतार सूत्र में 'चरम सत्य' का रूप—जैसा कि क्षपर बता गया है, लकावतार
सूत्र में चरमतत्व का विवेचन 'आलय विज्ञान' के रूप में मिलता है—आलय विज्ञान का
स्वस्योत्तेष्ठ भी क्षपर कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ केवल यही ववनाय है कि लकावतार
सूत्र के अनुसार ज्ञाता एव ज्ञेय में अभेद है। इस प्रकार ज्ञाता रूप से देखने पर 'आलय विज्ञान'
अहस्ता को प्राप्त होना दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त ज्ञेय रूप से देखने पर वही आलय
विज्ञान पदायं रूप को ग्रहण करता प्रतीत होता है।

अश्वघोष और 'चरम सत्य'—अश्वघोष ने चरम सत्य को 'भूततथा' कहा है।
भूततथा शाश्वत तथा स्वभाव सत्य है। भूत तथता न सत् है और न असत्। वह एक तथा
अनेक भी नहीं है। इसी प्रकार वह भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों होती है।^२

विज्ञानवादियों की उक्त भूततथा भी अद्वैतता की ही पोषिका है, क्योंकि जगन् की
समस्त वस्तुओं में अद्वैतरूपा भूततथा ही सत्य है।^३ विज्ञानवादी की यह भूततथा भाया
द्वारा अवर्णनीय है। आलोचक सोजन के शब्दों में तो सत्य की स्थिति उसी प्रकार अवर्णनीय है,
जिस प्रकार कि किसी भवानक युद्ध क्षेत्र का अधिका एक दृष्टि से देखे गये रमणीक दृश्य का
दर्शन अवर्णनीय होता है।^४

उपर विए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि एक ही चरम तत्व का वर्णन विज्ञानवादियों
ने भिन्न-मिलन रूप से किया है। अब, जैसा कि आरम्भ में ही वह चुके हैं वौद्ध विज्ञानवाद
एव वेदान्तिक अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययन किया जाएगा।

१. नसन्न न चासन्न तथा न चान्यथा, न जायते अयेति न चावहीयते।

नदर्थंते नाप्रिविशुद्धयते पुन विशुद्धते तत्परमायं लक्षणम् ॥—पहाणन दूषालकार ६।१।

२. Systems of Buddhistic Thought, p 257-258

३. भूततथा implies oneness of the totality of things or धर्मपातु—
the great all including whole; the quintessence of the doctrine For, the
essential nature of the soul is uncreated and eternal. Suzuki, The
Awakening of Faith in Buddhism, p. 55-56.

४. Systems of Buddhistic Thought, p 253.

विज्ञानवाद एवं वेदान्तिक अद्वैतवाद—वैसे तो, अद्वैतवाद के प्रमुख प्रस्थापक शंकराचार्य ने अपने ऋग्वेदभाष्य के अन्तर्गत विज्ञानवाद का पूर्वपक्ष स्थापित करते हुए उसका निराकरण प्रबल तर्कों के आधार पर किया है।^१ परन्तु शंकराचार्य द्वारा बीद्र विज्ञानवाद का निराकरण होने पर भी विज्ञानवाद एवं शांकर अद्वैतवाद में वहुत-सी समानताएँ मिलती हैं। इन दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों में समानता का पाया जाना कोई आश्चर्यजनक उपलब्धि नहीं है, यथोंकि दोनों ही का मूल पृष्ठाधार एक ही उपनिषद् साहित्य है। अतः शांकर अद्वैतवाद एवं बीद्र विज्ञानवाद के अन्तर्गत वैधम्य के माथ साम्य स्वाभाविक ही है। उदाहरण के लिए, शांकर अद्वैतवाद^२ एवं बीद्र विज्ञानवाद,^३ दोनों ही दर्शनपद्धतियों के अन्तर्गत परमार्थ सत्य की अद्वैतता को स्वीकार किया गया है। इसके साथ-साथ परमतत्व की सर्वव्यापकता भी शांकर अद्वैतवाद^४ एवं विज्ञानवाद^५ दोनों सिद्धान्तों में स्वीकार की गई है। इसके अतिरिक्त विज्ञानवादी एवं अद्वैतवादी दोनों के ही दृष्टिकोण के अनुसार परमार्थ सत्य वाढ़मनसातीत तो है, परन्तु शांकर अद्वैत दर्शन के अनुसार वह अभाव रूप नहीं है।^६ अद्वैती शंकराचार्य ने स्पष्ट ही परमार्थ सत्य ब्रह्म को सत् रूप स्वीकार किया है। इसके विपरीत विज्ञानवाद के प्रतिपादक आचार्यों ने परम तत्त्व को सत्, असत् एवं सदसद् से विलक्षण कहा है।^७

विज्ञानवादी बीद्र एवं अद्वैतवादी शंकराचार्य दोनों ही भौतिक जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं। परन्तु दोनों के जगन्मिथ्यात्व में अत्यधिक अन्तर है। विज्ञानवादी वाह्य जगत् की उपलब्धि का ही निराकरण करता है। जैसा कि विज्ञानवाद विचार का स्पष्टीकरण करते समय कह आये हैं, वाह्य जगत् की सत्ता वित्त की कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार विज्ञानवादी 'विज्ञप्तिमात्रता' का पक्षपाती है, परन्तु अद्वैती शंकराचार्य का दृष्टिकोण विज्ञानवादी के उक्त विचार से भिन्न है। अद्वैतवादी शंकराचार्य वाह्य जगत् को मिथ्या तो कहते हैं, परन्तु उनके अनुसार जगत् विज्ञानवादी की तरह कल्पनामात्र नहीं है। जगत् के मिथ्यात्व के द्वारा शंकराचार्य जगत् के नामहपात्मक प्रपञ्च का ही निपेष करते हैं।^८ इसीलिए शांकर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् को सत् (परमार्थ सत्) एवं असत् (अलीक) से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनोय कहा गया है। इसके विपरीत बीद्र दर्शन के अन्तर्गत सब कुछ अनिर्वचनीय ही है।^९

१. द्र० सू०, शा० भा० २।२।२८-३२।

२. परमार्थ सत् अद्वैयं ब्रह्म—शा० भा०, छा० उ० द० ८।१।१ तथा दा० ४—त० ८०, शा० भा० २।६।

३. महायानसूत्रालंकार ६।१।

४. वृ० ७०, शा० भा० २।४।६।

५. महायान सूत्रालंकार ६।१४।

६. वाढ़मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणामिधीयते। —द्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।

७. महायान सूत्रालंकार, १।१।४।१, ६।१।

८. द्र० सू०, शा० भा० ३।२।२२।

९. एवं च सतिसौगतब्रह्मवादिनोःकोविवेयइतिचेदयंविशेषःयदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति……विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सत्वासत्वाभ्यामनिर्वचनीयं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते। —खण्डनखण्डखाद्य, प्रथम परिच्छेद।

बाहु जगत् की सत्ता को स्वप्नादि के समान मिल करते हुए विज्ञानवादी का विचार है कि जिस प्रकार स्वप्न, माया, मृगजन, साधवंशपर आदि वा ज्ञान वाह्य अर्थ के बिना ही प्राप्त हो और ग्राहक के आकार में परिणत होता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में होने वाले स्तम्भादि ज्ञान भी ही सकते हैं, क्योंकि दोनों वा प्रत्ययत्व समान ही है।^१ इस प्रकार विज्ञानवादी में स्वप्न एवं जाग्रत् काल के प्रत्ययों में समानता मानवर स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं में साधारण्य की स्थापना की है, परन्तु शाकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत यह साधारण्य मान्य नहीं है। अद्वैतवादी ज्ञानवादी ने स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के वैधम्य को स्पष्ट करते हुए बहा है कि स्वप्नादि के ज्ञान के समान जाग्रत् अवस्था के ज्ञान हो, यह युक्त मत नहीं है। अपने मत की पुष्टि में शक्ताचार्य का कथन है कि स्वप्न एवं जाग्रत् काल के प्रत्ययों में वैधम्य है। यह वैधम्य वाध एवं अवाध रूप है। स्वप्नवाल की उपर्युक्त का जाग्रत् काल में वाध ही जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी को स्वप्न में महाजनसमागम की उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है। इस प्रकार जाग्रत् काल में स्वप्नकालिक ज्ञान का वाध ही जाता है।^२ इसके विपरीत जाग्रत् काल में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तु का किसी अवस्था में भी वाध नहीं होता। अद्वैती शाकार्थ शक्त का तक है कि स्वप्न-कालिक अनुभव स्मृति रूप हैं और जाग्रत् काल के अनुभव उपलब्धि रूप हैं।^३ इस प्रकार विज्ञानवादी के विपरीत शक्त अद्वैतवाद के अनुमार स्वप्न एवं जाग्रत् का वैधम्य पूर्णतया स्पष्ट है।

विज्ञानवादी को परमार्थ एवं सद्वृत्ति रूप दो सत्तायें मान्य हैं। परन्तु शाकर अद्वैतवादी पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक रूप से तीन सत्ताएँ स्वीकार करते हैं। परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि का निष्पत्त इस विवेचन के आरम्भ में ही किया जा चुका है। जहा तक सवृत्ति सत्य का प्रश्न है, यह अद्वैतवादी की व्यावहारिक सत्ता के बहुत कुछ समान है। जिस प्रकार अद्वैतवादी की व्यावहारिक सत्ता का मूल अविद्या है, उसी प्रकार विज्ञानवादी की सवृत्ति भी अविद्या रूप है। अविद्या रूप मवृत्ति वस्तुओं के सचमाच सत्य की आवरण स्वरूप है। सवृत्ति ही अविद्यारूप में अग्रन् पदार्थ की आरोपिता है।^४ इस प्रकार जहा अद्वैत वेदान्त में मायिक जगन् व्यावहारिक दृष्टि से सत् कहलाता है, वहा विज्ञानवाद दर्शन में उसी सावृत्तिक सत्य नहा गया है। ऊर स्वभावावरण एवं असदारोप रूप जो कार्य सवृत्ति के बतलाए गए हैं, वे अद्वैतवादी की अविद्या-माया के भी हैं। माया की आवरण और विक्षेप शक्तियों शक्त के वेदान्त में प्रसिद्ध हैं। आवरण शक्ति विज्ञानवादी की सवृत्ति के समान स्वरूपशक्ति की आवरणकर्त्री है और विक्षेप शक्ति मिथ्या जगत् की निर्मात्री है।^५ सवृत्ति की तरह असत्-वस्तु का आरोप अद्वैतवादी की अविद्या वा प्रधान कार्य है। अविद्या, अद्वैत वेदान्त में अध्यात्म रूप है।^६

^१ ग्र० सू०, शा० भा० २२२८।

^२ वही, २२२२६।

^३ वही, २२२६।

^४ सत्रियतात्रियते यमाभृतपरिज्ञान स्वभावावरणाद्वावृत् प्रकाशनाच्चानयेतिभवृति । अविद्याह्यसत् पदार्थस्पत्तरोपिवा स्वभावदर्शनावरणात्मिका च सतो सद्वृत्तिरूपवृत्ते । —वैदिक्यात्रितरूपिका, पृ० ३५२।

^५ विवेक चूडामणि, १४१, १४१, १४५।

^६ व्याप्ति परिज्ञान अविद्यी मन्मने । —ग्र० सू०, शा० भा० १११।

और अध्यास की परिभाषा 'अतस्मित्तद् बुद्धिः' है। इस प्रकार विज्ञानवादी की संवृत्ति और अद्वैतवादी की अविद्या में वहुत कुछ साम्य है। परन्तु यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अद्वैत दर्शन की अविद्या एवं विज्ञानवाद दर्शन की संवृत्ति तथा अद्वैत दर्शन के व्यावहारिक सत्य एवं विज्ञानवाद दर्शन के मावृत्तिक सत्य में परस्पर वहुत कुछ साम्य होने पर भी यह मौलिक भेद अवश्य द्रष्टव्य है कि अद्वैत दर्शन के अनुरूप जहाँ व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत जगत् व्यावहारिक दृष्टि से भूत् है, वहाँ संवृत्तिक सत्य की स्थिति मिथ्या दृष्टि वालों के लिए है—मृपाङ्गा संवृत्तिसत्यमुक्तम् (दोषिचर्यावितार)।

यद्यपि अद्वैत वेदान्त सम्मत प्रातिभासिक सत्ता का उल्लेख विज्ञानवादी द्वारा नहीं किया गया, परन्तु संवृत्ति का मिथ्यासंवृत्ति भेद, जिसका उल्लेख 'संवृत्ति' का विवेचन करते समय पैद्ये किया जा चुना है, प्रातिभासिक सत्ता की ही ओर सकेत करता है। प्रातिभासिक सत्ता की ही तरह मिथ्या संवृत्ति के उदाहरण मृगमरीचिका आदि हैं।^१

लेपर किए गए विवेचन में यह पूर्णतया स्पष्ट है कि विज्ञानवाद, अद्वैतवाद का ही रूप होते हुए भी शांकर वेदान्त के अद्वैतवाद मिथ्यान्त से मौलिक रूप से भिन्न है। मौलिक भिन्नता के ही फलस्वरूप अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकराचार्य ने विज्ञानवाद का प्रबल तर्कों के आधार पर निराकरण किया है।^२

शून्यवाद—एक दिग्दर्शनः

सौत्रान्तिक बौद्धों ने जगत् के वाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुभव से ज्ञेय नहीं स्वीकार किया था और विज्ञानवादियों ने जगत् के पदार्थों की सत्ता केवल चित्त रूप में स्वीकार की थी। शून्यवादी का विचार उक्त दोनों से बागे है। शून्यवाद जगत् के वाह्य अस्तित्व को शून्य का रूप मानता है। शून्यवाद का निरूपण बौद्ध दर्शन में हमें दो रूपों में मिलता है। शून्यवाद का एक रूप तो वह है, जिसके अनुसार व्यावाहिरक जगत् की सत्यता का निराकरण किया गया है।^३ शून्यवाद के दूसरे रूप के अनुसार परमार्थ तथ्य को ही शून्य रूप कहा है।^४ परन्तु उक्त दृष्टिकोण के अनुसार बौद्ध दर्शन को द्विविवा मूलक अयवा विरोधात्मक नहीं समझा चाहिए। इस सम्बन्ध में हमारा तर्क यह है कि नागार्जुन प्रभृति शून्यवादियों ने जो जगत् को शून्य रूप कहा है, उससे उनका तात्पर्य भाव, अभाव एवं भावाभाव से रहित तथा सर्वस्वभावानुत्पत्ति लक्षण वाली शून्यता से है।^५ बौद्ध दर्शन की उक्त शून्यता जगत् एवं परमार्थ तत्त्व दोनों के ही सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। शून्यवादियों की शून्यता अनिर्वचनीयता रूप है और इस प्रकार परमार्थ तत्त्व एवं जगत् दोनों ही अनिर्वचनीय हैं। शून्यवादियों ने परम तत्त्व एवं जगत् दोनों को ही सत् तथा असत् से विलक्षण कहा है। यदि कहीं शून्यवादियों ने परमार्थ तत्त्व को सत् कह दिया होता तो अद्वैतवाद और शून्यवाद में अन्तर ही नहीं जाता। इस प्रकार शून्यवादियों

१. विशेष देखिए—आचार्य नरेन्द्र देव, 'बौद्ध धर्म दर्शन', पृष्ठ २१४।

२. देखिए—द्र० सू०, शा० भी० २२। २८-३२।

३. माध्यमिक वृत्ति (B. T. S.) पृष्ठ ५०।

४. अतस्तत्वं सदसदुभयानुभयात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तम् शून्यमेव। माधवाचार्यः, सर्वदर्शनं संग्रह, बौद्ध दर्शनम् ३१।

५. भावाभावान्तररहितत्वात् सर्वस्वभावानुत्पत्तिलक्षणा शून्यता।

का परमार्थ तत्त्व सदसद् से विलक्षण है, परन्तु वह नितान्त अभाव रूप नहीं है, यही उसकी अनिवेचनीयता है। जगत् का स्वरूप भी अनिवेचनीय है। शून्यवादियों ने जगत् को भी सत् तथा असत् से विलक्षण माना है। जगत् की सत्ता को शून्यवादी यदि परमार्थ सत्य रूप नहीं मानते तो साकृतिक सत्य रूप तो मानते ही हैं। जगत् की नितान्त अभाव रूप शून्यवादी भी नहीं मानते। इस प्रकार शून्यवादी की दृष्टि से भी जगत् सत् एव असत् से विलक्षण होने के बरए अनिवेचनीय है। इस प्रकार शून्यसम्बन्धी सिद्धान्त परमार्थ सत्य एव जगत् दोनों के सम्बन्ध में समान रूप से चरितार्थ होता है। यह बात दूसरी है कि अन्य सिद्धान्तों की तरह शून्यवाद के भी दिविध अवान्तर पक्ष मिलते हैं। अत इस विवेचन के आरम्भ में मन्त्रे तित शून्यवाद सम्बन्धी विवेचन के मध्यवर्ती में यह कहा जाएगा कि शून्यवाद का एक पक्ष यदि जगत् की सत्यता का निराकरण बरता है तो दूसरा पक्ष परमार्थ सत्य को शून्य रूप बरता है। शून्यवादियों के प्रतीत्यसमुत्पादवाद सिद्धान्त के हारा भी उक्त कथन वा ही समर्थन होता है। शून्यवाद का अर्थ प्रतीत्यसमुत्पादवाद प्रश्न पर उक्त विवेचन को अवसर नहीं रहता, क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुमार जागतिक विषयों की सत्ता प्रातीनिक है, वस्तुन वे अनुसन्धान हैं एव अनपृष्ठ हैं।

इस प्रकार जगत् के पदार्थों की स्थिति विच्छिन्न प्रवाह के समान है। उक्त ज्ञान ही शून्यता का ज्ञान है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पन्न रूप शून्यता का ज्ञान होने पर एक और तो जागतिक पदार्थों की सत्यता का निराकरण होता है और दूसरी ओर परमार्थ सत्य रूप प्रतीत्यसमुत्पन्न शून्यता का बोध होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन अभी आगे किया जाएगा।

ऊपर इए गए विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि शून्यवाद के उपर्युक्त पक्षों में विवेचन भानना उचित नहीं है।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद का स्वरूप

शून्यता, उपादाय प्रज्ञाति और मध्यमा प्रतिष्ठा—ये शून्य की ही सज्जाए हैं।^१ शून्यवादियों के अनुमार जो प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है, वही शून्यता का अर्थ है, परन्तु शून्यता-अभाववाचक कदापि नहीं है। प्रतीत्यसमुत्पादवाद के अनुमार सहार की समस्त वस्तुएँ प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। प्रतीत्यसमुत्पन्नों का आसाय यह है कि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति प्रतीत्य है, वस्तुत वे अनुसन्धान ही हैं। इनी प्रकार जगत् की वस्तुओं का भी जो समुच्छेद प्रतीत होता है, वह भी प्रतीत्यसमुच्छेद ही है वास्तविक नहीं है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद रूप शून्यता के स्वीकार वर लेने पर वस्तुओं की उत्पत्ति और उनके विनाश वा प्रश्ननहीं उपस्थित होता। शून्यता के अनुमार सभी वस्तुजगत् की उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह के समान है। उक्त विच्छिन्न प्रवाह के मान लेने पर शून्यवादी की अनात्मवादिना स्पष्ट है। परन्तु अनात्मवादी होने पर भी शून्यवादी भौतिकवादी भी नहीं हैं। उनके पदार्थों के शणिक विनाश एव शणिक प्रादुर्भाव रूप प्रवाह को माना है। इस प्रकार शून्यवाद अस्त्वाद एव भौतिकवाद का मध्यवर्ती सिद्धान्त है।

१ ये प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता ता प्रचलने।

सा भौतिकवादाय प्रतिगत्यैव मध्यमा ॥ —मा० दा० २४।१८ ।

शून्यता के विभिन्न रूप

महायानिक ग्रन्थों के अन्तर्गत शून्यता के विभिन्न प्रकार उपलब्ध होते हैं। कहीं शून्यता के १८ प्रकार^१ और कहीं २० प्रकार मिलते हैं।^२ शून्यता के यह रूप निम्नलिखित हैं—

(१) अध्यात्म शून्यता—अध्यात्म शून्यता आत्मा के अनस्तित्व की समर्थक है। एतद-नुसार अध्यात्म तत्त्व को शून्य ही कहा गया है।

(२) वहिर्धा शून्यता—वहिर्धा शून्यता के अन्तर्गत वाह्य जगत् के समस्त पदार्थ आते हैं। इस प्रकार शून्यवाद दर्शन के अनुसार वाह्य जगत् के विषय भी शून्य रूप हैं।

(३) अध्यात्मवहिर्धा शून्यता—शून्यवादी आन्तरिक एवं वाह्य वस्तुओं की भेदव्यवस्था का विरोधी है। शून्यवाद दर्शन में आध्यात्मिक एवं वाह्य वस्तुएँ शून्यता रूप ही हैं।

(४) शून्यता को शून्यता—जिस प्रकार कि अद्वैतवेदान्त के अन्तर्गत मिथ्यात्व के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार शून्यवादियों ने भी शून्यता की शून्यता का प्रतिपादन किया है। शून्यता की शून्यता के द्वारा ही परमार्थ की सिद्धि होती है।

(५) महाशून्यता—महाशून्यता के द्वारा समस्त दिशाओं की शून्यता की ओर संकेत किया गया है।

(६) परमार्थ शून्यता—शून्यवादी के मनानुसार परमार्थ रूप निर्वाण भी शून्य रूप ही है। इसीलिए शून्यवाद दर्शन में परमार्थ शून्यता का वर्णन किया गया है।

(७) संस्कृत शून्यता—निमित्त प्रत्यय से मिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, वे संस्कृत कहलाते हैं। ये पदार्थ स्वभावतः शून्य हैं। यहीं संस्कृत शून्यता का आशय है।

(८) असंस्कृत शून्यता—उपर्युक्त कथन के अनुसार यदि संस्कृत पदार्थ शून्य हीं तो असंस्कृत भी शून्य हीं। उत्पत्ति एवं विनाशराहित्य आदि धर्म जिन पदार्थों के कहे जाते हैं, वे असंस्कृत हैं। परन्तु अनुत्पन्नता आदि धर्म भी सापेक्षिक हैं। अतः यह भी शून्य रूप ही हैं।

(९) अत्यन्तशून्यता—अत्यन्त शून्यता के द्वारा पदार्थों की पूर्ण शून्यता का संकेत किया गया है।

(१०) अनवराग शून्यता—अनवराग शून्यता वस्तुओं के आदि, मध्य और अन्त की शून्यता की समर्थक है।

(११) अनवकार शून्यता—अनवकार से अनुपधिशेष निर्वाण का तात्पर्य है। यह भी सापेक्ष होने के कारण शून्य रूप ही है।

(१२) प्रकृति शून्यता—प्रकृति स्वभाव की वाचक है और समस्त पदार्थों की प्रकृति न परिवर्तनीय है और न अपरिवर्तनीय। इसलिए प्रकृति भी शून्य रूप ही है।

(१३) सर्वधर्म शून्यता—जगत् के समस्त पदार्थ या धर्म स्वभाव विहीन होने के कारण शून्य रूप हैं, यहीं सर्वधर्म शून्यता का सार है।

(१४) लक्षण शून्यता—लक्षण शून्यता के द्वारा समस्त पदार्थों, जैसे अग्नि आदि के उप्पत्त आदि की शून्यता सिद्ध की गई है।

१. Dr. Suzuki : Essays in Zen Buddhism. Third series, pp. 222-227.

२. देखिए—Indian Historical Quarterly, Vol. IX, 1933, pp. 170-187.

(१५) उपलम्भ शून्यता—उपलम्भ शून्यता के द्वारा भूतादि कालप्रथ की शून्यता को पुष्टि होती है।

(१६) अभाव स्वभाव शून्यता—अनेक धर्म संयोग से उत्पन्न पदार्थ का अपना स्वतन्त्र स्वरूप नहीं होता। असाद-स्वभाव शून्यता के अन्तर्गत उक्त नारपर्य ही अन्तिमिहित है।

(१७) भ्रष्ट-शून्यता—भ्रष्ट-शून्यता के द्वारा स्कृच सत्ता का निषेध किया गया है।

(१८) अभाव-शून्यता—आकाशादि, जिनमें सामारिक सत्ता नहीं है, अभाव रूप होने से शून्य रूप ही हैं।

(१९) स्वभाव शून्यता—साधारणतया वस्तुओं का जो स्वभाव दिखाई पड़ता है वह भी शून्य स्वरूप ही है।

(२०) परभाव शून्यता—परभाव तत्त्व की किसी वाह्य कारण (परभाव) द्वारा उत्पत्ति स्वोकार करना नितान्त अनुचित है, यही परभाव शून्यता के निष्पत्ति का उद्देश्य है।

इस प्रकार दीस प्रकार की शून्यता के द्वारा शून्यवाद दर्शन में शून्यता का विद्याद रूप से वर्णन किया गया है। अब यह शून्यवाद सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए, शून्यवाद सम्मत धर्म नि स्वभावता, सत्यद्वयकल्पना एवं निर्वाण सम्बन्धी सिद्धान्त का निष्पत्ति किया जाएगा।

धर्मनि स्वभावता—शून्यवाद दर्शन के अनुसार सभी सरकार भूषा एवं मोपथर्मी हैं। केवल निर्वाण ही मोपथर्मी न होकर सत्य है।^१ जगत् के समस्त धर्म नि स्वभाव होने से शून्य हैं। इस प्रकार नि स्वभावता ही शून्यता है।

शून्यवादी की सत्यद्वयकल्पना—विज्ञानवादी की तरह शून्यवादी भी दो प्रकार का सत्य मानता है—एक सद्वृत्ति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्य।^२ विज्ञानवादी के अनुसार परमार्थ सत्य 'विज्ञान' है और शून्यवादी के दर्शन में 'शून्य'। चन्द्रकीर्ति ने सद्वृत्ति सत्य एवं परमार्थ सत्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि सद्वृत्ति सत्य मिथ्या दृष्टि का विषय है और परमार्थ सत्य सम्यक् द्रष्टा का विषय।^३ यह सम्यक् द्रष्टा का विषय ही परम तत्व है। परन्तु स्वरूपन यह भी असिद्ध है।

सद्वृत्ति सत्यानुवर्तिनी मिथ्या दृष्टि भी सम्यक् और मिथ्या भेद से दो प्रकार की है। प्रथम प्रकार दीस सद्वृत्ति के अन्तर्गत शुद्ध तथा नीरोग इन्द्रिय सम्पन्न व्यक्ति वा वाह्य विषयक ज्ञान आता है और दूसरे प्रकार दीस सद्वृत्ति के अन्तर्गत दोपूर्ण इन्द्रियों वाले व्यक्ति का ज्ञान आता है। इन दोनों में भी आपेक्षिक दृष्टि से दूसरे प्रकार का सादृत्तिर सत्य मिथ्या है। यहाँ पह वह देना और संगत होगा कि शून्यवादी के अनुसार सादृत्तिक पदार्थों की सत्यता केवल सोकदृष्टि से ही विचार्य है, परमार्थ दृष्टि से तो मह हृतिम ही है।^४

जहाँ तक परमार्थ सत्य का प्रश्न है, वह शून्यवादी के अनुसार वाणी एवं ज्ञान का विषय नहीं है। वह तो स्वमयेव सत्य है। अतः इस तत्व का उपर्योगी वसम्भव है, क्योंकि यह

१. एतद्विषयलुभिष्व परम सत्यं यदिह नमोपयमनिर्वाणम्, सद्वेष्टाराश्च मृषामोदधर्मणि इति।—मा० का० वृ०, पृ० २३७।

२. द्वेष्टर्ये समुदायित्वं बुद्धानां धर्मदेशना।

सोकसद्वृत्तिसत्य च सत्य च परमार्थं ॥—मा० का० २४८।

३. मा० का० ६१२३।

४. सम्यक्द्रष्टार ६१२४, २८।

तो भाव, स्वभाव, परभाव, सत्य, असत्य, शाश्वत-उच्छ्रेद, नित्य, अनित्य, सुःख-दुःख, शुचि, अशुचि, आत्मा, बनात्मा, शून्य, अशून्य, लक्षण, लक्ष्य, एकत्व, अनेकत्व एवं उत्ताद-विरोधादि से बंजित है।^१ परन्तु परमार्थ तत्त्व की देशना उपर्युक्त संवृत्तिक सत्य को स्वीकार किए विना असंभव ही है। इसके साथ ही साथ यह भी तो निश्चित ही है कि परमार्थ ज्ञान के विना निर्वाण की उपलब्धि नहीं होती।^२ चन्द्रकीर्ति का कथन है कि उक्त सत्यद्वय का ज्ञान हुए विना दुर्घटा शून्यता उसी प्रकार नाश कर देती है, जिस प्रकार कि दुर्गृहीत सर्प अयवा दुष्प्रसाधिता विद्या नाशकर्त्ता सिद्ध होती है।^३

विज्ञानवादी एवं शून्यवादी की संवृत्तिका अन्तर

संवृत्ति सत्य के विषय में विज्ञानवादी एवं शून्यवादी की विचार धारा में भेद है। शून्यवादी के अनुसार धर्मों का आभासरूप संवृत्तिसत्य अनविष्ठान है। क्योंकि शून्यवाद के अनुरूप शून्य धर्मों से ही शून्य धर्म उत्पन्न होते हैं। विज्ञानवादी का मत उक्त विचार से भिन्न है। विज्ञानवादी के अनुसार तो संवृत्ति-धर्मों का अस्तित्व धर्मता-तथता विशेष के कारण है।^४

निर्वाण

शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत शून्यता ही निर्वाण रूप है। शून्यवादी निर्वाण की सक्रम व्यवस्था बतलाते हुए कहता है कि शून्यता शिवरूप है और यह शिवरूप शून्यता अशेष प्रपञ्चोपशम कर्त्री है। इस शून्यता का ज्ञान होने पर अशेष कल्पनाजाल रूप प्रपञ्च का विनाश हो जाता है और प्रपञ्चविनाशित होने पर समस्त विकल्पों की निवृत्ति हो जाती है। विकल्पनिवृत्ति होने पर अशेष कर्म क्लेशों की निवृत्ति होने पर जन्म वन्धन की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार शून्यता सर्व प्रपञ्च की निवृत्ति का कारण होने से निर्वाण रूपा है।^५ बीदृदर्शन का निर्वाण अप्रहीण,^६ अश्रम प्राप्त,^७ अनुच्छिन्न,^८ अशाश्वत^९ तथा अनिरुद्ध एवं अनुत्पन्न है।^{१०} शून्यवादियों ने निर्वाण को भावाभाव रूप माना है।

शून्यवादी आचार्य नागार्जुन ने निर्वाण रूप शून्य का लक्षण बतलाते हुए शून्य की निम्नलिखित पांच विशेषताएं बतलाई हैं—

१. आचार्य नरेन्द्रदेव, बीदृ धर्म दर्शन, पृष्ठ ५५६।

२. व्यवहारमनाधित्यपरमार्थो न देश्यते।

परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते॥—म०का० २४।१०।

३. विनाशयति दुर्घटा शून्यता मन्दमेघसम्।

सर्वो वा दुर्गृहीतो विद्यावा दुष्प्रसाधिता॥—मध्यमकावतार २४।१।

४. आचार्य नरेन्द्र देव : बीदृ धर्म दर्शन, पृष्ठ ४७८।

५. माध्यमिक वृत्ति, पृष्ठ ३५१।

६. जो रागादि के समान प्रहीण नहीं होता।

७. जो श्रम द्वारा लम्य कल के समान प्राप्तव्य नहीं है।

८. जो स्कन्धादि के समान उच्छिन्न नहीं होता।

९. जो स्वभाव पदार्थों के समान नित्य नहीं है।

१०. जो स्वभाव से अनिरुद्ध और अनुत्पन्न हो।

(१) अपर प्रत्यय—शून्य उपदेशादि द्वारा ज्ञातव्य न होकर स्वभवेत है। अद्वैतवादियों का अद्वैत तत्त्व यहाँ भी इसी प्रकार का है। इस विषय का विवेचन अभी आगे यथास्थान किया जाएगा।

(२) शास्त्र—निर्वाण स्वयं शून्य शास्त्र होने के कारण समस्त धर्मों एवं स्वभावों से रहित है।

(३) प्रवचनाप्रदचित—शून्य तत्त्व वाणी द्वारा व्याख्येय नहीं है। शून्यवादी नागार्जुन ने इस विषय का विवेचन करते हुए जहाँ प्रपत्र शब्द का उल्लेख किया है, वहाँ उसका अर्थ वाणी ही है।^१

(४) निविकल्प—शून्य तत्त्व निविकल्प होने के कारण चिन्म के समस्त सत्र एवं असत् विकल्पों से रहित है।

(५) अनानायं—सधमें बस्तुओं की तरह शून्य तत्त्व नानायं नहीं है। वह अधर्मी है। इसीलिए अनानायं है।

इस प्रकार निर्वाण रूप शून्यता समस्त वलेशा की निवृत्ति एवं परम मुख के अनुभव का नाम है।

निर्वाण की असत्यता—जिस प्रश्नार नि अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत वन्नन के अन्तर्गत वन्नन एवं मोक्ष की विवेचना पारपायित नहीं है, उसी प्रश्नार शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत भी निर्वाण की सत्यता असिद्ध बतलाई गई है। शून्यवादी आचार्यं चन्द्रकीर्ति निर्वाण की अपारमाधिकता वी और सत्तेन करते हुए कहते हैं कि निर्वाण सम्बन्धी समस्त देगना अनिर्वाण की ही देशना है। आचार्यं चन्द्रकीर्ति का बयन है कि निर्वाण की गमन्त देगना वा कार्यं उसी प्रकार है, जिस प्रश्नार की आकाशाङ्क्ष ग्रन्थ आकाश द्वारा ही गोचित होनी है।^२

अब हम यहाँ शून्यवाद एवं अद्वैतवाद वा तुलनात्मक विवेचन करेंगे।

शून्यवाद और अद्वैतवाद का तुलनात्मक विवेचन

शून्यवाद एवं अद्वैतवाद दर्शन के गिद्धान्ता में परस्पर साम्य एवं वैषम्य दोनों मिलते हैं। साम्य का कारण तो यह है कि दोनों दार्शनिकों को उननिषद्विचारारूपिणी भौलिक पृष्ठभूमि एक ही है। जहाँ तक दोनों दर्शन पढ़नियों के मिद्दान्तों के वैषम्य का प्रश्न है, वो एवं अद्वैती दोनों के चिन्तन दो दिशा वा क्रम पूर्णतया भिन्न है। अतः शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के मिद्दान्तों में परस्पर भास्य एवं वैषम्य का पाया जाना स्वाभाविक है। यहाँ इन दोनों मिद्दान्तों के साम्य एवं वैषम्य का विवेचन किया जाएगा। शून्यवादी एवं अद्वैतवादी दोनों ने ही परमायं राट्र को अद्वैत कहा है। शून्यवादी का यह सत्य शून्य है तो अद्वैतवादी का ब्रह्म। शून्यवादी ने शून्य वी निष्वभावना मिद्द कर्त्त्वे उसी निर्गुणता का प्रिष्ठपेण किया है, जो उपनिषदों की भाषा में पूर्णतया महेन्द्रित हुई है।^३ शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत जिस प्रश्नार परमायं

१. माध्यमिक वृत्ति, पृष्ठ ३५१।

२. अनिर्वाण हि निर्वाण लोकनायेन दरितम्।

आकाशेन द्वौप्राण्यराकामेनैव मोचित ॥—म० का० व०, पृष्ठ ५४०।

३. वेनोनिषद्, ३११, व० २० २१५१६, द्वादाद, कठ० उ० ११३१५। ईशावास्मीपनिषद् ५, ६, ७, मुण्डा उपनिषद् १६, माण्डूप्रयोगनिषद् ७ तथा देविए शक्ति भाष्य।

तत्त्व को अपर प्रत्यय, शान्त, प्रपञ्चाप्रपञ्चित, निविकल्प एवं अनानार्थ कहा गया, है, उसी प्रकार अद्वैतवाद के प्रस्तापकों ने भी परमार्थ तत्त्व को अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्यय सारह्वप, प्रपञ्चोपशम रूप, शान्त, शिवहृष्ट तथा अद्वैत सत्य कहा हैं।^१ उक्त लक्षणों के ही कारण शून्यवादी का शून्य^२ एवं अद्वैतवादी का अद्वैत तत्त्व बाल्मनसातीत हैं।^३ जिस प्रकार अद्वैतवाद सिद्धान्त के ब्रह्म एवं मुक्ति में भेद न होकर ब्रह्म ही मुक्ति स्वरूप है,^४ उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन में भी शून्यता ही निर्वाण है।^५ जैसा कि शून्यवादी की सत्य-द्वय कल्पना की विवेचना करते समय कहा जा चुका है, व्यवहार का बाध्यत लिए विना परमार्थ की देखना नहीं की जा सकती।^६ इस प्रकार शून्यवादी परमार्थ की उपलब्धि के लिए व्यवहार की भी देन मानता है।^७ अद्वैतवादी भी शून्यवादी के समान असत्य की उपत्ति स्वीकार करता है।^८ अद्वैती शंकराचार्य ने तो लोक व्यवहार को स्पष्ट ही सत्यानृत का मियुन कहा है।^९ यह विचार दोनों दार्थनिक सिद्धान्तों में समान ही है कि परमार्थ की उपलब्धि हो जाने पर तत्त्व-वेत्ता के लिए शून्यवादी के सांवृत्तिक सत्य एवं अद्वैतवादी के व्यावहारिक सत्य की सत्ताएं योग नहीं रह जातीं। इस प्रकार शून्यवादी के शून्य एवं अद्वैतवादी के परमार्थ सत्य—ब्रह्म सम्बन्धी विचार में पर्याप्त समानता है। इसी समानता के कारण एकाधिक विद्वानों ने शून्यवादी बौद्ध को अद्वैयवादी^{१०} और शून्यवाद को अद्वैतवाद कहा है।^{११} परन्तु शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के अन्तर्गत कुछ ऐसा विरोध मिलता है कि दोनों की पृथक् स्थिति पूर्णतया निश्चित हो जाती है। अब दोनों सिद्धान्तों के विरोध का विवेचन किया जाएगा।

शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के परमार्थ सत्य के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर साम्य होने पर भी यह भेद स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत जहां परमार्थ सत्य ब्रह्मनि शित रूप से ‘सत्’ घोषित किया गया है, वहां शून्यवाद के अन्तर्गत अनेक प्रकार से शून्य की अनिर्वचनीयता^{१२} का वर्णन किया गया है। इस प्रकार शून्यवाद दर्शन में अनिर्वचनीयता से जिस सत्, असत्, सदसत् एवं अनुभयात्मक तत्त्व^{१३} की ओर संकेत किया गया है, वह निश्चय ही अद्वैतवादी

१. माण्डूक्योपनिषद् ७ तथा शांकर भाष्य

२. वौघिचर्यावितार ६।२।

३. कठोपनिषद् १।२।२३।

४. ब्रह्मेव हि मुक्त्यवस्था—ब्र० सू०, शा० भा० ३।४।५२।

५. शून्यतैव सर्वप्रपञ्चलक्षणत्वान्निर्वाणमुच्यते। —मा० वृ०, पृ० ३५।

६. मा० का० २।४।१०।

७. वही, २।४।१०।

८. ब्र० सू०, शा० भा० २।१।१४।

९. सत्यानृते मिशुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः:

—ब्र० सू०, शा० भा० १।१।१।

१०. नामलिगानुजासनम्—१।१४, नैषवीय चरितम्, २।१।८। —चण्डिकाप्रसाद शुक्ल द्वारा सम्पादित—१।६।५।, प्रथम संस्करण।

११. अद्वैतवाद मुग्नतस्य हन्तिपदकमो यच्च जडद्विजानाम्।—वर्मशर्माम्भुदय, १।७।६।

१२. सण्डनस्पदसाद्य, प्रथम परिच्छेद।

१३. माध्यमिक कारिका, १।७।

के 'सत्' ब्रह्म से भिन्न है। अद्वैत दर्शन में तो सदसद्भिन्नत्वादि लक्षण ब्रह्म के न होकर माया के बत्साए गए हैं।^१ इसीलिए अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अनिवंचनीय न कहकर माया को ही अनिवंचनीय कहा गया है। अन शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत शून्य वो अनिवंचनीय मानने के कारण शून्यवाद को अद्वैतवाद या अद्वैतवाद न कहकर अनिवंचनीयवाद कहना अधिक सगत है। परन्तु शून्यवादी द्वारा शून्य की अनिवंचनीयत्व के रूप में स्थापना होने पर शून्यवाद को अनावश्यक या असद्वादमूलक दर्शन नहीं समझना चाहिए। इसीलिए शून्यवाद के समालोचकों ने शून्य वी सत्ता मानने में सदीच नहीं किया है।^२ शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के उपर्युक्त भेद के अतिरिक्त यह अन्तर भी विचार योग्य है कि अद्वैतवादियों ने ब्रह्मावस्था में जहा वलोकिक ब्रह्मानन्द का अनुभव किया है, वहा शून्यवादी ने मानसिक परमसुख की चर्चा की है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, शून्यवाद दर्शन में तो शून्यता ही तिर्णण रूप है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के परमार्थ सत्य सम्बन्धी मिदान्त में परस्पर पर्याप्त साम्य होने हुए भी, बहुत कुछ मौलिक वैषम्य मिलता है। अत दोनों सिद्धान्तों का पार्थ्यव्य स्पष्ट ही है।

सत्ता सम्बन्धी विचार

शून्यवादी वी मत्यद्वय का पना का विवेचन करते समय शून्यवादी के सावृत्तिक सत्य एवं परमार्थिक सत्य का विवेचन पीछे किया जा चुका है। शून्यवादी वी ही तरह अद्वैतवादी भी व्यावहारिक सत्ता एवं पारमार्थिक सत्ता को तो स्वीकार करता ही है, साथ ही वह प्रातिभासिक सत्ता का भी पक्षपाती है। शून्यवादी ने पृथक् रूप से प्रातिभासिक राता को तो नहीं स्वीकार किया है, परन्तु शून्यवादी की मिथ्या सबृति अद्वैतवादी की प्रातिभासिक सत्ता के पूर्ण रूप से समीप कही जा सकती है।^३

सबृति एवं अविद्या

शून्यवादी के जिस सावृत्तिक सत्य का ऊर हमने उल्लेख किया है, उसका मूल सबृति है। इसी प्रकार अद्वैतवादी के जिस व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्य का ऊर उल्लेख हुआ है उसका मूल अविद्या या माया है। अद्वैतवादियों की ही तरह शून्यवादियों ने भी सबृति को अविद्या स्वरूप माना है। यही तक नहीं, जिस प्रकार कि अद्वैतवाद दर्शन में माया आवरण शक्ति के रूप में परम तन्द की आवरणशक्तियों और विशेष शक्ति के रूप में जगत् की सृष्टि कर्त्ता मानी गयी है,^४ उसी प्रकार शून्यवाद के अन्तर्गत भी अविद्यालहिती सबृति यथार्थ परिज्ञान वी आवरण कर्त्ता तथा असत् पदार्थ वी आरोपिका बनलाई गई है।^५ इस प्रकार शून्यवादी

१. विवेक चूडामणि, ११।

२ There is in the midst of all then negative descriptions an inconceivable positive which is Sunya. (M M Harprasad Shastri, Journal of the Buddhist Text Society, Vol 2, p. III, p.6.)

३. आचार्य नरेन्द्र देव बीढ़ धर्म दर्शन, पृष्ठ २१४।

४ विवेक चूडामणि १४१, १४२।

की संवृत्ति एवं अद्वैतवादी की विविचा में भी पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती है।

शून्यवादी एवं अद्वैतवादी के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय जगत् के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। अद्वैतवादी परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण जगत् की सत्ता को व्यावहारिक रूप से सत्य मानता है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करके व्यावहारिक जगत् की यथार्थता का समर्यन किया गया है। यहां तक कि अद्वैत भत में मुक्तावस्था में भी भौतिक जगत् का निराकरण नहीं किया जाता। अन्तर के बीच यही है कि मुक्तावस्था में प्रह्लादानी को जगत् बीर ब्रह्म में भेद की वह प्रतीति नहीं होती, जो कि आत्मबोध न होने पर होती है। परन्तु शून्यवाद दर्शन की स्थिति अद्वैत भत के उक्त सिद्धान्त के विपरीत है। शून्यवाद के अन्तर्गत जगत् के भौतिक रूप का निराकरण करते हुए सर्वत्र शून्यता का ही प्रतिपादन किया गया है। जागतिक पदार्थों की स्थिति के सम्बन्ध में भी शून्यवादी एवं अद्वैतवादी के विचार भिन्न-भिन्न हैं। अद्वैत वेदान्त में जहां जगत् के पदार्थों को उत्पत्ति-विनाशशील कहा गया है,^१ वहां शून्यवादी जगत् की उत्पत्ति एवं विनाश का विरोधी है।^२ इस प्रकार शून्यवाद के अन्तर्गत जगत् के पदार्थ अनुत्पन्न एवं अनुच्छिन्न माने गए हैं। जगत् के पदार्थों के उत्पाद एवं विनाश को शून्यवादी 'प्रतीत्य' सानता है। इसीलिए उसका शून्यवाद सिद्धान्त प्रतीत्य समुत्पादवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का निरूपण शून्यवाद का विवेचन करते समय किया जा चुका है।

निर्वाण या मोक्ष जीवन की चरमसाध्यावस्था का नाम है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त मत के अनुसार परमार्थ अवस्था में निरोध, उत्पत्ति, बद्धता, साधकता, मुमुक्षत्व एवं मुक्तता सम्बन्धी प्रश्न नहीं उपस्थित होते,^३ उसी प्रकार शून्यवाद दर्शन में भी निर्वाण को अनिर्वाण कहा गया है।^४ शून्यवादी ने तो वास्तविक निर्वाण की प्राप्ति की परिकल्पना को ही मिथ्या ज्ञान कहा है।^५ इसके अतिरिक्त शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के निर्वाण या मुक्ति की स्थिति में व्यावहारिक सत्तागत ज्ञान का उच्छ्वेद हो जाता है। दोनों ही दर्थन सिद्धान्तों के अनुसार निर्वाण एवं मुक्तिकाल में प्रपञ्चवृत्ति का विलय स्वीकार किया गया है।^६ अद्वैतवादियों के जीवन्मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त की तरह शून्यवादी वौद्धों को भी यह मान्य ही है कि इसी जीवन में निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। उत्तर कथन का उल्लेख भगवान् बुद्ध द्वारा वडे वलपूर्वक किया गया है।^७ इसी प्रकार बीद्र दार्शनिकों द्वारा अंगीकृत परिनिर्वाण और अद्वैतवादियों द्वारा स्वीकृत विदेह मुक्ति का सादृश्य भी देखा जा सकता है।

उपर्युक्त साम्य होते हुए भी शून्यवाद एवं अद्वैतवाद की मुखित विपर्यक स्थिति का यह अन्तर विचारणीय है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत साधक मुक्तावस्था को प्राप्त होकर स्वयं प्रत्य

१. च० स०, शा० भा० २।२।२६।

२. उद्योगस्ति नव्ययः, माध्यमिक कार्सिका, XXIV.

३. आत्मोपनिषद्, ३१।

४. अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देवितम् ॥—म० का० व०, प० ५४०।

५. माध्यमिक वृत्ति (B. T. S), प० १०१, १०८।

६. Nirvana is nearly the cessation of the seeming phenomenal flow (Prapancha pravrtti). S. N. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol. I, p. 142.

७. अंगुत्तर निकाय, तिकनिपात ।—देविति बुद्धवचन, प० १७।

रूप हो जाता है और जहा सचिवदानन्दस्वरूप है। अत मुक्तावस्था सचिवदानन्द स्वरूप सम्मान है। इसके विपरीत शून्यवाद दर्शन के अन्तर्गत निर्वाण दोन भावरूप स्वीकार किया गया है और न आवाष रूप।^१ इसके अतिरिक्त अद्वैतवादियों ने जहा मुक्तावस्था मे जहानन्द स्वरूप परमानन्द की चर्चा की है, वहा बौद्ध दर्शन मे भी निर्वाण काल मे परमसुख का भनुभव स्वीकार किया गया है।^२ परन्तु यहां यह और विचारणीय है कि बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत उत्तर परमसुख या आनन्द निविप्य मन का सुख या आनन्द है और अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत वह आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द है। इसी प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन और शून्यवाद दर्शन का यह भेद भी द्रष्टव्य है कि अद्वैतवाद के अन्तर्गत जहा जीव का मोक्ष माना गया है वहा शून्यवादी के अनुसार चित्त का निर्वाण स्वीकार किया गया है।^३

अबर शून्यवाद एव अद्वैतवाद का जो तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उसमे, एक ओर तो शून्यवाद एव अद्वैतवाद मिदान्तों की शृंखला का योग सिद्ध होता है और दूसरी ओर दोनों की मूल विचारभूमियों का विरोप प्रतीत होता है। दोनों दार्शनिक सिद्धान्तों के मीलिक सादृश्य के कारण ही विद्वानों एव अनेक लालोचकों ने अद्वैतवाद के प्रमुख प्रस्थापक शब्दराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध तक बह दिया है। यह उक्त समस्या की ओर दृष्टिप्रकृत बरना अप्रासाधिक न होगा।

यथा अद्वैतवाद के प्रस्थापक शब्दराचार्य 'प्रच्छन्न बौद्ध' है ?

ऊपर, द्वैतवाद दर्शन एव बौद्ध विज्ञानात्मक तथा शून्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन करते समय अद्वैतवाद तथा उक्त बौद्ध सिद्धान्तों म साम्य एव वैपर्य दोनों मिले हैं। भारतीय दर्शन साम्य के अनेक आचार्यों एव समालोचकोंने अद्वैतवाद एव बौद्ध सिद्धान्तों के मीलिक वैपर्य की ओर ध्यान न देकर, उक्त मिदान्तों की क्षतिप्रय साम्यताओं के आधार पर ही शब्दराचार्य के अद्वैतवाद दर्शन के मूल मे बौद्ध दर्शन के विचारनश्यों के दर्शन किए हैं। इसके अतिरिक्त इन समालोचकोंने अद्वैतवाद के प्रस्थापक शब्दराचार्य शक्र को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। इन सम्बन्ध मे हम यहा क्षतिप्रय प्रमुख मतों का उल्लेख करेंगे।

पदम पुराण का मत—पदमपुराण के अन्तर्गत शब्दराचार्य के मायावाद को 'असत् शास्त्र' कहते हुए उसपर प्रच्छन्न बौद्धत्व का वारोप लगाया गया है।^४

रामानुजाचार्य का मत—श्रीभाष्यकार शाचार्य रामानुज ने शब्दराचार्य को वेदवा-

१ न चाप्रवृत्तिमायप् भावाभावेति परित्तिलिनु पायद्यंते, एव न भावाभाव निर्वाणम् ।

—माध्यमिकवृत्ति, पृ० १६७।

२ निव्वाप परम गुण । भाग्निदयमुत्तन्त —मञ्जिम० २।३।५ घम्पद १५।८ येरीगाढ़ा, गाढ़ा ४३६ ।

३. पदीपस्मेवनिष्वाण विमोक्षयोश्चुकेतमो । येरीगाढ़ा, गाढ़ा ११६ ।

तथा देखिए—शाचार्य नरेन्द्र देव बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ५ ।

४ मायावादमन्द्यास्थ प्रच्छन्न बौद्धमेव च ।

मर्यवृत्तियत्वेति, कलोत्त्राद्याणश्चिप्याः ॥—पदमपुराण ।

तथा देखिये N Shastri . A Study of Sankara, p. 92.

दच्छद्म प्रच्छन्न बोद्ध' कहा है।^१ उन्होंने शंकराचार्य के ज्ञानवाद को उपहासास्पद भी बतलाया है।

भास्कराचार्य का मत—भास्कराचार्य ने भी शांकरदर्शन पर बोद्ध दर्शन के पूर्ण प्रभाव के दर्शन करते हुए, शांकर मायावाद को महायान बोद्ध दर्शन से ही गृहीत बतलाया है।^२

योगवासिष्ठ का मत—योगवासिष्ठ के अन्तर्गत तो शून्यवादी के शून्य, ब्रह्मवादी के ब्रह्म और विज्ञानवादी के 'विज्ञान' को एक समान ही सिद्ध किया गया है।^३

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त उद्यनाचार्य, आनन्दतीय एवं भीमाचार्य आदि प्राचीन आचार्यों ने भी मायावादसमर्यक शांकर दर्शन के मूल में, प्रच्छन्न रूप से बोद्ध विचारों का समर्थन किया है।^४ इन आचार्यों के अतिरिक्त कठिपय निम्नलिखित समालोचकों के कथन भी विचारणीय हैं।

३० दास गुप्त का मत—भारतीय दर्शन के बृहत् इतिहास के लेखक ढा० भुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने शंकराचार्य के 'ब्रह्म' को नागार्जुन के 'शून्य' के अत्यंत समीप बतलाते हुए कहा है—

His Brahman was very much like the Sunya of Nagarjuna.^५

उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त ढा० दास गुप्त ने विज्ञानभिक्षु आदि प्रच्छन्न बोद्धवादियों के मत का अनुसरण करते हुए शंकराचार्य को प्रच्छन्न बोद्ध बतलाया है तथा उनके दर्शन को उपनिषद् प्रतिपादित आत्मा की शाश्वतता के विचार के साथ बोद्धविज्ञानवाद एवं शून्यवाद का मिश्रण कहा है।^६

३० वसुआ का मत—३० वी० एम० वसुआ तो माध्यमिक दर्शन के अभाव में शांकर दर्शन की सत्ता को ही असम्भव मानते हैं।^७

राहुल सांकृत्यायन का मत—भारतीय दर्शन शास्त्र के बहुज समालोचक विद्वान् राहुल सांकृत्यायन ने शांकर मायावाद को नागार्जुन के शून्यवाद का ही नामान्तर मान्य कहा है।^८

भरतसिंह उपाध्याय का मत—बोद्ध दर्शन के समालोचक लेखक भरतसिंह उपाध्याय तो शंकराचार्य को प्रच्छन्न बोद्ध कहने वालों से एक पन और आगे बढ़ गए हैं। उपाध्याय जो

१. वेदवादच्छद्मप्रच्छन्नबोद्धनिराकरणेनिपुर्ण प्रपञ्चितम् । —श्रीभाष्य २.२.२७ ।

२. महायानबोद्धगायितं मायावादम् । —भास्करभाष्य १।४।४५ ।

३. यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदांवरम् ।

विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलं पदम् ॥ —यो० वा०, ५।८।१६ ।

४. देखिए—भरतसिंह उपाध्याय : बोद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०२८ ।

५. Dr. S.N. Das Gupta : Indian Philosophy, Vol, I, p. 493.

६. वही ।

७. ढा० वसुआ के मत के लिए देखिए—A.K. Ray Chaudhuri : The Doctrine of Maya, p. 186.

८. दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ ८२०, किताब महल १९४७, द्वितीय संस्करण ।

ने शक्तराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध वे साथ प्रश्न बौद्ध भी कह दिया है। अपने मत को स्पष्ट बताते हुए इन्होंने लिखा है—

‘भग्ना को शून्यत्व वो और ले जाने के कारण, आत्मा वो ज्ञानवान् विज्ञान का स्वयं देने के कारण, शक्तर प्रच्छन्न या प्रकट बौद्ध थे।’

समालोचना

ऊपर हमने शक्तराचार्य को ‘प्रच्छन्न बौद्ध मिद्द बताने वाले जिन प्राचीन भाचार्यों एवं अन्य समालोचकों के मत दिए हैं उनके मतों का शाक्तर शास्त्र मायावाद अद्वैतवाद एवं विज्ञानवाद और शून्यवाद सिद्धान्तों की यत्त्विचत् समानता तथा अध्ययन वी अनुश्वरणमूलक प्रवृत्ति है। शाक्तर अद्वैतवाद एवं बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद दर्शन के पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन का अभाव भी उपर्युक्त आचार्यों एवं समालोचकों के मतों का एक प्रभानन्द कारण है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त समालोचकों की वृष्टि, तिज मत स्थापन के सम्बन्ध में पक्षगतपूर्ण भी हो गई है।

पद्मपुराण के अन्तर्गत मायावाद को असत् शास्त्र बहवर उस पर प्रच्छन्नबौद्धत्व का आरोप किया गया है। मेरे विचार में, जैसा कि मायावाद को स्पष्ट बताते समय कहा जा चुका है मायावाद असत् शास्त्र कथचित् नहीं है। यहा यह कहना ही पर्याप्त होगा कि बौद्ध दर्शन के विपरीत मायावाद के अन्तर्गत सदगद्वाद से विलक्षण अनिवेचनीय सत् की प्रतिपादा भी गई है। अत मायावाद असत् शास्त्र नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पद्मपुराण का उक्त मत अधिक प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

रामानुजानार्थ ने शाक्तर वेदान्त की ज्ञानमात्र वी परमार्थता के आधार पर शक्तराचार्य को ‘वेदान्तद्यद्मप्रच्छन्न बौद्ध’ कहा है। वैसे तो, रामानुजाचार्य के कथन वी पुष्टि में पह कहना सत्य ही है कि शाक्तर वेदान्त में जहा ब्रह्मज्ञान परमार्थ सत्य है, वहा विज्ञानवादी के अनुसार विज्ञप्ति भाव ही परमार्थ सत्य है। परन्तु जैसा कि विज्ञानवाद एवं अद्वैतवाद दर्शन का ऐद प्रदर्शित करते समय पौछे वहा जा चुका है विज्ञानवादी के मनानुगम त्राहु जगत् गी विज्ञानमात्र ही है, जथ कि शाक्तर अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत वाहु जगन् भी प्रत्यक्ष अवाहारित सत्ता स्वीकार भी गई है। यहा तक कि अद्वैत वेदान्त मत के अन्तर्गत जीव के मुख्य होने पर भी प्रत्यक्ष जगन् का निराकरण नहीं होता।

भास्त्रराचार्य वा भी मायावाद को महायानिर बौद्ध दर्शन से गृहीत बतलाना सगत नहीं प्रतीत होता। इस व्यधन के समर्थन म हमरा तर्क है कि मायावाद के अन्तर्गत जगत् के सम्बन्ध में महायान बौद्ध दर्शन की तरह शून्यता का प्रतिपादन नहीं किया गया है, अपितु जैसा कि कह चुके हैं अवाहारित जगत् भी सत्ता वा प्रतिपादन किया गया है। अद्वैतवाद एवं शून्यवाद का तुलनात्मक अध्ययन बताते समय इस कथन का निष्पत्ति किया जा चुका है।

जहा तक, शक्तराचार्य के प्रच्छन्नबौद्धत्व के सम्बन्ध में, हा० दागुप्त, हा० बी० एम० बहुआ, राहुल साहृदयायन एवं भरतसिंह उपराध्याय के मता वा प्रश्न है, इन गमालोचक विद्वानों ने शाक्तर अद्वैतवाद एवं मायावाद तथा विज्ञानवाद एवं शून्यवाद की यत्किञ्चित् समानता के आधार पर शक्तराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध मिद बताते का प्रयत्न किया है। शाक्तर अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद, बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद से पूर्णतया भिन्न है, इस तथ्य का समर्थन अभी

पीछे किया जा चुका है। अतः यहां तो हम यह कहना पर्याप्त समझेंगे कि डा० दास गुप्त का शांकर दर्शन के मूल में बोद्ध विज्ञानवाद की विचारभूमि खोजना उचित नहीं है। जहां तक शांकर दर्शन के अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद को शून्यवाद कहकर शंकराचार्य को प्रच्छन्न बोद्ध कहने की बात है, मेरे विनश्च विज्ञानवाद यह भ्रममात्र ही है। इस भ्रम की आशंका आचार्य शंकर को भी थी। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि दिग्-देश-गुण-गति-फलभेदशून्य परमायं सत्य बह्यब्रह्म मन्दवृद्धियों को असत्-सा प्रतीत होता है।^१ शंकराचार्य के उक्त कथन से शून्यवाद तथा अद्वैतवाद एवं ब्रह्मवाद का भेद स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित होता है। अतः जिन शंकराचार्य की समालोचक दृष्टि के अनुसार वैताशिकों का सिद्धान्त सत्य या अनुपपन्न है,^२ उन्हीं के सिद्धान्त के मूलरूप का शून्यवाद की पृष्ठभूमि में दर्शन करना निर्भूल एवं तकर्पुष्ट वारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार जैसा कि शून्यवाद एवं अद्वैतवाद के तुलनात्मक अध्ययन के अवसर पर देखा जा चुका है भाष्यमिक दर्शन (शून्यवाद) एवं अद्वैतवाद में पर्याप्त विरोध है। अतः डा० वरुजा का शांकर दर्शन के अद्वैतवाद एवं मायावाद को शून्यवाद के पूर्णतया समान मानकर भाष्यमिक दर्शन के अभाव में शांकर दर्शन की सत्ता को ही असंभव भानना या शांकर मायावाद को नागार्जुन के शून्यवाद का ही नामान्तर कहना सत्य या अनुचित हो कहा जाएगा। इसके अतिरिक्त भरतीमह उपाध्याय का शंकराचार्य की 'प्रकट बोद्ध' कहना शांकर अद्वैतवाद और बोद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन के अभाव का फल या पूर्वग्रह का परिणाम मात्र कहा जा सकता है। वस्तुतः, जैसा कि अद्वैतवाद और विज्ञानवाद एवं शून्यवाद सिद्धान्तों के पारस्परिक मौलिक वैषम्य से स्पष्ट किया जा चुका है, अद्वैतवादी शंकराचार्य को प्रच्छन्न बोद्ध कहना किसी प्रकार संगत नहीं है। संक्षेपतः, अपने मत की पुष्टि में हम निम्नलिखित तरफ प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) बोद्ध दर्शन के प्रस्थापक और अद्वैतवादी आचार्य शंकर दोनों ने ही उपनिषद्-रूपिणी माता का स्तन्यपान किया था, अतः दोनों के सिद्धान्तों में समानता होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इस समानता के आधार पर आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बोद्ध कहना कादापि संगत नहीं है। दोनों उपनिषद् विद्या के अहणी हैं। शांकर अद्वैतवाद तो उपनिषद् विद्या की व्याख्या है ही। बोद्ध दर्शन के समालोचकों ने भी मूल बोद्ध दर्शन पर उपनिषदों का प्रभाव निःसंकोच स्वीकार किया है।^३

(२) शांकर अद्वैतवाद एवं बोद्ध सिद्धान्तों में मौलिक विरोध है। यह विरोध इसी से स्पष्ट है कि अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्य ने विज्ञानवाद आदि बोद्ध सिद्धान्तों का निराकरण किया है।^४

१. दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्य हिपरमार्थ सत्त्वद्वयं ब्रह्म मन्दवृद्धोनाम् असद् इव प्रतिभाति।
—छा० उ० शा०, भा० दा० ११ का प्रास्ताविक।
२. ब्र० सू० शा० भा० २१२।३२।
३. It appears that early Buddhism was fundamentally influenced by the Upanishads which gave to it its early tendencies towards idealism and Absolutism. Studies in The origin of Buddhism, p. 556, Dr. G. C. Pandyā (University of Allahabad, 1957).
४. ब्र० सू०, शा० भा० २१२।३२।

(३) शाकर अद्वैतवाद एवं बोद्ध दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में ही समालोचकों ने शाकर अद्वैतवाद एवं मायावाद को पूर्णतया बोद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के समान माना है, परन्तु दोनों में मौलिक विषयम् है। इसीलिए तो अद्वैत वेदान्त के प्रब्लेम व्याख्याता विवरणकार प्रकाशात्मकति ने वेदान्तवाद को सुगत विज्ञानवाद के समान कहने वाली वाणी को 'दुर्जनरमणीय वाणी' कहा है।^१

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह लेखक शकाराचार्य को प्रच्छन्न बोद्ध न शकार बरते बले ढा० राधाकृष्णन^२ एवं सरत्रानबुद्धराफ़^३ वे मत का पूर्णतया समर्थक हैं। इस प्रकार शकाराचार्य को 'प्रच्छन्न बोद्ध' कहना तर्क सरगत नहीं बहा जा सकता।

भत्तृहरि का शब्दाद्वयवाद और शकाराचार्य का अद्वैतवाद

भत्तृहरि के शब्दाद्वयवाद का निष्पण भी तृतीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। शब्दाद्वयवाद के अन्तर्गत परा' वाक् या विमर्श' ही अद्वैत तत्त्व है और शाकर अद्वैतवाद में बहु तत्त्व को सर्वोन्न एवं परमार्थ सत्य के रूप में सिद्ध किया गया है। अद्वैतवादियों के बहु तत्त्व की तरह भत्तृहरि का शब्दबहु भी शाश्वत तत्त्व है, यही नहीं शाकर अद्वैतवाद की तरह भत्तृहरि का शब्दाद्वयवाद विवर्तवाद का भी समर्थक है।^४ जिस प्रकार शाकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् बहु वा विवर्त है,^५ उसी प्रकार शब्दाद्वयवादी भत्तृहरि के मतानुसार भी जगत् शब्द बहु का ही विवर्त है। इसके अतिरिक्त भत्तृहरि के शब्दाद्वयवाद और शकाराचार्य के अद्वैतवाद के अन्तर्गत इस सिद्धान्त के विषय में भी मतभेद ही है कि एक बहु ही भोक्ता, भोक्तुव्य एवं भोगस्प थे स्थित होता है।^६ शब्दाद्वयवादी एवं अद्वैतवादी वे इस सिद्धान्त में भी समझता है कि एक ही बहुतत्व अविद्या के द्वारा नानासृप्तता को प्राप्त होता हुआ दिलाई पड़ता है।^७ इस प्रकार भत्तृहरि के शब्दाद्वयवाद एवं शाकर अद्वैतवाद सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य है।

शब्दाद्वयवाद एवं शाकर अद्वैतवाद सिद्धान्तों के उपर्युक्त साम्य के होते हुए भी दोनों की तत्त्वनिष्पणप्रणाली भिन्न ही है। शाकर अद्वैतवादियों का परमार्थ तत्त्व बहु है और शब्दाद्वयवादियों के अनुसार परमार्थ तत्त्व 'विमर्श' है। शाकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जीव और

१. दुर्जनरमणीयवाच जत्पति सुगतविज्ञानवादसमानोऽयविज्ञानवाद इति। पञ्चपादिका विवरण, बोद्धरशन तथा अन्य भारतीय दर्शन भाग, २, पृ० १०३२ से उदृत।

२. Radhakrishnan India Philosophy, Vol II, p 432

३. Sir John Woodroffe The World as Power, p 72, (Ganesh and Co, Madras)

४. अनादि निष्ठन बहु शब्दतत्त्वयदभरम्।

विवर्ततेर्थं मावेन प्रक्रिया जगतो यत् ॥—वाक्यपदीय ॥

५. अवरततोऽन्यप्राप्याप्रयाविवरं इत्युदीरत ।—वेदान्तसार २१।

६. एकस्य सर्वदीजस्य यस्यवेयमनेकध्य ।

मोरनुभोक्तुव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थिति ॥

—वाक्यपदीय, वेदान्ताक-कल्याण, पृ० २७३ से उदृत।

७. विमर्श (परावाक्) एवं बहु तदेव अविद्या नानासृप्त भासत इतिप्राहु ।—मावप्रदीप, वाक्यपदीय बहुकाण्ड, पृ० १११, चौलम्बा संस्कृत सिरीज, सवत् ११६३ तथा मिलाइए बहु बूत्र शाकर भास्य १३१६।

ब्रह्म के तादात्म्य का नाम मोक्ष है और शब्दाद्वयवादी के अनुसार शब्द ब्रह्म के साथ तादात्म्य ही जीव का मोक्ष है। शब्दाद्वयवादी के अनुसार मोक्ष में भी शब्दात्मा को स्थिति रहती ही है।^१ इसके विपरीत शांकर अद्वैतवाद के अनुसार मुक्तावस्था में सच्चिदानन्दस्वरूपिणी ब्रह्मात्मता की स्थिति सम्भव होती है। इसके अनिरिक्त शब्दाद्वयवाद एवं शांकर अद्वैतवाद का यह भेद भी विचारणीय है कि शब्दाद्वयवाद के अनुष्ठ शब्द जगत् की उत्तरति का कारण तो है, परन्तु शांकर अद्वैतवादियों के ब्रह्मतत्त्व की नरह उपादान कारण नहीं।^२ शांकर अद्वैतवादवर्णन में तो ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों हैं। ब्रह्म की उपादानकारणता माया के कारण है।^३

गोडपादाचार्य का अजातवाद और शांकर अद्वैतवाद

गोडपादाचार्य के अजातवाद एवं शंकराचार्य के अद्वैतवाद का विवेचन तृतीय विव्याय के अन्तर्गत विस्तार से किया जा चुका है। गोडपादाचार्य एवं शंकराचार्य दोनों के ही दृष्टिकोण के अनुसार पारमायिक दृष्टि से स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाएं समान रूप से मिथ्या हैं। इस दृष्टि से तो गोडपादाचार्य द्वारा प्रतिपादित स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं की एकता का शांकर मत से कोई वैधिकत्व नहीं है। वर्तोंकि परमायं दृष्टि से तो शांकर मत के अनुसार भी परमायं अवस्था में जाग्रत् जाग्रत् के अनुभव भी स्वप्नवत् ही हैं। इस प्रकार स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं का मिथ्यात्व शांकर वेदान्त में भी समान ही है।^४ परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शंकराचार्य को स्वप्न अथवा जाग्रत् अवस्थाओं का वैधम्य त्वीकरन था। इस वैधम्य का प्रतिपादन तो आचार्य शंकर ने वडे वल्लपूर्वक किया था।^५ इस विषय का विवेचन भी इस प्रन्थ के तृतीय विव्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। जहाँ तक गोडपादाचार्य का प्रश्न है, उन्हें भी स्वप्न एवं जाग्रत् का भेद स्वीकार ही है।^६ इस प्रकार स्वप्न एवं जाग्रत् अवस्थाओं के साधम्य एवं वैधम्य के सम्बन्ध में गोडपादाचार्य एवं शंकराचार्य के सिद्धान्तों में समालोचनों का भेद देखना समुचित नहीं प्रतीत होता।

आचार्य गोडपाद एवं शंकराचार्य दोनोंही जगत्मिथ्यात्व के समर्थक हैं, परन्तु दोनों के मिथ्यात्व प्रतिपादन में कुछ अन्तर है। आचार्य गोडपाद ने जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हुए जो स्वप्नमाया एवं गन्धवंशनगर के दृष्टान्त दिए हैं,^७ वे शांकर सिद्धान्त के प्रतिशूल हैं। शांकर सिद्धान्त के अनुसार जगत् जगत् स्वाप्निक माया एवं गन्धवंशनगर के समान असत् न होकर व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत लाता है। इसी प्रस्तुति में यह कहता भी संगत होगा कि

१. वैयाकरणस्ते शब्दब्रह्मणा तादात्म्यमेव जीवस्य मोक्षः, मोक्षोऽपि शब्दात्मनोपस्थितिरिति-वाचत्। —भावप्रदीप, वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड, पृष्ठ १११।
२. प्र० म००, या० भा० १।३।२८।
३. विद्येष देविए—कुद्मवशास्त्री का वेदान्तांक (कल्याण) के अन्तर्गत शब्दाद्वैतवाद सेवा, पृष्ठ २७३।
४. शा०भा०, मा० का० २।४।
५. ब्र०म०, या० भा, २।१।२६।
६. गो० का०, २।४।
७. स्वप्नमयी यथादृष्टे गन्धवंशनगरं यथा।
तथादिश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणः॥—मा० का० २।३।

शाकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जहा माया को सत् एव असत् से विलक्षण होने के कारण अनिवचनीय कहा है,^१ वहा अज्ञातवादी गोडपादाचार्य ने माया को असत् ही कहा है।^२ इस प्रकार गोडपादाचार्य एव शकराचार्य के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण से भी यत्किंचित् भेद है।

उपर्युक्त विवेचन में यह स्पष्ट है कि गोडपादाचार्य एव शकराचार्य के मूल मिहाना में ऐक्य होने पर भी दोनों के दृष्टिकोण से किंचित् भेद है। शकराचार्य वी तरह गोडपादाचार्य भी अद्वैतवादी हैं, परन्तु उन्होंने अद्वैतवाद का ममर्थन अज्ञातवाद के महारे किया है और शकराचार्य ने अनिवचनीयवाद के आधार पर। दोनों ही मायावादी भी हैं, परन्तु एक (गोडपादाचार्य) को माया असत् है और दूसरे (शकराचार्य) की माया सत् एव असत् से विलक्षण होने के कारण अनिवचनीय है।

१. महाद्भुतानिवंचनीयस्मा—विवेकबूढामणि ११।

बृह्म अध्याय

(उपसंहार)

अद्वैतवेदान्त पर एक विहंगम दृष्टि

इन प्रश्नों के अन्तर्गत अभी तक हमारा प्रयत्न अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक अध्ययन प्रस्तुत करने का रहा है। अपने इस प्रयास में हमारी दृष्टि अपेक्षानुसार सर्वथा व्यालोचनात्मक रही है। फलत, अद्वैतवाद मिद्दान्त के ऐतिहासिक विकास का अनुशीलन करते समय, उन पंक्तियों का लेनक इस परिणाम पर पहुँचा है कि अद्वैतवाद सिद्धान्त का सांगोपांग एवं सैद्धान्तिक प्रनिपादन नो अंकराचार्य ने ही किया है, परन्तु इस सिद्धान्त की बीजात्मक पृथक्यामि ऋग्वेद से ही भिन्नी आरम्भ हो जाती है। इस प्रकार इस प्रवन्ध में, ऋग्वेद से लेकर अंकराचार्य के उत्तरवर्ती अद्वैत वेदान्त के आचार्यों एवं आधुनिक काल के विनोदवा प्रभृति दार्शनिकों के काल तक का, अद्वैतवाद का ऐतिहासिक विकासक्रम तो सप्रमाण विवेचित हुआ ही है, साथ ही भारतीय—न्याय, वैदेयिक, मांस्य, योग और पूर्वमीमांसा दर्शनपद्धतियों, क्षेत्रोफेन, शैलप, परमेतिद्, जेनो, ज्ञेटो एवं अरस्तू आदि यूनानी दार्शनिकों के सिद्धान्तों, इस्लामी दर्शन-पद्धति एवं डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लाइनिज़, कान्ट, फिल्म, शैलिंग, हेगेल तथा जोपेनहार प्रभृति पाद्यात्मक दार्शनिकों के सिद्धान्तों के साथ अद्वैतवाद का साम्यसम्बन्ध एवं वैम्य देखना भी इस अध्ययन की प्रमुख दिग्जा रही है। दूसरे वद्वदों में, उक्त दिग्जा इस अध्ययन के विविध तुलनात्मक पक्षों में से एक पदा है। इसके अतिरिक्त अद्वैत वेदान्त की प्रतिक्रियास्वरूप पुष्पित-पत्तवित होने वाली विभिन्न वैष्णवपद्धतियों के प्रवर्तक रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, महाप्रभुचैतन्य, जीवगोस्वामी एवं वलदेव विद्याभूषण के दार्शनिक सिद्धान्तों के स्वरूप की प्रतिष्ठा के साथ-साथ इन सिद्धान्तों के साथ अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त की तुलनात्मक समीक्षा भी इस अध्ययन के अन्तर्गत की गई है। इसके अतिरिक्त शांकर अद्वैतवाद सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए तथा अद्वैतसम इतर दार्शनिक सिद्धान्तों में शांकर अद्वैतवाद के भ्रम निवारण के लिए, इस ग्रन्थ में काश्मीर शैव दर्शन के प्रत्यभिज्ञावाद एवं स्पन्दवाद तथा शक्तयद्वैतवाद, बीद्रविज्ञानवाद, शून्यवाद, योगवासिपठागत कल्पनावाद, गोडपादाचार्य के अजातवाद एवं भर्तृहरि के अद्वैतवाद सिद्धान्तों की स्वापना की गई है और इन सिद्धान्तों के साथ शांकर अद्वैतवाद की समताओं एवं विपर्यासों पर भी विचार किया गया है। प्रमुखतया ये विचार सूत्र ही प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठाघार रहे हैं। उपर्युक्त विचार सूत्रों की समालोचनात्मक एवं वैज्ञानिक व्याख्या के व्याख्याकित सम्पन्न करने का प्रयास तो किया जा चुका है, अब उपसंहारत्मक दृष्टि से यहाँ उपर्युक्त विचार सूत्रों की व्याख्या द्वारा उपलब्ध निर्णयों का संक्षिप्त दिग्दर्शन प्रस्तुत किया जाएगा।

शक्ति अद्वैतारं भारतीय वादमय की प्राचीनतम निधि है। जब हम सहिताओं में अद्वैत-
क्षनीय पृष्ठभूमि विद्वारों की लोक करते हैं तो इस निरार्थ पर पहुँचते हैं कि अद्वैतवाद एवं
पृष्ठादि या भारतवाद का स्पष्ट एवं संद्वान्तिक उल्लेख न होने पर भी इनमें उत्तरोत्तर अद्वैत-
वाद की मूल पृष्ठभूमि व्यवस्था मिलती है। इतना ही नहीं, अद्वैत विद्वान् की पीयक मायावाद
वादिविद्वाराओं वा मूल भ्रोत भी सहिताओं में मिलता है। इसीरियल गजेटिव के
निम्नोद्घृत कथन में भी यही आशय निवाद है।

Even at this time the deepest thinkers began to see dimly that the Atman, or spirit, pervaded all things and that the world and even the gods themselves were but manifestations of it.¹

इस लेखक के मतानुगार सहिताओं के विविध अद्वैतपौष्टि तत्त्वों के अतिरिक्त सहिता-
गत देवतावाद में भी अद्वैतवाद की बीजात्मक पृष्ठभूमि मिलती है।

श्रूतवद में दार्शनिक अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से नहीं उपलब्ध होता, किन्तु
पतंग प्राण्यात्मा में ब्रह्म शब्द का दार्शनिक अर्थ में व्यवहार मिलता है। इसी प्रकार तैतिरीय
एवं पचतिर्वादि अन्य ब्राह्मण प्रथाओं में भी अद्वैतवाद मिद्वान्त के स्पष्ट बीज मिलते हैं। इस
प्रकार सहिताओं की अपेक्षा ब्राह्मण प्रथा के अद्वैतिक विचार कुछ अधिक स्पष्ट एवं मिद्वान्त-
पूर्ण हैं।

आरण्यक प्रथाओं में ब्रह्म विद्या का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। आरण्यकों में परमात्मा
के जगत् कारणत्व का विचार स्पष्ट रूप में मिलता है। ऐतिरेयारण्यक में ब्रह्म को प्रज्ञान व्यव-
वत्तनाया गया है। तैतिरीयारण्यक में परब्रह्म का व्यंगन प्रज्ञापनि रूप में किया गया है। तैतिरी-
यारण्यक में ब्रह्मात्मा प्राप्ति की चर्ची भी मिलती है। इस प्रश्नार आरण्यक प्रथाओं में ब्रह्म
आरम्भ, जगन्त्कारणवाद एवं मोक्ष आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट विवेचन मिलता है।

उपनिषद् साहित्य तो वेदान्त विद्या का साधान् धाराहर ही है। इस तथ्य का उल्लेख
आचार्य सदानन्द ने वेदान्तों नामोपनिषद्प्रभाषणम्² की उविन के द्वारा ही कर दिया है। इस
सेवक की दृष्टि में, उपनिषदों में जाहे अद्वैतवाद वा संद्वान्तिक प्रतिपादन न हो, परन्तु अद्वैत
वाद सिद्वान्तसम्बन्धिनी समस्त मामार्थी निर्दिष्ट रूप से उपलब्ध होती है। इस सम्बन्ध में इस
सेवक का ब्लूमफील्ड, दायसन, मेक्सिग्नलर, ऐडेंसी एवं गफ के मत से पूर्णतया साम्भालत है।
मैं विद्वान् उपनिषदों में अद्वैत वेदान्त की स्पष्ट पृष्ठभूमि स्वीकार करते हैं। हाँ, इस विद्या में
इस सेवक का प्रौढ़ दायसन से अवश्य वेदमत्य ही गया है कि प्रस्तुत लेखक दायसन महोदय की
धारणा के विपरीत उपनिषदों के अन्तर्गत आचार दर्शन की पूर्ण प्रतिष्ठा भानता है। परन्तु उप-
निषदों में मायावाद सिद्वान्त की गवेषणा के सम्बन्ध में इस विचारक का प्रौढ़ एवं योगो के
इस मत से किरोप ही गया है कि मायावाद मिद्वान्त उपनिषद् दर्शन की देन है। भेरे विचार
ऐ प्राचीन उपनिषदों में मायावाद सिद्वान्त की पूर्ण पृष्ठभूमि तो मिलती है, परन्तु मायावाद
वा संद्वान्तिक प्रतिपादन नहीं। अपने मत ई पुष्टि में, एक यह नामान्य कारण भी देखा जा
सकता है कि मद्दि उपनिषदों में मायावाद सिद्वान्त का प्रतिपादन प्राप्त होना तो विशिष्टा-
द्वैतवादादि विभिन्न वैष्णव सिद्वान्तों का विकास उपनिषदों की प्रायागिकता के आधार पर

¹ Imperial Gazetteer of India, Vol I, p 404
² वेदान्तसार ३।

कदापि न हो पाता । अतः इस विषय में यह लेखक प्रो० कोलत्रुक एवं मंक्षमूलर के इस मत से सहमत है कि प्राचीन उपनिषदों में मायासम्बन्धी विचारधारा का विकास जगत् के मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं स्वीकार किया जा सकता ।

इस प्रकार उपनिषदों में अद्वैतवाद दर्शन का स्वरूप देखने पर, उनमें अद्वैतवाद से सम्बन्धित-आत्मवाद, जीव, जगत्, कार्य-कारणवाद एवं जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति आदि विभिन्न सिद्धान्तों का स्पष्ट एवं विकसित स्वरूप मिलता है ।

अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि के रूप में वादरायण के ब्रह्मसूत्र का योगदान महान् है । ब्रह्म-सूत्र के अन्तर्गत जगत् प्रपञ्च के मिथ्यात्व, मायात्व एवं ब्रह्म की परमार्थसत्यता का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है । यह बात दूसरी है कि ब्रह्मसूत्र में अद्वैतवाद के प्रमुख मायासम्बन्धी विचार का उल्लेख केवल एक बार (ब्रह्मसूत्र ३।२।३) ही मिलता है और वहाँ भी माया का अर्थ उत्तर-कालिक अद्वैती भावार्थों द्वारा गृहीत सदमद्विलक्षणा ‘अनिवैचनीया’ मायान होकर, स्वान्त्रिक प्रपञ्च मात्र है । कुल मिलाकर, ब्रह्मसूत्र अद्वैती शंकराचार्य के सिद्धान्तों का मूल पृष्ठाधार है । इसके अतिरिक्त शाण्डिल्य सूत्रादि में भी अद्वैतवाद से सम्बन्धित कृतिपय विचार सूत्र उपलब्ध होते हैं ।

अद्वैतवाद के ऐतिहासिक व्यव्ययन की दृष्टि से पुराण साहित्य का महत्व भी किसी प्रकार कम नहीं है । पुराण साहित्य भारतीय धर्मदर्शन का वह रम्य कानन है, जिसमें धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के असंगत्य सुत्रक वर्तमान है । फलतः, पुराणों के अन्तर्गत सामाजिक एवं अन्य विषयों के साथ-साथ अद्वैतवाद का निष्पण शताधिक स्थलों पर मिलता है । पुराणों जैसे प्रवृत्तिप्रधान साहित्य में किसी दार्थनिक भिद्धान्त का तांगीरांग एवं संदान्तिक प्रतिपादन सौजन्य समुचित नहीं प्रतीत होता । इसीलिए पुराण साहित्य के अन्तर्गत एकमात्र अद्वैतवाद सिद्धान्त का समन्वयात्मक प्रतिपादन नहीं मिलता । वैसे, अद्वैतवाद सिद्धान्त के जहा, जीव, जगत्, आत्मवाद, विवर्तवाद एवं अध्यारोपवाद आदि सिद्धान्तों का निर्देश पुराण साहित्य के अन्तर्गत प्रचुर रूप में मिलता है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी अद्वैतवाद का प्रमुख पृष्ठाधार मिलता है । श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत यद्यपि अद्वैत शब्द का उल्लेख तो नहीं मिलता, परन्तु ‘ब्रह्म’ का प्रयोग अनेक बार हुआ है । इसके अतिरिक्त ‘ब्रह्मणा’, ‘ब्रह्मणः’ आदि शब्द भी गीता में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं । हमारे विचार से श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत अद्वैतवाद सिद्धान्त की प्रामाणिक एवं संदान्तिक विचारधारा का समन्वयात्मक निष्पण प्राप्त होता है । श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत ज्ञानकर्मसमुच्चय का निष्पण किया गया है । ‘सर्वोपनिषदो गावः’ के अनुरूप गीता तो उपनिषदों का ही सार है । अतः गीता में अद्वैतवेदान्त का निष्पण मिलना स्वाभाविक ही है । इसीलिए अद्वैतवाद के प्रस्थापक शंकर ने अपने भाष्यप्रन्थयों में स्थान-स्थान पर गीता के उद्धरण दिए हैं । इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता भी अद्वैत सिद्धान्त का एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । स्वयं शंकराचार्य का गीता पर भाष्य लिखना ही उक्त तथ्य का प्रमाण है ।

अद्वैतवादी शंकराचार्य एक महान् तान्त्रिक एवं शक्तितत्त्व के उपासक थे, यह एक सुविदित तथ्य है । इतना ही नहीं, उन्होंने सौन्दर्यलहरी प्रभृति कई-एक तन्त्र ग्रन्थों का

१. देखिए—श्रीमद्भगवद्गीता—३।१५, ४।२४, ४।३।, ५।६, ५।१६, ७।२६, ८।१, ८।३, ८।१३, ८।२४, १०।१२, १३।१२, १३।३०, १४।४, १८।५ ।

निर्माण भी किया था। साधनापत्र के अनिरचन तन्त्र का दर्शन पक्ष तो अद्वैतवाद का ही सम-
प्तक है। इसीलिए तान्त्रिकों का दार्शनिक सिद्धान्त भी सर्वथावैद्वत्वाद के ताम से प्रचलित है।
तत्क्षयद्वैतवाद के अन्तर्गत यक्षित को द्रव्य ही ही कहा गया है। इस प्रकार तन्त्र के दार्शनिक
पक्ष के अन्तर्गत शिव और शक्ति का अविनामावस्थन्त्र भी अद्वैतवाद का ही पोषक है।
परन्तु शक्ति अद्वैतवाद तन्त्रिक अद्वैतवाद से संद्वान्तिक दृष्टि से मिलता है, यह तत्त्व भी उल्ल-
खनीय नहीं है। उदाहरण के लिए, अद्वैतवादी की सद्गमद्विवलङ्घणा अनिवैचनीया मात्रा की
तरह शक्त्यद्वैतवादी की 'शक्ति' अनिवैचनीया नहीं है। इन दोनों सिद्धान्तों का तुलनात्मक
विवेचन सप्तम अव्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

योगवासिष्ठ भारतीय दर्शन दास्त्र का एक अद्यत महत्वपूर्ण एवं विद्यान्तराम प्रबन्ध
है। योगवासिष्ठ के अन्तर्गत अद्वैतदर्शनसत्त्वन्धी प्रायः सभी सिद्धान्तों का तिष्ठण मिलता
है। परन्तु योगवासिष्ठ पर बोद्ध दर्शन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसीलिए शक्तरा-
चार्य के अद्वैतवाद एवं योगवासिष्ठ के अद्वैतवाद में भी कुछ भेद ही गया है। शाक्त भायावाद के
विपरीत योगवासिष्ठ के अन्तर्गत जगत् को 'बल्मीकी' भाव मिट किया गया है। अतएव योग
वासिष्ठ का मिद्दान्त भायावाद न होकर बल्पत्तावाद है। इस विषय की तुलनात्मक ममीका
भी सत्त्वम अव्याय के अन्तर्गत की गई है। परन्तु शक्तराचार्य एवं योगवासिष्ठ के मिद्दान्तों में
भेद होते हुए भी महति छहोंच स्त्रीहारं हो ग चाहिए कि योगवासिष्ठ में शाक्त अद्वैत-दर्शन
की विस्तृत पृष्ठभूमि के दर्शन होते हैं।

शक्तराचार्य के पूर्ववर्ती वादारि, जेमिनि, कायकृत्स्न, बोड्लोमि, वाष्पांजिति, आर्य,
आश्यत्यादि कुछ ऐसे ऋषि महर्षि भी मिलते हैं, जिनकी उकियों में अद्वैतवाद की अनेक अस्त-
व्यस्त एवं असेंद्रान्तिक विचार रेखाएँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त शक्तराचार्य के पूर्ववर्ती
बोधायन, उपर्य, गुणेश, कर्णी, मात्स्यि, भर्तृहरि, भर्तृदिव, भर्तृप्रच, वृद्धनन्दी, टक,
द्विविदाचार्य, ब्रह्मशत एवं सुद्धर पाण्डित आदि विनियोग अन्य आचार्य भी मिलते हैं, जिनकी
विचारोक्तियों में अद्वैतवाद के सूक्ष्म बीज मिलते हैं। इन आचार्यों में शक्तराचार्य के पूर्ववर्ती
भाषायं गोडावाद अद्वैत दर्शन के अत्यन्त प्रमुख आचार्य हैं। अद्वैतवाद मिद्दान्त के संद्रान्तिक
एवं व्यवस्थित प्रतिपादन का मार मवे प्रथम आचार्य गोडावाद ने ही समाना था, जिसको आगे
चतुरकर शक्तराचार्य ने पूर्ण रूप से बहन किया था। प्रकारान्तर से यो वह सन्तो हैं कि शक्तरा-
चार्य को अद्वैतवाद की पूर्ण वेदान्तिक प्रस्तावना के लिए गोडावाचार्य की दार्शनिक देन के
रूप में, अद्वैत दर्शन की एक सक्षिप्त रूपरेखा उपलब्ध हुई थी। इसीलिए शक्तराचार्य ने अस्ते
मात्य प्रन्थों में प्रमाण रूप में भी गोडावाचार्य को उद्धृत किया है। परन्तु जैसा कि सप्तम
अव्याय के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है, गोडावाचार्य के अज्ञातवाद एवं स्वप्नवादोंपरित
अद्वैतवाद एवं शक्तराचार्य के मायावाद समर्पित अद्वैतवाद में भी अन्तर आ गया है।

जेमा रि, अभी तक उपसहृद विषय से स्पष्ट हुआ है, शक्तराचार्य को अपने पूर्ववर्ती
साहिय से अद्वैतवाद दर्शन के लिए उत्तरोत्तर सबल पृष्ठभूमि उपलब्ध हुई थी, परन्तु शक्तरा-
चार्य पूर्ववर्ती वेदान्त के तिद्वान्त में अद्वैत दर्शन की पूर्ण व्यवस्थित एवं समन्वित मिद्दान्त योजना
का अभाव था। इसी की पूर्ति शक्तराचार्य ने की थी। शक्तराचार्य ने भायावाद से पृष्ठ अद्वैतवाद
मिद्दान्त की स्पादना करते एक ओर तो उपरिपदों एवं ब्रह्मसूत्र का समन्वित दर्शन प्रस्तुत
किया था और दूसरी ओर अद्वैत सिद्धान्त के बहु ईश्वर, जीव, जगत्, मात्रा एवं मुक्ति वादि
सिद्धान्तों की सामनव्यपूर्ण प्रतिष्ठा की थी। शाक्त-अद्वैतवाद का सामोग्या विवेचन तृतीय

बव्याय के अन्तर्गत द्रष्टव्य है। अद्वैतवाद की विदेशीओं का निलेपण इसी बव्याय में आगे किया जाएगा।

शंकराचार्य के पश्चात् वर्ती अद्वैतवाद के समर्थक एवं प्रतिपादक आचार्यों में, सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, आनन्दवोधभट्टारकाचार्य, प्रकाशात्मयति, विमुक्तात्मा, चित्तसुख, अमलानन्द, विद्यारथ्य, प्रकाशानन्द, मधुमूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती एवं धर्मराजाच्चरीन्द्र आदि आचार्य प्रमुख हैं। यद्यपि ये आचार्य अद्वैतवाद के ही समर्थक हैं, परन्तु ब्रह्मवाद, अधिष्ठानवाद, जीववाद, मायावाद एवं मुक्तिप्रभृति अनेक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उपर्युक्त आचार्यों में से कनिष्ठ प्राचीन आचार्यों का दृष्टिकोण शंकराचार्य के दृष्टिकोण से कहीं-कहीं भिन्न हो गया है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त गगापुरी भट्टारकाचार्य, श्रीकृष्णमिश्रयति, श्रीहर्ष मिश्र रामाद्वयाचार्य, शंकरानन्द, आनन्दगिरि, अच्छणानन्द, मल्लनारायण, नृसिंहश्रम, नारायणश्रम, रंगराजाच्चरी, अप्यव दीक्षित, भट्टोजी दीक्षित, सदागिव ब्रह्मेन्द्र, नीलकण्ठसूरि, सदानन्द योगीन्द्र आनन्दपूर्ण विद्यासागर, नृसिंह सरस्वती, गामतीर्थ, आपदेव, गोविन्दानन्द, रामानन्द सरस्वती, करमीरक सदानन्दयति, रंगनाथ, अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ, महादेव सरस्वती, सदागिवेन्द्र सरस्वती एवं आयन्त्र दीक्षित आदि आचार्यों की भी अद्वैत वेदान्त को एक समृद्ध देन प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त दीक्षित शताव्दी के अद्वैत दर्शन के शास्त्रीय विचारकों एवं लेखकों में, महामहोपाध्याय पञ्चानन तकरंत एवं अनन्तकृष्ण शास्त्री प्रमुख हैं। उन्नीसवीं दीक्षित शताव्दी के नवी परम्परा के अद्वैती दार्शनिकों में, स्वामी रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्दघोप एवं विनोदा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वैसे तो, टैगोर एवं महात्मा गांधी आदि विचारकों पर भी औपनिषद वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता ही है। तरंगान में, डा० राधाकृष्णन् एवं महामहोपाध्याय, गोपीनाथ कविराज आदि विद्वान् भी अद्वैत वेदान्त की इतिहास परम्परा में अपना स्वतन्त्र स्थान रखते हैं।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाली वैष्णव दर्शन पद्धतियों के जन्म दाता आचार्यों में, रामानुजाचार्य, निम्बाकर्चार्य मध्याचार्य, वल्लभाचार्य, महाप्रभु चंतन्य, जीवगोस्वामी एवं बलदेव विद्यामूर्पण अत्यंत प्रमुख हैं। गांकर अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने के कारण इन आचार्यों के दार्शनिक दृष्टिकोण का शांकर अद्वैतवाद के विरुद्ध होना स्वाभाविक ही है। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि उपर्युक्त वैष्णव आचार्यों ने शांकर दर्शन का ही आधार लेकर अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापना की थी। अतः एवं शांकर अद्वैतवाद एवं उपर्युक्त वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों में साम्य पाया जाना भी स्वाभाविक ही है। इस साम्य का उल्लेख पठ्ठ अव्याय में हो चुका है। इस प्रकार शांकर अद्वैतवाद का वैष्णव आचार्यों के विगिष्ठाद्वैतवाद, द्वैतवाद द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, अचिन्त्यभेदाभेदवाद आदि सिद्धान्तों पर प्रभाव भी परिलक्षित होता है। विविध वैष्णव सिद्धान्तों पर अद्वैतवाद के प्रभाव का उल्लेख भी यष्ठ अव्याय में किया जा चुका है।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद के अतिरिक्त कृतिपय अन्य ऐसे दार्शनिक सिद्धान्त भी मिलते हैं, जिन्हें समालोचकों ने अद्वैतवाद का ही रूप दिया है। परन्तु यह सिद्धान्त शांकर अद्वैतवाद से भिन्न है। यहां इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अंगुलिनिर्देश मात्र ही पर्याप्त होगा।

काश्मीर शैव दर्शन के आचार्य वसुगुप्त द्वारा प्रवर्तित स्पन्दनवाद एवं सोमानन्दनाथ

द्वारा प्रवर्तित प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्त, अद्वैतवाद के अधिक समीप हैं। यहाँ यह उल्लेख-नीय है कि स्वयं माधवाचार्य ने स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मिहू नों का पृथक्-पृथक् समुचित विवेचन न करते दोनों को मिलाकर एवं कर दिया है। परन्तु दोनों सिद्धान्तों में पर्याप्त भेद है। जहाँ अद्वैतवाद और स्पन्द दर्शन एवं प्रत्यभिज्ञादर्शन वे वेष्टम्य को बताते हैं, सौंदर्य दर्शन के यह दोनों सिद्धान्त अद्वैतवाद से बहुत दुर्घट भिन्न हैं। उदाहरण के लिए, गाकर अद्वैतवाद के अनुभाव वहाँ माध्या शक्ति के द्वारा जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है, परन्तु स्पन्द दर्शन के अन्तर्गत परमेश्वर को जगत् की सूचित के लिए उपादानादि की अपेक्षा नहीं है। इसके अतिरिक्त अद्वैतवाद के विपरीत स्पन्द-दर्शन में जगत् मिथ्या न होकर सत्य है। इसी प्रकार अद्वैतवाद के विशद् प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी परमेश्वर की उपादान कारणता अभीष्ट नहीं है।

बोढ़ विज्ञानवाद एवं शून्यवाद को भी अनेक समालोचकों ने अद्वैतवाद का रूप दिया है। परन्तु शक्तराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद एवं बोढ़ विज्ञानवाद एवं शून्यवाद में पर्याप्त अन्तर है। जहाँ विज्ञानवादी के मतानुसार जगत् विवृति मात्र है, वहाँ अद्वैतवादी दर्शन के अन्तर्गत जगत् की व्याख्यातिक गता। स्पौतार की गई है। इसी प्रकार शून्यवाद के विशद् अद्वैतवाद के अन्तर्गत प्रस्ताव यथा शून्य न हावर मत् तत्त्व स्वस्य ब्रह्म है। इन मिद्दान्तों वा तुलनात्मक विवेचन सम्म मध्याय के अन्तर्गत हो चुका है।

इन प्रवाह शक्तराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का मिद्दान्त पूर्णतया न भवत् हरि का शब्दाद्वयवाद है न गोडादाचार्य का अज्ञानवाद, न बोढ़ों का विज्ञानवाद और न शून्यवाद, न योगवासिप्त का कल्पतावाद, न काश्मीर दीव दर्शन का स्पन्दवाद और न प्रत्यभिज्ञावाद, और न शाक्तों का शक्त्याद्वैतवाद। उपर्युक्त मिद्दान्तों का तुलनात्मक विवेचन भी सम्म मध्याय के अन्तर्गत द्रष्टव्य है। अद्वैतवाद की अन्तर्गत धारा तो क्रुद्धेद से उत्पन्न हुई है और महिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, मूत्रा, मुराणों, श्रीमद्भागवद्-गीता एवं लक्ष्मादि तथा वादों प्रभूति प्राचीन आचार्यों से गार श्रहण करती हुई शक्तराचार्य के भाष्य प्रस्तों में आकर ज्ञान गगा के रूप में प्रवाहित हुई है।

अब यहाँ अद्वैतवाद एवं न्यायादि दर्शनपद्धतिया के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

वैमे सों, न्याय, वैदेशिक, सात्य, योग एवं पूर्वमीमांसा का उत्तरमीमांसा से संदर्भितक विरोप स्पष्ट हो है, परन्तु इन सभी दर्शनपद्धतियों के मिद्दान्त न्यूनाधिक रूप में उत्तर मीमांसा के प्रमुख मिद्दान्त अद्वैतवाद के बहुत कुछ समान हैं। न्याय और अद्वैत वेदान्त को मुक्ति, वैदेशिक का वस्तवस्तुविषय और अद्वैत वेदान्त का अध्यारोपवाद, सात्य और अद्वैत वेदान्त के अविद्या एवं अद्याग के सिद्धान्त, योगदर्शन एवं अद्वैतवेदान्त के चित्तवृत्तिनिरोध तथा अविद्या एवं अद्यागों के मिद्दान्त एवं पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा का यह मिद्दान्त कि ईश्वरार्पण सुदृढ़ से कियमाण कर्म मोक्ष का हेतु होना है, जादि अनेक मिद्दान्त हैं जिनमें यतिक्षेप नेत्र होते हुए भी पर्याप्त भाष्य मिलता है। इस नाम्य एवं वेष्टम्य का उल्लेख प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत हमने यूनानी दार्ढनिकों के मिद्दान्तों की अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों में तुलना करते समय अनेक स्वतंत्र भेदों पर सिद्धान्त साम्य देखा है। इस सम्बन्ध में हमने केनोफेन, डीन्म, परमेनिद्, जेनो, व्लेटो और अरस्तू के मिद्दान्तों का अद्वैत वेदान्त के मिद्दान्तों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन के फलस्वरूप हम यहाँ केवल यहीं

कह सकते हैं कि यूनामी दर्शन पर भारतीय दर्शन का अक्षण प्रभाव है — र सत्य है। परन्तु मेगस्थनीज प्रभृति यूनानियों ने निःसंकोच स्वीकार भी किया है।

बद्धतवाद का डेकार्ट, स्पिनोजा एवं लाइनिज आदि पश्चिमी विद्वानों पर भी अरिक सत्यता प्रभाव मिलता है। प्रधम अध्याय के अन्तर्गत डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइनिज, वर्कले, कान्ट, फिल्स और शेलिंग, हेगल एवं शोपेनहार के दार्शनिक सिद्धान्तों की बद्धत वेदान्त के सिद्धान्तों के साथ तुलना करते समय उन्नत दार्शनिकों के सिद्धान्तों पर अद्धत वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट किया जा चुका है।

स्पिनोजा का स्वतन्त्रसत्त्वसम्बन्धी सिद्धान्त और अद्धतवाद का ब्रह्मतत्त्वसम्बन्धी सिद्धान्त, लाइनिज का 'भैटिस्टियाप्राइमा' वाला सिद्धान्त और अद्धतवादी का मायाविषयक सिद्धान्त, अद्धतवादी का दृष्टि-सृष्टिवाद और वर्कले का जगत् सत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त, कान्ट का व्यावहारिक सत्ता और वस्तुसारात्मक सत्ता का सिद्धान्त और अद्धतवादी का व्यावहारिक सत्ता एवं परमाणिक सत्ता का सिद्धान्त, फिल्स का 'प्रतिनिवृत्ति' का सिद्धान्त और अद्धतवादी का माया सम्बन्धी सिद्धान्त, शेलिंग का 'डार्कग्राउण्ड' और अद्धतवादी का अविद्याविषयक सिद्धान्त; हेगल और अद्धतवेदान्त का परमात्मतत्त्वसम्बन्धी सिद्धान्त और शोपेनहार और अद्धतवाद का संकल्पवाद का सिद्धान्त, आदि अनेक ऐसे सिद्धान्त हैं जिनमें परस्पर यत्किञ्चित् विरोध होने पर भी अत्यन्त साम्य मिलता है।

अद्धतवाद और इस्लामी दर्शन के अनेक सिद्धान्तों में भी पर्याप्त साम्य मिलता है। उदाहरण के लिए अद्धत वेदान्त का 'यतोवाइमानि-भूतनिजायन्ते' से सम्बन्धित सूनिंसिद्धान्त कुरान के 'इन्नालि'लाह वहना इलैहे राजयून' तिद्धान्त के ही समान है, जिसके अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया है कि हम लोग परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं और परमात्मा में ही जाएंगे। यही नहीं, इस्लामी दर्शन का 'हमाकुस्त' (सब कुछ वही है) का सिद्धान्त भी अद्धतवादी के 'सर्व खलिवदं ब्रह्म' के ही समान है। इसके अतिरिक्त अद्धतवादी की जाग्रत्, स्वप्न, सुपुष्टि एवं तुरीयावस्थाओं के समान ही इस्लामी दर्शन में—नासूत, मलहूत, जवरूत और लाहूत अवस्थाएं मानी गई हैं। इन प्रकार के अनेक स्थल प्रथम अध्याय के अन्तर्गत अद्धत वेदान्त और इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों की तुलना करते समय उद्घृत किए जा चुके हैं। इस लेखक का विचार तो यह है कि यदि भारतवर्ष के मुसलमान एवं हिन्दू अपने दार्शनिक ग्रन्थों के सिद्धान्तों को उचित रूप से समझ लेंगे तो भारतवर्ष की इन दो प्रधान जातियों का वैमनस्य पूर्ण रूप से मिट जाएगा।

इस प्रकार वेदान्त दर्शन के अद्धतवाद सिद्धान्त का सम्बन्ध केवल न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और पूर्व मीमांसा से ही नहीं है, अपितु, यूनानी दर्शन एवं अनेक पाइत्रात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों तथा इस्लामी दर्शन से भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दिशा में जैसा कि कहा जा चुका है, अद्धत दर्शन का प्रभाव भी उपर्युक्त दर्शनों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

अद्धतवाद की विशेषताएं

वेदान्त दर्शन के सप्ताह सिद्धान्त अद्धतवाद की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं, जो कन्य विविध दर्शन पद्धतियों के अन्तर्गत नहीं उपलब्ध होतीं। यह विशेषताएं ही अद्धत दर्शन के महत्त्व को प्रकाशिका है। यहां इन विशेषताओं का संक्षेप में तिरुपण किया जाएगा।

द्वारा प्रवर्तित प्रत्यभिन्ना
नीय है कि स्वयं मा । ४५
समुचित विदेश
भेद है । ४६

एवं व्रत के दो स्तर हैं—एक 'पर' और दूसरा 'अपर'।
 । है। अद्वैत वेदान्त में समुण्ड व्रत को ही ईश्वर सत्ता दी
 में ईश्वर की सत्ता न स्वीकार की गई होती तो देवादि की
 ह जाता। इस प्रवार समुण्ड व्रत की सत्ता को स्वीकार करके
 । चित्त की शुद्धि सम्भव मानकर ईश्वर उपासना की महत्ति
 न की सम्बन्धवयवादिता भी स्पष्ट होती है। शास्त्राखायं द्वारा
 सम्बन्धवयवादिता के कारण ही इस दर्शन में बैलवों, शैवों, शाकों,
 दशों, द्वैतवादियों, तात्त्विकों एवं मानविकों तथा अन्य आगमी
 प्राप्त होती है।

ପ୍ରତିଶୀଳ

मीमांसको विषय

मन्त्रवादिता के वारण ही इस दर्शन में वैष्णवों, शैवों, शाकदो
दिव्यों, द्वृतवादियों, तान्त्रिकों एवं सान्निधिकों तथा अन्य आगमी
अन प्राप्त होता है।

(२) मण्टिवंपम्य और ईश्वर

लोक म सूटिवेष्य स्पष्ट है। इम वेष्य के कारण ही समार मे कोई राजा, कोई निशुक कोई विदान कोई सूर्य कोई गुम्बा और कोई बुम्बा दिखाई पड़ता है। परन्तु अद्वैत वेदान्त के अन्यर्गत सूटिवेष्य ईश्वर का दोष नहीं है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ईश्वर धर्म एवं अथर्व वी अपेक्षा करके ही विषम सूटि का निराण करता है। इम प्रकार सूटि वेष्य का मूल धर्माधर्म भानने के कारण, अद्वैत वेदान्त मे कर्म का महत्व भी स्पष्ट हो जाता है।

(३) आचार का महत्व

अद्वैतवाद दर्शन के अन्तर्गत ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति की उपलब्धि सिद्ध हो गई है। इस दृष्टि से तो समस्त वर्मजात अविद्या है, परन्तु अद्वैतवाद दर्शन के प्रतिपादित शक्तिराज्यने परमानाध योग की उपलब्धि में वर्म के महत्व को भी स्वीकार किया है। उद्दीपने स्थग बहु है कि वर्म द्वारा सकृदृग होने पर ही विमुदात्मा आत्मवोध करने में समर्थ होता है।^१ आत्म दर्शन के लिये चित्तयुक्ति, उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार वि मुदर्शन के लिए दर्शन का नैमित्य आवश्यक होता है। इस प्रकार वर्म का महत्व स्वीकार करते हुए अद्वैतवादियों ने भारतीय दर्शन में अध्यात्म एवं वाचार पक्ष का सुन्दर गमन्वय प्रस्तुत किया है। अद्वैत दर्शन में जिस काम्यरहित वर्म का समर्थन किया है, वह भारतीय वाचारवाद का ही समर्थक है। मैं इस सम्बन्ध में प्रौढ़ दायत्तन के इस मत से भ्रमत नहीं हूँ कि उपर्युक्तदों में आचारतत्त्व की प्रतिष्ठा की व्युत्पत्ता है।

(४) सत्तावश्य की कल्पना

प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमायिक सत्ताओं की स्थापना अद्वैतवाद दर्शन की अत्यन्त उपयोगी विदेशपता है। इस सत्तावय की वल्लना के द्वारा न अद्वैतवाद की हानि होती है और न जात् की सत्यना का निराकरण होता है। शुक्ल-रजत प्रातिभासिक सत्ता वा, जात् व्यावहारिक सत्ता वा और बहु परमायं सत्ता वा उदाहरण है। व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत

१. शुद्धारम्भ उपनिषद्, शाकर मात्र ४।४।२२।

होने के कारण जगत् धूम्यवादी की तरह शून्य अथवा नितान्त असत् न होकर सत्य है। परन्तु जगत् परमार्थ दृष्टि से सत् भी नहीं है। परमार्थविस्ता में तो जगत् की व्यावहारिक सत्यता का ही निराकरण किया गया है। यही अद्वैत दर्शन का वैशिष्ट्य है। इससे जगत् की व्यावहारिक सत्यता की भी रक्षा हो जाती है और अद्वैतवाद की पुष्टि भी हो जाती है। इस प्रकार अद्वैत दर्शन की यह विशेषता उसे व्यावहारिक दर्शन का रूप प्रदान करती है।

(५) मायावाद की देन

मायावाद का सिद्धान्त अद्वैतवाद दर्शन की प्रमुख विशेषता है। मायावाद सिद्धान्त के स्वीकार किए विना अद्वैतवाद का प्रतिपादन कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव ही कहा जाएगा। शांकर अद्वैतवाद के अनुरूप माया सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिवार्य वत्तलाई गई है। इस प्रकार अनिवार्य होने के कारण अद्वैतवादी की माया स्वप्न, गन्धर्व नगर, एवं शशशृंग आदि की कल्पना से भिन्न है। इसी माया शक्ति से सम्पन्न परमेश्वर सृष्टि का निर्माता है। माया के कारण ही परमेश्वर जगत् का उपादान कारण है। इस प्रकार अद्वैत दर्शन में ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निर्मित कारण दोनों हैं।

(६) जगत् का मिथ्यात्व

शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत जगत् को मिथ्या सिद्ध किया गया है। परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत जगत् शशशृंग अथवा आकाश कुसुम के समान अलौकिक नहीं हैं, अपितु जैसा कि कहा जा चुका है, व्यावहारिक दृष्टि से सत् है। अतः अद्वैत देवान्त में मिथ्यात्व से सदसद्विलक्षणत्व का ही आग्रह ग्राह्य है। शांकर देवान्त का यह मिथ्यात्व अनिवार्यत्व पर आधारित है।

(७) विवर्तवाद

कार्य-कारणवाद के सम्बन्ध में विवर्तवाद का सिद्धान्त अद्वैतवाद दर्शन का अनुरूप सिद्धान्त है। विवर्तवाद सिद्धान्त के अनुरूप जगत् ब्रह्म का विवर्त है। विवर्तवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक् नहीं है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि बुद्धुदों एवं तरंगादि की सत्ता जल से पृथक् नहीं है। जिस प्रकार जल तरंगादि को जलभिन्न देखना अज्ञान बुद्धि है, उसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् जगत् को देखना भी बिद्या है। यही विवर्तवाद का सिद्धान्त है। अद्वैतमण्डन के लिए यह सिद्धान्त महान् उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(८) अविष्टानवाद और अध्यासवाद

अद्वैत देवान्त के अन्तर्गत अविष्टानवाद और अध्यासवाद के आधार पर ब्रह्म, और जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या की गई है। इस सिद्धान्तद्वय के अनुरूप ब्रह्म अविष्टान एवं जगत् अध्यास है। अध्यास अविद्या का रूप है और जगत् का उत्पादक है। परन्तु मृगतृष्णा आदि अनुभव भी विना अविष्टान के नहीं उत्पन्न हो सकते, इसीलिए अद्वैतवाद दर्शन के अनुरूप अध्यास है। अविद्या सिद्ध करने के लिए अद्वैतवादियों ने ब्रह्म को अविष्टान कहा है।

(९) मुक्ति का सिद्धान्त

मुक्ति के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त की जीवगुणित एवं विदेह मुक्ति की योजना एक अनुपम देन है। आत्मबोध हो जाने पर परन्तु प्रारंभ कर्मों का भोग पूर्ण न होने के कारण शरीर धारण करने वाला जीव भी अद्वैत वेदान्त में मुक्ति बहलाता है। जब जीव वे प्रारंभ कर्मों का भी भोग समाप्त हो जाता है तो वह शरीरत्याग होने पर विदेहमुक्ति बहलाता है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्तसम्भव मुक्ति के उपर्युक्त सिद्धान्त के द्वारा एवं बोर तो कर्म-फल-भोग के न्याय का निर्वाह हो जाता है और दूसरी ओर इसी जगत् में अज्ञानबन्धन से मुक्ति सम्भव होने के कारण भारतीय दर्शन की प्रामाणिकता वा समर्पण हो जाता है।

(१०) अनिवंचनीयस्थातिवाद

राष्ट्रानुजाचार्य के सत्यस्थातिवाद भीमासत्त्व के अस्थातिवाद नीयादिक के अन्यथा स्थातिवाद, दोनों के आत्मस्थातिवाद एवं अस्तस्थातिवाद के विपरीत अद्वैतवादी ने अनिवंचनीयस्थातिवाद के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। अनिवंचनीयस्थातिवाद मिद्दान्त के अनुमार शुक्ल रूप अधिष्ठान म अध्यस्त रजत सर् अथवा अमर् न होकर मन् एव अमर् से वितरण होने के कारण अनिवंचनीय है। अनिवंचनीयस्थातिवाद मिद्दान्त का विशद विदेशन चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

इस प्रकार अद्वैतवाद दर्शन की उपर्युक्त कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो इसके संदर्भिक स्वरूप को महान् उपयोगी एवं अपेक्षित महत्त्व प्रदान करती हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण अद्वैतवाद को महत्ता अन्य विविध दार्शनिक मिद्दान्ता से बड़ी-बड़ी है।

अद्वैतवाद का दार्शनिक एवं व्यावहारिक महत्त्व

दार्शनिक एवं व्यावहारिक दोनों आलोचनादृष्टियों से अद्वैतवाद का महत्त्व परम स्थान्त्रिय है। अद्वैतवाद की दार्शनिक मृट्टका का एक पक्ष तो इसी से मिछ है इं प्रायः सभी महत्त्व-पूर्ण भारतीय दर्शन पढ़तियों से अद्वैतवाद के सम्बन्ध की स्पष्ट प्रतीति होती है। क्वाचित् ही कोई भारतीय दार्शनिक मिद्दान्त ऐसा हो, जिसमें अद्वैतवाद मिद्दान्त का प्रतिविम्बन मिद्दान्त हो। इस प्रबन्ध के अन्तर्गत हम विशद रूप से अद्वैत वेदान्त के मिद्दान्तों का, विविध भारतीय एवं पादवात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों के साथ साम्य एवं सम्बन्ध स्पष्ट कर चुके हैं। अद्वैतवाद के दार्शनिक महत्त्व का दूसरा पक्ष उसकी समन्वयवादिता है। अद्वैतवाद को इस समन्वयवादिता के भी दो स्पष्ट मिलते हैं। एक समन्वयवादिता तो वह है, जिसके कारण अद्वैतवाद के अन्तर्गत समन्वयवादिता को स्थान प्राप्त है और दूसरी समन्वयवादिता वह है, जिसके कारण अद्वैत वेदान्त के मिद्दान्तों में परस्पर विरोध नहीं प्रतीत होता। अद्वैतवाद मिद्दान्त के दार्शनिक महत्त्व का तृतीय पक्ष परमार्थ सत्य के साक्षात्कार की प्रक्रिया एवं स्वरूप का निस्पत्ति है। वृत्तिनिर्माण द्वारा अविद्या की आवरण शक्ति का उच्चेद एवं तूलाज्ञान का विनाश करके परमार्थ सत्य के साक्षात्कार की जो प्रक्रिया अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत बनताई गई है वह इस दर्शन के अध्यात्म पक्ष को एक व्यवस्थित एवं आकर्षक रूप प्रदान करती है। इसके साथ-ही साथ अद्वैत दर्शन के अनुमार जीव और ब्रह्म की अद्वैतता के द्वारा परमात्म साक्षात्कारका भी स्वरूप निर्दिष्ट दिया गया है, वह सायुज्यादि की तरह स्थूल कारणों की अपेक्षा न रखता हुआ

चरमसूक्ष्मता का है। अतः यह स्पष्टनया स्वीकार होना चाहिए कि सभीम आधारों पर आधारित जायुज्यादि ने प्राप्त आनन्द की अपेक्षा अभीम तत्त्व की उपलब्धिय से प्राप्त आनन्द कहीं अधिक व्यापक, शाश्वत एवं सूखत होगा। इस प्रकार अद्वैतवाद का दार्शनिक महत्त्व स्पष्ट है।

अद्वैत दर्शन अद्भुत आध्यात्मिक दर्शन होने के साथ-साथ एक विलक्षण व्यावहारिक दर्शन या जीवनदर्शन भी है। अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत व्यावहारिक दृष्टि मे जगत् की सत्यता का समर्थन करना उनके व्यावहारिक दर्शन या जीवन दर्शन होने की ही मूल पृष्ठभूमि है। अद्वैतवादियों द्वारा जगत् की व्यावहारिक नत्ता की स्यापना होने के कारण ही इस दर्शन में जीवन-दर्शन के उपयोगी तत्त्वों—जैसे, दया, प्रेम, सहिष्णुता, अहिंसा एवं विश्ववन्धुता का समावेश मिलता है। ऐसे असंश्य तत्त्वों का मूल अद्वैतवेदान्तदर्शन का एकात्मवाद का सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत ईर्प्पा, द्वेष, अस्मिता एवं अनूद्या आदि दुर्भावों को किञ्चित् मात्र भी स्थान नहीं है।

अद्वैतवादियों ने कमं द्वारा चित्त शुद्धि के सिद्धान्त को स्वीकार करके अद्वैत दर्शन को पूर्णतया व्यावहारिक दर्शन बना दिया है। अद्वैतवाद के आचार पद्धति के फलस्वरूप पहले मनुष्य एकात्मवाद पर आधारित सत् कर्मों के द्वारा आदर्श नामरिक बनता है और फिर इसी जीवन में आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके व्रत्युल्पता को प्राप्त होता है। इसीलिए अद्वैत वेदान्त के अनुयायी का उद्देश्य जहाँ परमसत्य की जिज्ञासा एवं मुक्त होना है, वहाँ आत्मसंयम, धैर्य-शालिता एवं चित्तपात्ति आदि भी उसकी प्रमुख आवश्यकताएँ हैं। अद्वैत वेदान्त के प्रश्यात समालोचक विद्वान् प्रो० उमेशचन्द्र भट्टाचार्य के नीचे उद्घृत कथन में भी यही आशय निहित है—

The true requirements of a Vedantist according to him, were self-restraint, tranquility, etc. and a desire to know the truth and be liberated.¹

इस प्रकार अद्वैत दर्शन एक सफल जीवन दर्शन भी है। अद्वैत दर्शन सम्मन जीवनदर्शन की यह विशेषता विचार करने योग्य है कि इसके अनुमार जीव को इसी लोक में बलौकिक आनन्द को प्राप्ति सम्भव बतलाई गई है। ऐसी स्थिति में भी यदि कोई समालोचक अद्वैत दर्शन को पलायनवादी कहे तो इससे तो उस समालोचक की ही पलायनवादिता का अनुमान लगाना बौचित्यपूर्ण होगा।



१. देखिए—Indian Historical Quarterly, 1920 के अन्तर्गत उमेशचन्द्र भट्टाचार्य का Vedanta and Vedantist लेख।

परिशिष्ट—१

सहायक-ग्रन्थ-सूची

(क) संस्कृतग्रंथ :—

अभिन्नगुरुण	कुलाणं व तन्म
अयवंशीपं	कुलचूडामणि तन्म
बद्रेतचन्द्रिका	कूर्मं पुराण
अद्वैत तत्त्व मुद्धा (प्रथम तथा द्वितीय भाग)	केनोपनिषद्
अयंसंग्रह	कैवल्योपनिषद्
अद्वैत ब्रह्मसिद्धि	कोपीतकि आह्मण
अद्वैत सिद्धि	कोपीतकि उपनिषद्
अद्वैत वृद्ध्य संहिता	धेमराजकृत उद्योत दीक्षा
अणुभाव्य, प्रकाश टीका (पुरुषोत्तमाचार्यं)	खण्डनज्ञङ्गवाच (लक्षण शास्त्री सम्पादित वनारस १६१४)
अमरकोट्य	स्यात्तिवाद (शंकर चेतन्य-भारती, सरस्वती भवन टैक्स्ट्स, काशी)
अभिधावृत्तिमातृका	गृह्णपुराण
आगम प्रामाण्य	गन्धवं तन्म
आत्मसीमांसा	गौडपादकारिका
आत्मवोध (ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना)	धर्मशर्माम्युदय
आलबन्दार स्तोत्र (यामुनाचार्यं)	चिद्गगनचन्द्रिका (आगंमानुसंधान-समिति, कलकत्ता १६३७)
इष्टमिद्धि	चिन्त्वामणि रहस्य
ईशावास्योपनिषद्	चेतन्यचरितामृत
ईश्वरप्रत्यभिज्ञामूल	छान्दोग्योपनिषद्
उपदेश साहस्री (निर्णय सामग्र)	तर्कलिंकार भाष्य
फृग्वेद संहिता	तन्त्रालोक (कार्णसीर-सिरीज)
ऐतरेय शाह्मण	तर्कसंग्रह
ऐतरेयारण्यक	तर्कदीपिका
ऐतरेयारण्यकपर्यालोचनम्	तत्त्व रहस्य दीपिका
ऐतरेयोपनिषद् गांकर भाष्य	तत्त्व कौमुदी
कठोपनिषद्	
कर्पूरादिस्तवराज	

नन्द वेशारदो
नस्त्र प्रदीपिका
तन्व बोथ
तस्त्वतिर्णय (मध्वाचाय)
नन्य रह-य
तत्वार्थं दीपयण्ड
ताह्य द्राह्यण
तैतिरीय द्राह्यण
तैत्तिरिधरण्ड
तैतिरीयोपनिषद्
त्रितिका भाष्य
दशदोषी (चौकम्पा मस्त्रण, १५५५)
दुग्मिलदानी
दत्ती भागवत पुराण
देवी भागवत—देवी गीता
देवत ब्राह्मण
दुर्दृश्य विवेद
नयन प्रसादिनी टीका
नारदपञ्चरात्र
नारदीय पुराण
नेपथ्यवरितम
नृसिंहतापिन्युतनिषद्
नृभित्तुर्वतापनीयोपनिषद्
न्याय मूत्र
न्याय दातिस्तन्त्रद्विनिष्ठं टीका
न्याय भाष्य
न्याय मजरी
न्याय दिङ्गान्त सूक्ष्माद्वी
न्याय वार्तिक
न्याय रत्नमाता
न्याय रस्त्र
न्याय रत्नागती
न्याय कन्दी
न्याय दण्ड (वेदान्त देणिक)
पूर्व पुराण
पारामर्श मन्त्रिका (पार्वते मन्त्रूत मिरीत)
पटिप्रवह्मर्वदामेद

पचादिश द्राह्यण
पचादिका विवरण (विजय नवरम् सिरीज)
पचदमी (बुद्धि सेवादम, रत्नगढ म ० २०११)
प्रदत्तीपनिषद्
प्रश्नतपादभाष्य
प्रत्यभिज्ञा हृदय
प्रपञ्चहृदय
प्रकरणपचिका
प्रभावरविज्ञप्त
प्रस्थानरत्नाकर
वाजसनेयी सहिता
वान्मीकि रामायण
वृद्धारण्डपनिषद्
वृद्धारण्यन्भाष्यवार्तिक
वौपिचयाग्नितार पजिना
व्रह्मोपनिषद्
व्रजावैकर्त्तुराण
व्रह्मगीता
व्रह्मभूत
व्रह्मभूत नावरभाष्य
व्रह्मिद्वि
व्रह्माण्डपुराण
भवित मानेण
भवित रमामृतमिन्धु
भागवत् तात्पर्यनिष्ठय
भाष्मती
भास्त्रभाष्य
मोत्रवृत्ति
महाभागत
मन्यवरण
मात्रभाष्य (वेदान्तमूत्र)
महानिकां तन्त्र (ज्ञेय एड क ६ पद्मास)
मनुमूर्ति, कृत्पूर्व भट्ट दीरा
महायात मूलानवार
मायमात्रिनार
मध्व वृद्धभाष्य
मात्र निष्ठानमात
माष्टकयोगनिषद्

माकंडेय पुराण	वेदान्तकीमुद्री
माध्यमिकवृत्ति	वेदान्तपरिभाषा
माध्यमिककारिका	वेदान्तकल्पतरु
मानमेयोदय	वेदान्तकल्पतिका
मानसोल्लास (महादेव शास्त्री सपादित मद्रास, १६२०)	वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली (कलकत्ता १६३१)
मीमांसा न्यायप्रकाश	वेदार्थसग्रह
मुण्डकोपनिषद्	वेदान्तकोस्तुभ
मैत्रायण्युपनिषद्	वेदान्तमंजूषा
यतिपतिमतशीघ्रिका (ब्रज वी० दास ए४७ कं० बनारस)	वैदेषिकमूल
यजुर्वेद संहिता (परोपकारिणी सभा, संवत् १६१६, पट्ट संस्करण)	शतपथब्राह्मण
योगसूत्र	शरणागतिगच्छ (रामानुजाचार्य)
योग भाष्य	शंकरदिग्बिजय
योगवासिठ	यास्यदीपिका
योगवातिक	यास्त्वदर्पण (वाणी विलास प्रेम, श्रीरंगमी)
रत्नप्रभा	यांडिल्यसूत्र
रहस्यव्यय	यांकरभाष्य-गीता
रामोत्तरतापिन्युपनिषद्	यांकरभाष्य-कठोपनिषद्
वेदान्तसार (रामानुजाचार्य)	यांकरभाष्य-वृहदारण्यकोपनिषद्
वेदान्त संग्रह (रामानुजाचार्य)	यांकरभाष्य-गोडपाद कारिका (वाणी विलास- संस्कृत ग्रंथमाला, काशी १६४२)
राजमार्तण्ड वृत्ति	यांकरभाष्य, ईशादिदशोपनिषद्
रामानुजभाष्य-गीता	यिवदृष्टि
लधुचन्द्रिका	यिवपुराण
लक्ष्मी तन्त्र	यिवमूल विमर्शिणी
ललिता सहस्रनाम	यिवगीता
लंकावतारमूल (लन्दन, १६२३)	युद्धाङ्गतमार्तण्ड (चौखम्बा बनारस)
वायुपुराण	यौवभाष्य (श्रीकंठाचार्य)
वाक्य पदीय	येताश्वतरोपनिषद्
वाचस्पत्यम्	फलोक्तवातिक
वादावलि	श्रीभाष्य
वामन पुराण	श्रीमद्भगवद्गीता
विष्णु सहस्रनाम—(शाकर भाष्य)	श्रीमद्भगवत् पुराण (श्रीधरी टीकासहित)
विष्णु पुराण	श्रीरंगगच्छ (रामानुजाचार्य)
विवेक चूडामणि	श्रीवचनभूषण
विवरण प्रमेय संग्रह	श्रुतिप्रकाशिका
वेदान्तसार	पद्मशर्णममुच्चव्यवृत्ति
	पट्टसंदर्भ (जीवगोस्वामी)
	सर्वनिष्ठान्तमंग्रह

सप्तपदार्थी	सिद्धान्तजाह्रवी
सर्वदानंसग्रह	सिद्धान्तरस्त्र
सहस्रावायंगतमग्रह (रत्नगोपाल मट्ट हारा सप्तदिन, चौबस्त्वा बुक डिपो बनारस १६६०)	मुवोधिनी भागवत
सप्तशेष शारीरक	मूदमटीका, गोविन्द भाष्य
सामवेद सहिता	मूलसंहिता
साम्यमूत्र (विनोदा)	सीन्दयंतहरी
सायणम् प्य, कृष्णदे	स्वर्णमूत्र
सापणभाष्य, अथववेद सहिता	स्वच्छन्दतन्त्र
साह्यकारिका	स्पन्दकारिका
साम्यमूत्र	स्पन्दकारिका, कल्लट की टीका
साह्यप्रवचनभाष्य	स्पन्दकारिका, क्षेमराज की टीका सहित
सिद्धान्तलेशसग्रह (अन्यून प्रथमाता वारी), स० २०११)	हनायुधकोप हनायुधकोपविवृति

(ल) आगल पन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ आदि :

A Critical History of Greek Philosophy	Stace, W.T.
A critical Study of the Sankhya system	Sovani, V V
Agam Shashtra of Gaudapada	Bhattacharya, B University of Calcutta, 1943
Ancient India	Meerutde, J W
An Introduction to Ancient Philosophy	Armstrong, A H Mathuen & Co London, 1947
A Practical Sanskrit Dictionary	Macdonell Oxford University, 1924
A Study of Kant	Ward, J
A Study of Sankara	Shastri, N Calcutta, 1924
Aristotle	Ross, Mathuen, London, 1953
Brahma Sutra Chatussutri	Sharma, H D Oriental Book
Bhuler's report for Sanskrit 1875-76	Agency Poona, 1940
Catalogue of Manuscripts of the India office, Part IV	
Collected works of Sir R G Bhandarkar	
Vol II, IV, VII.	
Complete Works of Swami Vivekananda,	
Vol II, VII	

Constructive Survey of Upanishadic Philosophy.	Ranade, R.D. Oriental Book Agency, Poona, 1926.
Conception of Divinity in Islam & Upanishads.	Wahid Hussain.
Contemporary Philosophy.	Dutta, D.M. the University of Culcutta 1950.
Critique of Pure reason. (ET)	Meikli John, J.M.D. London, G. Bell & Sons, 1920.
Deussen's System of Vedanta (ET)	
Dictionary of Philosophy.	Runes. Vision Press, London.
Early Greek Philosophy.	Burnet, Adam & Charles Black
East & West	Radhakrishnan, S. London Allen & Unwin 1954.
Encyclopaedia of Religion & Ethics. Vol. I, IV, V, VII, IX.	
Essays in Zen Buddhism.	Suzuki.
Essays on Truth and reality.	Bradley, F.H.
Evolution of Religion Vol: I	Caird, E.
Fifth Oriental Conference Proceedings Lahore.	
Gaudapada	Mahadevan, T.M.P.
Hegel's Lectures on the philosophy of Religion.	
Hegel's Logic.	
Hibbert Lectures for 1890.	Upton.
History of Bengali Language and Literature.	Sen, D.C.
History of Dharmashastra Vol; I	Kane, P.V. Bhandarkar Oriental Research Instt. Poona.
History of Indian Literature.	Weber.
History of Indian Philosophy Vol: VII.	Belvalkar, S.K. & Ranade R.D.
History of Philosophy, Vol: I&II.	Radhakrishnan, S. Allen & unwin, London.
History of Philosophy.	Schreglar, A, Oliver Boyd, Edinburgh
Idealistic thought of India.	Raju, p.T. London, Allen & Unwin 1952.

Imperial Gazetteer of India Vol I	
Indian Antiquary, Oct 1933	
Indian Historical Quarterly, Vol VI, 1920	
Indian Language Literature and Philosophy	
Indian Theism	Nic al Mechnical, Oxford University Press
Indian Thought	Thibaut, G & JHA, G N
Institution of Metaphysics	Ferrier.
Indian Philosophy Vol I, II, III, IV	Das Gupta, S N Cambridge University Press
Indian Philosophy Vol I & II	Radhakrishnan, S London Allen & Unwn.
Indian Philosophy Vol I, II, III, IV, V	Maxmuller, F Sushil Gupta Calcutta.
Indian Philosophy Vol I & II	Sinha, J.N Central Agency, Calcutta
Jha Commemoration Volume J N Majumdar's paper on the Philosophical religion & Social Significance of the Tantra Shastra. (July, 1915)	Oriental Book Agency Poona
Journal of the Amercian Oriental Society 1911, 1913.	
Journal of the Annamalai University, Vol VI No 1	
Journal of the Buddhist Text Society Vol II.	
Journal of Oriental Research Vol, III K.B Pathak Commemoration Volume, Kant's Metaphysics of Experience Vol. I.	
Krishna Swami Aiyangar Commemoration volume	
Lectures on the Philosophy of Religion Vol I	
Lectures of Shri Au·obindo	Shri Au·obindo Circle Bombay (Second Series)
Lights on Vedanta	Upadhyaya, V P Chaukhamba

Mahamaya	Sanskrit Series Varanasi, 1952.
Modern Buddhism.	Woodroffe, J. & Mukhyopadhyaya, P.N. Madras, 1954.
Monier Williams Sanskrit English Dictionary.	Colebrooke. Mahamahopadhyaya Shastri, H.P. Oxford Clarendon.
N.B. Utgikar's Report on search For Sanskrit 1883-84.	
Outlines of Indian philosophy.	Hiriyanna, M. London Allen & Unwin.
Outlines of the History of Greek Philosophy	Zeller, Routledge & Ragan- paul, 1953.
Patanjali Mahabhashya	Edited by Keilhorn.
Pathway to reality Vo. II	Haldane, Gifford Lectures for 1902- Murray.
Philosophy of Upanishads (ET)	Deussen, P. Edinburgh.
Philosophy of the Upanishads.	Gough.
Philosophy of Kant.	Caird, E. Glasgow, James Maclepose 1877.
Philosophy of Religion	Pfeiderer, Williams and Norgate, 1887.
Poona Orientalist Vol. I	
Post-Prayer Speech of Vinobaji in Bihar.	
Poussin's Opinions.	
Principles of Nature and Grace.	Liebniz. Oxford Clarendon 1812.
Principles of Human Knowledge.	Berkley.
Principles of Tantra.	Bhattacharya, S.C. Ganesh and Co: Madras.
Proceedings and Transactions of the Seventh All India Oriental Conference, Baroda, 1933.	
Religion and Philosophy of the Veda.	Keith, A.B. Harvard Series Vol: 12.
Sacred Books of the East. Vol: XXXIV.	Thibaut, G. Oxford Clarendon Press 1890.
Sacred Books of the East Vol: XV	
Sacred Books of The East Vol : XIX	

S B Fellowship Lectures (1929)	University of Calcutta 1937
Sanskrit Texts	Muir
Sanskrit English Dictionary	Carl Capller, London 1890
Shatpath Brahman (SBE Vol XLIII) (E T)	Eggenburg
Shakti and Shakta	Woodroffe, J
Studies in Vedanta	Kirtikar Vasudeva J Taraporewala Bombay in 1924
Swami Vivekananda's Speech delivered in Los Angles, California Jan 4, 1900	
Systems of Buddhistic thought	Sozen
The Awakening of Faith in Buddhism	Suzuki
The Doctrine of Maya	Shastri P D Luzac and Co London 1911
The Doctrine of Maya	Ray Choudhuri, A K Das Gupta and Co Calcutta, 1930
The Ethics of Spinoza	Duttan and Co 1930
The Great Philosophers (The Eastern World)	Tomlin, E V F Skeffington, London 1932
The Great Liberation	Arthur Avalon
The Hymns of the Sam Veda	Griffith, Lazaras and Co Banaras 1919
The Life of Ramkrishna	Romain Rolland
The Life of Vivekanand and The Universal Gospel	Romain Rolland
The Monodology	Robert Latter, Oxford Clarendon Press, London 1898
The Origin of Buddhism	Pandeya, G C University of Allahabad 1957
The positive Sciences of the Hindus	Seal, B N Longman, 1912
The Philosophy of Ancient India	
The Philosophy of Vishishtadvaita	Srinivasachari, P N Adyar Library 1946
The Philosophy of Yogavasishtha	Atreya, B L
The Religion of the Veda	
The Rigveda	Kaegi

The Social and Political Philosophy of Sarvodaya after Gandhiji.	Tandon, V.N. Rajghat Kashi.
The Vedanta.	Ghate, Bhandarkar Oriental Inst. Poona.
The World as Will and Idea. (E.T.)	Haldane.
The World as Power, Power as Matter.	Ganesh and Co; Madras.
Three Great Acharyas.	Aiyer, C.N. and Tattvabhusan, S. Natesan, Madras.
Three Lectures on the Vedanta Philosophy.	Maxmuller, F. Longman's Green London.
Vaisesika Philosophy.	Ui.
Vedic Mythology.	Macdonell.
Yoga System of Patanjali.	Woods, The Harvard University Press, 1927.
Yoga Vasishtha and modern Thought.	Atreya, B.L. Indian Book Shop Banaras 1954.

(ग) हिन्दी ग्रन्थ एवं पत्र-पत्रिकाएँ आदि :

अच्युत	(अच्युत ग्रन्थ माला, काशी)
अद्वैतवाद	गंगाप्रसाद (कला प्रेस इलाहाबाद, १९५७)
उपनिषदों का अध्ययन	विनोदा (सस्ता साहित्य मण्डल, १९६१)
कल्याण (वेदान्तांक)	गीत प्रेस, गोरखपुर
कल्याण (उपनिषद् अंक)	गीताप्रेस, गोरखपुर
दर्शन दिव्यदर्शन	राम्ल सांकेतिकायन (किलाव महल इलाहाबाद, १९५७)
बौद्धदर्शन तथा अन्य	भरतसिंह उपाध्याय (ब्रंगाल हिन्दी-मण्डल, कलकत्ता)
भारतीय दर्शन (भाग १,२)	
बौद्धधर्म दर्शन	आचार्य नगेन्द्रदेव (विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५६)
भारतीयदर्शन	डा० उमेश विश्व (मूर्चना विभाग, लखनऊ, १९५७)
भारतीयदर्शन	बलदेव उपाध्याय
भारतीयदर्शन शास्त्र	डा० देवराज (हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, १९५०)
भारतीयदर्शन शास्त्र (न्याय वैशेषिक)	डा० घर्मेन्द्रनाथ शास्त्री (बदारस)
भूदानवज्ञ... (साप्ताहिक) १६-५-६५	डा० भा० स० से० स० राजधान वाराणसी
मीमांसादर्शन	डा० मण्डन मिश्र शास्त्री
योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त	डा० भीष्मनलाल आत्रेय (तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी)

रामकृष्ण लीलाप्रसाग—

(प्रथम तथा द्वितीय खण्ड)	स्वामी मारदानन्द (रामकृष्ण-आश्रम धनतोली, नागपुर)
विचारसागर	मनसुख राम सूर्यराम सम्पादित
त्रिनोदामम्बाद	ध्योहार राजेन्द्रसिंह (अखिल भारत सर्वे मेवा सघ, वाराणसी)
दक्षगन्तर्यं	उ० रामसूति शर्मा आहित्य भट्टार, मुम्बाय वाजार, भेरठ)
गवोदय दर्शन	दादा धर्माधिकारी (अ० भा० से० स० राजधाट, वाराणसी)
सूफीमत-साधना और गाहित्य	रामपूजन तिवारी (ज्ञान मण्डल, बनारस २०१५)
स्थापत्य दर्शन	विनोदा (सस्ता साहित्य मण्डल)

(ए) वेदान्त प्रन्थ

अद्वैतवाद	राजेन्द्रनाथ धोप
वेदान्तदर्शन—अद्वैतवाद	आशुनोप शास्त्री
वेदान्तदर्शनेर इनिहास (प्रथम भाग)	प्रज्ञानानन्द सरस्वती

(इ) सहृत-जर्मन प्रन्थ

सेन्ट पीटर्सबर्ग डिक्गंबरी	बोथलिंक एवं रॉथ
----------------------------	-----------------

(च) अरची प्रन्थ :

कुरान (अर्द्धेती अनुवाद)

परिशिष्ट—२

ऋनुकमणिका

अ

अंगुत्र निकाय ३३५
 अंतरंग स्वहपशवित २६२
 अंशांशिभाव २५४, २८८
 अंशांशिभाव सम्बन्ध २८१
 अंसटास ७६
 अवगडानन्द १८४, १८५
 अखण्डानुभूति १८५
 अहयातिवाद ७, ४५, २०२
 अल्यातिवादी २०३, २२३
 अग्नि ६६
 अग्नि पुराण ११६, २१५, २१६, २१७
 अचिन्त १८६
 अचिन्त्य भेदाभेदवाद २६०
 अच्युतकृष्णानन्द तीर्थ १८४, १८८
 अजहत् लक्षण २४३
 अजहत् स्वार्थी २४४
 अजातवाद १४१, १४२, १४३, २०५, ३४१,
 ३४२
 अणुभाष्य २७६, २८०
 अथर्ववेद १०२
 अथर्ववेद संहिता १०३
 अथर्वशीर्ष १२३
 अथर्वशीर्षोनिषद् ३०६
 अदृष्ट १२
 अद्वैत २
 अद्वैत चन्द्रिका १६५, १६६
 अद्वैतचिन्ता कौस्तुभ १८८

अद्वैततत्त्वसुधा १८६
 अद्वैतदर्शन ११
 अद्वैतदीपिका १८५
 अद्वैतवहूमिद्वि ५१, १८७
 अद्वैतमत १८५
 अद्वैतरत्न रक्षण १८०
 अद्वैतरसमंजरी १८८
 अद्वैतवाद २, १०, ५६, ८१, ९१, १७, १०२,
 ११६, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३,
 १२४, १२५, १३०, १४०, १४३, १६६, १६७,
 १६८, १७०, १७२, १७३, १७६, १८५, १८८,
 २७८, २८६, ३०५, ३०६, ३०८, ३१६, ३३२,
 ३४०
 अद्वैतवादी आचार्य १६६
 अद्वैतविद्यामुकुर १८६
 अद्वैत विद्याविलास १८६
 अद्वैतवेदान्तः ६, १३, २३, २४, ३४, ३६, ५१, ८७
 अद्वैत सम्प्रदाय १८०
 अद्वैतसिद्धि १७१, १८०, १८१, १८२, २११,
 २१२
 अद्वैतानन्द वोधेन्द्र १७२
 अधिष्ठान ६४, १०१, १०३, १४३, १६६,
 १७५, १६६, २००, २१०, २१८, २२०, २२२,
 अधिष्ठानवाद ६२, १०६, १७२-१७६, १८२,
 २१६, २६१, ३४१
 अध्यारोप १०३, १८६, २१५ २१७
 अध्यारोपवाद १३, ८१, २१६
 अध्यास ३५, ७५, १०६, १६७, १६८, १७६,

- १९६, २००, २०६, २२१, २२३, २२४, ३२७
 अध्यासवाद २३, ३५१
 अध्यास सम्बन्ध १८२
 अतकसागोर ५६
 अतनत कृष्ण शास्त्री ६०, १८६, २६५,
 अतनत्य १२७
 अतलहुक ८८
 अतिवैचनीय २३ १६६, १७६
 २०४, ३५२
 अतिवैचनीयता १०
 अतिवैचनीयतानुपर्याति २६३
 अनीश्वरवाद २२
 अनुभवानन्द १७६
 अनुमन्त्रण वाच्य ८६
 अनूमान ६ ६१
 अनुमन्त्रणगाय ८८
 अनकान्तवाद १३४
 अनवकार ४६
 अन्यथाख्याति ७, २०२
 अन्यथाख्याति २०३, २२७
 अन्यवार्य प्रकाशिका १३२, १८७
 अपरिनिश्रेयस ६
 अपरद्वय १६७
 अपरमोक्ष १३५
 अपराविद्या १२०
 अपवर्ग ८
 अपवाद १०३,
 अपवादन्याय १७६
 आगान्तरनामा २३३, २२४, २६२
 अप्यप दीपित ७२, १७१ १८४, १८६, १८८,
 २११, २१२, २१५, २२६
 अबुलहसन अमारी ८
 अबुलहसन दद
 अबूयाकुविंदी ८६
 अबूहुगिम वस्ती ८५
 अमरवोद ११, ८७
 अग्रवावृति मानुवा १३२
 अभिनवगुप्त १२६, ३१४
 अभिनव सच्चिदानन्द तीर्थ १८६
 अभिनवेश २८, २६
 अभेदरत्न १८५
 अमरकौप १
 अमहत २६
 अमलानन्द १३०, १७६, १७७
 अपमात्माव्रह्म २७५
 अयोध्याकाण्ड ५
 अरविन्द १८८
 अरस्तु ४ ६०, ६१, ६४, ६५, ६६
 अचिमार्ग २२६
 अर्जुन १२२
 अर्थवाद ४६
 अर्थवाद ४६
 अर्थगास्त्र ५
 अर्थमध्य ४८
 अर्थापत्ति ६, ८७
 अलनूरी ८८
 अलवर १३३
 अवच्छेदवाद १६७, १६८
 अवच्छेदमध्यदाय १६६
 अविद्या १३, २४, २८, ३१, ३४, ६८, १६१,
 १६२, १६३, १६४, १६५, १६७, १६८, १६९,
 १७०, १७१, १७३, १७५, १७७, १७८, १७९,
 १८०, १८१, १८२, २००, २१२, २१३, २१५,
 २१६, २२०, २२५, २२६, २३७, १७५,
 २६७, ३३४
 अविद्यानिवृति १६८, २२६, २३०
 अव्यवर १३ १६८
 अव्यवनावस्था १६
 अव्यवरीयमध्यदाय ८५
 अज्ञवधोप ३२४
 अट्टारशुरुणदर्शन ११६
 अगग २२२, ३२२, ३२४
 अमृ ८०, ४६, ६०, ६३, ६८, १०४, १०६,
 १६२, १७२, १७३

असत्कार्यवाद ५, २१०, २११

असत्त्वातिवाद २०३, २०४

असत्त्वाद ३१८

अस्तित्वा २४८

अस्तम्भतात् ३०, ३१, ३६

अस्ति १२६

अहंकार २०, २१, १८३

अहंग्रह २२७

अहंग्रहास्मि १३४, ६३५, २३६, २४०, २४१,
२४७

अहिकुण्डल दृष्टान्त २७६

अहिर्वृद्ध्यसंहिता २५१

अज्ञान ३५, १६४, १७५, १७६, १८६, १८८,
२८०

आ

आकाश ४६

आगम पुराण ३६६

आगमसार ३०२

आगमस्ताइन १४८

आग्नय पुराण १२०

आचार ५०

आचार दर्शन ६१, ६२, ६३

आत्मा २, ३, ६, ४६, ५१, ८६, ८७, १०६,
११३ ११४, ११५, १४२, १७८

आत्मकण ७०

आत्मव्यातिवाद ७, २०१

आत्मव्यातिवादी २०३, २१२

आत्मवोध ६२, १३६, २०६

आत्माशर २६३,

आत्मस्वरूप १३६

आत्मपुराण १८५

आत्मानात्म दिवेक १८६

आत्मानुभूति १७५

आत्मोपनिषद् ३३५

आत्म विद्याविलास १८८

प्रात्म साक्षात्कार २२६

प्रानन्दतीर्थ २७४

आनन्दपूर्ण विद्यासागर १८३, १८७

आनन्दवोध भट्टारकाचार्य १७३

आनन्दवोधाचार्य १७२, २०८, २३०

आनन्दज्ञान १८५

आनन्दवीक्षिकी ५

आपदेव ४८, ५२, १८३, १८७

आपस्तम्ब ५

आपस्तम्बीय मण्डनकारिका १६७

आभासवाद १६३, १६८, १७०, १७७, २१४,
२१६

आयन दीक्षित १८३, १८८

आशुणि १०७

आर० डॉ राजाडे १०, ३०८

आरण्यक ग्रन्थ १०५

आर्थर अवेलन १२२

आरोप ३५

आरोपन्याय १७६

आरोपवाद २८०, ३०५

आर्मस्ट्रांग ५७, ६६

आलय-विज्ञान ३२१, ३२४

आवरण ३५, १६५, १६६, २०६

आधुतोप ३, १३०, १८८, १६५

आद्यमरण्य १२६, १२८

आथ्रम व्यवस्था ६१, ६३, ६४

आत्मानुपत्ति २६४, २६५

इ

इन्द्राकु २५

इच्छाशविनि १५३

इटली ८५

इडा ३०२

इत्यिग १३१

इन्द्र १६, १५८

इमीरियल गजेटियर ६५, ३८४

इटनिडि १३२, १६७, १७४, १७५

इस्लामीदर्यन ३, ४ ५, ८५, ८६, ८३, ८६

कं

ई० क० दृ० ६४

ईश्वर १३२० ३९ ३३ ३६ ३७ ४८,
४२ ५६ ६५ ७५ १२६ १८६
१५० १५८ १७१ १७३, १७८
१७६ १८२ १६० २१२ २१३
२५२ २७१ २७६ २८६ २८७
२८८

ईश्वरकृष्ण १३ २० २१ २२
ईश्वरवाद ३१५ ३१६
ईश्वराद्यवाद ३०८

उ

उद्दी १

उत्तल १३१ १३२

उत्तमा भवित २११, २१६

उत्तर मीमांसा ३८, १७६ १८०

उत्तर मात्य १५

उद्गालक २५१

उद्योगवार ६, १०

उपदेश सामग्री ३४, १६४, १८७, २३२

उपनिषदो वा अध्ययन १६८

उपमान ३ ४२

उपावर्ष १३०

उपादात कारण ६०, १०१, २१३ २११

उपाय प्रत्यय ३०, ३१

उपासना २२६

उपामहेश्वर १३२

उपेश्वरन्द मट्टाचाय ३५४

उपेश मिथ ६ १३, ३७ ४४

ऋ

ऋमिपद्म ७

ऋ

ऋग्वेद ६७, ६८, १०४ १०५
ऋग्वेदमहिता ५३, ६६, २०७

ऋग्वेदकामिता १८५

ऋत १०२

ए

एकजीववाद १७७ १५३, १८१, १८३

एकहाते ११६, १६८

एकात्मवाद ६

एकेद्विवाद ५५ ५७

ए० ऐ० रे खोखरी ७६ ७८

एर्गितिग १०४, २७०

एच० जे० पेटन ७३

एडोल्फ्सनेगी ६६

एन० शास्त्री ६६, ७६, ७८

एन० वी० यदानी ५१, ५२

एपोहुल्स ६६

एस्ट्रोदोवल ५६

एड० मैन ७१

एनोइग १६८

एम० वे० दाम ७३, ७८

एम० वे० मित्रा ८४

ऐ

ऐनरेप्रात्माग ७०, १०६, १०५

ऐनरेयारथक १०५ १०६

ऐनरेयोपनिषद् ६७ ६८, २०८

ऐतरेयोपनिषद् भाष्य १६१

ऐतिह्य ६

ओ

ओहुनोभि १२६ १२८

ओतूश दर्शन ११

क

कठुद्वोपनिषद् ११५

कठोपनिषद् ३०, ६०, ६१, ६२, ८८, ९०६, ९१३ १३४

कठोपनिषद् भाष्य १६१

कणाद १३

- कपदिक १३०
 कार्य १३०, १३१
 कपिल २७, १६, २४
 कवची ६४
 करणमन्त्र ४६
 करणात्री १८६
 कपूरादिस्तवराज ३०८
 कर्म ४७
 कर्मकाण्ड ३८
 कल्पतरु १३६
 कल्पनावाद ५६, १२५, १२६, ३१८
 कल्पट ३११
 कविता कल्प वल्ली १८८
 काञ्ची १७२
 काण्ट ४, ५०, ६६, ६७, ७२, ७३, ७४, ७५,
 ७७, ७८, १४७
 काण्ट का सप्तस्टेनिया १४७
 काणाद ११
 कात्यायन ६४
 कामकोटिपीठ १७२
 कामिल हुसेन ४
 कारणवाद ८
 कारुण सिद्धान्ती ३१०
 कारुणि सिद्धान्ती ३१०
 कार्य ८
 कार्य कारणवाद १५, २३, २०५, २०८, २११,
 २१२, २१३, २६१, २६८
 कार्यकारण सम्बन्ध २०६, २७६
 कार्णजिनि १२६, १२८
 कःल ४६
 कालामुख ३१०
 काली १६०
 कावेल १६५
 काशकृत्स्न १२६, १२७, १२८
 काशी २३६
 काशी मोक्ष निषेंग १६७
 काश्मीरक सदानन्द यति १८४, १८७
 काश्मीर शैव दर्जन ३१०
 काश्मीरशैव मत ३१०
 काष्ठप १२६, १२८
 कीलहाने १२३
 कुदुम्ब शास्त्री ३४१
 कुण्डलिनी ३०२
 कुप्तु स्वामी शास्त्री १३६
 कुमारिल भट्ट ४३, ५१, ५२, १३२
 कुम्भक ३०२
 कुलचूडामणितन्त्र १२३ ३०४
 कुलपाण्ड्य १३६
 कुलाचार ३०२
 कुलार्णवतन्त्र १२४, ३०२, ३०६, ३०८
 कुलूक भट्ट की टीका ३०२
 कूटस्थ चंतन्य १५२, १७८
 कृतकोटि १३०
 कृष्ण ५५, ७०, १००, १२२
 कृष्णबोधाश्रम १८६
 कृष्णानन्द १८५
 कृष्णालंकार १८८
 कृष्णोपनिषद् ११५
 केदारनाथ ३८
 केनोपनिषद् भाष्य १०१
 के० वी० पाठक १३२
 के० माधवकृष्ण शर्मा १३१
 केवलाद्वैतवाद २८७, २८८
 केशव कश्मीरी ३१०
 केशोण्डक २१६, ३१८
 कंड २१३
 कंपेलर २
 कंलाम महिता ११७
 कंवल्योपनिषद् २६, ११५
 कोकिलेश्वर शास्त्री १६३
 कोलद्रुक ३८, १५८, १५९, १६५
 कीलाचार्य ३०२
 कीटिल्य ५
 कीपीतसी ३६, १११
 कीपीनसी आणक १०७
 कीपीतसी उपनिषद् ६

त्रियमाणानुवादिमन्त्र ४६
तिरातकि १५३
सणिक विज्ञानवादी बोद्ध २०७
शिष्ट २६
शेषवज्ञगतित २६६
स्थिराज ३११, ३१२, ३१४, ३१६
वसनोकन ४ ५५ ५७, ६१

ख

गण्डन कुठार १७०
मण्डनमण्डवाद १७५, १८३, २४० ३२५
३३३

खन्दन ८८
स्थानिवाद ३, ४५, २०१

ग

गग नाथ भा ३१८
गगाप्रमाद १४०
गाम्युरी भट्टाचार्यां १५४
गगेग ४, १७५
गजानी ८३
गम्भर्वतना १२८, २६८
गफ १०८, १८४, १५८, १७८, १६५
गम्भुराण ११६
गर्म १२६
गार्गी ११०
गार्वे १४, ३२
गिरधर महाराज २३६
गीता २६, २५, ४७, ८०, १२२, १२३, १८३,
१५०, १६४

गीता प्रवर्ता १६४
गुण १७, ४७
गुमद १५४
गुमाना २१३
गुप्त ज १३ १५
गजालय २८३
गुरुग्रदीप १०२
गुरुभ्युसानिका १८६

गुहदेव १३०, १३१
गृष्णायं दीपिका १८०
गोपीनाथ विराज १६, १६५
गोपेश्वर २८३
गोलड जीहर ८६
गोवर्धन भट्ट १८६
गोविन्द चक्रवर्ती २८३
गोविन्दशाद १४३, १४४
गोविन्द भाष्य २६८
गोविन्दानन्द १८४, १८७
गोडपादकारिका ६५, १३७ १३६ १४२, १४
२०५ २५६
गोडपादकारिका
गोडपादाचार्य ६७, ८०, ८६ १२६, १३०,
१३६, १३७, १४१, १४२, १४३, १६१,
१६६, २०५, २०६, २१८, ३८१, ३४२
गोतम घर्मसूत्र ५
घ्रिक्षि १००, १०१
ग्रोक ४

घ

घाटे २८८, २४५, २५८, २६१, २३८ २३६
च

चन्द्रकातितकलिकार ११, ४४
चन्द्रीनि ३३२
चन्द्रशमरेन्द्र मरम्बती १७७
चरण ४
चरणमाला १५
चार्ने विनिमय ११५
चार्नांत ६
चिन् ११०, १६२
चिति ३३
चिता २६
चित शी पात्र अवस्थाएँ २६
चित्तवृत्तिगोथ ३४
चित्तवृत्ति २६३
चित्तुल ३३

चित्सुव तत्त्व प्रदीपिका १३१

चित्सुवाचार्य १७५

चित्सुली १७५

चिदगमन चन्द्रिका ३०८

चिद्विलास १७२

चिन्तामणि रहस्य ४४

चिन्तान ६

चैतन्य १८३, २३७

चैतन्य चरितामृत २६१

चैतन्य महाप्रभु २८६, २८०

छ

छः प्रमाण ४०

छान्दोग्योपनिषद् १५, ३६, ५८, ८२, ८३,
६१, १०६, ११०, ११४, ११५, ११६ १२६,
१२७, १३२, २०७

छान्दोग्योपनिषद् भाष्य १६१

वेदार्थ संश्रह १३३

ज

जगत् द, १२, १८, १७४, १७५

जगन्मिश्यात्व १३८, १६६

जडचेतनवाद १६३

जडदेहवाद ७१

जबरुत दद

जयन्त १३२

जल ४६

जहदजहलक्षणा २४७

जहीज ८५

जाग्रत् दद, १३८, १३६, १४१, १७६, १८२,

१६१, १६२, २५५, २६१, २७२, २७७, २८१,

२०४

जाहिर् द६

जिनसेन १४४

जीव २, १२५, १२८, १३४ १४१, १५३,

१५४, १५५, १६१, १६६, १६८, १७०,

१७७, १७८, १८२, १६०, २१३, २३०,

२५३, २५४, २६०, २७२, २७६, २८१,

३१२, ३१६

जीव ईश्वर २४७

जीव गोम्बारी २८६, २८०, २८१, २८२,

२८३, २८८, २८५, २८७, २८८, २८९,

जीव चैतन्य २३६, २४१, २४२, २४३

जीवन दर्शन १८६

जीवन्मुक्त १६६, २००, २३५

जीवन्मुक्ति ६, २१, ११६, १३५, १६४,

२३२, २३३, २३५, २६२, ३१७

जीव परमात्मा २४६

जीवानन्द १७६

जी० सी० चटर्जी ७१

जे० एस० मैकेंजी १०८

जे० कीर्तिकर ६६, ७६, ७७, ८१, ८६, २१४

जेनी ४, ६०, ६१, ६६

जेलर ४, ५४ ६०, ६२, ६४

जैकब १४५, १६५

जैकोबी १२०, १३७

जैयोगव्य १२६

जैनतत्त्व ३०२

जैमिनि द८, ३८, ४८, ५२, १२६, १२७, १३०

जैमिनि भारत १२७

जैमिनीय रत्नमाला १७७

जोन्स ६६

जोरोस्टर ८६

ज २१

शात्रा ४४

शान कर्मसुन्नय ६३

शानकियाभक्ति २६३

शानशक्ति १५३

ट

टंक १३०

टी० एम० पी० महादेवन १३१

टामलिन ६५, ७५

उ

आयसन ६, १५, २३, ६१, ६५, १०७, ११३,

११४, ११५, १४६, १५६, १६५
दार्कंग्राउन्ड ७८
ही० एम० दत्त १६०
हीलम् ४, ५५, ५६, ५७
डेकार्ट ४
डिविड द३, ८४

ठ

दुष्ठिराज शासनी १३

त

तक्की ५
तटभ्य शक्ति २६२
तत्त्वशैमुदी १६ १३०
तत्त्वकौस्तुभ १५६
तत्त्वदीप्ति १६६ १८८, २८१
तत्त्व दीपिका १३२
तत्त्वनिर्णय २७३
तत्त्व विन्दु १७०
तत्त्व वोध ६०
तत्त्व बोधिनी १५५
तत्त्वपति ४२, ४३, ४४, ४६, १८३, २४१,
२६३, २७१

तत्त्वमुक्ताक्षाग १३३, २५४

तत्त्वरहस्यदीपिका १५

तत्त्वविवेक १८५

तत्त्व वैशाखी २८, २६, २६, ३१, ३५, ३७,
१७०

तत्त्व सप्तह १३२

तत्त्वानुषधान १८८

तत्त्वार्थ दीप २८०, २८४

तत्त्व १२३, २०१

तत्त्वरत्न ४०

तन्त्ररहस्य ४२, ४३

तन्त्रालोक ३१४

तन्मात्रा २१

तमोगुण १८

तमोगोग्य जीव २३३

तकंदीपिका ११

तकंतिदा ५

तकंजास्त ५

तकंसप्तह ७

ताष्ठिय ब्राह्मण ३६

तात्पर्य दीपिका १३६

ताराचन्द ४

तिरज्ञान सम्बन्धर १३६

तुलीया ८८

तंत्रिरीय ब्राह्मण १०४

तंत्रिरीय श्रुति वार्तिक १६७

तंत्रिरीय महिता ३६

तंत्रिरीयारण्यक १०६, २०७

तंत्रिरीयोपनिषद् ६, ३६, ८६, ८३, ६१, ६८,
१०४, १०६, ११४, २०५

तीर्हीद ८६

त्रितिका ३२१

त्रसरेणु १२

त्रिपुरी प्रत्यक्ष ४३

त्रयणुक १२

थ

थीबो ३, ६३, १३०, १४५, १४६, १५७,
१५८, १५९, १६५, ३१८

थ्रेस ५४

द

दर्शन द्विशर्शन ७०, ८८

दशश्लोकी २७१, २७२, २७३

दादा धर्माधिकारी १६५

दाम गुप्त २३, ३३, १०७, ११२ ११३, १४६,
१५६, १७१, १७३, १८१, २११, २०८,

२८२, २८३, ३२०, ३२३, ३३७, ३३८

दिव्य भाव ३०२

दिवा ४६

दीपिका ८

दुर्गमध्यमती ३०३

दृढ़ १३१, १७६, ११५

दृष्टव्यविवेक ३५
 दृष्टान्त १३६
 दृष्टिसूचित्वाद ७२, १७६, २१८, २१५, २१६
 देकार्त ६७, ६८
 देमोक्रिति ५६
 देवतावाद ९६
 देवयानमार्ग २२६
 देवराज २७१
 देवल १२६
 देवी ३०३
 देवी भागवत १२१, १२३
 देवेश्वराचार्य १७१
 देवत नार्यण १०५
 द्रव्य ११
 द्रविडा चार्य १३०, १३२, १३३
 द्वयणक १२
 द्वेष २८, २९
 द्वेत्वाद ३, २७४, २७५, २७६, २७८
 द्वैतवादी ६३
 द्वैताद्वैतवाद ३, २१०

ध

धर्मपद ३३६
 धर्म ४८
 धर्मराजावधीन्द्र १८३, १८४, २०६
 धर्मशार्माभ्युदय ३३२
 धर्मसूत्र १३१
 धारणा ३०
 ध्यान ३०

न

नज्जाम ८५
 नयन प्रसादिनी १७५
 नरसिंह स्वरूप १३६
 नरेन्द्रदेव ३२२, ३२३, ३३१, ३२६
 नर्मदा १४३
 नलिनीमोहन शास्त्री १६२
 नवधा भक्ति २८३, २८५

नव्य न्याय ६
 नामार्जुन ३३१
 नाट्य शास्त्र १२६
 नाद ३१२
 नान्यदेव १२६
 नामवेय ५०
 नारद ४०
 नारद पंचरात्र २५६
 नारदीय पुराण ११८
 नारायणाश्रम १८४, १८५, १८६
 नामदीय मूक्ति ६६
 नामूत दद
 निकुञ्जविहारी वनर्जी ७०
 निगमन १३६
 नित्यबोधाचार्य १७१
 नित्य मंसारी जीव २७७
 निदिव्यासन १७४, १८२, २३४
 निम्बाकचार्य ८५, १०८, २४८, २७०, २७१,
 २७२, २७३, २६६, ३००
 निमित्त कारण ६०, २६१
 नियाम्य नियामक भाव सम्बन्ध २६०
 निर्गुण १२१, १२६
 निर्गुण ब्रह्म १८८
 निर्वाण ३३१, ३३२
 निर्विकल्पक ४१
 निरांगावाद ८३, ८४
 निरीश्वरवादिता १५
 निवर्तकानुपत्ति २६८
 निवृत्यनुपत्ति २६६
 निवृत्ति २२८
 नीलकंठ सूरि १८४, १८६
 नूर-अल-नूरिन् ८८
 नृसिंह तापिन्युपनिषद् ११५
 नृसिंह सरस्वती १८४, १८७
 नृसिंहाश्रम १८४, १८५, २०३
 नेति नेति ११२, ११३
 नेङ्मारण नावनर १३६
 नैपाली बोद्ध धर्म ३०३

नैकर्म्य सिद्धि १२७, १३३, १३४, १६७
 न्याय ४, ६
 न्याय बन्दली ४३
 न्यायकारिका १७०
 न्यायचन्द्रिका १८७, २४०
 न्य पदशंन ७ द ४८, १७०
 न्याय निषेध १८५
 न्याय भाष्य ७
 न्यायकरन्त १७३, १७५, २०४ २३०
 न्याय मञ्जरी १३२
 न्याय रत्नमाला ४३
 न्याय रत्नाकर १३२
 न्याय रत्नावली १८२
 न्यायवार्तिक ६
 न्यायवार्तिक तात्त्व १७०
 न्याय विद्या ५
 न्याय सिद्धान्त भुवनावली १४८
 न्यायसूधा १३६
 न्याय सूची निवन्ध १७६
 न्यायसूत्र ६, ८
 न्यास दशक २५७

प

पवतन्मात्रा २०
 पवदसो ३४, १५२, १६५, १७७, १७८,
 २४१
 पवधाभवित २६१
 पवपादिका १३६, १६६, १७०, १७२,
 १८७
 पवपादिका दर्पण १७६, १८५
 पवपादिका विवरण १६५, १७४
 पवमहाकार ३०२
 पवमहाशृङ् २०
 पवविद्या बाह्यण १०५
 पवविद्या १५, १६,
 पवानन तकरेत्न १८६
 पवावयववाक्य ४०
 पचीकरण १६७, १८६

पतजलि १६, २४, २५, २६, ३०, ३२, ३३,
 १२७, १४४
 पद्योजनिका १८७
 पदार्थ ६, ८, ११
 पदार्थनिष्ठपण ४५
 पद्मभाद १३६, १६७, १६८, १७३, १७४
 पद्मपुराण १२०, ३३६
 परत प्राप्तिपदाद ४३, ४४
 परब्रह्म १६७
 परमतत्व ६७
 परमात्मा २, ११८, २६२
 परमहसोपनिषद् २२८
 परमाणु ११
 परमाणुवाद न, १३, ४८
 परमार्थठबकुर २८३
 परमार्थ सत्य ३३०
 परमेनिद् ६, ५५, ५७, ५८, ६०, ६१
 परलोक गमन २३२
 पदायनुमान ४१
 पराप्रपत्ति २५६
 परामुक्ति १३५
 परावाह् १३२
 परावान्ति २६६
 परिणामवाद १६, १३२, १३५, २१०, २८८
 परिमल १८६
 परिस्थान १७३
 पशुभाव ३०२
 पश्यन्ती १३२
 पाचशात्र ३०२
 पातजलयोग ३४, ३५
 पार्यसारवि मिथ १३२
 पारमार्थिक ३०४
 पारमार्थिक सत्ता ७४
 पाराशार ४६
 पाराशार सहिता १२१, १३१
 पाशुपत १३
 पिगला ३०२
 पिषागोरण ६१

- पिरहो ६६
 पी० एम० मोदी १६४
 पी० टी० राजू १६३
 पी० वी० काणे १३१
 पूर्णप्रज्ञ २७४
 पूर्व मीमांसा ३८, ३९, १७६
 पूर्वमीमांसा दर्शन १७०
 पुराण साहित्य ११६
 पुरुष १६, १७ १८, १९, २१, २३, २४, २५
 २८, ३२, ३३, ३७
 पुरुष वहृत्व १६, २३,
 पुरुष वहृत्ववाद २४
 पुरुष विशेष ३२, ६५
 पुरुष विशेष ईश्वर ३५
 पुरुष सूक्त ६७, ६८
 पुरुषोत्तमाचार्य २८८, २७६
 पुरुषोत्तम २८०
 पुष्टि प्रवाह मर्यादाभेद २८५
 पुष्टिभवित २८४
 पुष्टिमार्ग २८४, २८५,
 पुलिन्द ३०३
 पृथ्वी ४६
 पृथिवि १०२
 पैटन ७४
 पैट्यंजि १२७
 पौराणिक सांख्य २०
 प्रकट बीढ़ ३३८
 प्रकरण पंचिका ४३, ४६
 प्रकार प्रकारी सम्बन्ध २५२
 प्रकाशानन्द ७२, १७८, १७९, २१०, २१५
 २१७
 प्रकाशानुभव १७३
 प्रकाशात्मा १७४, २३० २३७
 प्रकाशात्मयति १६५, १७१, १७३, ३४०-
 प्रकृति १६, १७, १८, २०, २३, २४, २५
 प्रच्छन्न बीढ़ ३३८
 प्रजापति ६७, १०३, १०६
 प्रजानानन्द १८५
 प्रणव ३२, १३७
 प्रत्यक्ष ६, ४०
 प्रत्यक्ष अपवाद १३६, २१७
 प्रत्यग् रूप १३१
 प्रत्यभिज्ञा ३१३
 प्रत्यभिज्ञादर्शन ३१४, ३४८
 प्रत्याभिज्ञाशास्त्र १७, ३१५
 प्रत्याभिज्ञात्मव ३१४
 प्रत्यभिज्ञाहृदय ३१४
 प्रत्याहार ३०
 प्रतिज्ञा १३६
 प्रतिनिवृति ७८
 प्रतिविम्बवाद १६१, १६७, १७०, १७४
 २१४, २८७
 प्रतीकोपासना २२७
 प्रतीत्यसमुत्पाद ३२२, ३२३, ३२८
 प्रधुमन २७२
 प्रदीप ४५
 प्रपञ्च १८२
 प्रपञ्चासार १६६
 प्रपञ्च हृदय १३०
 प्रबोध परिज्ञोधिनी १३६
 प्रभाकर ६, ७, ४१, ४५, ४६, ४७, ५१,
 ५२
 प्रभाकरमत ४०, ४३ ४४
 प्रभाकर विजय ४८
 प्रभावक चरित १४४
 प्रभुदत्त शास्त्री १५८, २६८, २६५
 प्रमाण २७
 प्रमाण चैतन्य १८३
 प्रमाणभाला १७३
 प्रमाणसास्त्र ५
 प्रमाणसमुच्चय १३५
 प्रमेय ८
 प्रमेय रत्नावली २६०
 प्रमेय रत्नावली २६०
 प्रवाहमार्ग २८५
 प्रश्नोपनिषद् ७२, ११५
 प्रशास्त्रपाद ११, १२, १३

प्रशस्तपाद भाष्य १२, १३, ४६
 प्रस्थान भेद १८०
 प्रस्थान रसायन २८०
 प्रस्थान १७०, १७६
 प्रह्लाद २८१
 प्रचीन अद्वैतवाद १३६, १४४
 प्रचीन न्याय ६
 प्रचीन सौमासा ४८
 प्रचीन साल्य २०
 प्रज्ञ १३३, १५३
 प्राण १६४, १६५
 प्राणमय १५३
 प्राणायाम ३०
 प्रातिभासिक ३०४
 प्रातिभासिक जीव १५२, ३०४
 प्रातिभासिकमत्ता ३१६
 प्रायाध्यवाद ४०
 प्रेम रसायन २८३
 प्रेम लक्षण चन्द्रिका २८३
 स्टेटो ४, ६१, ६२, ६३, ८७
 प्लॉटिनस ८६

क

कारावी ८७
 किवते ४, ६७, ७५, ७६
 कूरेन्दल ४६, ५७
 कंडिकृष्णल ६६
 कृतिपर ६०

घ

बडुगानल १३३
 बक्से २, २१३
 बर्टेंट ५७, ५८, ६३, ७१, ७२
 बहा ३३७ ३३८
 बलदेव उपाध्याय १३, १५, ६७, २५६, २७६,
 २७६
 बलदेव विद्याशूल्य २६८, २६८
 ब्रह्मवाद ५३, ६३

बहुत्ववाद ६१
 बादरायण १२, ३८, ३६, ५२, १०६, १११
 ११४, ११६, १२७, १२८
 बादरि १२६, १२७ १३०
 बालवेदिनी १८३
 बादावलि २८०
 बी० ८८० आवैय १२५, १२६
 बी० एन० सी८ १८
 विधुगेवर भट्टाचार्य १३१, १२७
 धीजकु रन्धाय २१६
 बु अली-मस्किया ८७
 बुद्धि २८, १८३
 बूहलर ५
 बृहदारण्यक उपनिषद् १३४, १६२
 बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य १६१
 बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्यवार्तिक १६७, १६८
 बोडाम ५
 बोधिनिक ३, १६५
 बोधायन १३०
 बोधार्थान्वितेऽ १८६
 बोधिचर्यवितार ३३३
 बोधिचर्यवितार पञ्चांश ३२१, १२६
 बोद्ध ६
 बोद्धतन्त्र ३०२
 बोद्धधर्म दर्शन ३२२
 बोद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन ३२२
 बोद्धदर्शन १३७
 ब्रह्म २, ३, १०, २३, १००, १०२, १०३,
 १०६, १०७, १०८ १०६, ११०, १११,
 ११२, ११४, ११६, १२१, १२४, १२६
 १२५, १३०, १६०, १६१, १७१, १७८,
 १७६, १७५, १७६, १८६, १८६, १८७,
 २०१, २१३, २५०, २५१, २५३, २५५,
 २५६, २७६
 ब्रह्मकीर्तन तरतिणी १८६
 ब्रह्मशोना ११६
 ब्रह्म चैतन्य २३८
 ब्रह्मजानी १२२

- ब्रह्मदत्त १३०, १३३, १३४, १७०, १७४,
१७६
ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका १८८
ब्रह्मतत्त्व समीक्षा १७०
ब्रह्म पुराण ११६, १२०
ब्रह्मवाद ८७
ब्रह्मरन्ध ३०२
ब्रह्मलोक २२५
ब्रह्मविद्याभरण १७२
ब्रह्मवेचत्त पुराण १२०
ब्रह्मसाक्षात्कार १७५, १७६
ब्रह्मसिद्धि १३१, १६७, २३४
ब्रह्ममूल १५, ११६, १२६, १२७, १२८, १२६,
१३०, १३५, १६१, १७०, १८५ १८८,
२५१
ब्रह्ममूल चतुःसूत्री ४५, २०२
ब्रह्ममूल दीपिका १८५
ब्रह्ममूलयांकर भाष्य २, ७, ६, ११, २२, २३,
३५, ३६, ५८, ६५, ७२, ८७, ८८, ६०,
६३, ११४, १२३, १२८, १२६
ब्रह्ममूल भाष्यवार्तिक १६७
ब्रह्मनन्दी १३०, १३२, १३३
ब्रह्मद्वैतवाद १६२
ब्रह्मानन्द १७२, १८२, १८३, २१२
ब्रह्मानन्दी १३०, १७१, १८२
ब्रह्माण्डपुराण १२१
ब्रह्मानन्द सरस्वती १८२, १८६
ब्रह्मावरकत्वानुपत्ति २६६
ब्रह्ममृतवर्णी १८७
ब्रह्मोपनिषद् ११२
ब्राउन ८६
ब्राह्मणग्रन्थ १०४
ब्रैडले ३६, १४१, १६८
- (भ)
- भक्त २६५, २६६
भक्ति २५६, २६३, २६१, २६४, २६६, २६८
३०३
- भवितचिन्तामणि २८३
भवितपूजा ३०३
भवितमार्टण २८४, २८५, २८८
भवितरसामृतसिन्धु २६१
भवितव्यद्विनी २८४
भवितयोग १२२
भवितमूल १२६
भवित के (सोलह) साधन २८५
भगवान् १२२, २८५, २८०, २८२, २८६
भगवान् कृष्ण २६५, २६६
भट्टारकगोविन्द १४८
भट्टेजिदीक्षित १८४, १८६
मन्त्रहरि १, १२६, १३० १३१, १३२, १३६,
३४०
मन्त्रप्रपञ्च १३४, १३५
भरतसिंह उपाध्याय ३२२
मवप्रत्यय ३०, ३१
भवप्रत्यय समाधि ३६
भविष्यपुराण २७५
भागलक्षणा २४२, २४४
भागवततात्पर्यनिर्णय २७६
भाद्रमत ४०, ४१, ४३, ४४, ५२
भाद्रमीमांसक ५१
भाट्टसंप्रदाय ४७
भासती १८८, १५२, १७०, १७१, १८५,
१६६, २६७
भारतभावप्रदीप १८६
भारतसंहिता १२७
भारती ३४
भारती कृष्ण तीर्थ १८६
भारतीय दर्शन (उ० मि०) ६, ६७
भारतीय दर्शन (व० उ०) १३
भास्त्रि १३०, १३१
भावना ५०
भावनाविवेक १६८
भावप्रकाशिका १८५
भावप्रदीप १३२, ३४१
भास्कर १३२

३७८ घ अद्वितीयेदान्त

- भास्कराचार्य २७०, २८१, ३३७, २३८
 भास्करभाष्य १३२
 भूदानयज्ञ १६५
 भूमानन्द सरस्वती १७५
 भृगु १२६
 भेदायह ४५
 भेदधिकार १८३, १८५, १८६
 भेदधिकार सत्तिकथा १८६
 भेदधिकार सत्तिकथोज्जवला १८६
 भेदभेदवाद १२६, १७४
 भोज २५, १४४
 भोजवृत्ति ३२, ३५, ३६
- (म)
- भगवदेव शास्त्री १०६
 भक्ता ८५
 भण्डन मिथ ३४, ४०, ४६, ५०, १३१, १६७,
 १७०, १७६
 भत्तमारायंसप्तह १८६
 भस्त्रपुराण १२१
 भद्रीना ८५
 भयुरादास तकंवागीश ४४
 भघ्वेदान्त १८६
 भव्याचार्य ८५, २४८, २७४, १७५, २७६,
 २६६, ३००
 भव्यवृहद् भाष्य २७६
 भव्यमिदान्तसार २७६, २७७
 भव्यगृहन सरस्वती ८६, ८३, १३२, १३४,
 १६५, १८०, १८१, १८२, २४६
 भव ४६, १८३
 भवन १७४, १३८, १८२, १८३
 भनु २५, ४६
 भनुमृति ५, ३०२
 भनोमय १४३
 भन्त्र ४६
 भन्त्रयोग २५
 भर्त्यादा भवित २८४
 भर्त्यादा मार्ग २८६
- मल्लनाराय १८४
 मलूत ८८
 महतत्व १७, २१
 महादेव १७५
 महादेवसरस्वती १८४, १८८
 महाप्रमुच्चित्य २६६
 महाभारत ५, १४, १५, १२७, १२८, १२९,
 १८६, ३०१
 महानिर्णायितन्त्र १०३, ३०६, ३०८
 महाभाष्य १२७
 महातारायणोपनिषद् ६१
 महावाक्य २४१
 महेश्वरतीर्थ १८५, ३१३, ३१५
 मार्कंडेयपुराण ११८, १२०
 माठर १८
 माण्डूक्यकार्त्तिका १३८, १४०, १६१
 माण्डूक्यकार्त्तिका-शाकरभाष्य ६०
 माण्डूक्योपनिषद् ६२, ७६, ११२, १३३
 माण्डूक्योपनिषद् भांकरभाष्य २, ८०, १६१
 माधवभाष्य २४८
 माधवमन्त्री १३६
 माधवाचार्य १३१, ३११, ३१२, ३१३, ३१४
 मानसेयोदय ४०, ४१, ४३, ४६, ४८, ५१, ५२
 मानमोल्लाम १६७, २२६, २३१, ३०६
 माया १७, २३, ७०, ७६, १०२, १११, ११७
 ११८, १२०, १२२, १२३, १२४, १३७
 १४२, १४३, १४६, १४८, १६०, १६१,
 १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १७१,
 १७३, १०८, १८०, १८०, १८१ १६१, २०६,
 २१३, २२०, २६१, २१२, २६०, ३०४,
 मायावाद ३, १३, ६३, ६०, ११५, १२४,
 १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, २११,
 २६४, २६६, २७८, ३०८, ३१८
 मायावी २०८, २०९
 मिक्रोफिल ५४
 मिताक्षरा १३१
 मित्यात्म ३, १३४, १८१, १८२, १८४, १८०
 मीमांसा दर्शन ८०, ४६, ४१

मीमांसान्याय प्रकाश ५०

मीमांसा सूत्र १२५, १२६, १३२

मुबम्मर ८५

मुहर ६६

मुक्तजीव २५६

मुक्त पुरुष ११६, २३१

मुक्ति ४, ६, ७, १६, २१, ३६, १२०, १२३,

१२८, १८२, २२८, २३२, २३६, २५५,

२६५, २७३, २७७, २७८, २८६, ३०६

मुकुन्दशास्त्रीखिस्ते ४६

मुकुल भट्ट १३२

मुण्डकोपनिषद् ६, ६१, १११, १५४

मुतलक ८६

मुद्रा ३०२

मुमुक्षु ३४, १२२

मुरारि ४४

मुरारिमत ४३

मुहम्मद ८५

मुहीत ८६

मृढ २६

मूलाज्ञान २३६

मेगस्वनीज ५४

मैक्समूलर ११, १६, २२, २४, २५, ३३, ३४,

३७, ३८, ५४, ६६, ८२, ८६, १५,

६६, १०७, ११३, १३१, १४७, १५८,

१५६

मैकेंजी १५६

मैकडोनल ८६, २

मैक्सहार्टल

मैटेरिया प्राइमा ७०, ७१

मैत्रायणीउपनिषद् ६

मैत्रेयी ११२, १६०

मोक्ष ८, १६, २०, ३१, ३३, ३७, १८६, २२६,

२३४, २६६, ३००, ३०५

मोक्ष (मीमांसा) ५२

मोतजलासम्ब्रादाय ८५

मोनिजम २

यजुर्वेद १०२

यजुर्वेद संहिता १०१

यतिपतिमत दीपिका २५२, २५३, २५४

यतीन्द्र मत दीपिका १३१

यम २१,

यन्त्रिव ८५

याज्ञवल्क्य ४१, १११, ११२, ११३, २५१

यादवप्रकाश १२६

यामुनाचार्य १३१, १३३, १३४, २५६

यूनानी दर्शन ५४, ८८

योग १, २५, २६

योगदर्शन २४, २५, २६, २८, ३१, ३४, ३५,

३७, ३८, ६५

योगभाष्य २५, २८, ३०

योगवार्तिक ८, २४

योगवाणिष्ठ १२४, १२६, ३१७, ३१८, ३१९,

३२०, ३४६

योगसाधन रहस्य १८५

योगमूत्र १८, २५, २६, २७, ३०, ३१, ३३

योगमूत्रभाष्य २७, २८, ३१, ३२

योगमूत्रभाष्य (पा० टिं०) ३३

योगाचार ३२१

योगाचार वौद्ध १४०

र

रंगनाथ १८४, १८८

रंगराजाध्वरी १८४, १८६

रजोगुण १७, १८, १९

रत्नप्रभा १५१, १८७, १९८, १९९, २१२,

२२३, २२४

रवीन्द्रनाथ टैगोर १६५

रसहृदय १४४

रहस्यव्याय २५२

रहस्यव्यायसार २५४

राग २८

राजमार्त्यवृत्ति ३३

- | | |
|--|--|
| रागयोग २६ | रोम्या रोली १६०, १६१ |
| राजस २० | रौय २, ६४ |
| राजनक ३१६ | रीम ६५, ६६ |
| राजन्द्रनाल मिथ ३३ | ल |
| राघवाकृष्णन ११ २२, ३२, ६७ ७५ ७८
८२ ८४ १२, १३६ १४८ १६४
१६५, ११३ २५८, २१६ २६० | लक्ष्मावतारमूर्ति ३२१, ३२२ ३२४ |
| रानाइ ५३ ६४, ७३ ७४ ८३ ८४ १०८
११६ | लघुचन्द्रिका १८०, १८१, १८२ |
| रामकृष्णरामहस १८८ १६० १६५ | लघुवानिन १६७ १६८ |
| रामतीर्थ १६६ १७१ १८४, १८७ | लययोग २८ |
| राममूर्ति शर्मा ७ २० | लतितासहस्रनाम ३०७ |
| रामत्वार्थ १८२ | लक्ष्मी २७६ |
| रामाद्वायाचार्य १५६ १८४, २२५ | लक्ष्म लक्षणभावसबध २४५ |
| रामानन्द २६०, २६१ | शाइच्छिक ४, ६५, ६६, ७०, ७१ |
| रामानन्द तिवारी १६१ | लाहूत पद, ८६ |
| रामानन्द सरस्वती १०१ १८८, १८७, १८७ | लिगस्थग ३१० |
| रामानुज ५७, १०८, १३०, १३१ | लीला १६३ |
| रामानुजाचार्य ४०, ८५, २४८, २५०,
२५२, २५३, २५६, २५८, २५९,
२६०, २६०, २६१, २६२,
२६३, २६४, २६५, १६६,
२६७, २६८, २६९, २७०,
२७१, २७३, २७६, २८१,
२८३, २८६, २८८, ३००,
३१०, ३३६ | लोगाक्षिभास्वर ४८, ५२ |
| रामायण ५, ७ | व |
| रामोत्तरापिण्डियुपनिषद् ११२, ११५ | वनमाला १८८ |
| विवियवाद १३५ | वरनवि १२६ |
| हृल ५७, ६४, ६६, ६७, ७०, ८७, ८८ | वरण ६६, १११ |
| हृल सरकृत्यायन ३३७ | वहत्वमदर्थन २८६ |
| इ ११८, १०६ | वल्लभाचार्य १, २४८, २७६, २८०, २८१,
२८३, २८४, २८५, २८६, २८७,
२८८, ३०० |
| इमहिता ११७ | वसुगुण ३१२, ३१४, ३१५, ३४३ |
| नैम २, ३३ | वसुवन्धु ३२१, ३२४ |
| नानाड १५८, १५९ | वस्तुवाद ५६ |
| बीपरी ६३, ७०, ७१ | वस्तुमारात्मक सत्ता ७४ |
| पर १६५ | वाहौवाक्य ५ |
| ईं सेटर ७० | वाच्यपदीय १३२, ३४० |
| | वाचस्पति ५, ६ |
| | वाचस्पति मिथ ५, १६ १७, २८, २६, ३१,
३२८, ३३६, ३५२, ३६६ |
| | १६७, १६८, १७०, १७१,
१७३, १७६ १७७, १८६, |
| | २००, २१२ |

- वाचस्पत्यम् १
 वार्तिकसार १६७
 वार्तिकसार संग्रह १६,
 वात्स्यायन ५, ७, १०
 वाद-विद्या ५,
 वामकेश्वर तत्त्व १२४
 वामन १२०
 वामन-पुराण ३१०
 वामाचार्य ३०२
 वायु ४६
 वायु-पुराण ११६
 वाणि-भट्ट १४८
 वाहिद हुसैन ८६
 वादीन्द्र १८५
 विकल्प २७
 विकटर कजिन ६६
 विचार सागर ४
 विदेह ३०
 विदेह कैवल्य १८४, २३३, २३४
 विदेह मुकित ६, १०, २१, २२, १३५, २३२,
 २३३, २६२, ३१७
 विदेहावस्था ३०, ३१
 विद्यारण्य १४४, १६५, १६६, १७८, १८५
 विद्यासागरी १७६
 विद्वन्मनोरजिनी १८७
 विविदिवेक १६७, १६८, १७०
 विनोदाभावे १६६, १६३, १६४, १६५
 विनोदासंवाद १६४
 विपरीत-रूपाति ४५
 विपर्यय २७
 विमंसी ५
 विमुक्तात्मा १३२, १७४, १७५
 विराट पुरुष ६७, १०२, १६७
 विलियम २
 विलियम जोन्स १६५
 विल्सन १६५
 विवर्त २३, २१०
 विवर्तंवाद ६१, ७८, ८३, १०२, १३२, २०५,
- २०६, २६१, २६२, २७३, २८७,
 ३०५, ३५१
 विवरण १६६, १८७
 विवरण दर्पण १८६
 विवरण प्रमेय संग्रह १६५, १६६, २०१, २१६,
 २३४
 विवरण संप्रदाय १६६, १७३
 विवरणोपन्यास १८७
 विवेकचूडामणि ३५, २०४, २१८, २६०,
 २८२, २६७, ३२६
 विवेकानन्द १६६, १६०, १६२, १६५
 विशिष्टाद्वैत १३०, २७४, ३११
 विशिष्टाद्वैतवाद १३१, २७६, २६६, २५०,
 २५८
 विशेषण-विशेषण-भाव संवेद २४५, २६०
 विशेष सिद्धान्त २६६
 विश्व १५३
 विश्वकर्मा ६७
 विश्वनाथ १४८, २८३
 विषय चैतन्य १८३, २३७, २३८
 विषयिता १६२
 विषयित्व १६३, १६४
 विषय-विषय-भाव २३८
 विष्णु ११७, ११८, १२०, १३१, २७६
 विष्णु-पुराण ११७, २६३, २१०
 विष्णु-भक्ति २६६
 विष्णु-शक्ति २१०
 विष्णु सहस्रनाम १४
 विष्वक्षेत्र २७२
 विस्वादी ऋग १७८
 विस्तर १७७
 विस्तृत २६
 विक्षेप ३५, १६५, १६६, २०६
 विज्ञान ६१ ६२, ६३
 विज्ञानभिक्षु ८, १३, १७, २२, २४
 विज्ञानमय १५३
 विज्ञानवाद ३१८, ३२१, ३२२, ३२५, ३३६,
 ३२०

विज्ञानवादी ३२६	३३१	वैकुण्ठ २५६
विज्ञानवादी बोद १३६	१४१	वैदिक सिद्धान्त सग्रह १८५
विज्ञानेश्वर १३१		वैधम्य १४०
बी० एन० टण्डन १६५		वैशेषिक ३ ६ १३
बीरभाव ३०२		वैशेषिक दग्ध ११ १२
बीरमणि प्रसाद उपाध्याय १३७	१६८	वैशेषिक मूल ११ १२ १३
बीरश्वरमन ३१०		वैश्वानर १४३
बीरश्वर सम्प्रदाय ३११		बृणव तात्र २६५
बुडरफ १२३		बण्णवाचाय ३०२
बुद्ध ३३		बृति १८०
बुत्तक २		१८१ १८२ १८३ २३६ २४०
बैद्यवास १२७		बृत्तिनिष्ठण २३६
बैद्यवाय ३०२		बृत्तिभेद १८३
बैद्यन २ २४ २२६ २४६		बृहद् वागिष्ठ द
बैद्यात कल्यतह १७०	१०१ १७६	बृहदारण्यकोपनिषद् ६ १० ६५ ८७ ६१
बैद्या न कामनिका ५०	५१ १५०	६३ १०६ ११० १११
बैद्यान कीमुनी २३	१५६ १६४	११२ ११३ ११४ ११५
बैद्यान्त बौस्तुम २७२		११६
बैद्यात तत्त्व विवर १८६		बृहदारण्यकोपनिषद् याकरभाष्य ६२ ६३ ११३
बैद्यात कामनिका ५०	५१ १५०	०ष्वत्तावस्था १६४
बैद्यान कीमुनी २३	१५६ १६४	ब्यावहारिका ३०४
बैद्यान्त बौस्तुम २७२		०ष्वत्तारिक जीव २५३
बैद्यात तत्त्व विवर १८६		ब्यावहारिका १६२
बैद्यात दान १७०		ब्यावहारिक सत्ता ७४ ३११
बैद्यान्तदीप १८८		०मामभाष्य १६
बैद्यातदेशिक १३३	२५७	ब्यासराज १८२
बैद्यातपरिभाषा १४३	१४३ १४८	ब्यूत्यान ३०
	१६४ २०६ २१८ २४६ २४७	ब्योहारराजेऽद्विद १६४
बैद्यातपारिज्ञान सौरभ २७०	२७३	श
बैद्यातरल मजूपा २७३		गकर ३४ ५८ ६६ ७४ ७६ ८० १२१
बैद्यातसार १३ २३ १४ ३५ ६१ ८१ १०३		१२३
	१०७ १६६ १८६ १८७ २४१	उत्तर शिवित्र १४४ १६४ १८६
	२४४ २८७ ३४२	गवगचाय २ ३ ६ ११ २१ ३६ ३८ ६०
बैद्यतसिद्धा १मुक्तावनी ६२	७२ १७८	६५ ७० ७२ ७३ ७५ ८५ ८६
	७७ १८० २१२ २१५	८७ १० ६३ ६६ १०८ ११४
बैद्यतसिद्धान्त सूक्ति मञ्जरी २२८		११६ १२३ १२३ १२८ १२८
बैद्यात्म सूत्र १०२	१५७	१३० १३३ १३५ १३६ १४०
बैद्याताक (कल्याण) १३५	१७३ १७३ १७३ १७८	१४२ १४४ १४५ १४६ १४७
	१८८ ३४० ३४१	
बैद्यात्म सग्रह २७१	२५६	
बैद्यिम १६४		
बैद्यर २८ ६६ १६५		

- १४८, १५१, १५७, १५८, १६०, १६१, १६२, १६३, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७२, १७३, १७५, १७७, १७८, १८४, १८५, १८७, १८९, १९६, १९८, २०६, २१८, २२६, २३४, २४८, २५८, २५६, २६२, २८७, २८८, २८९, २९७, ३००, ३३७
- शान्तरक्षित १३२
शान्ति विवरण १७२
शावर भाष्य १३०
शाव्दप्रमाण ४१
शारदातिलक तन्त्र ३०४
शारदामठ १७२, १८६
शार्कराद्य १०६
शारीरकजीवाद १५६
शास्त्र दर्पण १७६
शास्त्र दीपिका ४०, ४२, ४४, ४७, ५०, ५२, ५३
शिव ११७, १२२, १६२, ३०६, ३१०, ३११, ३१२
शिवचन्द्र भट्टाचार्य ३०७
शिशुपालवध ४०
शिव दृष्टि १३२, ३१५
शिवपुराण १७
शिवसंहिता १३६
शिवमूलविमर्शणी ३१२, ३१३, ३१४
शिवाद्वैत ११७, १६२
शीर्षासन २६
शुद्धचित् १७१
शुद्धवस्तु ७३
शुद्धाद्वैतमात्रण २६६, २८१, २८६
शुद्धाद्वैतवाद १, ३, २७६, २८६
शुद्धवा भक्ति २६
शून्यता ३१६
शून्यवाद १४८, ३१८, ३२०, ३२७, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३८
शून्यवादी २१६, २२०, २२१, ३२८, ३३१
गेलिग ४, ६७, ७७, ७८, ७९
शैय काङ्क्ष्व वर १८५
शेषशेषीभाव ३५२
शैवदर्शन १३१, ३१५
शैवभाष्य ३०१
शैवमत १८६
शैव संप्रदाय ३०६
शीतागम १, ३०२
- शाहिडल्य सूत्र ११६, २८२, २८३

- दीर्घाचार्य ३०२
 शीर्षनहार ४, ६६, ६७, ८१, ८२, ८३, ८४
 दलोकवानिक ४३, ५१, ११८, १२१, १३१
 द्वैतवेतु १०६
 द्वेनाश्वतरोपनिषद् १५, २३, ८५, ६०, ११०,
 १११, ११५
 श्रवण १७४, १७८, १८२
 शृगेरी मठ १७१
 श्रीकृष्ण मत १८६
 श्रीकृष्णाचार्य ३०२
 श्रीनिवासदाम १३१
 श्रीनिवासाचारी २४६, २५७
 श्रीनिवासाचार्य २७२
 श्रीभाद्र २५०, २५१, २५३, २५४, २५५,
 २५६, २५८, २६६
 श्रीमत् थैर्न्यानुभव १७३
 श्रीमद्भगवद्गीता २२१, २५१, २८२, २८३,
 २८०
 श्रीमद्भागवत २०, ६५, ११७, ११८, २८२
 श्रीरामगर्मा आचार्य १००
 श्रीवचनसूयण ८५७
 शुउप्रकाशिका २०१, २५५
 शुनिरहस्य १८४
 शुद्धधर्मार्पति ४२
 श्रीरामपदाद २१७
- प
- पद्मनंदम २६२, २६४, २६५, २६६, २६७,
 २६८
 पद्मसन्निकर्ष ११
 पद्मविना ब्राह्मण १०५
 पाट्टन्कैलिक उसीर ३६
- स
- सम्याम २२६
 सम्यामोऽपनिषद् २६३
 सर्वाचार्यमानश्रव २७६
 सामृथ १६६, १६७
- समुण्ठ ब्रह्म १६८
 सर् ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, १०४,
 १०६, १४३, १७२, १७३, २०६, २०८
 सत्तात्रय ३५०
 सतीगचन्द्र विद्याभूषण ८
 सद्कारणवाद २११
 सत्त्वामेवाद १६१८, २३, २१०, २११, २६१
 सत्त्वात्मिवाद २०१, २०२
 सत्त्वात्मिवाद २०३, २०६
 सत्त्वगुण १७
 सत्त्वपुरुषात्मतास्यात्मिवाद १४
 सद्वान १२७
 सदसम्माति २६७
 सदानन्द २३, १०७, १६६, २१६, २३४
 सदानन्दकाश्मीरक १८५
 सदानन्द योगीन्द्र मग्नस्ती १८४, १८६
 सदानिव व्रह्मेन्द्र १८४, १८६
 सदागिवेन्द्र ब्राह्मण १८८
 सदागिवेन्द्र सरस्वती १८४, १८८
 सन्धिती २१०
 सत्त पदार्थी ११
 , समाधि २७, ३०
 समानाविकरण सम्बन्ध २४५
 सम्प्रज्ञात ३०
 सम्भव ६
 सरस्वती हृदयालकार १२६
 सरस्वती विलास १३१
 सर्वदर्शन संग्रह २५०, २५२, २५५, ३१२, ३१३,
 ३२७
 सर्वमवादिनी २६०
 सर्वसारोपनिषद् ११५
 सर्वसिद्धान्त भगवत् ३२४
 सर्वज्ञात्मा १८६
 सर्वज्ञात्म मुनि १३३, १७१, १७२, २११,
 २१८, १५३, २२८, २३३, २३४
 सर्वर्थगिदि १३३
 सर्वोदय १८५
 सर्वोदयदर्शन १६५

- सहस्रार ३०२
 संकल्पवाद ८२, ८३
 संकरण २६२
 संक्षार २७, ३०
 संकारी भ्रम १३८
 संविन् २६०
 संवृत्ति ३२४, ३२७ ३३४
 संवृत्ति भ्रम ३३०
 संसार २८१
 संक्षेप शारीरक १३२, १३३, १३४, १६६,
 १७१, १८७, २११
 सातिवक २०,
 साधन चतुष्टय ३४
 साध्यभक्ति २६६
 सामर्थ्य ५०
 सामवेद १०१, १२७
 मासमेदसंहिता १००
 समान्य ४३
 मासीप्य २७८
 सामीप्य मुक्ति २६४
 साम्य दर्शन १६४
 साम्य योग १६५
 साम्य सूत्र १६४
 सायण ६३, १०१, १०६
 सायणभाष्य ६७, ६६, १००, १०३
 सायुज्य २७८, २८६
 सायुज्य मुक्ति २६४
 सास्प्य २७८
 साहस्र मुक्ति २६४
 सालोक्य २७८
 सालोक्य मुक्ति २६४
 सार्पि मुक्ति २६४
 साहित्यदर्शन २१५
 साक्षी १६, १५४, १३१, १७२, १७५, १३८,
 १४४
 सांख्य ३, ४, १६, २०, २४
 सांख्य और अद्वैतवेदान्त १४
 सांख्य कारिका १५, १६, १७, १८, १९, २०,
- २१, २२, १७०
 सांख्य दर्शन ६, ११, १३, २१, २२, २३
 सांख्य प्रवचनभाष्य १३, २१, २२, २४
 सांख्य सूत्र १६, १७, २२, २४
 मिद्दाल्ल जात्मवी २३१
 सिद्धान्तरत्न २६६
 मिद्दाल्लेय संग्रह ७१, ७२, १५२ १७२, १७६,
 १७७, १७८, १८६, १८८
 २११, २१२, २१३, २१४
 २१५, २१६, २१७, २१८
 मिद्दाल्लविन्दु १७१, १८०, १८२
 मिद्दाल्लाचार्य ३०२
 मिद्दार्थ ४१
 मिद्दासन २६
 मिद्दिग्रह १३१, १३३
 सो० कुन्त्मन राजा १३१
 मुक्तगत ११
 मुकुकी ३२६
 सुवोधिनी १८७, २८७
 सुदर्शनाचार्य १६५, १७०
 सुन्दरपाण्डिय १३०, १३५, १३६
 सुमन्तु २७
 सुरेशराम भाई १६५
 सुरेश्वर १३४, १२७
 सुरेश्वराचार्य १३३, १६७, १६८, १६९, १७१,
 १७७, २१६, २२६, २२८, २३१,
 मुपुलिं दद
 मुपुमा ३०२
 सूक्तांकर १३०
 सूक्तमटीका २८८
 सूर्यनारायण युक्त १३२
 सूत्र रत्नावली १८२
 सूत्र साहित्य ११६
 मूर्वात्मा १५३
 सेवाकल २८७
 सोजन ३२४
 सोमानन्द १३१, १३२
 सोमानन्दनाय ३४७



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

सोबाली १८
 सीनदर्यं लहरी १२३, २४५, ३०४
 सूषिद् दृष्टिवाद २१४, २१६
 सूषित्वेयम् १५१, ३५०
 सम्भवुराण ११६
 स्वभ २०७ ९६९०९
 स्टीवेसन १०१
 स्टेस ५५, ५६, ५७ ५८, ७६, ६०, ६१, ६२,
 ६४
 स्थितप्रश्न दर्शन १६८
 स्पन्द कारिका ३११, ३१२, ३१६
 स्पन्द दर्शन ३१२
 स्पन्द निष्ठा ३१२
 स्पन्द सर्वस्वर ३११
 स्पिनोलि ६५, ६८, ६९ ३५, ३३, ६२
 स्पोटवाद १३७
 स्पृति ३३, ४६
 स्मृतिसंग्रह १७०
 स्वतन्त्र-महर ६८, ६९
 स्वत प्रामाण्यवाद ८८
 स्वप्न घ, १३६, १४०
 स्वप्नवाद ३१८
 स्वप्नमिदान्त १३८
 स्वप्नेश्वर २८२
 स्वर्णमूर्त २८१
 स्वराज्य तिंडि १६७
 स्वरूप भक्ति २८३
 स्वरूपाद्वावाद १५८
 स्वरूपानुग्राहि २६६, २६३

स्वार्थानुमान ४१
 ह

हमवतीकृष्णा ६६
 हरदत्तदर्मा ४७, २०१
 हरिदास २८३
 हरिभाऊ उगाञ्याय १६४
 हरिराम २८७
 हरिवद १४४
 हनुमुख ३४६
 हनुमुखकीर्ति १
 हनुमुखरोश किरणि १
 हनुषेन ३४७
 हस्तिमाल १८४
 हर्दीस ५३
 हाइत ६३
 हिरण्यगर्भ १४२
 हिरण्यनाम १२७
 हिस्तिका १३६, २५३
 हितेना ११४
 हिमियड ५७
 हेगर ४, १८८
 हेतु १३८
 हेतुग्रन्थ १३८
 हेतोषीज्ञ ६६
 होमर ७५
 हृदयगमा १२६
 ह्लादिनी २६०